प्रकाशकीय निवेदन

जैन सिद्धान्त, आचार, इतिहास, शिल्प आदि विविध विषयों के एक ही स्थान पर, एक ग्रन्थ के रूप में और सरल भाषा में प्रकाशित हो सकने का यह प्रथम अवसर है। हर्ष है कि यह सौभाग्य हमें प्राप्त हो सका। जैनागम एक महान सागर के समान है। इस ग्रन्थ में जो जैन सैद्धान्तिक बातें बताई गई हैं वे उस महासागर के सूक्ष्मातिसूक्ष्म एक बिन्दु के सदृश ही हैं। अस्तु, इस पुस्तक का नाम "जैन धर्म-सार" रखा गया है। पहले इस पुस्तक की प्रशस्ति "जैन धर्म दर्शन" नाम से हो चुकी है, किन्तु अब हमें यह बदला हुआ नाम ही अधिक उपयुक्त लगा।

इस विषय के पाठक जानते ही होंगे कि हिन्दी अथवा अंग्रेजी भाषा में आज तक ऐसा कोई ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ जिसमें जैनधर्म विषयक सम्पूर्ण और सर्वांगीण जानकारी उपलब्ध हो सके। ऐसी किसी पुस्तक की माँग होने पर हमें चुप ही रहना पड़ता था। किन्तु अब यह कमी दूर हो रही है, ऐसी हमारी मान्यता है। इस पुस्तक के मूल गुजराती ग्रन्थ को लिखवाने में हमें काफ़ी परिश्रम तथा व्यय भी करना पड़ा है। इन्हीं तथा इसके अतिरिक्त भी अनेक कारणों से पुस्तक का मूल्य हमें अपनी कल्पना से कुछ अधिक ही रखना पड़ा है। किन्तु पूज्य आचार्य देव तथा पंन्यासजी महाराज जैसे समर्थ गीतार्थ विद्वानों द्वारा सूक्ष्म निरीक्षण

किया हुआ यह ग्रन्थ हम 'येन केन प्रकारेण' पाठकों के सम्मुख उपस्थित कर रहे हैं। सुज्ञ पाठकों को हमारा आदर आमन्त्रण है कि व इस हिन्दी अनुवाद का परिशीलन कर जैन *तत्त्वज्ञानामृत का आस्वाद लें। अमृतगंगा हमने पाठकों के* लिए अपने भगीरथ प्रयत्न द्वारा ला दी है, शेष कर्त्तव्य विद्वान् पाठकों का है।

इस *ग्रन्थ का हिन्दी* अनुवाद श्री जसराजजी सिंघी एम ए बी एड अध्यापक, राजकीय हाई स्कूल पिंडवाडा, (राज०) ने बड़े श्रमपूर्वक किया है। पूज्य आचार्य देव *श्री माणिक्य सागर सूरीश्वर जी, आचार्य श्री* विजयधर्म सूरीश्वर जी प० श्री धुरंधर विजयजी तथा प० श्री भानु-विजय जी महाराज ने अपना अमूल्य समय व्यय करके इस *ग्रन्थ को शास्त्रीय दृष्टि से शुद्ध और परिमार्जित किया है।* ग्रन्थ-प्रकाशन में हम प्रो बी टी परमार, एम ए साहित्यरत्न (हिन्दी विभाग एम टी बी आर्टस् कॉलेज) सूरत से बहुत *सहायता मिली है। प्रूफ संशोधन प० शोभाचन्द्रजो भारिल्ल,* न्यायतीर्थ ब्यावर द्वारा किया गया है तथा सुन्दर और शीघ्र मुद्रण सेवाभावी श्री जीतमलजी लूणिया, तथा उनके सुपुत्र *श्री प्रतापसिंहजी लूणिया अजमेर, ने बड़े परिश्रम से कराया* है। ग्रन्थ की विस्तृत और रहस्योद्घाटिनी प्रस्तावना हमारी विनती स्वीकार करके 'स्वामी' विरुदाङ्कित धर्मश्रद्धालु *श्री ऋषभदास जी मद्रास वाला ने लिखी है।* इन सब महात्मा महानुभावों के तथा अन्य भी उन सब सज्जनों के प्रति हम आभारी हैं जिनसे हमें प्रेरणा प्राप्त हुई है।

पं० श्री भानुविजय जी महाराज के शिष्य रत्न मुनिराज श्री राजेन्द्र विजय जी यदि अपनी व्यावर की उपस्थिति में अति परिश्रम पूर्वक प्रकाशित अन्य गृन्थों के समान इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भी अनुपम, उदार सहायता न करते तो यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित न होता। अस्तु, हम उनके प्रति भी विशेषतः आभारी हैं।

इस ग्रंथ के प्रकाशन में बेंगलोर निवासी श्री पुखराजजी लोंकड ने अपने स्व० पिता श्री कुंदनमलजी की स्मृति में रु० ४५०) तथा श्री सुरजमलजी पोखरजी कोटडी (रा०स्था०) वालों ने रु० ४००) प्रदान किये उनको हम धन्यवाद देते हैं।

हमने पूरा प्रयत्न किया है, वार वार सावधानी-पूर्वक निरीक्षण किया है कि ग्रन्थ में शास्त्रानुसारिता का पूर्ण रक्षण हो। तथापि मति-अज्ञानवशात् कोई दोप रह गया हो तो 'मिथ्या मे दुष्कृतम्,' पाठकगण हमें क्षमा करें।

जैन मार्ग आराधक समिति, गोकाक.

प्रस्तावना

जीवन और जगत् के पदार्थ विज्ञान के पारस्परिक संबंध पर पूर्ण प्रकाश डालने वाली विद्या को दर्शन शास्त्र (Philosophy) कहते हैं और इसी दर्शन शास्त्र में से सब विद्याओं एवं विज्ञान का विकास हुआ है। एक अनुभवी पुरुष का कथन है कि (Philosophy is the fountain source of all the sciences) अर्थात् दर्शन विज्ञान ही सर्व विज्ञानों का उद्गम धाम है।

स्वाभाविक तौर से संसार के प्राणी वर्ग की अंतरवृत्ति का अध्ययन किया जाए तो प्रत्यक्ष नजर आता है कि प्रत्येक प्राणी निराबाध जीवन जीने की आकांक्षा रखता है परन्तु संसार के पदार्थ विज्ञान के अटल नियम (Inevitable Laws of Nature) उसमें बाधक बने बिना रहते नहीं। सामान्य प्राणियों की बात तो एक तरफ रही परन्तु मेधावी मानव प्राणी जो प्राणी संसार का सिरताज (Crown of the entire creation) माना जाता है और जो मनोविज्ञान की अपूर्व मनन, चिन्तन एवं परिशीलन शक्ति (Majestic power of thinking) होने का दावा रखता है और अपने जीवन की समस्त बाधाओं का अन्त लाने के लिए आकाश पाताल का हिलाकर अनेक आश्चर्यजनक अन्वेषण करता ही रहता है, आज तक उस पदार्थ विज्ञान के प्रबल नियमों का न तो प्रतिकार कर सका और न उनके प्रचण्ड प्रहारों का एवं जन्म

जरा, मृत्यु, रोग-शोक, भय संतापादि से अपना संरक्षण कर सका। दो दिन पहले या पीछे, इच्छा या अनिच्छा से उसके पाश में पड़ना ही पड़ता है। इसलिए इस संसार का नाम चक्र दिया है। चक्र में आखिर घूम कर वहाँ का वहाँ आना पड़ता है ऐसी ही हालत हमारे साँसारिक जीवन की है। इस भयानक चक्र में से वचने के लिए सच्चा उपाय वताने वाली विश्व में अगर कोई विद्या है तो वह केवल दर्शन विद्या (Philosophy) है, इसलिए ही इस महाविद्या का महत्व संसार में सर्वोपरि माना जाता है और हमारे पूर्व महर्षियों ने एक आवाज से "सा विद्या या विमुक्तये" के उद्गार प्रकट कर दर्शन विद्या की वड़ी स्तुति की है। इस विद्या को योग विद्या, धर्म शास्त्र और तत्व दर्शन तथा अध्यात्म बोध कहते हैं, अर्थात् ये सव पर्यायवाची शव्द हैं।

संसार के इतिहास का अध्ययन करते हुए पता लगता है कि इस विद्या का सत्यानुसंधान करने में भारत के महारथियों ने महान् आत्मभोग दिया है और जीवन में सत्य का साक्षात्कार किया है, इसलिए वे ऋषि महर्षि कहलाते हैं। वस्तु विज्ञान की प्रक्रिया कहो, चाहे विश्व व्यवस्था कहो, उसके सच्चे स्वरूप को देखने वालों को ऋषि एवं दृष्टा कहते हैं। इस पुण्य पवित्र भारत भूमि में आज तक अनेक महान् तत्व-दृष्टा पुरुष पैदा हो चुके है इसलिए यह पवित्र भूमि ऋतुम्भरा प्रज्ञा की मातृभूमि (Motherland of Wisdom and Truth) कहलाती है। उन महर्षियों ने इस पवित्र भूमि की प्रजा की रग-रग में इस अध्यात्म विद्या के ऐसे दृढ़ संस्कार भर दिये हैं कि आज भी इस भूमि का प्रत्येक मानव धर्म को प्राण से

अधिक प्रिय मानना है और धर्म के लिए अपना तन-मन-धन एव सब कुछ समर्पण करने को कटिबद्ध हो जाना है। आज भी अनेक मह्द्धिक एव सम्पत्ति-सपन्न पुरुष धर्म के लिये त्यागी वैरागी बनकर सयम मार्ग की सब कठिनाइयो का हार्दिक स्वागत करते हैं, धर्म के सरक्षण और सचालन के लिये देश देशातरा म भ्रमण करते रहते हैं एव स्वार्थ-त्याग की कठिन तपश्चर्यापूर्वक जन कल्याण मार्ग मे तन्मय रहते हैं।

भारत भूमि धम की केन्द्रभूमि होने से आज भी कई तरह की दार्शनिक विचार धाराएँ यहाँ अक्षीण धाराप्रवाह के रूप म वह रही है। यद्यपि इन विचारधाराओ की आराधना के विधिविधाना म परस्पर मतभेद भी नजर आता है परन्तु धम की मौलिक मान्यता मे न तो मतभेद है और न मनभेद है। सारे धर्मों की मौलिक मान्यता (Fundamental Basis) की नीव अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह है। कोई धर्म उसको पच यम, कोई पचशील और कोई पच महाव्रत कहता है। चाहे दूध कहो चाहे पय कहो, बात एक ही है।

अब तो सिर्फ देखना इतना ही है कि इन अटल पच ध्रुव सिद्धान्तो का जीवन मे सक्रिय रूप देकर उनका साक्षात्कार करने का सीधा सरल सर्वोत्तम उपाय किस विचार धारा मे सयोजित है कि जिसको साधना से उपरोक्त प्रकृति के प्रबल नियमो के प्रहार से या आक्रमण से अपना सरक्षण हो सके ? वैसे तो सब ही दार्शनिक विचारधाराए आत्यतिक दुख का अभाव और शाश्वत सुख की सप्राप्ति एव मोक्ष को सामने रखकर प्रजा को अपनी तरफ आकर्षित करने का प्रयत्न कर

रही हैं। परन्तु वास्तविक सफलता की सम्भावना कहां पर है उसका निराकरण करना मेधावी और प्रज्ञाप्रौढ़ पुरुषों का प्रधान कर्तव्य है। इसी में प्रज्ञा और मेधा की महत्ता एवं सार्थकता है। केवल अन्धगोलांगुल न्यायेन एक के पीछे अन्ध विश्वास रखकर अपना अमूल्य जीवन हारना भीषण भूल के सिवाय और क्या है ?

सत्यगवेषक सत्पुरुषों ने धर्मपरीक्षा के तीन उपाय बताये हैं श्रुति, युक्ति और अनुभूति, केवल श्रुति के आधार पर संतोष मान या खाली तर्क वितर्क पर अवलम्बित रहना उचित नहीं परन्तु श्रुति और युक्ति के बाद अनुभूति की कसौटी पर कसना अत्यंत आवश्यक है। एक महान तत्ववेत्ता का कथन है कि सब आगमों का आगम 'अनुभव' है। आज के संसार में सत्यानुसन्धान के लिये पठन, प्रवास और प्रदर्शन की सुन्दर से सुन्दर सामग्रियाँ बडी सुलभ है। संसार के पुरातत्ववेत्ताओं ने ऐतिहासिक सामग्री का संशोधन करने में विज्ञानवेत्ताओं ने पदार्थविज्ञान का संशोधन करने में और भाषा शास्त्रियों ने साहित्य संशोधन करने में प्रशंसनीय प्रगति साधी है। उनके आधार पर भिन्न २ दार्शनिक मान्यताओं एवं धर्मों की सत्यता का निराकरण भी सरलता और सुलभता से हो सकता है। केवल बात इतनी ही है कि दार्शनिक दृष्टि राग के दोष का हरा पीला कांच हटाकर सत्य जिज्ञासु बन कर तटस्थ भाव से सारे दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative study) करने के लिये तैयार हो जाना चाहिये। सुज्ञ चिन्तकों और प्रवीण पाठकों के सामने आजकी उपलब्ध सामग्री की सहायता से जैन दर्शन

की सत्यता, पवित्रता और प्राचीनता की पुष्टि के लिये हमारी जैन मार्ग प्राराधक सभा ने साहित्य प्रकाशन का समयोचित प्रयत्न चालू किया है जिससे जैन दर्शन के तटस्थ अध्ययन का लाभ आम जनता उठा सके। सामान्य प्रजा जैन दर्शन के अमूल्य साहित्य का अध्ययन नही कर सकी उसके कारणो का खुलासा करना यहां आवश्यक समझा जाता है।

सबसे प्रथम कारण तो यह है कि कुछ काल के लिये समुद्रपार की गूरी प्रजाका भारत का भाग्य विधाता बनने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इस कारण पाश्चात्य विद्वानो के अभिप्राय वेदवाक्य से अधिक माने जाते थे। उन विद्वानो मे से कुछ शुष्क विद्वानो ने भारतीय दर्शनो का गहरा अध्ययन किये बिना ही अपना झडपी अभिप्राय (Hurried Judgement) दे दिया था कि जैन दर्शन को ढाई हजार वर्ष पूर्व बुद्ध के समकालीन सिद्धार्थ महीपति के कुमार वर्द्धमान या महावीर ने स्थापित किया है। यह भारत का अर्वाचीन दर्शन है बल्कि वैदिक दर्शन की शाखारूप है। कुछ विद्वान तो यहाँ तक कहने लगे थे कि जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन दोनो वैदिक दर्शन की (Rebellious daughters) क्रान्तिकारी पुत्रियां हैं जो केवल वेदो के यज्ञो के सामने बडा आन्दोलन करने के लिये खडी हुई थी।

दूसरा कारण यह भ्रामक प्रचार है कि जैन दर्शन ईश्वर को सृष्टिकर्ता नही मानता है इसलिये यह नास्तिक दर्शनो मे से एक दर्शन है।

तीसरा कारण यह मिथ्या मान्यता है कि जैन दर्शन अहिंसा

पर इतना अन्धविश्वास रखता है कि जिससे प्रजा कायर बन जाती है।

चौथा कारण यह है जैन धर्मानुयायी वर्ग प्रायः व्यापारी एवं व्यवसायी समाज है इसलिये उसके पास सुन्दर साहित्य का अभाव होना स्वाभाविक है।

इस प्रकार की भ्रान्तियाँ जैन दर्शन के सम्बन्ध में फैली हुई थीं। वे धीरे धीरे दर्शनशास्त्रों का तुलनात्मक गहन अध्ययन विकसित होने से मिटती गईं और अन्त में अन्तर राष्ट्रीय ख्याति (International reputation) के धुरन्धर विद्वान जैन दर्शन की मुक्तकंठ से प्रशंसा करने लगे। आखिर वे इस निर्णय पर पहुँचे कि जैन दर्शन भारत का सर्वतंत्र स्वतंत्र सनातन सिद्ध दर्शन है, जिसका इतिहास अति उज्जवल एवं मनोहर है। इस दर्शन के पास सब प्रकार की सुन्दर से सुन्दर साहित्य सामग्री है, यह विश्व के प्राकृतिक पदार्थ विज्ञान के अटल नियमों (Cosmic constitutional laws) पर अवलम्बित है और परिपूर्ण सत्य को व्यस्त करने के लिए स्याद्वाद जैसी अभ्रान्त और अचूक कसौटी है उसके पास प्राणी संसार में प्रेम और वात्सल्य भाव को विकसित करने की असाधारण पद्धति है, सर्वत्र शाँति का साम्राज्य स्थापित करने की अपूर्व शक्ति है और मानव जीवन को सार्थक करने की परिपक्व विधि है।

जैन दर्शन के सम्बन्ध में अब भी कुछ भ्रान्तियाँ फैली हुई हैं। उनके समाधान के लिए यहां दो शब्द लिखना समुचित समझता हूँ।

तीर्थंकर महावीर जैन धर्म के स्थापक नहीं परन्तु इस

अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थंकरो मे से अन्तिम तीर्थंकर हैं। इन चौबीस तीर्थंकरो मे सबसे प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव हैं जो अति प्राचीन काल मे हुए हैं और जिनके समय का निर्णय वर्षों की गणना से परे है। भारत के साहित्य मे वेद अति प्राचीन माने जाते है और ऋग्वेद तथा सामवेद आदि मे भगवान् ऋषभदेवादि तीर्थंकरो की स्तुतियाँ और नाम निर्देश पाये जाते हैं। वेदो का काल महावीर के पहिले का है इसमे दो मत नही हैं। इसलिये यह स्पष्ट होता है कि जैन तीर्थंकर ऋषभदेव वेदो के पूर्व हो चुके हैं, नही तो वेदो मे उनका उल्लेख कैसे मिलता ? उन्ही ऋषभदेव भगवान् को श्रीमद् भागवत मे महाविष्णु का अवतार माना है। इसी तरह से शिव पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, गरुड पुराण, स्कद पुराण और योग वसिष्ठ आदि अनेक ग्रन्थो मे जैन धर्म सम्बन्धी उल्लेख पाये जाते हैं। आधुनिक इतिहास वेत्ताओ ने भी भगवान् महावीर के पूर्व तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ को होना प्रमाणभूत माना हैं। अब तो धीरे धीरे यदु वश भूषण नेमिनाथ तीर्थंकर तक इतिहासकारो की दृष्टि पहुँच गई है। भगवान् महावीर के पिता और गौतम बुद्ध के पिता ये दोनो पार्श्वनाथ प्रभु के अनुयायी थे और उनका पार्श्वापत्य होना दर्शन शास्त्रो के इतिहास मे लिखा हुआ मिलता है। पुरातत्व सशोधन मे आज मोहन जोदारो और हरप्पा का सबसे प्रधान स्थान है। उनमे जैन धर्म के स्मारक मिले हैं। इसके अलावा तक्ष शिला अहिछत्रा तथा कलिङ्ग देश की हाथी गुफा, द्राविड देश की सितल निवास गुफा, श्रमणगिरि (मदुरा) त्रिजिनापल्लि (ट्रीचनापोली) के आसपास की पर्वत कन्दरायें और कर्नाटक

प्रान्त के वन खण्डों के मुनिवास और निर्ग्रन्थ वसतियें, वेलूर, श्रवण वेलगोला, हस्तितुण्डा, वरमान, मुण्डस्थल, वोडली आदि स्थानों की प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रियें तथा शिला प्रस्तियें जैन धर्म की केवल प्राचीनता को ही नहीं सिद्ध करती, परन्तु अखिल भारत और उसके आगे समुद्र पार के देशों में भी जैन दर्शन के प्रचार-प्रसार का समर्थन कर रही हैं। जैन धर्म का ऐतिहासिक सामग्री आष्ट्रीया हंगरी प्रान्त, अरजन्टेनीया, यूनान (ग्रीस) मिश्र (इजिप्ट) और उत्तर ध्रुव के आसपास के क्षेत्र एलास्का और मंगोलिया तक भी जैन धर्म के अस्तित्व के प्रमाण मिले हैं। एक एन्जीनीयर मिस्टर फर्ग्यूसन (Ferguson) ने लिखा था कि वंगाल की खाड़ी से वेलूचिस्तान तक और काश्मीर से कन्याकुमारी तक, जहाँ तक मेरा अनुभव है, कहना पड़ता है कि चारों तरफ किसी भी स्थान को ढूंढें तो जैन धर्म का कोई न कोई स्मारक मिले विना नहीं रहता। डा० गंगानाथ वनर्जी ने लिखा था कि मौर्यकालीन भारत में जैनों की संख्या २० करोड़ से अधिक थी। डा० हर्मन जेकोवी, डा० हर्टल, डा० वीन्टरनीज, डा० टेसेटोरी, डा० राधाकृष्ण, लोकमान्य तिलक डा० गंगानाथ झा डा० सतीश्चंद, विद्याभूषण डा० राधा विनोदपाल महात्मा गान्धी और वर्नाड शा आदि ने जैन धर्म की अतिप्राचीनता और पवित्रता स्वीकार की है और भगवान् ऋषभदेव को मानव संस्कृति का संस्थापक और मानव समाज का व्यवस्थापक (Originator of Human culture and organiser of Human Society) स्वीकार किया है।

प्राणीमात्र के कल्याण के लिये इस धर्म ने वड़े वड़े

नवरत्न उत्पन्न किये हैं। जिस जिस काल में जिस जिस क्षेत्र के लिए उपयोगी महारथी एवं वीर रत्नों की आवश्यकता प्रजा को पड़ी, उस समय में वैसे ही वीर पुरुष अर्पण किये हैं। मगधेश्वर बिम्बसार, कलिङ्ग चक्रवर्ती खारवेल, मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त, अवंतिपति सम्प्रति, गुर्जेश्वर महाराजा कुमारपालादि इतिहास प्रसिद्ध अनेक नरेन्द्र सम्राटों का जैन धर्मानुयायी होना आधुनिक इतिहास स्वीकारता है। राजनीति में निपुण वस्तुपाल, उदायन, वाहड़, दान्नु मेहता, मुन्शाल भामाशाह, दयालशाह और कर्नाटक के चामुण्डराय आदि भारत के महामंत्रियों में से थे जो जैन धर्मानुयायी थे विमलशाह, तेजपाल, समराशाह आदि नामाङ्कित सेनापति भी जैन धर्मी ही थे। जावड़शाह जगडुशाह, पथडशाह, पू.शाह, धरणाशाह, रानी सीमादेदारी, भैसाशाह आदि अनेक दानवीर इस धर्म में उत्पन्न हुए हैं। जगडुशाह के बारे में तो फार्बस शाहब ने अपने रासमाला में यहाँ तक लिखा है कि जगडुशाह ने महादुष्काल में करोड़ो रुपयों का अन्न देकर लाखों मनुष्यों के प्राण बचाये थे। इसलिये उस काल के कवियों ने ब्रह्मा विष्णु महेश की उपमायें देकर उसके दान की मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

इस तरह से अनेक सेवाभावी उदार एवं परोपकारी महापुरुष इस धर्म के अनुयायी हुए हैं, जिन्होंने तन मन धन से संस्कृति के संरक्षण, कला के विकास और उद्योग के उत्थान के लिये बडा आत्म भोग दिया है। इस तथ्य के साक्षी भूत अनेक कीर्तिस्तम्भ एवं उज्जवल ऐतिहासिक प्रमाण सारे भारत में आज भी मिलते हैं। अर्बुदा चल (देलवाडा) के अनुपम वस्तु कला के प्रतीक भव्य जिन मंदिर, शत्रुन्जय गिरि के

गगन चुम्वी प्रासादों की श्रेणी, राणकपुर का अद्भुत विशाल जिनालय, प्रभास पाटण भद्रेश्वर, कुम्भारिया, श्रवण वेल गोला के गोमाश्वर, वेलुर, मुडभद्री कारकाल आदि भारतीय कला के केन्द्र जैन दानवीरों की ऐसी प्रासादी है, जिसने भारतीय गौरव को कला के क्षेत्र में चार चांद लगाये हैं। जव हम साहित्य सेवा की तरफ दृष्टिपात करते हैं तो कहना पड़ता है कि भारत के भिन्न २ भाषाओं के साहित्य को ऊँचा उठाने में जैन विद्वानों ने कोई कमी नहीं रखी है। वे किसी भी धर्म के अनुयायी साहित्यकारों से पीछे नहीं रहे हैं, वल्कि साहित्य को कई क्षेत्रों में उनकी सेवाएँ वेजोड़ है। संस्कृत और प्राकृत साहित्य का तो जैनों के पास पूरा खजाना है जिसमें हजारों ग्रन्थ आज भी विद्यमान हैं। जैनाचार्यो ने प्रान्त, जाति भाषा आदि का पक्षपात रखे विना सारे भारत में चारों दिशाओं में पाद विहार करके प्रत्येक साहित्यिक भाषा पर आधिपत्य प्राप्त करके सुन्दर से सुन्दर सारिका का निर्माण किया है। यहाँ तक कि कर्नाटक और द्राविड़ देश की कनडी और तामिल जैसी कठिन भाषाओं का गहरा अध्ययन करके उनमें साहित्य रचना का सूत्रपात किया और उन भाषाओं को साहित्यिक भाषा होने का गौरव प्रदान किया। जैनाचार्यों ने उन भाषाओं में ऐसा सुन्दर साहित्य रचा है कि एक वार स्वयं मैसूर महाराजा (भूतपूर्व) ने कहा था कि कर्नाटक देश की संस्कृति को जैन धर्म की वड़ी देन है। पम्पा, रन्ना नृपनांघाहि ऐसे कन्नड भाषा के महा कवि हुए हैं जो कर्नाटक के युग प्रवर्तक महाकवि माने गये है अर्थात् जैन कवियों से सुवर्ण युग चला है। एक जैनेतर

कर्नाटक देश के महा विद्वान से मिलने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ था। तब उनने जैन साहित्यकारो की मुक्त कंठ से प्रशंसा करते हुए कहा था कि आज भी रामायण की १५-२० कृतियाँ भिन्न भिन्न जैन आचार्यों की कर्नाटक भाषा के साहित्य मे उपलब्ध हैं। ऐसा ही हाल तामिल भाषा का है, आज भी तामिल प्रान्त की प्रजा जैनाचार्यों की तामिल कृतियों के लिये बडा गौरव का भाव रखती है। तामिल भाषा के सर्वोत्तम काव्य जैनाचार्यों की कृतियाँ हैं। तामिल भाषा दो हजार से भी अधिक वर्षों से एक धारा प्रवाही चल रही है इसका भी श्रेय जैनाचार्यों को है क्योकि तामिल भाषा के ठोस व्याकरण के रचयिता भी वे ही हैं। प्रत्येक भाषा मे भिन्न भिन्न सदियो मे फेर फार होता आया है परन्तु पीछे की सदियों मे नही हुआ है। ऐसी तामिल-विद्वानो की मान्यता है। तामिल भाषा का सर्वोपरि ग्रन्थ तिरुकुरल माना जाता है जिसको तामिल प्रजा वेद और गीता के समान मानती है। उसे भी बडे अनुसधान के बाद कई नामांकित विद्वानो ने जैनाचार्यों की कृति सिद्ध किया है। तामिल भाषा भाषा के अग्रगण्य विद्वानो का यहाँ तक मन्तव्य है कि जैन कृतियाँ तामिल भाषा के साहित्य से पृथक कर दी जावें तो तामिल भाषा निस्तेज हो जाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैनाचार्यों ने प्रत्येक भाषा मे अपूर्व साहित्य की रचना की थी। कितना ही-काल दोष मे, कितना ही धार्मिक द्रोह से और कितना ही यवनो के आक्रमण से समाप्त होगया है फिर भी इतिहास सुन्दर जैन साहित्य का निर्माण सारे देश भर मे हुआ था ऐसा स्वीकारता

है। उत्तर दक्षिण सब हो प्रान्तों के जैन साहित्यकार प्रखर विद्वानों के नाम आज भी विद्वत्सृष्टि की जिह्वा पर अंकित हैं। श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री समन्तभद्राचार्य, श्री हरिभद्र सूरि, श्री अकलंक भट्ट, श्री हेमचंद्राचार्य, श्री जिनसेनाचार्य, श्री नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती, श्री वादिवेताल शांतिसूरि, आर्य मलयगिरि, श्री मल्लवादि सूरि, श्री मल्लिषेण, पूज्यपाद, विद्यानंदी, श्री वादिदेव सूरि, श्री हीर विजय सूरि, श्री विजयसेन सूरि और महा महोपाध्याय न्यायाचार्य श्री यशोविजयादि अनेक धुरन्धर विद्वान हुए हैं जिन्होंने न्याय-तर्क, काव्य, दर्शनादि साहित्य के सब ही प्रजा के सर्वोदयकारी अङ्गों में अनुपम साहित्यरचना की है, ऐसा कहना कोई अत्युक्ति भरा कथन नहीं है।

विश्व के पदार्थदर्शन एवं वस्तुविज्ञान पर तो जैन दर्शन का अत्यन्त ही सूक्ष्म अनुसंधान एवं अनुप्रेक्षण है। समस्त दर्शनों की पदार्थविज्ञान संबंधी मान्यता में भूल निकाल कर सब दर्शनों को दबाने की आशा रखने वाला, आज के युग का अनोखा दर्शन जो भौतिक विज्ञान (Modern Science) है, उसने थोड़े ही वर्षों में अनेक आश्चर्यजनक अन्वेषणों द्वारा सारे संसार का चक्र फिरा दिया है। वह विज्ञान अनेक अनुभूति के प्रयोगों (Experiments) के पश्चात् प्रगति साधते हुए अणु परमाणु की मान्यताओं (Atomic & molecular theory) पर पहुँचा है और इस निर्णय पर आया है कि सारे विश्व के समस्त पदार्थों का निर्माण इसी अणु-परमाणु पर अवलम्बित है। अणु के विश्लेषण में आगे बढ़ते हुए (Electrons & Protons)

इलेक्ट्रोन और प्रोटन तक पहुँचा है। उसके गणित पर सारे विश्व का सचालन हो रहा है और यह सिद्ध हो गया है कि सृष्टिकर्ता की मान्यता केवल कल्पना है। ईश्वर को ऐसे सृष्टिप्रपच मे पडने की कोई आवश्यकता नहीं। वह एक आवाज से कह रहा है कि Universe is self created, self-governed and self systematised by its metaphysical and mathematical process. अर्थात् सारा विश्व अपना सजन, सचालन और शासन स्वय ही कर रहा है। यही अनुसधान जैन दर्शन का प्राचीन काल से चला आता है और इसी मान्यता के प्रबल आधार पर ईश्वर को सृष्टिकर्ता मानने का जैन दर्शन ने भार पूर्वक विरोध किया है। आधुनिक विज्ञान तो अभी थोडे समय पूर्व पदार्थ को Compound and elements मिश्रण और मूलभूत दो तरह का मानता था। सिर्फ अणु के विश्लेषण के बाद इलेक्ट्रोन और प्रोटोन की प्रक्रिया की विद्युत् शक्ति नजर आई तब कहने लगा कि Elements मूलभूत पदार्थों की मान्यता अप्रामाणिक है और १२ Elements मूलभूत पदार्थों की सख्या जो ६२ तक पहुँची थी, वह सबको सब गलत मानी गई और इस निर्णय पर विज्ञान को पहुँचना पडा कि सोना, पारा प्लटीनीयम, रेडीयम, युरेनीयम आदि सब ही एक वस्तु हैं और सिर्फ इलक्ट्रोन प्रोटोन की सख्या के फेरफार का परिणाम है। यही अति गहन रहस्य भरी हुई विश्व के पदार्थविज्ञान की मान्यता जैन तत्त्वज्ञान के प्राचीन से प्राचीन आगम शास्त्रो मे स्थान स्थान पर पाई जाती है। जब कि विज्ञान अपने अनेक सशोधनो के द्वारा ससार को चकित करने के बाद भी

Elements मूलभूत पदार्थ मान्यताओं पर भार दे रहा था उस समय भी जैन तत्ववेत्ता अपनी प्रवल मान्यता का प्रतिपादन इसी प्रकार से करते थे कि जितने भी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श वाले जड़ पदार्थ हैं वे सव ही एक शक्कर के खिलौने हैं। परमाणुओं के पृथक्करण और संमिश्रण के गणित संख्या पर विश्व के समस्त पदार्थों का निर्माण हो रहा है और जैन दर्शन की मान्यता के अनुसार परमाणु अचक्षु-ग्राह्य है यानि अतीन्द्रिय शक्ति द्वारा ही दृष्टिगोचर होता है। एक तत्ववेत्ता ने लिखा था कि परमाणु के यथार्थ स्वरूप का प्रतिपादन करने का सच्चा सौभाग्य दर्शन शास्त्रों में जैन दर्शन-कारों को ही है। वैसे तो परमाणु की मान्यता समुद्र पार के तत्ववेत्ता Democritus डेमोक्रटस ने दो हजार वर्ष पहिले शोधी थी और भारतीय दर्शनवेत्ताओं में कणाद ने परमाणु वाद को अपने दर्शन में पूर्वकाल से ही स्थान दिया है, परन्तु जैन तत्ववेत्ताओं का एक आवाज से कहना है कि डेमोक्रटस, कणाद या आधुनिक विज्ञान की परमाणु की मान्यता आज भी अधूरी है। ये लोग जिसको परमाणु मानते हैं उनको जैन दर्शन आज भी संख्यात असंख्यात और अनन्त परमाणुओं का स्कन्ध मानता है। जैनों के परमाणुवाद संवंधी औदारिक, वैक्रिय, तैजस, कार्मणादि कई वर्गणाओं के विषय में लाखों श्लोक प्रमाण साहित्य आज भी विद्यमान है। एक कार्मण वर्गणा के वर्णन सम्वन्धी जयधवला, महाधवला, गोमट-सार, पंचसंग्रह, कम्मपयडी, कर्मप्राभृतादि कुछ ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है। उनको मात्र देखने से ही जैन दर्शन के परमाणु विज्ञान की प्रक्रिया का पता लग जाता है कि इस

विषय पर कितना गहरा अवलोकन जैन तत्ववेत्ताओं का था। इसी तरह से शब्दविज्ञान, विद्युत्शक्ति-विज्ञान, मनोविज्ञान, जीवविज्ञान आदि अनेक विषयों का इतना सूक्ष्म प्रतिपादन जैन दर्शन में पाया जाता है कि तत्त्वगवेषकों को इनके अध्ययन में अपूर्व आनन्द आये बिना नहीं रहता। जैन दर्शन को विज्ञान नहीं परन्तु महाविज्ञान कहना कोई अत्युक्ति नहीं है, क्योंकि प्राणियों के उत्थान-पतन, जन्म-मरण, संयोग-वियोग, सुख-दुःख, हानि लाभ आदि की सकल घटनाओं के कार्य कारण-भाव (Cause & Effect) का यथार्थ प्रतिपादन सूक्ष्म वैज्ञानिक पद्धति से जैन दर्शन में पाया जाता है, अतः जैन दर्शन साधारण दर्शन नहीं परन्तु विश्व का अद्वितीय, परिपूर्ण एवं वास्तविक दर्शन है।

जैनों की अहिंसा का आदर्श सिद्धान्त भी सत्यानुसन्धान पर अवलम्बित है। अहिंसा वास्तविक एक विशुद्ध शक्ति है जो अतीत अनागत और वर्तमान काल की सकल शक्तियों की सिरताज है अगर अहिंसा अर्थशून्य केवल कायरता होती तो पतञ्जलि महर्षि अपने योगदर्शन में 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' ऐसा सूत्र नहीं लिखते। अहिंसा के प्रभाव से हिंसक की हिंसावृत्ति भी वात्सल्य भाव में पलट जाती है। जैन शास्त्रों में तीर्थंकरों के समवसरण में सिंह और मृग स्नेहभाव पूर्वक, मयूर भुजग के साथ भ्रातृभाव पूर्वक, व्याघ्र और वृषभ वात्सल्य भाव से एक साथ बैठकर प्रभु की अमृतवाणी का पान करते हैं। ऐसा जो वर्णन मिलता है वह सत्य है और अहिंसा की अनुपम शक्ति का परिचायक है। आज तो अहिंसा की शक्ति के बारे में विशेष कहना सूर्य को दीपक

दिखलाने जैसा विषय है । हम आध्यात्मिक क्षेत्र में अहिंसा के प्रभाव के बारे में बहुत कुछ सुनते आये हैं परन्तु राजनैतिक क्षेत्र में तो (Unprecedented event in the history of the mankind) अपूर्व चमत्कार प्रत्यक्ष देखा है । अणु बम्ब से अखिल भूमण्डल को विध्वस्त करने की शक्ति से सम्पन्न विदेशी सत्ता के पास में से, सिवाय अहिंसा के अमोघ शस्त्र के और कौन से बल से अपने राष्ट्रपिता ने अपने देश को स्वतंत्रता प्राप्त कराई है ? वे स्वयं जीवन के प्रारम्भ से अन्त तक केवल अहिंसा के गीत गाते आये थे । उस अहिंसा को कायरता उत्पन्न करने वाली कहना अपनी कृतघ्नता प्रकट करने के सिवाय और क्या है ? आज विज्ञान की अपूर्व मान्यता (Theory) बतलाती है कि Every action has got its reaction and it is equal & opposite यानि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया तादृश होती है । इस सत्य सिद्धान्त को प्रथम से सुचारु ढंग से समझ कर ही जैनों ने अहिंसा पर भार दे कर कहा कि दूसरों को दुःख देकर अपने सुख की आशा रखना सांप के मुँह में से अमृत पाने की आशा रखने तुल्य है । जैसे नीम के बीज से आम पैदा नही हो सकता वैसे ही दुःख के बीज में से सुख प्राप्त नहीं हो सकता । अगर हम सुख चाहते हैं, तो दूसरों के दुःख के निमित्त न बनते हुए अपना बचाव करें । इस अहिंसा को जीवन में सक्रिय रूप देने के लिये सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहत्ता में आगे बढना आवश्यक ही नहीं परन्तु अनिवार्य है । आज इतने प्रबल भौतिक अस्त्र शस्त्रों के अन्वेषण के पश्चात् सब राष्ट्रों को शस्त्र नियंत्रण प्रतिबंधक समझौते पर आना पड़ा । इससे सिद्ध होता है

कि अहिंसा आदि पंच व्रतों का जैन दर्शन का विधान प्रत्येक व्यक्ति-समाज, देश, राष्ट्र और संसार के सर्वोदय का साधन है इस लिये जैनों का अहिंसा सिद्धान्त जन कल्याण के लिए अत्यन्त उपयोगी है। इसी प्रकार जैन दर्शन के आत्मवाद, कर्मवाद, तत्ववाद, स्याद्वाद और क्रियावाद आदि सारे विषयों का मथन मनन परिशीलन करने से मानव संस्कृति का महान् उत्थान हो सकता है। जैन दर्शन केवल दर्शन ही नहीं अपितु मानव संस्कृति का महाविज्ञान (Science of Human culture) है जिसके अध्ययन से मानव जीवन को सार्थक करने का यथार्थ मार्ग दर्शन मिलता है। सचमुच वह सर्व जीवों के सर्वोदय एवं प्राणियों के परम हित का पवित्र पथ है। इस लिये जैन दर्शन के अध्ययन का लाभ सर्व साधारण जनता को सुगमता से प्राप्त कराने के लिये यह पुस्तक प्रकाशित की गई है। इसका नाम "जैनधर्मसार" इसी लिये रखा है कि जैन धर्म के सब ही विषय इस पुस्तक में संक्षेप से शृंखलित किये गये हैं ताकि सारे मौलिक विषयों की रूपरेखा एक पुस्तक के पठन से ख्याल में आ जाय। इस पुस्तक को (Epitomised form of encyclopedia) जैन दर्शन का संक्षिप्त कोष कहना समुचित है। इसके लेखन सम्पादन और संशोधन कराने में शास्त्रज्ञ पुरुषों का सहयोग लिया गया है इसलिये अगर पाठकवृन्द पक्षपात रहित सत्यगवेषक बनकर इसका पठन करेंगे तो अवश्य ही जैन दर्शन की सत्यता समझ सकेंगे और जैसे जैसे दर्शन की सत्यता समझ में आती जायगी वैसे वैसे जीवन में शान्ति का स्रोत प्रवाहित होता जायगा।—सुज्ञेषु किं बहुना।

श्री पुड्ल तीर्थ धर्मानुरागी-ऋषभ

(Red Hills Madras)

ता० ६-४-६३
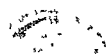
जैन मार्ग आराधक समिति की तरफ से शासन सेवा-प्रभावना की प्रचलित प्रवृत्तियां

(१) साधु साध्वियो को शास्त्राभ्यास कराने के लिये पालीताणा, अहमदाबाद, जैसे केन्द्र स्थानो मे योग्य पडित नियुक्त किये गये है।

(२) जैन समाज मे धार्मिक शिक्षाप्रचार और सस्कार के लिये मुख्य मुख्य जैन तत्वो पर निबध मगाकर योग्य पुरस्कार दिये जाते हैं।

(३) कॉलेज, स्कूल, बोर्डिंग और गुरुकुलो के बुद्धिमान विद्यार्थी तथा विद्यार्थिनी को धार्मिक सस्कार, और शिक्षा के लिये शिष्यवृत्तिया तथा पारितोषिक देना है। इसलिये बुद्धिमान् छात्र सस्था से पत्र व्यवहार करें।

(४) भिन्न २ भाषाओ मे आधुनिक पद्धति से जैन दर्शन का रहस्य समझाने, बाल, युवान और प्रौढ वर्ग के लिये सर्वांग सुन्दर साहित्य का प्रकाशन किया गया और किया जा रहा है।

(५) छोटे छोटे ग्रामो मे जहा साधु साध्वियो के आहार पानी आदि सेवा सुश्रुषा के साधन नही है वहा पर सब सुविधा योग्य श्रावको के द्वारा की जारही है।

(६) चारो दिशाम देश भर जैन श्रमण विहार सुलभता से व्यापक बने ऐसा आयोजन किया जारहा है।

(७) बाल, ग्लान और वयोवृद्ध श्रमणो के लिये वैयावच्च की पूर्ति का प्रबन्ध किया जा रहा है, अत प्रामाणिक वैद्यो के सलाह सम्मति मुजब अमूल्य निर्दोष दशी औषधिया भेजी जा रही हैं।

विशेष जानकारी के लिये नीचे मुजब पत्र व्यवहार करें।

मत्री
जैन मार्ग आराधक समिति,
पो० गोकाक जि० बेलगाव (मैसूर राज)

विषयानुक्रम

(क) प्राक्कथन

(ख) प्रथम खंड—तत्त्वज्ञान—विभाग १—नौ तत्त्व

विभाग २-कर्मवाद

विभाग ३—आध्यात्मिक विकास क्रम

(ग) द्वितीय खंड–विभाग १–जैन न्याय का उद्गम और विकास

विभाग २–ज्ञान और प्रमाण व्यवस्था

विभाग ३—नयवाद

विभाग ४—निक्षेपवाद

विभाग ५—स्याद्वाद और सप्तभंगी

(ध) तृतीय खंड—विभाग १–धर्म-मीमांसा

विभाग २–धर्म प्रवर्तक (श्री अर्हद् देव)

विभाग ३—मार्गानुसरण

विभाग ४—श्रावक धर्म

विभाग ५—साधु धर्म

(ड) चतुर्थ खंड—विभाग १–जैन इतिहास

पृष्ठ

विभाग २—जैन साहित्य

विभाग ३–जैनाश्रित कला

प्राक्कथन

* आर्य संस्कृति और उसकी दो मुख्य धाराएँ।
* श्रमण परम्परा और जैन धर्म।
* जैन धर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धांजलि।
* जैन धर्म आर्यावर्त और आर्यत्व में गौरव मानता है।
* हिंदू शब्द के अर्थ और प्रयोग पर कुछ विचार।
* जैन धर्म आस्तिक है।
* जैन धर्म ब्राह्मण का विरोधी धर्म नहीं।
* जैन धर्म के प्रचार में ब्राह्मणों का योगदान।
* टिप्पणी (१ से २६)

आर्य संस्कृति और उसकी दो मुख्य धाराएं :

जैन संस्कृति भारत की प्राचीन शुद्ध आर्य संस्कृति है। उसमें अहिंसा, सत्य, अस्तेय, सदाचार और परिग्रह नियमन का जो विकास दिखाई पड़ता है वह अन्य किसी संस्कृति में दृष्टिगोचर नहीं होता।

पहले भारत देश में इसी का मुख्य प्रचार था, परन्तु कालान्तर में वैदिक धर्म के पालनकर्ता आर्य इस देश में अस्तित्व में आए, अर्थात् आर्य संस्कृति की दो धाराएं प्रवाहित होने लगी। इनमें प्रथम और प्राचीन जैन संस्कृति की गणना श्रमण परम्परा में होने लगी, क्योंकि उसमें श्रमणत्व की प्रधानता थी और वैदिक धर्म की गणना ब्राह्मण परम्परा में होने लगी, क्योंकि उसमें ब्राह्मणों का पूर्ण वर्चस्व था।

विक्रमादित्य के पूर्व सातवीं या आठवीं शताब्दी में आजीविक संप्रदाय धर्म की उत्पत्ति हुई और उसके पश्चात् थोड़े ही समय में अर्थात् छठी शताब्दी में बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ। इन दोनों धर्मों में भी श्रमणों की ही प्रधानता थी, अतः इतिहासकारों ने उनका समावेश भी श्रमण परम्परा में किया।

श्रमण परम्परा और जैन धर्म :

हम यहाँ श्रमण परंपरा शब्द का उपयोग ऐसे ही अर्थ में करते हैं। श्रमण परंपरा में जैन, बौद्ध और आजीविक संस्कृति की गणना होती है। आजीविक संप्रदाय आज नाम मात्र रह गया है, परन्तु एक समय पूर्व भारत में उसका प्राबल्य था इसका पता हमें जैन और बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध उल्लेखों पर

से चलता है। श्री महावीर प्रभु के साथ रहकर सात वर्ष पर्यन्त श्रमणत्व की साधना करने वाला गोशालक आजीविक सम्प्रदाय का था। बिन्दुसार, अशोक और दशरथ—इन तीनों राजाओं के समय में अर्थात् ई० स० की दूसरी सदी के अन्तिम भाग तक उसका राज दरबार में सम्मान था, ऐसे प्रमाण उपलब्ध होते हैं।[1] तदुपरान्त यह सम्प्रदाय घिसता गया और कालक्रम में लुप्त हो गया। वराहमिहिर ने (ई० स० ५५०) सात प्रकार के भिक्षुओं[2] की गणना में आजीविक भिक्षुओं को भी स्थान दिया है इसीलिये कई ऐसा अनुमान लगाते हैं कि यह सम्प्रदाय विक्रम की छठी शताब्दी तक विद्यमान रहा होगा।[3]

बौद्ध धर्म का उद्‌भव भारत में हुआ, भारत में इसका विकास हुआ और भारत से बाहर के देशों में यह बहुत फैला, परन्तु विक्रम की दसवीं सदी के पश्चात् भारत में उसका आसन डोलने लगा और धीरे धीरे वह भी नाम मात्र रह गया। इसलिये भारतीय जीवन पर उसका कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं रहा, परन्तु पिछले कुछ वर्षों से भारत में बौद्धों की संख्या में वृद्धि होने लगी है और भविष्य में उसकी अति वृद्धि होने के चिह्न दृष्टिगोचर हो रहे हैं।

शेष रहा जैन धर्म। इसका अस्तित्व आज तक इस देश में टिक सका है और उसने अपने आचार विचार का भारतीय जीवन पर अमिट प्रभाव डाला है। इतना ही नहीं, परन्तु साहित्य, शिल्प कला, विज्ञान आदि अनेकविध क्षेत्रों में उसकी सत्त्वशालिनी अद्‌भुत सर्जन शक्ति का प्रवाह निर्विघ्नरूप से प्रवाहित हो रहा है अतः यदि ऐसा कहा जाय कि 'जैन धर्म का भारतीय संस्कृति में दिया हुआ योगदान बहुत महान्

है', तो इसमें कोई अत्युक्ति नहीं है ।

जैन धर्म के प्रति अपूर्व श्रद्धांजलि :

महोपाध्याय डॉ० सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने अपने एक प्रवचन में कहा था कि "भारतवर्ष को अपने आध्यात्मिक और तात्त्विक विकास के कारण जगत में अग्र स्थान प्राप्त है, इसका श्रेय ब्राह्मणों और बौद्धों की अपेक्षा जैनों को जरा भी कम नहीं है ।"[४]

मद्रास के भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री पी० एस० कुमार स्वामी राजा ने उससे थोड़ा आगे बढ़कर कहा था कि 'जैन धर्म ने जो समृद्ध सांस्कृतिक उत्तराधिकार प्रदान किया है, उसके लिये यह देश सदा के लिये ऋणी रहेगा' ।[५]

इसी प्रकार प्रसिद्ध विद्वान् सर षण्मुखं चेट्टी ने निःसंकोच पूर्वक घोषणा की थी कि 'जैन धर्म द्वारा भारत की संस्कृति में दिया गया योग वास्तव में अद्‌भुत है । मेरी व्यक्तिगत मान्यता है कि भारत पर यदि मात्र जैन धर्म का वर्चस्व दृढ़ रहा होता तो हमें आधुनिक भारत की अपेक्षा अधिक संगठित और अधिक विस्तृत भारत मिला होता ।[६]

राष्ट्रपिता की उपाधि से विभूषित महात्मा गांधीजी जैन धर्म से प्रभावित थे । भारत के भूतपूर्व राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्रप्रसाद भी जैन धर्म से प्रभावित हैं और भारत को सर्वोदय का नाद सुनानेवाले विनोवाजी ने भी कई वार जैन धर्म को अपनी श्रद्धाञ्जलि समर्पित की है । इसके अतिरिक्त जगत के अनेक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों और विचारकों ने जैन धर्म के प्रति अपनी हार्दिक सद्‌भावनाएं प्रकट की हैं, परन्तु उन सब का यहां उल्लेख करके हम ग्रंथ का कलेवर बढ़ाना नहीं

चाहते । यहाँ तो उसके साराशरूप मे इतना ही परिचय देते हैं कि असत्य मे से सत्य की ओर जाने म, अधकार मे स प्रकाश की ओर जाने मे और मृत्यु मे से अमरत्व की ओर जाने मे जैन धम और जैन दर्शन का अध्ययन बडा ही सहायक सिद्ध हो सकता है ।

अब हम कुछ ऐसे विषया का स्पष्टीकरण करना चाहते है जो पाठको को जैन धम का स्थान समझने म उपयोगी होग ।

जैन धर्म आर्यावर्त और आर्यत्व मे गौरव मानता है :

जैन धम आर्यावत और आर्यत्व पर गर्व करता है। उसकी ऐसी मान्यता है कि जिसकी पुण्य राशि प्रबल होती है उसी का जन्म आर्य देश म—आर्य क्षत्र म होता है और इस प्रकार जैनो क चौबीसो तीर्थंकरो का जन्म आर्यावत म राजकुल म हुआ है । क्या इसका यह मतव्य आर्यावर्त के प्रति गौरव की भावना का द्योतक नही है ?

अर्हत जिनका स्थान जैन धर्म म सब से ऊँचा है उन्हे उत्तम देवाय कहा है और अपन महान आचार्यो को आर्य भगवत अथवा मात्र आय कह कर सबोधित किया है ।

जैनागम भगवती सूत्र में तेईसवे तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ और चौबीसवें तीथकर श्री महावीर स्वामी के साधुओ श्रमणो के बीच हुए एक सवाद का उल्लख है । उसम श्री पार्श्वनाथ के साधु श्री महावीर स्वामी के साधुओ से कहते है क भ अज्जो ! सामाइये ? के भे अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे ? हे आय भगवन ! सामायिक क्या ? हे आर्य भगवत ! सामायिक का अथ क्या ? उत्तर में श्री महावीर स्वामी के साधुवृन्द कहते है आया ण अज्जो ! सामाइए आया ण

अज्जो ! सामाइयस्स अट्ठे !' 'हे आर्य भगवन् ! आत्मा सामायिक है, हे आर्य भगवन् ! आत्मा सामायिक का अर्थ है !'

जैन पट्टावलियों का निरीक्षण करें तो उनमें आर्य कालक आर्य खपुट, आर्य मंगु, आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ति आदि नाम पाये जाते हैं।

जैन धर्म ने साध्वियों के लिये आर्या शब्द को मान्यता दी है। यह भी उसके आर्यत्व के प्रति महान् गौरव का सूचक है। आज अरजा—जी शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह 'आर्या' का अपभ्रंश रूप है।

जैन धर्म ने आर्य का जो अर्थ किया है, वह भी लक्ष्य में रखने योग्य है। यहां कहा गया है, **'आरात् सर्वहेय-धर्मेभ्यो यात: प्राप्तो गुणैरित्यार्य:**–जो सर्व प्रकार के हेय धर्म छोडकर गुणों को (उपादेय धर्मो को) प्राप्त हो वह आर्य।'[७]

उसके वर्गीकरण के अनुसार आर्य प्रधानत: दो प्रकार के हैं: ऋद्धि प्राप्त और अऋद्धि प्राप्त। इनमें ऋद्धि प्राप्त उन्हें माना है जिन्होंने महान् पुण्य ऋद्धि प्राप्त करली हो जैसे–तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, वलदेव, विद्याधर, और चारण मुनि।[८]

जिनकी पुण्य राशि इन छ: प्रकार के पुरुषों की अपेक्षा कम होती है वे अऋद्धि प्राप्त। अऋद्धि प्राप्त आर्य के यहां छ: प्रकार वताए हैं:–(१) क्षेत्र आर्य, (२) जाति आर्य, (३) कुल आर्य, (४) कर्म आर्य, (५) शिल्प आर्य और (६) भापा आर्य।

जिसका जन्म आर्य संज्ञा से उपलक्षित क्षेत्र में हुआ हो वह **क्षेत्र आर्य**। जो अंवष्ठ, कलिंद आदि छ: इभ्य जातियों

मे उत्पन्न हुआ हो, वह **जाति आर्य**।[९] जो उग्र, भोग, आदि छ उत्तम वशो मे उत्पन्न हुआ हो वह **कुल आर्य**।[१०] जिसका कर्म अर्थात् आजीविका सबधी धधा अल्प पापमय हो वह **कर्म आर्य** जैसे वस्त्र बुनने वाले, सूत कातने वाले मिट्टी के बर्तन बनाने वाले, व्यापार करने वाले, कृषि करने वाले, गो पालन कर्ता, आदि। जो निर्दोष शिल्प अर्थात् कारीगरी के द्वारा अपना निर्वाह करे वह **शिल्प आर्य** जैसे—दर्जी, बढई, चटाई बनाने वाले आदि और जो अर्ध मागधी भाषा बोल वह **भाषा आर्य**।[११]

इसके अतिरिक्त जैन धर्म ने धार्मिक दृष्टि से आर्यों के तीन विभाग किये हैं—(१) दर्शन आर्य (२) ज्ञान आर्य और (३) चारित्र आर्य। जिसकी दृष्टि सम्यक हो चुकी है वह **दर्शन आर्य**। जो मनुष्य जानने योग्य अल्प अथवा अधिक पदार्थों का सही ज्ञाता हो और उत्तम स हेय, अर्थात त्याज्य तथा उपादेय अर्थात् ग्राह्य अशो का प्रमाण हेतु तथा दृष्टात द्वारा यथार्थ विवेक कर सकता हो वह **ज्ञान आर्य**। जो मनुष्य देह को धर्म का साधन मानकर उसका सपूर्ण सदुपयोग करते की प्रवृत्ति करता हो वह **चारित्र आर्य**। इस दृष्टि से समस्त जैन समाज आर्य समाज है परन्तु आज यह शब्द अमुक सम्प्रदाय के अर्थ म रुढ हो गया है अत उसका उपयोग नही किया जाता।

यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि जो मनुष्य पापमय प्रवृत्तिवाले घोर कर्म करने वाले पाप से घृणा न करने वाले और कैसा भी अकार्य करते हुए भी उसका पश्चात्ताप न करते हो, उन्हे जैन धर्म अनार्य कहता है।[१२]

'हिन्दू' शब्द के अर्थ और प्रयोग पर कुछ विचार :

यहाँ 'हिन्दू' शब्द के अर्थ और प्रयोग के संबंध में भी कुछ विचारणा उपयोगी है। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध आदि शब्द प्राचीन साहित्य में मिलते हैं, परन्तु 'हिन्दू' शब्द प्राचीन साहित्य में नहीं मिलता। भाषा विशारदों ने उसका आगमन फ़ारसी भाषा से माना है। इस शब्द के प्रथम दर्शन विक्रम की आठवीं सदी के बाद के ग्रन्थों में होते हैं।

ईरान अर्थात् फारस की भाषा में 'स' के स्थान पर 'ह' शब्द बोला जाता था अतः वे सप्त को हप्त और सिन्धु को हिधु, हिन्दु कहते। इस प्रकार ईरानवासियों ने सिंधु नदी के आसपास रहने वाले लोगों को हिन्दु-हिन्दू कहा। फिर सारे भारत के लोग हिन्दू और उनका देश हिन्दुस्तान कहलाया।[13]

इस देश में मुसलमानों का राज्य होने के पश्चात् उन्होंने मुसलमानों से भिन्न जाति को पहिचानने के लिये हिन्दू शब्द का प्रयोग करना आरम्भ किया और कालांतर में उसका उपयोग ब्राह्मण परम्परा और उसमें से उत्पन्न हुए धर्मो को पालने वाले लोगों के लिये ही होने लगा। आज 'हिन्दू' शब्द इसी अर्थ में रूढ़ है। इस अर्थ के अनुसार जैन और बौद्ध हिन्दू नहीं हैं। भारत के वर्तमान महामात्य पं० जवाहरलाल नेहरू अपने 'डिस्कवरी ऑफ इन्डिया' नामक ग्रन्थ में कहते हैं कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म वास्तव में हिन्दू धर्म नहीं थे और न वे वैदिक धर्म के मानने वाले ही थे। परन्तु उनका उद्भव भारत में हुआ और भारतीय जीवन, संस्कृति तथा तत्वज्ञान के एक म[illegible]र्ण अंग बन गये।'

ई० स० १९६१ के वर्ष मे भारत की जनगणना हुई, उसमें (१) हिन्दू, (२) मुसलमान, (३) ईसाई, (४) जैन, (५) बौद्ध और (६) सिक्ख इन छह धर्मों को मुख्य माना गया और अन्य धर्मों की गणना प्रकीर्ण धर्मों मे की गई। अतः जैन धर्म हिन्दू और बौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र धर्म है—यह बात अब राज्य भी स्वीकार कर चुका है और वास्तविकता भी यही है, परन्तु सामाजिक कानून हिन्दू और जैन-बौद्ध के लिये समान होने से सामाजिक दृष्टि से जैनो और बौद्धो का समावेश हिंदू मे होता है।

जैन हिन्दू समाज के गाढ सम्पर्क मे हैं और उसके साथ कई व्यवहारिक रिवाजो से सम्बद्ध हैं, इसीलिये धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयो मे अपने आप को हिन्दू कहलवाने मे किसी प्रकार के संकोच का अनुभव नही करते।

जैन धर्म आस्तिक है :

भारतीय आर्य धर्म के वैदिक और अवैदिक ऐसे दो विभाग कर तो जैन और बौद्ध धर्म अवैदिक विभाग मे आते है, क्योकि वे वेदो का प्रामाण्य स्वीकार नही करते, और न वे ऐसा भी मानते है कि वेद ईश्वर निर्मित है अथवा अपौरुषेय है। ऐसा होते हुए भी ये दोनो धर्म सर्वथा आस्तिक हैं क्योकि वे आत्मा परलोक और मोक्ष के अस्तित्व मे श्रद्धा रखते है। इस विषय मे हम भारत के दो सुप्रसिद्ध विद्वानो के मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

गवर्नमेंट सस्कृत कालेज बनारस के भूतपूर्व प्रधानाचार्य श्री मंगलदेव शास्त्री एम ए डी फिल. (ऑक्सन) एक लेख मे लिखते हैं [illegible] भारतीय दर्श[illegible]य में एक परम्परागत

मिथ्या भ्रम का उल्लेख करना भी हमें उचित प्रतीत होता है। कुछ काल से लोग ऐसा समझने लगे हैं कि भारतीय दर्शन की आस्तिक और नास्तिक नाम से दो धारायें हैं। तथाकथित वैदिक दर्शनों को 'आस्तिक दर्शन' और जैन बौद्ध जैसे दर्शन को 'नास्तिक दर्शन' कहा जाता है। वस्तुतः यह वर्गीकरण निराधार ही नहीं, नितान्त मिथ्या भी है। आस्तिक और नास्तिक शब्द 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' (पा० ४-४-६०) इस पाणिनि सूत्र के अनुसार बने हैं। मौलिक अर्थ उनका यही था कि परलोक (जिसको हम दूसरे शब्दो में इन्द्रियातीत तथ्य भी कह सकते हैं) की सत्ता को मानने वाला 'आस्तिक' और न मानने वाला 'नास्तिक' कहलाता है। स्पष्टतः इस अर्थ में जैन और बौद्ध जैसे दर्शनों को नास्तिक कहा ही नहीं जा सकता। इसके विपरीत हम तो यह समझते है कि शब्द प्रमाण की निरपेक्षता से वस्तु तत्त्व पर विचार करने के कारण दूसरे दर्शनों की अपेक्षा अपना एक आदरणीय वैशिष्ट्य ही है।"[१४]

प्रसिद्ध राष्ट्रनेता और प्रकांड विद्वान् आचार्य नरेन्द्रदेव ने अपने बौद्ध धर्म दर्शन नामक महा ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण में बताया है कि यह बात ध्यान में रखने की है कि बुद्ध के समय में आस्तिक का अर्थ ईश्वर में प्रतिपन्न नहीं था और न वेदनिन्दक को ही नास्तिक कहते थे। पाणिनि के निर्वचन के अनुसार नास्तिक वह है, जो परलोक में विश्वास नहीं करता (नास्ति परलोको यस्य सः)। इस निर्वचन के अनुसार बौद्ध और जैन नास्तिक नहीं हैं। बुद्ध ने अपने सूत्रान्तों में (संवादोंमें) नास्तिकवाद को मिथ्यादृष्टि कहकर गर्हित किया है। बुद्ध के समकालीन 'अजित केश [illegible] जो स्वयं एक गण के

ई० स० १६६१ के वर्ष मे भारत की जनगणना हुई, उसमे (१) हिन्दू, (२) मुसलमान, (३) ईसाई, (४) जैन, (५) बौद्ध और (६) सिक्ख इन छह धर्मों को मुख्य माना गया और अन्य धर्मों की गणना प्रकीर्ण धर्मों मे की गई। अब जैन धर्म हिन्दू और बौद्ध धर्म से सर्वथा भिन्न स्वतन्त्र धर्म है—यह बात अब राज्य भी स्वीकार कर चुका है और वास्तविकता भी यही है परन्तु सामाजिक कानून हिन्दू और जैन-बौद्ध के लिये समान होने से सामाजिक दृष्टि से जैनो और बौद्धो का समावेश हिंदू मे होता है।

जैन हिन्दू समाज के गाढ सम्पर्क मे हैं और उसके साथ कई व्यवहारिक रिवाजो से सम्बद्ध है, इसीलिये धर्म के अतिरिक्त अन्य विषयो मे अपने आप को हिन्दू कहलवाने मे किसी प्रकार के सकोच का अनुभव नही करते।

जैन धर्म आस्तिक है :

भारतीय आर्य धर्म के वैदिक और अवैदिक ऐसे दो विभाग करें तो जैन और बौद्ध धर्म अवैदिक विभाग मे आते हैं, क्योकि वे वेदो का प्रामाण्य स्वीकार नही करते, और न वे ऐसा भी मानते है कि वेद ईश्वर निर्मित है अथवा अपौरुषेय हैं। ऐसा होते हुए भी ये दोनो धर्म सर्वथा आस्तिक है क्योकि वे आत्मा परलोक और मोक्ष के अस्तित्व मे श्रद्धा रखते हैं। इस विषय मे हम भारत के दो सुप्रसिद्ध विद्वानो के मन्तव्य यहाँ प्रस्तुत करते है।

गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस के भूतपूर्व प्रधानाचार्य श्री मगलदेव शास्त्री एम ए डी फिल (ऑक्सन) एक लेख मे लिखते हैं कि "भारतीय दर्शन के विषय मे एक परम्परागत

क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की थी। जो स्वभाव से वीर थे और प्रजा का रक्षण कार्य कर सकते थे, उन्हें क्षत्रिय पद दिया गया, जो कृषि, व्यापार आदि करने में निपुण थे वे वैश्य कहलाये और जो शिल्प, नृत्य आदि कलाओं से अपनी आजीविका चलाने में समर्थ थे उन्हें शूद्रों में स्थान दिया गया। श्री ऋषभ देव भगवान के संयम धारण करने के पश्चात् उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती ने, जो श्री ऋषभ देव प्रभु की शिक्षा से समर्थ विद्वान् बने हुए थे, उस शिक्षा के अनुसार वेदों की रचना की और उनका पठन पाठन करने वाला और अहिंसादि व्रतों को धारण करने वालों का एक चौथा वर्ण अस्तित्व में आया जो माहण अर्थात् ब्राह्मण कहलाया।

ब्राह्मण परम्परा अर्थात् हिन्दु धर्म में ईश्वर के चौवीस अवतार माने गए हैं, उनमें आठवें अवतार के रूप में श्री ऋषभ देव को स्वीकार किया गया है और उन्होंने जैन धर्म का प्रचार किया ऐसा विवरण श्रीमद्भागवत में मिलता है।[१५] इसके आधार पर डा. सर्वपल्ली राधाकृष्णन् आदि विद्वानों ने जैन धर्म की अति प्राचीनता को स्वीकार की है।[१६]

यहां प्रासंगिक यह बात भी बता दें कि आज से डेढ़ सौ वर्ष पूर्व यूरोपियन लेखकों ने भारत की संस्कृति तथा भारत के धर्मादि पर लिखना प्रारम्भ किया, उसमें बहुतसी भूलें की थी और कई विषयों में तो गप्पें ही चलाई थीं। उनमें से एक गप्प ऐसी थी कि बौद्ध धर्म और जैन धर्म वास्तव में एक ही हैं। महावीर बुद्ध का ही अपर नाम है। तात्पर्य यह है कि महावीर नामक कोई अन्य व्यक्ति ही नहीं हुए और उन्होंने जैन धर्म का प्रवर्तन नहीं किया।

आचार्य थे, नास्तिकवादी थे। प्राचीन काल के लिये यह गौरव का विषय है कि भारतीय कर्म फल के महत्व पर जोर देते थे, ईश्वर के अस्तित्व पर नहीं। मानव समाज की स्थिति और उन्नति के लिये समाज में व्यवस्था का होना आवश्यक है और यह तभी हो सकती है जब सब लोग इसमें प्रतिपन्न हों कि अशुभ कर्म का अशुभ, शुभ कर्म का शुभ और व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। यह सदाचार तथा नैतिकता की भित्ति है।

जैन धर्म ब्राह्मणों का विरोधी धर्म नहीं।

जैन धर्म अर्थात् ब्राह्मण का विरोधी धर्म ऐसा मानना-मनवाना उचित नहीं। प्रथम तो यह जानना आवश्यक है कि जैन धर्म का प्रादुर्भाव किसी के विरोध में नहीं हुआ। यह सर्व मनुष्यों का–सर्व प्राणियों का कल्याण करने के उद्देश्य से प्रवर्तित हुआ है। इस धर्म के प्रवर्तक राग द्वेष के सम्पूर्ण रूप से विजेता होने के कारण 'जिन' नाम से विभूषित हुए थे, अतः उनके हृदय में किसी के प्रति वैर या विरोध की भावना हो ही कैसे सकती है? इसके अतिरिक्त जैन धर्म का प्रवर्तन ब्राह्मण धर्म से बहुत समय पहिले हुआ था, अतः उसका उद्भव इसके विरोधी के रूप में कैसे हो सकता है? 'ब्राह्मण धर्म सनातन धर्म है' ऐसे संस्कार वाले व्यक्ति यह बात नहीं मानेंगे, परन्तु यह अनेक ऐतिहासिक प्रमाणों द्वारा सिद्ध हो चुकी है। उसका विशेष विवेचन हमने इस ग्रन्थ के इतिहासादि खण्ड में किया है।

इस युग में भरत खंड में संस्कृति का प्रथम प्रवर्तन श्री ऋषभ देव के द्वारा हुआ था। उन्होंने समाज व्यवस्था के लिए

दि हार्म्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड[२१] और एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजियन एण्ड एथिक्स[२२] जैसे जगन्मान्य ग्रन्थों में स्थान ग्रहण किये हुए है।

ऐतिहासिक दृष्टि का विराम यहीं नहीं हुआ। वह आगे बढ़कर बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ अपर नाम श्री अरिष्ट नेमी, और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तक पहुँची है।

जैन धर्म ने सत्य को भगवान माना है[२३] और सत्य को भली प्रकार जानने[२४] से तथा उसकी आज्ञा में स्थिर रहने से अमर पद की प्राप्ति हो सकती है—इस बात को स्वीकार किया है।[२५] अत: सत्य के प्रकाश में उसे जो वस्तुएँ अयोग्य अथवा अनुचित लगी उनका उसने विरोध किया है। इस प्रकार यज्ञ में होने वाली हिंसा, जातिमद, विद्यामद अपने उद्धार के लिए दूसरों का मुंह ताकने की वृत्ति, आदि उसके विरोध के विषय बने हुए हैं। उसके इस विरोध का परिणाम बहुत अच्छा निकला है और ब्राह्मणों को स्वयं भी उससे लाभ ही हुआ है। यह बात भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के शब्दों में ही सुनिये।

लोकमान्य तिलक ने बताया है कि "पूर्व काल में यज्ञ के बहाने असंख्य पशुओं की हिंसा होती थी जिसका प्रमाण मेघदूत काव्य और अन्य अनेक ग्रन्थों से मिल सकता है। रंति देव राजा ने जो यज्ञ किये थे, उनमें उसने इतने पशुओं का वध किया था कि उनके रक्त से नदी का पानी लाल हो गया था। उस काल से नदी का नाम चर्मण्वती प्रसिद्ध है। पशु वध से स्वर्ग मिलने की विचारधारा जो पूर्व काल में प्रचलित थी, उसकी यह कथा साक्षी है। इस घोर हिंसा से ब्राह्मण आज मुक्त हैं, इसका श्रेय जैन धर्म को है। जैनों के 'अहिंसा परमो

समय के साथ २ जब अध्ययन में वृद्धि होने लगी, तब अन्य युरोपियन विद्वानों ने इस मत को अप्रामाणिक सिद्ध किया और घोषित किया कि बुद्ध और महावीर भिन्न २ व्यक्ति हैं। उनमें महावीर ने बौद्ध धर्म की एक शाखा के रूप में जैन धर्म की स्थापना की है।' यह कथन सत्य और असत्य का मिश्रण था परन्तु प्रथम मान्यता के प्रतिकार रूप में होने से इसका कुछ स्वागत हुआ और उसका प्रचार होने लगा।

इस अवसर पर जर्मनी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन याकोबी ने जैन और बौद्ध शास्त्रों के तुलनात्मक अध्ययन पूर्वक यह प्रकट किया कि 'जैन धर्म बौद्ध अथवा अन्य किसी धर्म की शाखा नहीं परन्तु एक स्वतन्त्र धर्म है और गौतम बुद्ध ने पूर्व भारत में जब बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया तब जैन धर्म वहां बड़े परिमाण में प्रचलित था इतना ही नहीं, परन्तु वह वहां दीर्घ काल से चला आ रहा था।[१७] इसके साथ ही उन्होंने जैन और बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित चातुर्याम धर्म के उल्लेखों[१८] के आधार पर यह बात सिद्ध कर दी है कि जैन धर्म के तेईसवें तीर्थंकर श्री पार्श्वनाथ एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे उन्होंने प्राचीन काल से चले आरहे जैन धर्म का काफी प्रचार किया था वे काशी नरेश अश्वसेन के पुत्र थे और महावीर निर्वाण से पूर्व ढाई सौ वर्ष पहले उनका निर्वाण हुआ था।[१९]

डा चार्पेन्टर ने भी उत्तराध्ययन सूत्र के प्राक्कथन में इस मत की पुष्टि की थी और डा गेरिनोट ने जैन बिबलियोग्राफी की प्रस्तावना में इस मत को स्वीकार किया है। इसके बाद तो अनेक विद्वानों ने इस मत का समर्थन किया और आज यह कथन सर्वमान्य होकर केम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इन्डिया,[२०]

दि हार्म्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड[२१] और एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजियन एण्ड एथिक्स[२२] जैसे जगन्मान्य ग्रन्थों में स्थान ग्रहण किये हुए है।

ऐतिहासिक दृष्टि का विराम यहीं नहीं हुआ। वह आगे बढ़कर बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ अपर नाम श्री अरिष्ट नेमी, और प्रथम तीर्थंकर श्री ऋषभदेव तक पहुँची है।

जैन धर्म ने सत्य को भगवान माना है[२३] और सत्य को भली प्रकार जानने[२४] से तथा उसकी आज्ञा में स्थिर रहने से अमर पद की प्राप्ति हो सकती है—इस बात को स्वीकार किया है।[२५] अतः सत्य के प्रकाश में उसे जो वस्तुएँ अयोग्य अथवा अनुचित लगी उनका उसने विरोध किया है। इस प्रकार यज्ञ में होने वाली हिंसा, जातिमद, विद्यामद अपने उद्धार के लिए दूसरों का मुंह ताकने की वृत्ति, आदि उसके विरोध के विषय बने हुए हैं। उसके इस विरोध का परिणाम बहुत अच्छा निकला है और ब्राह्मणों को स्वयं भी उससे लाभ ही हुआ है। यह बात भारत के सुप्रसिद्ध विद्वानों के शब्दों में ही सुनिये।

लोकमान्य तिलक ने बताया है कि "पूर्व काल में यज्ञ के बहाने असंख्य पशुओं की हिंसा होती थी जिसका प्रमाण मेघ-दूत काव्य और अन्य अनेक ग्रन्थों से मिल सकता है। रंति देव राजा ने जो यज्ञ किये थे, उनमें उसने इतने पशुओं का वध किया था कि उनके रक्त से नदी का पानी लाल हो गया था। उस काल से नदी का नाम चर्मण्ववती प्रसिद्ध है। पशु वध से स्वर्ग मिलने की विचारधारा जो पूर्व काल में प्रचलित थी, उसकी यह कथा साक्षी है। इस घोर हिंसा से ब्राह्मण आज मुक्त हैं, इसका श्रेय जैन धर्म को है। जैनों के 'अहिंसा परमो

धर्म' के उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप डाली है।"

श्री आनन्द शकर बापु भाई ध्रुव ने बताया है कि "ऐतरीय मे कहा गया है कि सर्व प्रथम पुरुषमेध था, तत्पश्चात् अश्वमेध और अजामेध होने लगा। अजा मे से भी अन्न मे धान म यज्ञ की समाप्ति होने लगी। इस प्रकार धर्म शुद्ध होते गये। महावीर स्वामी के समय मे भी ऐसा ही चलन था, ऐसा उत्तराध्ययन सूत्र में आए हुए विजय घोष और जय घोष के सवाद पर से पता चलता है। इस सवाद मे यज्ञ का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट किया है। वेद का वास्तविक कर्तव्य अग्निहोत्र है, अग्नि होत्र का तत्त्व भी आत्म बलिदान है। इस तत्त्व को काश्यप धर्म अथवा ऋषभ देव का धर्म कहते है। ब्राह्मणो के लक्षण भी अहिंसा विशिष्ट दिये हैं। बौद्ध धर्म के ग्रन्थो मे भी ब्राह्मणो के ऐसे ही लक्षण दिये हैं। गौतम बुद्ध के समय मे ब्राह्मणो का जीवन बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। ब्राह्मणो के जीवन मे जो शिथिलताएँ घुसी हैं वे बहुत बाद मे घुस पाई है और जैनो ने ब्राह्मणो की शिथिलताओ को सुधारने मे अपने कर्तव्य का पालन किया है। यदि जैनो ने यह शिथिलता मिटाने का कार्य अपने हाथ मे न लिया होता तो ब्राह्मणो को स्वय वह कार्य अपने हाथ मे लेना पडा होता।"[२६]

विद्वानो का ऐसा मतव्य है कि वैदिक आचार-विचार और उपनिषदो के तत्त्व ज्ञान में बहुत अन्तर है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि उपनिषदो का निर्माण करने वाले ऋषिओ ने वैदिक मान्यताओ के सामने एक प्रकार का गुप्त विद्रोह किया था। जो कुछ भी हो, परन्तु उपनिषदो मे, आत्मवाद-

अध्यात्मवाद को जो प्रबल समर्थन प्राप्त हुआ वह जैन धर्म के कारण था। महाभारत भी आज मूल स्वरूप में नहीं है, उसमें बहुत सुधार और वृद्धि हुई है। इसी प्रकार पुराणों में भी, अनेक प्रकार का परिवर्तन हुआ है और उनमें अहिंसादि गुणों का समर्थन किया गया है। किन संयोगों ने ब्राह्मणों को ऐसा करने के लिए बाध्य किया इसका स्पष्टीकरण विद्वद्वर्य श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई के शब्दों में सुनिये:—

'जैन निर्ग्रंथों' और 'बौद्ध श्रमणों' की साधुता, उग्र तपश्चर्या और निःस्वार्थ लोकहितवृत्ति देखकर बहुत लोग उनकी ओर आकृष्ट हुए। सबको समान गिनना और सभी जीवों के प्रति दया रखना इन सत्य सिद्धान्तों ने लोगों को वश में किया। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यादि संघ में सम्मिलित हुए। जिस विकृत स्वरूप को ब्राह्मण धर्म उस समय पहुँचा हुआ था, और जो मानव–हिंसा तथा पशु-हिंसा धर्मक्रिया के नाम पर होती थी, जो दुराचार और सोमपानादि चलते थे, उनसे लोगों में तिरस्कार बढ़ता गया और जैन तथा बौद्ध संघ अधिकाधिक बल प्राप्त करते गये। इस प्रकार विक्रम की आठवीं शताब्दी तक चला। इससे ब्राह्मण अपने धर्म के विषय में चिन्तित हुए, लोगों को प्रिय हो और उनमें आदर उत्पन्न करे ऐसा धर्म उत्पन्न करने की प्रवृत्ति पैदा हुई। इससे उन्होंने धर्म के रूप में मान्य विचारों और क्रियाओं में परिवर्तन सुधार करना स्वीकार कर धर्मग्रन्थों की रचना की।[२७]

कहने का तात्पर्य यह है कि आधुनिक हिन्दू धर्म में जैन धर्म का तत्त्व बड़ी मात्रा में भरा हुआ है। यह वस्तु यथार्थ रूप में समझने के लिये जैन धर्म और जैन दर्शन का अध्ययन

धर्म' के उदार सिद्धान्त ने ब्राह्मण धर्म पर चिरस्मरणीय छाप डाली है।"

श्री आनन्द शकर बापु भाई ध्रुव ने बताया है कि 'ऐतरीय मे कहा गया है कि सर्व प्रथम पुरुषमेध था, तत्पश्चात् अश्व-मेध और अजामेध होने लगा। अजा मे से भी अन्न मे धान मे यज्ञ की समाप्ति होने लगी। इस प्रकार धर्म शुद्ध होते गये। महावीर स्वामी के समय मे भी ऐसा ही चलन था, ऐसा उत्तराध्ययन सूत्र मे आए हुए विजय घोप और जय घोप के सवाद पर से पता चलता है। इस सवाद मे यज्ञ का यथार्थ स्वरुप स्पष्ट किया है। वेद का वास्तविक कर्तव्य अग्निहोत्र है, अग्नि होत्र का तत्त्व भी आत्म बलिदान है। इस तत्त्व को काश्यप धर्म अथवा ऋषभ देव का धर्म कहते हैं। ब्राह्मणो के लक्षण भी अहिंसा विशिष्ट दिये हैं। बौद्ध धर्म के ग्रन्थो मे भी ब्राह्मणो के ऐसे ही लक्षण दिये हैं। गौतम बुद्ध के समय मे ब्राह्मणो का जीवन बिल्कुल भिन्न प्रकार का था। ब्राह्मणो के जीवन मे जो शिथिलताएँ घुसी हैं वे बहुत बाद मे घुस पाई है और जैनों ने ब्राह्मणो की शिथिलताओ को सुधारने मे अपने कर्तव्य का पालन किया है। यदि जैनो ने यह शिथिलता मिटाने का कार्य अपने हाथ मे न लिया होता तो ब्राह्मणो को स्वय वह कार्य अपने हाथ मे लेना पडा होता।"[२१]

विद्वानो का ऐसा मतव्य है कि वैदिक आचार-विचार और उपनिषदा के तत्त्व ज्ञान मे बहुत अन्तर है। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि उपनिषदो का निर्माण करने वाले ऋषियो ने वैदिक मान्यताओ के सामने एक प्रकार का गुप्त विद्रोह किया था। जो कुछ भी हो, परन्तु उपनिषदो मे, आत्मवाद-

विद्वान् थे, और उस समय उन्होंने अपनी ज्ञानराशि वेद, उपनिषद् ब्राह्मण, आरण्यक् आदि ग्रन्थों के अध्ययन से संचित की थी।

उपाध्याय श्री यशोविजय जी महाराज की न्यायविषयक अपूर्व प्रतिभा को देखकर हम नतमस्तक होते हैं, परन्तु उन्हें प्राचीन न्याय और नव्य न्याय की विद्या के दानकर्ता लाहौर तथा वाराणसी के निवासी विद्वान् ब्राह्मण थे, यह हमें नहीं भूलना चाहिए। वर्तमान में भी अनेक जैन श्रमणों ने व्याकरण-न्याय-साहित्य का ज्ञान ब्राह्मण पंडितों के पास से प्राप्त किया है, अतः जैन धर्म का यशस्वी प्रचार करने में ब्राह्मणों की ज्ञाननिष्ठा और उनकी सत्यप्रियता ने भी योग दिया है।

उपसंहार :

इस विवेचन के उपसंहार में हम इतना कहेंगे कि जब तक कोई भी विद्याप्रेमी, जैन धर्म और दर्शन का अध्ययन न करे तब तक उसका भारतीय संस्कृति का तथा भारतीय तत्त्व-ज्ञान का अध्ययन अपूर्ण ही रहेगा, इसलिये उन्हें इसका अध्ययन अवश्य करना चाहिये और यह अध्ययन यथार्थ रूप से हो, इसके लिये मध्यस्थ वृत्ति धारण करनी चाहिये। सुज्ञों को इससे अधिक सूचन क्या करें ?

●●

करना आवश्यक है।

जैन धर्म के प्रचार में ब्राह्मणों का योगदान :-

यहा यह भी स्पष्ट करना आवश्यक है कि विगत २५०० वर्षों में जैन धर्म का जो प्रचार हुआ है और उसका लोक-मानस पर जो अद्‌भुत प्रभाव पड़ा है, उसमें ब्राह्मणों का योग अल्प नही है।

श्री महावीर, जो इस युग के जैन धर्म के चरम अर्थात् अन्तिम तीर्थंकर के रूप में पहिचाने जाते हैं, उनका प्राणत नामक देवलोक से च्यवन होकर ब्राह्मणकुण्ड निवासी ऋषभदत्त ब्राह्मण की भार्या देवानदा की कुक्षि में अवतरण हुआ था। फिर गर्भपरावर्तन हुआ और उनका जन्म क्षत्रिय माता के उदर से हुआ परन्तु उनकी देह मे ब्राह्मण का रक्त था, यह निश्चित है।

उल्लेखनीय घटना तो यह है कि श्री महावीर ने कैवल्य-प्राप्ति के पश्चात् लोककल्याण के लिये जो धर्मोपदेश दिया, उसे यथार्थ रूप मे ग्रहण करने का, उसे सूत्रबद्ध करने का और उसका लोकसमूह मे प्रचार करने का श्रेय भी मुख्यत ब्राह्मणों को ही मिलता है। श्री महावीर के ग्यारहो पट्टधर शिष्य अर्थात गणधर [२८] ब्राह्मण थे और उनके शिष्यो में भी ब्राह्मण वर्ग विशाल था।[२९]

जैन सूत्रो पर निर्युक्ति रचने का श्रेय श्री भद्रबाहु स्वामी को मिलता है। जैन न्याय के स्वतत्र ग्रन्थ सृजन करने का प्रथम श्रेय आचार्य श्री सिद्धसेन दिवाकर को मिलता है और जैन धम के मर्म को विविध रीति से प्रकाशित करने के श्रेय के अधिकारी श्री हरिभद्रसूरि हैं। पूर्वावस्था मे ये तीनो ब्राह्मण

श्रीप्रवचनसारोद्धार में उनका परिचय निम्नानुसार दिया गया है:-

अतिशययुक्त गति द्वारा चलने में समर्थ जंघाचारण और विद्याचारण मुनिगण सूर्य की किरणों का आश्रय लेकर अभीष्ट स्थान पर जाते हैं। ५९७

'जंघाचारण मुनि रुचकवर द्वीप तक एक कदम में पहुँच सकते हैं और एक ही कदम में लौट सकते हैं। दूसरे कदम में नंदीश्वर द्वीप तक जा सकते हैं और तीसरे कदम में पुनः अपने स्थान पर आ सकते हैं। ५९८

'यदि मेरु पर्वत पर जाने की इच्छा हो तो एक ही कदम में पांडुक वन में पहुँच सकते हैं और पुनः लौटते समय एक कदम में नंदनवन और दूसरे कदम में स्वस्थान पर आ सकते हैं। जंघाचारण मुनि चारित्रातिशय प्रभाव वाले होते हैं।' ५९९

'विद्याचारण मुनि प्रथम डग में मानुपोत्तर पर्वत पर जाते हैं, दूसरी डग में नंदीश्वर द्वीप पर जाते हैं और वहां के चैत्यों को वन्दन करके पुनः लौटते एक ही डग में स्वस्थान पर आते हैं, अथवा मेरु पर्वत पर जाते समय प्रथम डग में नंदन वन, दूसरी डग में पांडुक वन और वहां के चैत्यों को वन्दन करके लौटते समय एक ही डग में अपने स्थान पर पहुँचते हैं।' ६००-६०१

९—अंबट्ठा य कलिंदा, विदेहा विदकाति य।
हारिया तंतुणा चेव, छ एता इब्भजातिओ॥

'अंबष्ठ, कलिंद, विदेह, विदकाति, हारित और तुंतुण ये छः इभ्य जातियाँ हैं।'

टिप्पणी

१–महावंश टीका में बताया गया है कि अशोक की माता धर्मा रानी का कुलगुरु जनमान नामक आजीविक था। बिन्दुसार ने उसे अशोक के जन्म से पूर्व रानी को आए हुए स्वप्न का अर्थ बताने के लिए बुलाया था। इसी तरह दिव्यावदान में बताया है कि बिंदुसार ने अपने पुत्रों में से किसे गद्दी पर बिठाना— यह निश्चित करने के लिये पिंगलवत्स नामक आजीविक को बुलाया था। अशोक के बाद सिंहासनारूढ़ हुए 'दशरथ महाराज' ने भी सिंहासनारूढ होने के पश्चात् तुरन्त ही 'नागार्जुन' की पहाड़ी पर खुदी हुई तीन गुफाएँ यावच्चन्द्रदिवाकरौ आजीविकों को निवास स्थान के रूप में उपयोग में लाने के लिये देते समय उनका सामान्य आजीविका के रूप में उल्लेख किया है।

गो० जी० कृत श्री महावीर कथा पृ० १६०

२–शाक्य निग्रंथ, तापस, भिक्षु, वृद्ध श्रावक, चरक और आजीविक।

३–गो० जी० कृत श्री महावीर कथा पृ० १६० पाद टिप्पणी (फुट नोट)

४–जैन गजट १६१४, पृ० ३५

५–सन १६४६ के दिसम्बर को २४ तारीख को मद्रास में जैन कान्फरेन्स का उद्घाटन करते हुए दिये गये भाषण में से।

६–जैन गजट

७–प्रज्ञापना सूत्र, प्रथम पद की टीका

८–जो मुनिगण तप के बल से प्राप्त विशिष्ट लब्धि द्वारा आकाश में विचरण कर सकते हैं वे चारण मुनि कहलाते हैं।

श्रीप्रवचनसारोद्धार में उनका परिचय निम्नानुसार दिया गया है—

अतिशययुक्त गति द्वारा चलने में समर्थ जंघाचारण और विद्याचारण मुनिगण सूर्य की किरणों का आश्रय लेकर अभीष्ट स्थान पर जाते हैं। ५९७

'जंघाचारण मुनि रुचकवर द्वीप तक एक कदम में पहुँच सकते हैं और एक ही कदम में लौट सकते हैं। दूसरे कदम में नंदीश्वर द्वीप तक जा सकते है और तीसरे कदम में पुनः अपने स्थान पर आ सकते हैं। ५९८

'यदि मेरु पर्वत पर जाने की इच्छा हो तो एक ही कदम में पांडुक वन में पहुँच सकते हैं और पुनः लौटते समय एक कदम में नंदनवन और दूसरे कदम में स्वस्थान पर आ सकते हैं। जंघाचारण मुनि चारित्रातिशय प्रभाव वाले होते हैं।' ५९९

'विद्याचारण मुनि प्रथम डग में मानुषोत्तर पर्वत पर जाते हैं, दूसरी डग में नंदीश्वर द्वीप पर जाते हैं और वहां के चैत्यों को वन्दन करके पुनः लौटते एक ही डग में स्वस्थान पर आते हैं, अथवा मेरु पर्वत पर जाते समय प्रथम डग में नंदन वन, दूसरी डग में पांडुक वन और वहां के चैत्यों को वन्दन करके लौटते समय एक ही डग में अपने स्थान पर पहुँचते है।' ६००–६०१

> ९–अंबट्ठा य कलिंदा, विदेहा विदकाति य।
> हारिया तंतुणा चेव, छ एता इब्भजातिओ॥

'अंवष्ठ, कलिंद, विदेह, विदकाति, हारित और तुंतुण ये छः इभ्य जातियाँ हैं।'

१०–उग्गा भोगा राइन्न–खत्तिया तह य णात कोरव्वा ।
इक्खागा रि य छट्ठा, थारिया होइ नायव्वा ॥

'उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात, कौरव और इक्ष्वाकु इन छ कुलो को आर्य कहते हैं, अर्थात् इन छ वशो के पुरुष कुल की श्रेष्ठता के कारण कुल आर्य कहलाते हैं।

११–अर्धमागधी भाषा १८ महा देशो के और ७०० से अधिक लघु देशो के शब्दो से समृद्ध मानी जाती थी और आर्य प्राय यही भाषा बोलते थे।

१२–पावा य चडकम्मा, अणारिया णिग्घिणा णिरनुतावी।
'अनार्य पापी प्रकृति वाले, घोर कर्मों के करने वाले, पाप की घृणा से विहीन, और चाहे जैसा अकार्य करके भी उसका पश्चात्ताप नही करने वाले होते है।'

१३–श्रीगौरीशकर हीराचद ओझा कृत राजपूताने का इतिहास प्रथम खड, पृ ३७ टिप्पणी।

१४–प्रो महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य कृत जैनदर्शन के प्राक्कथन में से।

१५–पाचवा स्कन्ध, अध्याय दूसरे से छठा-उसमे बताया है कि 'जब ब्रह्माजी ने देखा कि जन सख्या मे वृद्धि नही हुई तब उन्होने स्वयंभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ। प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध्र हुआ। अग्नीध्र के घर नाभि ने जन्म लिया। नाभि ने मरुदेवा से विवाह किया और उससे ऋषभदेव उत्पन्न हुए। ऋषभदेव ने इन्द्र द्वारा दी गई जयती नामक भार्या से सौ पुत्रो को जन्म दिया और बड पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके सन्यास ग्रहण किया। उस समय उनके [illegible]

उनका शरीर था, वे नग्नावस्था में रहते थे और मौन पालन करते थे। कोई डरावे, मारे, ऊपर थूंके, पत्थर फेंके, मूत्र विष्ठा फेंके फिर भी उसको ओर ध्यान नहीं देते थे। यह शरीर असत् पदार्थों का घर है, ऐसा समझकर अहंकार-ममत्व 'का त्याग करके विचरण करते थे। उनका कामदेव-सदृश सुन्दर शरीर मलिन हो गया था। उनका क्रिया कर्म बहुत भयानक हो गया था। शरीरादि का सुख छोड़कर उन्होंने 'आजगर' व्रत धारण किया था। इस प्रकार कैवल्यपति भगवान ऋषभदेव निरन्तर परम आनन्द का अनुभव करते और भ्रमण करते करते कोंक, वेंक, कुटक देशों में अपनी इच्छा से पहुँचे और कुटकाचल पर्वत के उपवन में (दक्षिण कर्णाटक) उन्मत्त की भाँति विचरण करने लगे। जंगल में वाँसों की रगड़ से आग लगी और उन्होंने उसमें प्रविष्ट होकर अपने आप को भस्म कर दिया।'

आगे भागवतकार लिखते हैं—" यह ऋषभदेव का चरित्र सुनकर कोंक,-वेंक,-कुटक देशों का राजा अर्हन् इनका उपदेश ग्रहण करके कलियुग में जब अधर्म बहुत होगा तब अपना धर्म छोड़कर कुपथ पाखंड (जैन धर्म) का प्रवर्तन करेगा। तुच्छ मनुष्य माया से विमोहित होकर शौचाचार का त्याग करके ईश्वर की अवज्ञा करनेवाले व्रत धारण करेंगे। न स्नान, न आचमन, ब्रह्म-ब्राह्मण-यज्ञ सब के निन्दक पुरुष होंगे और वेदविरुद्ध आचरण करके नरक में जाएँगे। यह ऋषभावतार रजोगुण से व्याप्त मनुष्यों को मोक्षमार्ग सिखाने के लिये हुआ। पांचवें अध्याय में ऋषभदेवजी द्वारा प्रजा को दिये गये उपदेश का वर्णन है। वह जैन धर्म के

१०–उग्गा भोगा राइन्न–खत्तिया तह य णात कोरव्वा ।
इक्खागा वि य छट्ठा, आरिया होइ नायव्वा ॥

'उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रिय, ज्ञात, कौरव और इक्ष्वाकु इन छ कुलो को आर्य कहते हैं, अर्थात् इन छ वंशो के पुरुष कुल की श्रेष्ठता के कारण कुल आर्य कहलाते हैं।

११–अर्धमागधी भाषा १८ महा देशो के और ७०० से अधिक लघु देशो के शब्दो से समृद्ध मानी जाती थी और आर्य प्राय यही भाषा बोलते थे ।

१२–पावा य चडकम्मा, अणारिया णिग्घिणा णिरनुतावी ।
'अनार्य पापी प्रकृति वाले, घोर कर्मों के करने वाले, पाप की घृणा से विहीन, और चाहे जैसा अकार्य करके भी उसका पश्चात्ताप नही करने वाले होते हैं ।'

१३–श्रोगौरीशकर हीराचद ओझा कृत राजपूताने का इतिहास, प्रथम खड, पृ ३७ टिप्पणी ।

१४–प्रो महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य कृत जैनदशन के प्राक्कथन में से ।

१५–पाचवा स्कन्ध, अध्याय दूसरे से छठा-उसमे बताया है कि 'जब ब्रह्माजी ने देखा कि जन सख्या मे वृद्धि नही हुई तब उन्होंने स्वयभू मनु और सतरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ । प्रियव्रत का पुत्र अग्नीध्र हुआ । अग्नीध्र के घर नाभि ने जन्म लिया । नाभि ने मरुदेवा से विवाह किया और उससे ऋषभदेव उत्पन्न हुए । ऋषभदेव ने इन्द्र द्वारा दी गई जयती नामक भार्या से सौ पुत्रो को जन्म दिया और बडे पुत्र भरत का राज्याभिषेक करके सन्यास ग्रहण किया । उस समय उनके पास मात्र

'दि सेक्रेड बुक्स आफ द ईस्ट' में प्रकाशित जैन सूत्रों की प्रस्तावना में से।

१८–जिसके चार महाव्रत हों वह चातुर्याम धर्म। श्री पार्श्वनाथ भगवान ने प्राणातिपातविरमण व्रत, मृषावादविरमण व्रत, अदत्तादानविरमणव्रत, और परिग्रहविरमणव्रत इन चार महाव्रतों का उपदेश दिया था। उसमें स्त्री को भी एक प्रकार का परिग्रह मानकर ब्रह्मचर्य का समावेश परिग्रहपरिमाण व्रत में किया था, परन्तु बाद के काल में परिग्रह का अर्थ संकुचित हुआ और धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु आदि तक सीमित हुआ। अतः श्री महावीर ने मैथुनविरमण व्रत उसमें जोड़ दिया और इस प्रकार पांच महाव्रतों का उपदेश दिया।

श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन की तेईसवीं गाथा में कहा है कि:–

चाउज्जामो उ जो धम्मो, जो इमो पंचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेणं, पासेण य महामुणी ॥

'पार्श्व महामुनि ने जो चातुर्याम धर्म कहा है, उसी का वर्धमान स्वामी ने पंचशिक्षा के रूप में उपदेश दिया है।

बौद्ध ग्रन्थ दीर्घनिकाय के द्वितीय सूत्र सामञ्ञफल सुत्त में तथा अन्य पिटकों में इसके उल्लेख मिलते हैं।

१९–प्रवचनसारोद्धार गाथा ४०४ में कहा है:–

अड्ढाइज्जसएहिं गएहिं वीरो जिणेसरो जाओ।

श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण से ढाई सौ वर्षों में वीर जिनेश्वर हुए। यहां टीकाकार ने जात का अर्थ 'सिद्ध' हुए ऐसा किया है।

श्री अमरचन्द्र कृत जिनेन्द्र चरित्र में यह वस्तु स्पष्ट

सिद्धान्त से मिलता जुलता है।

१६–The Yajurved mentions the names of three Tirthankaras Risabha, Ajitnath, and Aristnemi The Bhagwat Puran endorses the view that Risabha was the founder of Jainism —-यजुर्वेद तीन तीर्थंकरों के नामों का उल्लेख करता है–ऋषभ, अजितनाथ और अरिष्टनेमि। भागवत पुराण इस मत को स्वीकार करता है कि जैन धर्म के स्थापक श्री ऋषभ थे।

दी इण्डियन फिलोसोफी भा–१ पृ २८७

१७– अब इस बात पर सभी सहमत हैं कि नातपुत्र जो महावीर अथवा वर्धमान के नाम से प्रसिद्ध हैं वे बुद्ध के समकालीन थे। बौद्ध ग्रन्थों में से उपलब्ध उल्लेख हमारे इस विचार को दृढ करते हैं कि नातपुत्र के पहिले भी निर्ग्रन्थों का अस्तित्व था जो आज जैन अथवा आर्हतो के नाम से अधिक प्रसिद्ध है। जब बौद्ध धर्म उत्पन्न हुआ तब निग्रन्थों का सम्प्रदाय एक विशाल सम्प्रदाय माना जाता था। बौद्ध पिटकों में कई निग्रन्थों का वर्णन बुद्ध और उनके शिष्यों के विरोधी के रूप में और कई निग्रन्थों का वर्णन बुद्ध के अनुयायी बन जाने के रूप में आता है। उस पर से हम उक्त वस्तु का अनुमान कर सकते हैं। इसके विपरीत इन ग्रन्थों में किसी भी स्थान पर ऐसा कोई उल्लेख अथवा ऐसा कोई सूचक वाक्य देखने को नहीं मिलता कि निर्ग्रन्थों का सम्प्रदाय एक नवीन सम्प्रदाय था और नातपुत्र उसके संस्थापक थे। इससे हम अनुमान लगा सकते हैं कि बुद्ध के जन्म से पूर्व अति प्राचीन काल से निर्ग्रन्थों का अस्तित्व चला आरहा है।'

करने गये थे और उनका उपदेश सुनने लगे थे। यह देखकर ये विद्वान् ब्राह्मण कुछ मत्सरवश और कुछ आश्चर्यवंश एक के बाद एक उनका उपदेश सुनने गये और अपनी मनोगत शंकाओं का यथार्थ समाधान होने पर अपने जीवन की सफलता के लिये उन्होंने श्री महावीरकथित आजीवन त्यागधर्म स्वीकार किया।

२९—श्री इन्द्रभूति ने अपने ५०० शिष्यों के साथ, अग्निभूति ने ५०० शिष्यों के साथ, वायुभूति ने ५०० शिष्यों के साथ, व्यक्त ने ५०० शिष्यों के साथ, सुधर्मा ने ५०० शिष्यों के साथ, मंडिक ने ३५० शिष्यों के साथ, मौर्यपुत्र ने ३५० शिष्यों के साथ, अकंपित ने ३०० शिष्यों के साथ, अचलभ्राता ने ३०० शिष्यों के साथ, मेतार्य ने ३०० शिष्यों के साथ और प्रभास ने भी ३०० शिष्यों के साथ दीक्षा ग्रहण की थी। इस प्रकार कुल ४४०० ब्राह्मण प्रारम्भ में ही श्री महावीर के शिष्य बने थे।

शब्दों में दिखाई पडती है ।

गते श्रीपार्श्वनिर्वाणात्सार्द्ध वर्षशते द्वये ।
श्रीवीरस्वामिनो जज्ञे महानन्दपदोदय ॥

श्री पार्श्वनाथ के निर्वाण बाद ढाई सौ वर्ष में श्री महावीर स्वामी ने महाआनन्दकारी पद अर्थात् निर्वाण को प्राप्त किया ।

२०–पृ० १५३

२१–वा २–पृ० ११६–

२२–वो ७

२३–सच्च भयवं । श्री प्रश्नव्याकरण सूत्र ।

२४–पुरिसा ! सच्चमेव समभिजाणाहि । हे पुरुष ! तू सत्य को भली प्रकार जान ले ।

श्री आचारांग सूत्र १ ३ ३

२५–सच्चस्स आणाए से उवट्ठिए मेहावी मारं तरइ । सत्य की आज्ञा में उपस्थित रहा हुआ मृत्यु को तिर जाता है ।

श्री आचारांग सूत्र १ ३ ३

२६–सं० १९७३ की कार्तिक पूर्णिमा को वढवाण केम्प आधुनिक सुरेन्द्र नगर–(सौराष्ट्र) में श्रीमद राजचन्द्र की चतुर्थ जयन्ती पर दिये गये व्याख्यान में से ।

२७–जैन साहित्य का इतिहास पृ १४

२८–उनके नाम इन्द्रभूति अग्निभूति वायुभूति व्यक्त सुधर्मा मंडिक मौर्यपुत्र अकंपित अचलभ्राता मेतार्यऔरप्रभास थे । उन्हें यज्ञ कर्म में कुशल जानकर अपापा नगरी के सोमिल ब्राह्मण ने उन्हें यज्ञ करने के लिये आमन्त्रित किया था । श्री महावीर के अपापा नगरी पधारने पर हजारों लोग उनके दर्शन

प्रथम खंड

तत्त्व-ज्ञान

[१]

नौ तत्त्व (नव तत्त्व)

(षड् द्रव्य के विस्तृत विवेचन सहित)

[२]

कर्म वाद

[३]

आध्यात्मिक विकासक्रम

नव तत्त्व :–

* तत्त्वज्ञान की महत्ता
* नौ तत्त्वों का क्रम
* नौ तत्त्वों की विशेषता
* नौ तत्त्वों का संक्षेप
* षड् द्रव्य का सामान्य परिचय

  जीव तत्त्व } षड् द्रव्य
  अजीव तत्त्व }

  (१) आकाश
  (२, ३) धर्म–अधर्म
  (४) काल
  (५) पुद्गल
* पुण्य तत्त्व
* पाप तत्त्व
* आस्रव तत्त्व
* संवर तत्त्व
* निर्जरा तत्त्व
* बंध तत्त्व
* मोक्ष तत्त्व

तत्त्वज्ञान की महत्ता :

मनुष्य जैसे२ समझने लगता है वैसे२ उसके मन मे प्रश्न पैदा होते जाते हैं। ये प्रश्न मुख्यत निम्न प्रकार के होते हैं –

(१) मेरे आसपास जो जगत् व्याप्त है, वह वास्तव म क्या है ?

(२) सुख–दु ख की अनुभूति होने का कारण क्या है ?

(३) क्या दु ख मे से सवथा मुक्ति प्राप्त की जा सकती है ?

(४) यदि दु ख मे से मुक्ति प्राप्त को जा सकती है तो उसके उपाय क्या है ?

इन प्रश्ना से मन म उथल पुथल मच जाती है एक प्रकार की उलझन पैदा होती है और वह इनके उत्तर प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। परन्तु उत्तरप्राप्ति का कार्य सोच उतना सरल नही है। पहली बात तो यह है कि मनुष्य स्वय ही उनके कुछ उत्तरा की कल्पना कर लेता है, लेकिन तर्कपरम्परा ज्यो ही जरा आगे बढती है कि इन उत्तरो मे यथार्थता नजर नही आती। उनम एक प्रकार के विरोध अथवा असगति के दशन होते है। अत वह इन प्रश्नो के उत्तर प्राप्त करने के लिए अन्यत्र दृष्टि दौडाता है। ऐसे समय मे तत्त्वज्ञान उसकी सहायता करता है अर्थात् उसके इन प्रश्नो का उचित समाधान करता है। यही तत्त्वज्ञान की विशेपता है यही तत्त्वज्ञान की महत्ता है।

तत्त्व अर्थात वस्तु का स्वरूप अथवा सारभूत या रहस्य मय वस्तु। तत्सम्बन्धी ज्ञान सो तत्त्वज्ञान। उसे दर्शन भी कहते हैं क्योकि ज्ञानी पुरुपा के द्वारा आतरिक शक्ति के योग स उसका दर्शन किया गया होता है। अरबी म उसे फैलसूफी

कहते हैं और उसी के आधार पर अंग्रेजी भाषा में उसके लिए फिलोसोफी (Philosophy) शब्द रूढ़ बना है।

वस्तुस्थिति यह है कि जिसे तत्त्वसंवेदन अर्थात् तत्त्वों का निश्चयात्मक बोध हुआ हो वही मोक्षविषयक साधना यथार्थ रूप से कर सकता है, अन्य नहीं कर सकता। 'नाण-किरियाहिं मोक्खो'—ज्ञान और क्रिया से मोक्ष मिलता है;' 'पढमं नाणं तओ दया—पहिले ज्ञान और फिर सत्क्रिया रूपी दया।' 'नाणेन विना न हुंति चरणगुणा—ज्ञान के बिना चारित्र के गुण प्रकट नहीं होते;' आदि वचन उसके प्रमाण रूप हैं। इसके आधार पर हम समझ सकते हैं कि जैन धर्म ने तत्त्व-ज्ञान को कैसा और कितने महत्त्व का स्थान दिया है।

'मेरे आसपास जो जगत् व्याप्त है वह वास्तव में क्या है ?' इसके उत्तर में जैन दर्शन ने 'जीव' और 'अजीव' नामक दो तत्त्व हमारे सामने रक्खे हैं। उनका विस्तृत विवरण षड्-द्रव्य के रूप में हुआ है और उनके लक्षण—भेद एवं स्वरूप में जैन शास्त्रों का अच्छा खासा (काफी बड़ा हिस्सा) भाग लगा है। शास्त्रीय भाषा में उसे 'द्रव्यानुयोग' अर्थात् द्रव्य सम्बन्धी विवेचन कहते हैं।

सुख दुःख का अनुभव करने का कारण क्या ? इस प्रश्न के उत्तर में जैन दर्शन ने 'पुण्य' और 'पाप' नामक दो तत्त्व प्रस्तुत किये हैं और उनका कई युक्तियों तथा प्रमाणों से समर्थन किया है।

'क्या दुःख में से सर्वथा मुक्ति मिलना सम्भव है?' इस प्रश्न का उत्तर जैन दर्शन ने हकारात्मक दिया है और उसके लिये मोक्ष

दर्शन ने घोषित किया है कि मनुष्य की सत्प्रवृत्तियों का उद्देश्य यदि दुःखनिवृत्ति और सुखप्राप्ति हो तो उसे मोक्ष को ही अपना ध्येय बनाना चाहिये क्योंकि उसी से उक्त उद्देश्य की पूर्ति होती है।

'यदि दुःख में से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है, तो उसके उपाय क्या हैं?' इस प्रश्न का उत्तर जैन दर्शन ने विस्तार से दिया है, और देना ही चाहिये, क्योंकि यह मनुष्य के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जैन दर्शन ने इस प्रश्न के दो विभाग किये हैं—

(अ) दुःख आने के कारण क्या २ हैं? और

(आ) उन्हें दूर करने के उपाय कौनसे हैं?

प्रथम विभाग के उत्तर में उसने 'आस्रव' और 'बंध' नामक दो तत्त्व प्रस्तुत किये हैं और दूसरे विभाग के उत्तर में 'संवर और निर्जरा नामक दो तत्त्व हमारे सामने रक्खे हैं।

इस प्रकार जैन दर्शन ने नौ तत्त्वों का निरूपण करके मनुष्य के मन में उठने वाले सभी तात्त्विक प्रश्नों का समाधान किया है और इसलिये सत्यान्वेषक मुमुक्षु जनों के लिये उसका अध्ययन-अवलोकन अति आवश्यक हो जाता है।

हम जैन शास्त्रों के आधार पर इन नौ तत्त्वों का परिचय करवाएँगे जिससे पाठकों को जैन तत्त्वज्ञान का स्पष्ट ज्ञान हो जाएगा और वह जैनों के धर्माचरण तथा जैन धर्म से संबंधित अन्य वादों अथवा विषयों के ज्ञानार्जन में सहायक होगा।

नव तत्त्वों का क्रम :—

जैन शास्त्रों ने नौ तत्त्वों का क्रम निम्न प्रकार से निर्धारित किया है—

(१) जीव, (२) अजीव, (३) पुण्य, (४) पाप, (५) आस्रव, (६) संवर (७) निर्जरा (८) बंध और (९) मोक्ष अतः इस क्रम के अनुसार ही हम उनका परिचय देंगे।

यहां एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि नौ तत्त्वों का यह क्रम नियत करने का प्रयोजन क्या है? अतः हम उसका स्पष्टीकरण करना आवश्यक समझते हैं।

सभी तत्त्वों को जानने-समझने वाला, तथा संसार और मोक्ष विषयक सभी प्रवृत्तियाँ करनेवाला जीव है। जीव के बिना अजीव अथवा पुण्यादि तत्त्व संभव नहीं हो सकते इसलिये प्रथम निर्देश जीव का किया गया है।

जीव की गति, स्थिति, अवगाहना, वर्तना आदि अजीव की सहायता के बिना असंभव हैं, इसलिये दूसरा निर्देश अजीव का किया गया है।

जीव के सांसारिक सुख दुःख के कारण रूपअजीव के एक विभाग-पुद्गल-के कर्म स्वरूप विकार हैं, वे ही पुण्य और पाप हैं; अतः तीसरा निर्देश पुण्य का और चौथा निर्देश पाप का किया गया है।

पुण्य-पाप आश्रव के बिना नहीं हो सकते अतः पाँचवाँ निर्देश आश्रव का किया गया है।

आश्रव का विरोधी तत्त्व संवर है, जो कर्म को आने से रोकता है अतः आस्रव के बाद तुरन्त ही उसका निर्देश किया गया है.।

जिस प्रकार नये कर्मों का आगमन संवर से रुकता है, उसी प्रकार पुराने कर्मो की निर्जरणा निर्जरा से होती है अतः सातवाँ निर्देश उसका किया गया है।

निर्जरा का विरोधी तत्त्व बध है अर्थात् जिस प्रकार पुराने कर्म झड जाते है उसी प्रकार नये कर्मों का बध भी होता जाता है अत आठवाँ निर्देश बध का किया गया है। इसी प्रकार जीव का कर्म मे जैसे सबध होता है, वैसे छुटकारा भी होना है और इसलिये नौवा अथवा अन्तिम उल्लेख मोक्ष का किया गया है।

जीव प्रथम तत्त्व है और मोक्ष अन्तिम। इसका तात्पर्य यह समझिये कि जीव मोक्ष प्राप्त कर सके इसीलिये बीच के सभी तत्त्वो का निरूपण है।

नव तत्त्वों की विशेषता :—

भारतीय दर्शनो मे कुछ ज्ञेय प्रधान हैं अत वे मुख्यत ज्ञेय की ही चर्चा करते हैं। जैसे वैशेपिक, साख्य और वेदात। वैशेपिक दर्शन अपनी दृष्टि से जगत का निरूपण करता हुआ मूल द्रव्य कितने हैं? कैसे है? और उनसे सबधित अन्य पदार्थ कैसे है—इन बातो का वर्णन करता है। साख्य दर्शन प्रकृति और पुरुष का वर्णन करके प्रधानतया जगत के मूलभूत प्रमेय तत्त्वो की ही मीमासा करता है। इसी प्रकार वेदात दर्शन भी जगत के मूलभूत ब्रह्मतत्त्व की मीमासा करने म ही तत्त्व-निरूपण की इति मानता है।

भारतीय दर्शना म कुछ मुख्यत हेय और उपादेय की ही चर्चा करते है। जैसे योग और बौद्ध दर्शन। योग दर्शन ने हेय-दु ख, हय हेतु-दु ख का कारण, हान मोक्ष और हानोपाय-मोक्ष का कारण इस चतुर्व्यूह के द्वारा और बौद्ध दर्शन ने दु ख, समुदय, निरोध और मार्ग इन चार आर्य सत्या के द्वारा तत्त्वो का निरूपण किया है।

परन्तु जैन दर्शन कहता है कि मात्र का जगत स्वरूप जानने से मुक्ति नहीं मिलती। उसके लिये महापुरुषों ने जो साधन बताये हैं, उनका अनुसरण करना चाहिये; अर्थात् क्रिया का भी अवलंबन लेना चाहिये। इसी प्रकार मात्र क्रिया से भी मुक्ति नहीं मिलती। उसके लिए जगत के मूलभूत तत्त्वों का ज्ञान भी होना चाहिये। जिसे इन तत्त्वों का ज्ञान नहीं वह मोक्ष-साधक क्रिया यथार्थ रीति से नहीं कर सकता। इस बात को अधिक स्पष्ट करने के लिये वह रोगी का दृष्टान्त देता है। एक व्यक्ति को रोग हुआ है। वह जानता है कि मुझे कौनसा रोग हुआ है? क्यों हुआ है? और किन उपायों से मिट सकता है? परन्तु इस रोग को मिटाने के लिये वह कोई उपाय अथवा उपचार नहीं करता है तो क्या उसका रोग मिट सकता है? एक व्यक्ति को रोग हुआ है अतः वह अनेक प्रकार के उपचार करता रहता है, परन्तु रोग कौनसा है? उसका स्वरूप कैसा है? वह क्यों बढ़ता है और कैसे घटता है? आदि कुछ नहीं जानता, तो उसका रोग मिट सकता है क्या? जिस प्रकार रोग से मुक्त होने के लिये निदान और चिकित्सा दोनों आवश्यक हैं, उसी प्रकार मोक्ष-मार्ग की प्राप्ति के लिये ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं। इसी कारण उसने नव तत्त्वों में ज्ञेय और हेय-उपादेय ऐसे दोनों प्रकार के तत्त्वों को स्थान दिया है जो उसकी विशेषता है।

नौ तत्त्वों में जीव और अजीव दो ज्ञेय तत्त्व हैं। उनसे समस्त लोक, विश्व अथवा जगत का ज्ञान हो सकता है। पाप आस्रव और बंध ये तीनों हेय तत्त्व हैं। मनुष्य को क्या छोड़ना चाहिये अथवा क्या नहीं करना चाहिये, यह उनसे जाना जा

सकता है। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीनों उपादेय तत्त्व हैं। उनसे यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को क्या ग्रहण करना चाहिये अथवा क्या काम करना चाहिये। बाकी रहा पुण्य। वह सोने की बेडी जैसा होने से हेय तत्त्व है, परन्तु आत्मगुणों के विकास की साधना के लिये सहायक होने से व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय समझना चाहिये।

नव तत्त्वों का संक्षेप :

नव तत्त्वों का संक्षेप करना हो तो पुण्य और पाप तत्त्वों का समावेश बंध में किया जा सकता है क्योंकि शुभ कर्मों का आत्मा के साथ बंध होना पुण्य है और अशुभ कर्मों का आत्मा के साथ संबंध होना पाप है। इस प्रकार तत्त्वार्थसूत्र में सात तत्त्वों की गणना की गई है।[1] और श्री मलयगिरि आचार्य ने प्रज्ञापना सूत्र की वृत्ति में भी सात तत्त्वों का निर्देश किया है।[2] आधुनिक तत्त्वग्रन्थों में आर्हतदर्शनदीपिका ने भी सात तत्त्वों का ही निरूपण किया है।[3]

इन सात तत्त्वों का भी संक्षेप करना हो तो मात्र जीव और अजीव इन तत्त्वों में ही किया जा सकता है, क्योंकि पुण्यादि सभी तत्त्वों की उत्पत्ति जीव अजीव के कारण ही है। जीव और अजीव न हों, तो शेष सात तत्त्वों का होना असम्भव है।

यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि यदि नौ तत्त्वों के बदले सात तत्त्वों से ही काम चलता हो और सात तत्त्वों के बदले दो तत्त्वों से ही काम चलता हो तो नौ तत्त्वों का विस्तार क्यों ? उसका समाधान यह है कि वस्तु को सरलता से याद रखने के लिये उसका संक्षेप आवश्यक है परन्तु विशेष

वोध के लिये विस्तार की आवश्यकता रहती है, इसलिये शास्त्रों ने नौ तत्त्वों का निरूपण किया है। भगवती सूत्र में श्रावकों की ज्ञानसमृद्धि को वताते कहा "अभिगयजोवाजीवा उवलद्धपुण्णपावा आसवसंवरणिज्जरकिरियाहिगरण वंधमोक्ख-कुसला" अर्थात् "जिन्होंने जीव और अजीव को जान लिया है, जिन्हें पुण्य और पाप का ज्ञान उपलब्ध है, जो आश्रव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण तथा वंध और मोक्ष का रहस्य समझने में कुशल हैं।" तात्पर्य यह है कि आध्यात्मिक विकास के लिये नौ तत्त्वों का ज्ञान आवश्यक है और वे उन नौ तत्त्वों के ज्ञाता हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र में तत्त्वों की संख्या नौ कही है[४] और तत्त्व दर्शन के लिये जैन श्रुत में जिन छोटे वडे प्रकरणों की रचना हुई वे सब 'नव' शब्द से अलंकृत हैं[५] अतः 'नव तत्त्व' जैन धर्म की प्राचीन परम्परा है, यह मानकर आगे वढ़ें।

षड् द्रव्य का सामान्य परिचय :

जीव और अजीव का विस्तार षड् द्रव्य है। उसमें जीव की गणना एक द्रव्य के रूप में की जाती है और अजीव की गणना पाँच द्रव्यों के रूप में होती है। अजीव के पाँच द्रव्य आकाश, धर्म, अधर्म, काल और पुद्गल हैं। अजीव तत्त्व में इन सवका सविस्तार वर्णन आएगा परन्तु यहाँ हम षड्द्रव्य संवंधी कुछ सामान्य परिचय देते हैं ताकि जीव और अजीव का स्वरूप समझने में सरलता रहेगी।

जो पदार्थ अपने विविध पर्यायों अर्थात् अवस्थाओं और परिणामों के रूप में द्रवीभूत हो अर्थात् उन २ परिणामों को प्राप्त करे उसे द्रव्य कहते हैं। पर्याय के विना द्रव्य नहीं होता

और द्रव्य के बिना पर्याय नहीं होता।

सभी द्रव्य सत् है और अकृत्रिम है, स्वभाव सिद्ध है, अनादि निधन है और समान अथवा एक अवगाह के रूप में अन्योन्य में प्रवेश कर सकते है। फिर भी वे अपना स्वभाव नहीं छोड़ते अर्थात् वे अवस्थित है। द्रव्य को सत् कहने का अर्थ यह है कि वे उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से युक्त है। उत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना, व्यय अर्थात् नष्ट होना और ध्रौव्य अर्थात् स्थिरता से रहना। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि एक ही द्रव्य मे परस्पर विरुद्ध मालूम होने वाली तीन स्थितियाँ कैसे सभव है ? उसका समाधान यह है कि यदि द्रव्य को कूटस्थ नित्य (जिसमे कभी परिवर्तन न हो ऐसा) माने अथवा उसे क्षणिक (सदा परिवर्तित होने वाला) माने तो उसमे तीनो स्थितियाँ नहीं हो सकती परन्तु यदि उसे परिणामी नित्य माने तो उसमे इन तीनो स्थितियो की सभावना हो सकती है।

परिणामी नित्य का अर्थ है—जिसके परिणाम (पर्याय) बदलते रहे, परन्तु मूल द्रव्य न बदले अर्थात् वह नित्य रहे। स्वर्ण कुडल का जब कगन बनता है तब कगन रूपी परिणाम का उत्पाद होता है, और कुडलरूपी परिणाम का नाश होता है, परन्तु स्वर्ण तो वही रहता है।[१] नरेन्द्र बालक मिट कर युवा हुआ, इसका अर्थ यह है कि उसके युवावस्था रूपी पर्याय का उत्पाद हुआ, बाल्यावस्था रूपी पर्याय का व्यय हुआ परन्तु फिर भी वह नरेन्द्र के रूप मे तो कायम रहा।

हिन्दू धर्म मे ऐसा माना गया है कि ईश्वर, ब्रह्मा, विष्णु, और महेश ये तीन रूप धारण करता है। उनमे ब्रह्मा उत्पत्ति करता है विष्णु स्थिति सम्हालता है और महेश लय करता है।

क्या ये उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य के ही रूपक नहीं हैं ? ब्रह्मा अर्थात् उत्पाद, महेश अर्थात् व्यय और विष्णु अर्थात् ध्रौव्य। जो लोग ईश्वर की इस त्रिमूर्ति में श्रद्धा रखते हैं वे द्रव्य के उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य युक्त सत् में श्रद्धा क्यों नहीं रखते ? प्रत्येक द्रव्य पर यह घटित होता है, प्रत्येक द्रव्य के ये तीनों धर्म होते हैं।

द्रव्यों को अकृत्रिम कहने का अर्थ यह है कि वे किसी के द्वारा बनाए हुए नहीं हैं, किसी ने उनका सृजन नहीं किया। वे स्वभाव सिद्ध हैं अर्थात् अपने स्वभाव से ही इस प्रकार रहे हुए हैं। यदि मूल द्रव्यों को किसी के द्वारा बनाए हुए मानें तो उस निर्माता का भी निर्माता किसी को मानना ही पड़ता है। इस प्रकार वह परम्परा लम्बी बढ़ती ही जाय और उसका अन्त (अवस्थान) न होने से अनवस्था दोष उपस्थित होता है। अतः मूल द्रव्य अकृत्रिम हैं, अनादि सिद्ध हैं, ऐसा मानना ही युक्तिसंगत है।

द्रव्य एक दूसरे में प्रवेश करके, एक ही क्षेत्र में साथ रह सकते हैं इसीलिये वे लोक में एक दूसरे के साथ रहे हुए हैं। यदि ये द्रव्य प्रवेश न कर सकें तो लोक में छः द्रव्यों का रहना या होना असंभव बन जाय। जिस प्रकार एक कमरे में अनेक दीपकों का प्रकाश एक साथ रह सकता है, उसी प्रकार एक लोक के किसी भी विभाग विशेष में अनेक द्रव्य एक साथ रह सकते हैं।

द्रव्य अपना स्वभाव नहीं छोड़ते, अवस्थित हैं, इसीलिये उनकी संख्या सदा छः रहती है। यदि वे अवस्थित न हों तो छह के पाँच बनें, पाँच के चार बनें, चार के तीन बनें,

रहा तो नहीं है ?यदि चैतन्य रहा है ऐसा मालूम हो तो ऐसा माना जाता है कि उसमें अभी जीव है। इसलिए चैतन्य और जीव का तादात्म्य संबंध है। एक मनुष्य को मरा हुआ मान कर श्मशान ले गए और वहाँ उसे काष्ठ की चिता पर रक्खा गया। फिर अग्निसंस्कार करने की तैयारी की जा रही थी। इतने में उसके दाहिने पैर का अंगूठा जरा हिला अतः पास खड़े हुए व्यक्तियों ने कहा कि 'अभी तक इसमें जीव है, यदि जीव नहीं होता तो यह अंगूठा हिलता नहीं, अतः इसे चिता पर से नीचे उतारो।' उसे चिता पर से नीचे उतारा गया और वहाँ निष्णात वैद्यों को बुलवाया गया। उनके अमुक औषधि देते ही शरीर में विशेष हरकत (movement) हुई अतः उसे घर लाया गया। वहाँ उपचार करने से वह होश में आया और उसके बाद बहुत वर्षों तक जीवित रहा। तात्पर्य यह है कि चैतन्य के द्वारा जीव की हस्ती का पता लग सकता है।

जीव चैतन्य स्वरूप है इसीलिये उसे चेतन कहते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि चेतना को जीव का लक्षण मानते हो उसके बजाय शरीर का लक्षण मानो तो क्या आपत्ति है ? परन्तु उनका यह कथन उचित नहीं है। यदि चेतना शरीर का ही लक्षण हो तो वह सदा चेतन–युक्त ही रहना चाहिए, लेकिन मरणावस्था में वह चेतनरहित बन जाता है अतः चेतन शरीर का लक्षण नहीं हो सकता। फिर चेतना शरीर का लक्षण हो तो बड़े अथवा मोटे शरीर में अधिक चेतना होनी चाहिए और उसके आधार पर उसमें ज्ञान का प्रमाण भी अधिक होना चाहिये, इसी प्रकार दुबले अथवा पतले शरीर में कम चेतना होनी चाहिये और उसमें ज्ञान भी अल्प परिमाण

उपयोग अर्थात् ज्ञान का स्फुरण, बोध, व्यापार या जानने की प्रवृत्ति। जैन शास्त्रों में उसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार की गई है:—'उपयुज्यते वस्तुपरिच्छेदं प्रति व्यापार्यते जीवोऽनेनेत्युपयोगः—जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद-बोध के प्रति व्यापार करता है-प्रवृत्त होता है वह उपयोग'।

उपयोग दो प्रकार का होता है—एक निराकार और दूसरा साकार। वस्तु का सामान्य रूप में बोध होना निराकार उपयोग है और विशेष रूप में बोध होना साकार उपयोग है। इन उपयोगों को क्रमशः दर्शन और ज्ञान कहते हैं।

दर्शन और ज्ञान में प्रधानता ज्ञान की है क्योंकि जीवनोपयोगी सारी जानकारी ज्ञान के द्वारा ही प्राप्त होती है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'यदि उपयोग ही जीव का लक्षण है तो निगोद जैसी निकृष्ट अवस्था में भी जीव को क्या उपयोग होता है?' इसका उत्तर यह है कि 'निगोद जैसी निकृष्ट अवस्था में भी जीव को अक्षर के अनंतवें भाग जितना उपयोग अवश्य होता है। यदि इतना भी उपयोग न हो तो उसमें और जड़ में कोई अन्तर न रहे। यहाँ इतना स्पष्टीकरण करना आवश्यक है कि उपयोग तो प्रत्येक जीव को होता है परन्तु वह उसकी अवस्था अथवा शक्ति के विकास के अनुसार भिन्न २ प्रकार का होता है अर्थात् उसमें तरतमता बहुत होती है। निगोद के जीवों का उपयोग अति मंद होता है। बाद के जीवों का उपयोग क्रमशः बढ़कर होता है। और केवलज्ञानी का उपयोग सब से श्रेष्ठ होता है। उपयोग की इस तरतमता का कारण जीव से लगा हुआ

१० आयुष्य

जीव के किसी भी निकृष्ट अवस्था में इनमेंसे चार प्राण अवश्य होते हैं–एक इन्द्रिय—स्पर्शनेन्द्रिय, एक वल–कायवल, श्वासोच्छ्वास, और आयुष्य। जीव की अवस्था ज्यों ज्यों सुधरती जाती है त्यों त्यों इन्द्रिय धौर वल की संख्या में वृद्धि होती है और अन्त में वह दसों प्राणों को धारण करने वाला होता है।

भाव प्राण अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य। ये प्रत्येक जीव में अवश्य होते हैं। निकृष्ट अवस्था में वे अव्यक्त होते हैं, अतः सामान्य मनुष्य उन्हें जान नहीं सकता, परन्तु जीव की अवस्था ज्यों ज्यों उन्नत होती जाती है त्यों त्यों वे व्यक्त होते जाते हैं और सामान्य मनुष्य भी उन्हें जान सकता है।

सर्व कर्मो का क्षय होने के साथ ही जीव की देहधारण-क्रिया का अंत होता है, तव वह द्रव्य प्राणों को धारण नहीं करता, परन्तु भाव प्राण तो उस समय भी अवश्य होते हैं। अतः प्राण-धारण जीव की विशेषता है और उससे भी उसकी पहिचान हो सकती है।

जीव अच्छे और बुरे अनेक प्रकार के काम करता है और उनसे शुभाशुभ कर्मो का वंधन प्राप्त करता है अतः वह कर्मो का कर्ता है और इन कर्मों के शुभाशुभ फलों को वह भोगता है अतः वह कर्मो का भोक्ता भी है।

कुछ लोग कहते हैं कि 'आत्मा तो असंग' है अतः कर्म उसका स्पर्श नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि वह कर्म का कर्त्ता नहीं हो सकता। यहाँ यह प्रश्न किया जाता है कि

अतः हम उसकी कुछ आलोचना करेंगे। प्रथम तो वे आत्मा को जैसा असंग मानते हैं, वैसा वह असंग है नहीं। यह मूल स्वभाव से असंग है, परन्तु औपाधिक भाव से परभाव से संग-युक्त है। यदि वह मात्र असंग ही होता तो ईश्वर की प्रेरणा होने पर भी किसी सुख दुःख का संवेदन हो नहीं पाता जैसे कि असंग काष्ठादि में वैसा कोई संवेदन पैदा नहीं किया जा सकता; और यदि आत्मा असंग ही होता तो उसे आत्म-प्रतीति आरम्भ से ही होती परन्तु वैसा नहीं होता है। उसे तो अनेक प्रकार की शंकाएँ तथा तर्क-वितर्क होते रहते हैं अतः वह परभाव से संगयुक्त सिद्ध होता है।

इसी प्रकार ईश्वर को कर्म का प्रेरक मानना भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि जो ईश्वर स्वभाव से शुद्ध है, वह अशुद्ध कर्मो का प्रेरक कैसे हो सकता है? फिर दुःख और सुख ईश्वर की प्रेरणा से ही प्राप्त होते हों, तो सब को नितान्त सुख क्यों नहीं ? किसी को दुःख देने का क्या प्रयोजन है? यहाँ यदि ऐसा कहें कि यह ईश्वर की इच्छा की वात है, तो ईश्वर अन्यायी, सनकी या पागल ही सिद्ध होता है, जो विना कारण के सुख दुःख की प्रेरणा करता है। और यदि ऐसा कहें कि वह प्राणियों को किसी कारणविशेष से सुख दुःख की प्रेरणा करता है तो वह कारण विशेष क्या है, यह जानना आवश्यक होता है। इस कारण को यदि कर्म कहें—कहना ही पड़े—तो ईश्वर भी सभी प्राणियों को उनके कर्मानुसार सुख दुःख की प्रेरणा करता है, यह मानना पड़े, इसलिए आत्मा ही कर्म का कर्ता सिद्ध होता है। अतः जीव अथवा आत्मा को ही भले बुरे कर्मो का कर्ता मानना उचित है।

४

'यदि आत्मा असग है, तो यह सब प्रवृत्तियाँ कौन करता है ? और उसे सुख दु ख का अनुभव कैसे होता है और वह स्वर्ग-नरक मे कैसे जाता है ? तो वे कहते हैं कि 'सत्व, रजस्—तमोमय प्रकृति का यह तूफान है। सब प्रकृति ही करती है और आत्मा के ऊपर उसका आरोप होता है। अत आत्मा का सुख दु ख का सवेदन, और स्वर्ग नरक मे जाना आदि सब आरोपित है।

शुद्ध तर्क स सोचें ता यह मत ठीक नही लगता क्योकि प्रकृति तो जड है, तो फिर उसमे सवेदन और सवेदन मूलक प्रवृत्ति हो ही कैसे सकती है ? यदि ऐसा कहा जाय'कि 'जड मे आत्मा के चैतन्य के अरोप से हो सकती है', तो इसका अर्थ तो यह हुआ कि आत्मा का इसमे कुछ लेन देन नही रहा फिर आत्मा मे आरोपित सवेदन और स्वर्गगमनादि भी कौन स्थापित करे ! तथा बध और मोक्ष प्रकृति के हुए आत्मा के नही ! यदि ऐसा कहा जाय कि 'आत्मा को प्रकृति का कार्य अपना होने की भ्रान्ति है, अत ससार है और भ्राति मिटे तो मोक्ष हो तो यह भी 'मेरी मा बध्या है' की तरह 'वदतो व्याघात' (Self contradiction) या स्वगत उच्छेद हैं क्योकि आत्मा तो असग है फिर उसे भ्रान्ति कैसी? और यदि भ्रान्ति वास्तव मे है तो असग कैसा ?

कुछ अन्य लोग प्रकृति को आग करने के बदले ऐसा कहत है कि ईश्वर की प्ररणा से जीव स्वर्ग अथवा नरक मे जाता ह। जीव स्वय तो अज्ञानी होन स अपने सुख दु ख का सृजन करने म समर्थ नही है।

आध्यात्मिक विकास के लिये यह मान्यता खतरनाक है

अतः हम उसकी कुछ आलोचना करेंगे। प्रथम तो वे आत्मा को जैसा असंग मानते हैं, वैसा वह असंग है नहीं। यह मूल स्वभाव से असंग है, परन्तु औपाधिक भाव से परभाव से संग-युक्त है। यदि वह मात्र असंग ही होता तो ईश्वर की प्रेरणा होने पर भी किसी सुख दुःख का संवेदन हो नहीं पाता जैसे कि असंग काष्ठादि में वैसा कोई संवेदन पैदा नहीं किया जा सकता; और यदि आत्मा असंग ही होता तो उसे आत्म-प्रतीति आरम्भ से ही होती परन्तु वैसा नहीं होता है। उसे तो अनेक प्रकार की शंकाएँ तथा तर्क-वितर्क होते रहते हैं अतः वह परभाव से संगयुक्त सिद्ध होता है।

इसी प्रकार ईश्वर को कर्म का प्रेरक मानना भी उपयुक्त नहीं, क्योंकि जो ईश्वर स्वभाव से शुद्ध है, वह अशुद्ध कर्मो का प्रेरक कैसे हो सकता है? फिर दुःख और सुख ईश्वर की प्रेरणा से ही प्राप्त होते हों, तो सब को नितान्त सुख क्यों नहीं? किसी को दुःख देने का क्या प्रयोजन है? यहाँ यदि ऐसा कहें कि यह ईश्वर की इच्छा की बात है, तो ईश्वर अन्यायी, सनकी या पागल ही सिद्ध होता है, जो बिना कारण के सुख दुःख की प्रेरणा करता है। और यदि ऐसा कहें कि वह प्राणियों को किसी कारणविशेष से सुख दुःख की प्रेरणा करता है तो वह कारण विशेष क्या है, यह जानना आवश्यक होता है। इस कारण को यदि कर्म कहें—कहना ही पड़े—तो ईश्वर भी सभी प्राणियों को उनके कर्मानुसार सुख दुःख की प्रेरणा करता है, यह मानना पड़े, इसलिए आत्मा ही कर्म का कर्ता सिद्ध होता है। अतः जीव अथवा आत्मा को ही भले बुरे कर्मो का कर्ता मानना उचित है।

यहाँ हमे कुछ वर्ष पूर्व मध्य भारत के एक ग्राम मे घटित घटना याद आती है। एक व्यक्ति ने रात भर मे अपने सर्व कुटुम्बीजनो का खून कर दिया। पुलिस ने उसे गिरफ्तार कर लिया और उसे न्यायाधीश के सामने पेश किया। उस समय उस व्यक्ति ने कहा कि 'यह कार्य मैंने नही किया परन्तु उस ईश्वर ने मेरे द्वारा करवाया है। उसने मुझे ऐसी प्रेरणा दी कि तेरे कुटुम्ब के सभी व्यक्ति दुष्ट हैं अत उनका सहार कर दे। दुष्ट का सहार करना सत्पुरुष का कर्त्तव्य है और इसी लिए मैंने अपने कौटुम्बिक जनो का सहार किया है।' न्याय धीश ने यह तर्क अस्वीकार किया और खून करने के अपरा मे उसे दोषी घोषित करके आजन्म कारावास का दड दिया अत हम जो अच्छे या बुरे कर्म करते हैं उसका उत्तरदायित हम पर ही है। उसे ईश्वर के सिर मढना किसी प्रकार उचि नही है।

कई लोग कहते हैं कि 'आत्मा कर्म का कर्ता भले हो परन् उसका भोक्ता होना असभव है, क्योंकि कर्म जड हैं, अत अपना फल देना वे कहाँ से समझ सकते हैं ? इसके उत्तर मे जैन महर्षि कहते हैं कि "बोये वैसा काटे और करे वैसा भोगे" यह न्याय जगत मे प्रसिद्ध है। यदि पापकर्ता को उसका बुर फल भुगतना न पडता हो और पुण्यकर्ता को उसके शुभ फल की प्राप्ति न होती हो तो पाप का परित्याग और पुण्य का उपार्जन कौन करे ? फिर कर्म दो प्रकार के हैं –एक भाव कर्म और दूसरे द्रव्य कर्म। आचाराग सूत्र के दूसरे अध्ययन की टीका मे कर्म के १० भेद बताते हुए कहा है कि द्रव्य कर्म बध योग्य, बँधते हुए, बँधे हुए और उदय को नही प्राप्त हुए कर्म-पुद्गल-

स्वरूप हैं जब कि भावकर्म उदय प्राप्त एवं अपना फल बताते हुए कर्म-पुद्गल के आत्मा पर होते हुए प्रभाव के रूप में हैं। इस कारण से ये भाव-कर्म चेतन रूप हैं। इस चेतन रूप भाव कर्म का अनुसरण करके आत्मा का वीर्य (शक्ति) स्फुरित होता है और ऐसा होते समय वह जड़ द्रव्यकर्म की वर्गणाओं को ग्रहण करता है। जहर और अमृत अपने स्वभाव को जानते नहीं हैं, इससे क्या वे अपना कार्य नहीं करते हैं ? उनका उपयोग करने वाले को तथाविध फल मिलता ही है। इस प्रकार जीव को अपने ग्रहण किये हुए अशुभ कर्मो का फल अशुभ, और शुभ कर्मो का फल शुभ मिलता है, इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता।

जैन शास्त्र कहते हैं कि आत्मा मिथ्यात्व (विपरीत श्रद्धा) आदि दोषों के कारण कर्मबंधन में फँसता है परन्तु यदि वह अपनी शक्ति का विकास करे तो सभी कर्मो का नाश कर सकता है और अपने अन्दर छिपे हुए अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनंत चारित्र और अनन्त वीर्य के भण्डार को प्रकट कर सकता है। इस प्रकार अपने अन्दर छिपकर रहे भण्डार को बाहर लाने वाला आत्मा सामान्य नहीं परन्तु परम आत्मा है-परमात्मा है। 'अप्पा सो परमप्पा' यह जैन धर्म की प्रचण्ड घोषणा है और उसकी सारी साधना इस सिद्धान्त के आधार पर ही प्रवर्तित है। हाँ, इतना अवश्य है कि जब तक वह किञ्चिन्मात्र भी ज्ञानावरणादि कर्मो से आवृत है और कर्म के उदय के थोड़े-से प्रभाव से भी प्रभावित है तब तक वह प्रकट परमात्मा नहीं, परन्तु छद्मस्थ आत्मा है। 'सोऽहं' का सिद्धान्त मानने वाले एकांत दर्शन यह विवेक नहीं कर सकते।

भगवती सूत्र मे कहा है कि 'जीवो अणाई अनिधनो अविनासी अक्खओ धुओ निच्च' जीव अनादि है, अनिघन है, अविनाशी है, अक्षय है, ध्रुव है, नित्य है। यह वर्णन जीव का स्वरूप समझाने म सहायक होने से इस सम्बन्ध मे जरा विवेचन करना आवश्यक है।

जीव का अनादि कहने का आशय यह है कि वह किसी विशेष समय पर उत्पन्न नही हुआ, अमुक समय पर उसका जन्म नही हुआ अर्थात् वह अजन्मा है, अज है। यदि जीव को किसी विशेष समय पर जन्म धारण किया हुआ मानें तो वह कब उत्पन्न हुआ और क्यो उत्पन्न हुआ ? ऐसे प्रश्न हमारे मन म पैदा होते है। उत्तर मे यदि ऐसा कहे कि घट और पट की तरह वह समयविशेष पर उत्पन्न हुआ तो प्रश्न यह होता है कि वह उसी समय क्या उत्पन्न हुआ ? उससे पहिले क्यो नही ? उत्तरदाता चाहे जैसी समयमर्यादा बाँधे तो भी यह प्रश्न तो बना ही रहता है। इसी प्रकार यदि जीव को अमुक समय मे उत्पन्न हुआ मानें तो उससे पहिले उसका अस्तित्व नही था और वह अमुक द्रव्य के सयोजन से बना ऐसा सिद्ध होता है। तब प्रश्न यह रहता है कि यह सयोजन किसने किया, किस सामग्री से किया और किस हेतु से किया ? स्वतन्त्र आत्म तत्त्व के बिना अकेले जड से यह कुछ नही हो सकता और यदि द्रव्यो के सयोजन से आत्मा उत्पन्न होता हो तो इन सयोगो म उसकी मौलिकता नही रहती और इस प्रकार तो उसे षड्द्रव्य की पत्ति मे च्युत होने का प्रसग उपस्थित होता है।

यदि कह कि जीव देह के साथ ही उत्पन्न होता है और

उसके उत्पन्न होने का कारण पंच–भूत का संयोजन है, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि जीव पंच भूत के संयोजन से देह के साथ ही उत्पन्न होता हो तो सभी प्राणियों के स्वभाव समान होने चाहियें और उनका ज्ञान भी समान होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं दिखाई देता। एक ओर सिंह का स्वभाव देखिए और दूसरी ओर सियार का। एक ओर हंस का स्वभाव देखिए और दूसरी ओर कौए का। इसी प्रकार एक ओर सज्जन का स्वभाव देखिये और दूसरी ओर दुर्जन का स्वभाव देखिये। इतना ही नहीं वल्कि प्राणियों के ज्ञान में भी कितनी अधिक तरतमता है। एक ही माल की वनावट में इतनी तरतमता क्यों? यदि भूतों के संयोजन में कम अधिक परिमाण की वात करें तो यह उत्तर भी सही नहीं, क्योंकि उससे मंदता–शीघ्रता संभव होती है परन्तु विविधता, विचित्रता या विरुद्धता कैसे हो सकती है? गेहूँ के आटे में पानी कम ज्यादा पड़ा हो तो रोटी के स्वरूप में अन्तर पड़ता है, परन्तु उसमें से वड़े या मालपुए नहीं वन सकते।

विशेष महत्त्व का प्रश्न तो यह है कि पंचभूत अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश; ये पांचों भूत जड़ हैं, चैतन्य रहित हैं, उनके संयोग से उत्पत्ति हो ही कैसे सकती है? यदि कहें कि 'धाव के फूल, गुड़, पानी इनमें से एक में भी मद्य-शक्ति दिखाई नहीं देती, परन्तु जव उनका संयोग होता है, तव उनमें से मद्यशक्ति उत्पन्न होती है और वह कुछ काल तक रह कर विनाश की सामग्री मिलने पर नष्ट हो जाती है, उसी तरह पृथ्वी आदि प्रत्येक भूत में चैतन्यशक्ति दिखाई नहीं देती परन्तु जव उनका संयोग होता है, तव वह प्रकट होती है और

कुछ काल तक स्थिर रह कर विनाश की सामग्री मिलने पर नष्ट हो जाती है,' तो यह उदाहरण भी ठीक नही है-क्योंकि धाव के फूल, गुड आदि मे मद्य की थोडी बहुत मात्रा मौजूद है, इसीलिये उनका सयोजन होने पर मद्य की शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जब कि भूतो मे ज्ञान दर्शन-चारित्रादिमय चैतन्य का कोई अश विद्यमान नही है अत. उनके सयोजन से चैतन्य की उत्पत्ति होने की सभावना नही है। बालू के किसी भी कण मे तेल का अश नही होता, तो क्या बालू के समुदाय मे वह आता है ?

तिस पर भी यदि क्षण भर के लिये मान ले कि पच भूत के सयोजन से चैतन्य उत्पन्न होता है तो उसका समीकरण क्या है ? क्या उस समीकरण के अनुसार आज तक किसी ने चैतन्य की उत्पत्ति करके बताई है ? यदि करके बताई न हो तो पच भूत के सयोजन से चैतन्य की उत्पत्ति होती है, ऐसा कहने का आधार क्या है ? तात्पर्य यह है कि इस सिद्धात का कोई आधार अथवा प्रमाण नही है अत इसे स्वीकार नही किया जा सकता।

आधुनिक विज्ञानशास्त्री सब वस्तुओ की उत्पत्ति मात्र पुद्गल (Matter) अर्थात् जड वस्तु से मानते हैं। वे विरोधी समागम अथवा गुणात्मक परिवर्तन का सिद्धान्त आगे करके कहते हैं कि सब वस्तुओ की तरह चैतन्य भी अमुक वस्तुओ के सयोजन से बनता है, परन्तु उन्होने भी इसका अभी तक कोई समीकरण नही खोज निकाला और यदि खोज निकाला हो तब भी उसके अनुसार चैतन्य की उत्पत्ति करके बताई नही। अत उनकी यह मान्यता भी निराधार है। यहा यह भी

ध्यान रखना चाहिये कि शुद्ध चैतन्य तो दूर रहा, परन्तु जीवित आंख के जैसी आंख जीवित नाक के जैसा नाक अथवा जीवित हाथ पैर जैसे हाथ पैर आज तक वे बना नहीं सके। उनकी बनाई हुई ये सभी वस्तुएँ जड़ ही दिखाई पड़ती हैं और वे जीवित वस्तुओं से स्पष्टतया भिन्न मालूम होती हैं।

लेकिन अब कई वैज्ञानिकों को ऐसा प्रतीत होने लगा है कि यह विश्व एक प्रकार का जड़ यन्त्र नहीं, उसमें चेतन भी स्फुरित होता है; और उन्होंने अपना यह अभिप्राय प्रकट भी किया है। 'दी ग्रेट डिजाइन' नामक पुस्तक में ऐसे कितने ही अभिप्रायों का संग्रह देखा जा सकता है।[६] प्रो० आइन्स्टीन आदि उनमें मुख्य हैं।

जीव को अमुक समय में उत्पन्न हुआ मानने से कर्म का सिद्धांत भी खंडित होता है, क्योंकि एकदम नवजात जीव के साथ कर्म लगें भी तो कैसे? और कर्म लगें नहीं, तो उसके भवभ्रमण करने का प्रसंग भी कैसे उपस्थित हो?

इस प्रकार जीव को अमुक समय में उत्पन्न हुआ मानने में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ आती हैं अतः यह मानना ही उचित है कि वह अनादि है। अनादि मानने से उपर्युक्त सभी शंकाओं का समाधान हो जाता है।

जीव को अनिधन कहने का आशय यह है कि वह कभी भी मरता नहीं अर्थात् वह अमर है। 'अमुक जीव मर गये' ऐसा कहा जाता है, सो औपचारिक है। यहां मर जाने का अर्थ इतना ही है कि उसने जिस देह को धारण किया था, उसका वियोग हुआ। जैसे एक व्यक्ति पुराने वस्त्र उतारकर नए वस्त्र धारण करता है, उसी तरह जीव भी उपार्जित आयुष्य के पूरे
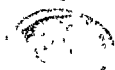
होने पर वर्तमान देह छोड कर नवीन देह धारण करता है और अपने द्वारा कृत कर्मों का फल भोगता है। तात्पर्य यह है कि जिसे हम मरण कहते हैं, वह जीव के लिये देहपरिवर्तन की क्रिया है, स्वविनाश की क्रिया नही।

जीव को अविनाशी कहने का आशय यह है कि शस्त्र उसका छेदन भेदन कर नही सकते, अग्नि उसे जला नही सकती पानी उसे भिगो नही सकता, या वायु उसका शोषण नही कर सकती अथवा चाहे जैसे शक्तिशाली यन्त्र इकट्ठे किये जाएँ अथवा प्रचण्ड रासायनिक प्रयोग किये जाएँ तो भी उसका विनाश नही हो सकता।

जोव को अक्षय कहने का आशय यह है कि उसमे कभी भी कुछ भी कमी नही होती। वह अनन्त भूतकाल मे जितना था, उतना ही आज भी है, और जितना आज है, उतना ही अनन्त भविष्य काल म भी रहेगा। यदि उसमे जरा भी कमी होती हो, तो एक काल ऐसा जरूर आना चाहिये जब कि वह अपना अस्तित्व ही खो बैठे, अर्थात् उसका निधन हो, उसका विनाश हो। लेकिन जीव अक्षय होने से ऐसी कोई परिस्थिति पैदा नही होती।

जीव को ध्रुव कहने का आशय यह है कि वह द्रव्य के रूप मे स्थायी रहता है और उसे नित्य कहने का आशय यह है कि उसका कभी अभाव नही होता।

जीव असख्य प्रदेश वाला है। उपमा से कहें तो उसके प्रदेश लोकाकाश के प्रदेशो के जितने हैं। ये सब प्रदेश जजीर की कडिया की तरह परस्पर एक दूसरे म फँसे हुए है अत उनका एकत्व बना रहता है। आत्मा के कभी भी खण्ड अर्थात्

टुकड़े नहीं होते अतः वह सदा अखंड ही है। प्रदेश का अर्थ है सूक्ष्मतम भाग।

यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि 'हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव हाथी का शरीर छोड़ कर चींटी का शरीर धारण करता है तव उसका खंड होता होगा या नहीं ? इसका उत्तर यह है कि 'जीव जिस प्रकार अखंड है, उसी प्रकार प्रकाश की तरह संकोच-विस्तार के गुणवाला भी है, इसलिये वड़े या छोटे कमरे में प्रकाश की तरह वड़े या छोटे शरीर में उसकी अवगाहना के अनुसार व्याप्त होकर रह सकता है। अतः हाथी के शरीर में रहा हुआ जीव हाथी का शरीर छोड़ कर चींटी का शरीर धारण करता है, तव वह संकुचित होता है, परन्तु उसका खंड नहीं होता। संकोच और खंड के वीच का भेद लक्ष्य में रखना चाहिए। वस्त्र समेट कर छोटा करें तो उसका संकोच किया-ऐसा कहा जाता है और फाड़ कर छोटे २ टुकड़े करें तो उसके खंड किये-ऐसा कहा जाता है। चींटी के शरीर में रहा हुआ जीव चींटी का शरीर छोड़ कर हाथी का शरीर धारण करता है तव उसका विस्तार होता है। रवर को खींचकर लम्वा किया जाए तो विशेष सीमा तक लम्वा होता है, उसके वाद लम्वा नहीं हो सकता अर्थात् अधिक लम्वा करने पर टूट जाता है, लेकिन जीव चाहे जितना लम्वा चौड़ा फैलने पर भी नहीं टूटता-खंडित नहीं होता यह उसकी विशेषता है।

जीव देहपरिमाण है अर्थात् देह में व्याप्त होकर रहने वाला है, परन्तु उससे वाहर व्याप्त होकर रहने वाला नहीं। कई उसे देह से वाहर व्याप्त अर्थात् विश्वव्यापी मानते हैं,

परन्तु वहा जीव के गुण मालूम नहीं होते अत जीव व्याप्त है, ऐसा किस प्रकार माने ? और यदि ऐसा है तो फिर उसका शरीर के साथ ही अमुक प्रकार का सम्बन्ध क्यों और कैसे ? कई लोग जीव को देह मे सूक्ष्म परिमाण वाला अर्थात् छोटा मानते हैं। उनका कथन है कि जीव तो मात्र चावल या जौ के दाने के समान है अथवा रीठे जितना है या मात्र एक बीते या वालिश्त जितना है आदि। परन्तु जीव देह से सूक्ष्म अर्थात् छोटा हो तो रहता कहा है ? यह प्रश्न खडा होता है। यदि ऐसा कहे कि वह हृदय मे रहता है अथवा मस्तक मे रहता है तो बाकी के भाग मे सुख दुख का सवेदन क्यो होता है ? यदि हाथ पर कोई पिन चुभाए तो दुख होता है और चन्दनादि का लेप करने पर सुख पैदा होता है--यह तथ्य है। अत जीव देह से अधिक परिमाण वाला भी नही और सूक्ष्म परिमाण वाला भी नही परन्तु देह के बराबर परिमाण वाला ही है।

आत्मा देह परिमाण है, ऐसी मान्यता उपनिषदो मे भी मिलती है। कौषीतकी उपनिषद् मे कहा है कि 'जैसे छुरा अपने म्यान मे और अग्नि अपने कुण्ड मे व्याप्त है, वैसे ही आत्मा शरीर मे नख से लगाकर शिखा तक व्याप्त है।" तैत्तिरीय उपनिषद् मे आत्मा को अन्नमय प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय बताया है जो देहपरिमाण मानने पर ही सभव है।

इस लोक मे जीवो की सख्या अनत है। कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्व मे मात्र एक ही आत्मा, एक ही ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु यदि स्थिति ऐसी हो, तो सभी जीवो के स्वभाव समान होने चाहिये, सभी जीवो की प्रवृत्ति समान होनी चाहिये और सभी जीवो को सुख दुख का अनुभव भी एक ही मात्रा

में होना चाहिये। जब कि देखने में तो कुछ और ही आता है। सभी जीवों के स्वभाव समान नहीं, सब जीवों की प्रवृत्ति समान नहीं और सभी जीवों को सुख दुःख का अनुभव भी एक श्रेणी का नहीं होता। महात्मा भर्तृहरि इस जगत् का चित्रण करते हुए कहते हैं कि 'किसी जगह वीणा की मधुर आवाज सुनाई देती है, तो किसी स्थान पर रुदन का हाहाकार श्रवणगोचर होता है। किसी स्थल पर विद्वानों की गोष्ठो हो रही है, तो किसी स्थल पर शराबियों की बकवास चल रही है। किसी स्थल पर सुन्दर शरीरवाली रमणियों के दर्शन होते हैं, तो किसी स्थल पर कोढ़ से कुरूप बने हुए शरीर दिखाई देते हैं। इससे यह संसार सुखमय है या दुःखमय, इसका कोई पता नहीं चलता।" कहने का तात्पर्य यह है कि जहाँ विविध स्व-भाव, विविध प्रवृत्ति और सुख दुःख के भिन्न २ संवेदन दिखाई पड़ते हों, वहाँ एक ही आत्मा को व्याप्त मानना एक प्रकार का दुःसाहस है। एक ही आत्मा हो तो गुरु-शिष्य, पिता-पुत्र, सज्जन-दुर्जन आदि भेद कैसे हो सकते हैं? साथ ही यदि इस जगत् में–जैसा कहा जाता है–एक ही ब्रह्म व्याप्त हो तो, सभी जीवों की उन्नति या अवनति भी साथ ही होनी चाहिये, लेकिन अनुभव तो यह कहता है कि अमुक जीव उन्नति के शिखर की ओर बढ़ रहे हैं, अमुक जीव अपनी स्थिति सम्हाल कर बैठे हैं, तो अमुक जीव अवनति की गहरी खाई में गिर रहे हैं। यदि कहें कि एक ही ब्रह्म के ये विविध अंश हैं, तो आपत्ति यह उपस्थित होती है कि किसी जीव की मुक्ति हो ही न पाए, जब तक कि सर्व अंश मुक्त न हों। इसी तरह यदि इस जगत में एक ही ब्रह्म व्याप्त हो, तो बंध और मोक्ष

परन्तु वहां जीव के गुण मालूम नहीं होते अतः जीव व्याप्त है, ऐसा किस प्रकार मानें ? और यदि ऐसा है तो फिर उसका शरीर के साथ ही अमुक प्रकार का सम्बन्ध क्या और कैसे ? कई लोग जीव को देह से सूक्ष्म परिमाण वाला अर्थात् छोटा मानते हैं। उनका कथन है कि जीव तो मात्र चावल या जौ के दाने के समान है अथवा रीठे जितना है या मात्र एक बीते या वालिश्त जितना है आदि। परन्तु जीव देह से सूक्ष्म अर्थात् छोटा हो तो रहता कहां है ? यह प्रश्न खड़ा होता है। यदि ऐसा कहें कि वह हृदय में रहता है अथवा मस्तक में रहता है तो बाकी के भाग में सुख दुःख का संवेदन क्यों होता है ? यदि हाथ पर कोई पिन चुभाए तो दुःख होता है और चन्दनादि का लेप करने पर सुख पैदा होता है—यह तथ्य है। अतः जीव देह से अधिक परिमाण वाला भी नहीं और सूक्ष्म परिमाण वाला भी नहीं परन्तु देह के बराबर परिमाण वाला ही है।

आत्मा देह परिमाण है ऐसी मान्यता उपनिषदों में भी मिलती है। कौषीतकी उपनिषद् में कहा है कि "जैसे छुरा अपने म्यान में और अग्नि अपने कुण्ड में व्याप्त है वैसे ही आत्मा शरीर में नख से लगाकर शिखा तक व्याप्त है।" तैत्तिरीय उपनिषद् में आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय बताया है जो देहपरिमाण मानने पर ही संभव है।

इस लोक में जीवों की संख्या अनंत है। कुछ लोग कहते हैं कि इस विश्व में मात्र एक ही आत्मा, एक ही ब्रह्म व्याप्त है, परन्तु यदि स्थिति ऐसी हो तो सभी जीवों के स्वभाव समान होने चाहिये, सभी जीवों की प्रवृत्ति समान होनी चाहिये और सभी जीवों का सुख दुःख का अनुभव भी एक ही मात्रा

विविध योनियों में परिभ्रमण करते हैं, वे संसारी कहलाते हैं और जो जीव सर्व कर्मों से मुक्त होकर सिद्ध-शिला पर विराजमान हैं वे मुक्त कहलाते हैं।

संसारी जीवों के भेद अनेक प्रकार से किये जा सकते हैं परन्तु उनमें दो भेद मुख्य हैं स्थावर और त्रस। दुःख को दूर करने की और सुख प्राप्त करने की गति-चेष्टा जिसमें न दिखाई दे वह स्थावर और जिसमें दिखाई दे वह त्रस।

स्थावर के पाँच भेद हैं :–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय। इनमें पृथ्वी-मिट्टी ही जिसका शरीर है वह जीव पृथ्वीकाय कहलाता है, अप्-पानी ही जिसका शरीर है, वह जीव अप्काय कहलाता है, तेजस्-अग्नि ही जिसका शरीर है, वह जीव तेजस्-काय कहलाता है, वायु ही जिसका शरीर है, वह जीव वायुकाय कहलाता है और वनस्पति ही जिसका शरीर है वह जीव वनस्पतिकाय कहलाता है। इन पाँचों प्रकार के जीवों के अकेली स्पर्शनेन्द्रिय होने से वे एकेन्द्रिय कहलाते हैं।

इन पाँचों स्थावर जीवों के दो भेद हैं: सूक्ष्म और वादर। इनमें से सूक्ष्म जीव सम्पूर्ण लोक में व्याप्त हैं परन्तु अति सूक्ष्मता के कारण वे अपने चक्षुओं के विषय नहीं हो सकते; जबकि वादर पृथ्वीकाय आदि लोक के अमुक भाग में रहे हुए हैं और वे पृथ्वी आदि शरीरस्वरूप में प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं, इनमें से वायु स्पर्शनेन्द्रिय से जानी जाती है।

वनस्पतिकाय के दो भेद हैं: साधारण और प्रत्येक। अनंत जीवों का एक शरीर होना साधारण का लक्षण है और मूल, पत्ते, बीज छाल, लकड़ी, फल, फूल आदि में स्वतंत्र एक जीव होना

जैसी कोई वस्तु ही नहीं हो सकती। जहाँ एक ही ब्रह्म हो, वहाँ बध किसका हो ? 'देवदत्त को रस्सी से बाँधा' ऐसा कहें तो वहाँ देवदत्त और रस्सी दो वस्तुएँ माननी ही पड़े। यदि अकेला देवदत्त हो तो वहाँ बधन की क्रिया सभव नही है इसी प्रकार देवदत्त बधन मुक्त हुआ' ऐसा कहें तो वहाँ देवदत्त और उस बाँधनेवाली अन्य किसी भी वस्तु को स्वीकार करना पडता है। यदि कोई अन्य वस्तु न हो तो उसे बाँधा कैसे जाए ? और जब बाँधा ही न जाय तो छूटने का-मुक्त होने का प्रसग ही कैसे उपस्थित हो ? तात्पर्य यह है कि जगत म एक ही ब्रह्म को व्याप्त और एक मात्र सत् मानने म अनेक दूषण हैं इसलिये इस लोक म अनन्त जीव हैं और उनका प्रत्येक का अपना व्यक्तित्व है यह मानना ही उचित है।

जीव अरूपी है अर्थात् उसके रूप, रस, गध या स्पर्श नहीं होता। जीव सक्रिय है, अर्थात् वह ऊर्ध्व, अध या तिर्यग् चाहे जिस दिशा मे गति कर सकता है। फिर उस में गुरुत्व नही है अत उसकी स्वाभाविक गति ऊर्ध्व होने के कारण सकल कर्मबंधन से मुक्त होते ही वह ऊर्ध्वगति करता है और समय मात्र म लोक के अग्रभाग पर पहुँच जाता है जिसे जैन परिभाषा म सिद्धशिला अर्थात् सिद्धो के रहने का स्थिर रहने का स्थान कहते है। इसके बाद आगे गति के लिये सहायक तत्त्व धर्मास्तिकाय द्रव्य नही है अत जीव की गति आगे नही होती। इस द्रव्य का विशेष विवेचन आगे आएगा।

जीव के मुख्य भेद दो हैं—ससारी और मुक्त। जो जीव कृत कर्मो का फल भोगने के लिये ससरण करते हैं, अर्थात्

वाद स्थापनाचार्य में रक्खे जाते हैं। कैंचुए, लालिये (वासी भोजन में पैदा होनेवाले) काष्ठ कीट, कृमि, पानी के पोरे, चूडेल, सीप वाले आदि। जिनके उपर्युक्त दो इन्द्रियों के अति-रिक्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय भी होती है वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे–कानखजूरा, खटमल, जूं, चींटी, दीमक, चींटे, इल्ली (धान में होने वाली) घीमेंल सवा, (मनुष्य के वालोंकी जड़ में होने वाले जीव) गींगोडे, गधैये, चोर कीड़े (विष्ठा के कीड़े) गोवर के कीड़े, कुंथुए इन्द्रगोप आदि। जिनके ऊपर की तीन इन्द्रियों के अति-रिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है, उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं जैसे–विच्छू, वगई, भौंरा भौंरी, टिड्डी, मक्खी, मच्छर, डाँस, मशक, कंसारी, मकड़ी आदि। जिनके इन चार इन्द्रियों के अतिरिक्त पाँचवीं श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है, उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। उनके मुख्य चार भेद हैं: मनुष्य, तिर्यंच, देवता और नारक। यहाँ तिर्यंच से पशु-पक्षी और जलचर, देवता से स्वर्ग आदि में रहने वाले और नारक से नरक में उत्पन्न होने वाले जीव समझे जाएँ। इन जीवों के उपभेद भी हैं जो जीव विचार-प्रकरण आदि ग्रन्थों में वताए गए हैं। समस्त संसारी जीवों को चार गतियों में विभक्त करें तव एकेन्द्रिय से लगा कर चतुरिन्द्रिय जीवों को तिर्यंच गति में गिना जाता है। मात्र पशु-पक्षी आदि को तिर्यंच गिनें तव उन्हें पंचेन्द्रिय तिर्यंच समझना चाहिए।

अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व के पांच भेद हैं ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। इन भेदों का यहां क्रमशः परिचय देंगे।

प्रत्येक का लक्षण है। साधारण वनस्पतिकाय के जीव का नाप अगुल के असख्यातवें भाग जितना है। जिस प्रकार अनेक दीपकों के प्रकाश एक कमरे मे साथ रहते हुए भी परस्पर टकराते नहीं, अथवा एक दूसरे से खडित नही होते परन्तु प्रत्येक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, इसी प्रकार एक ही शरीर मे अनत जीव साथ रहते हुए भी वे परस्पर टकराते नही अथवा एक दूसरे से खडित नही होते, परन्तु प्रत्येक का स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। अनेक दीपको मे से किसी भी दीपक को कमरे से बाहर ले जाएँ, तो उसका प्रकाश भी साथ ही जाता है, उसी प्रकार ये जीव इस शरीर को छोडकर बाहर जाते हैं तब उनका व्यक्तित्व भी साथ ही जाता है। तात्पर्य यह है कि साधारण शरीर म रहने से उनका लय नही हो जाता। साधा-रण वनस्पति निगोद के नाम से भी जानी जाती है।

घर्षण, छेदन, आदि प्रहार जिस पर पड न हो वह पृथ्वी सचेतन होती है और जिस पर घर्षण, छेदनादि प्रहार पडे हो वह अचेतन बन जाती है। पानी गर्म करने से अथवा उसमे अमुक प्रकार के पदार्थो का मिश्रण करने से अचेतन हो जाता है, इसी प्रकार तेजसकायादि के विषय मे भी समझें। तात्पर्य यह है कि सचेतन पृथ्वी आदि को विविध शस्त्र लगने से जीव निकल जाने के कारण वे अचेतन बन जाते हैं।

त्रस जीवो के द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पचेन्द्रिय ऐसे चार भेद हैं। उनम स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय ये दो इन्द्रियाँ जिन जीवो के होती है वे द्वीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे—शख कौडा, गडोल, (पेट का बडी कृमि), जोंक, चदनक अक्ष (समुद्र मे होने वाले एक प्रकार के जीव जो निश्चेतन होने के

बाद स्थापनाचार्य में रक्खे जाते हैं। कँचुए, लालिये (बासी भोजन में पैदा होनेवाले) काष्ठ कीट, कृमि, पानी के पोरे, चूडेल, सीप वाले आदि। जिनके उपर्यूक्त दो इन्द्रियों के अति-रिक्त तीसरी घ्राणेन्द्रिय भी होती है वे त्रीन्द्रिय कहलाते हैं। जैसे—कानखजूरा, खटमल, जूं, चींटी, दीमक, चींटे, इल्ली (धान में होने वाली) घीमेंल सवा, (मनुष्य के बालोंकी जड़ में होने वाले जीव) गींगोडे, गवैये, चोर कीड़े (विष्ठा के कीड़े) गोवर के कीड़े, कुंथुए इन्द्रगोप आदि। जिनके ऊपर की तीन इन्द्रियों के अति-रिक्त चक्षुरिन्द्रिय भी होती है, उन्हें चतुरिन्द्रिय कहते हैं जैसे—बिच्छू, वगई, भौंरा भौंरी, टिड्डी, मक्खी, मच्छर, डाँस, मशक, कंसारी, मकड़ी आदि। जिनके इन चार इन्द्रियों के अतिरिक्त पाँचवीं श्रोत्रेन्द्रिय भी होती है, उन्हें पंचेन्द्रिय कहते हैं। उनके मुख्य चार भेद हैं: मनुष्य, तिर्यंच, देवता और नारक। यहाँ तिर्यंच से पशु-पक्षी और जलचर, देवता से स्वर्ग आदि में रहने वाले और नारक से नरक में उत्पन्न होने वाले जीव समझे जाएँ। इन जीवों के उपभेद भी हैं जो जीव विचार-प्रकरण आदि ग्रन्थों में बताए गए हैं। समस्त संसारी जीवों को चार गतियों में विभक्त करें तब एकेन्द्रिय से लगा कर चतुरिन्द्रिय जीवों को तिर्यंच गति में गिना जाता है। मात्र पशु-पक्षी आदि को तिर्यंच गिनें तब उन्हें पंचेन्द्रिय तिर्यंच समझना चाहिए।

अजीव तत्त्व

अजीव तत्त्व के पांच भेद हैं ऐसा हम पहिले कह चुके हैं। इन भेदों का यहां क्रमशः परिचय देंगे।

१ आकाश

जो द्रव्य धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और जीव को अपने अंदर रहने देता है, अवगाहना (प्रवेश) करने देता है, उसे आकाश (Space) कहते हैं। भगवती सूत्र में 'अवगाहण-लक्खण ण आगासत्थिकाए'[१०] ये शब्द आते हैं और तत्त्वार्थ-कारने 'आकाशस्यावगाहः'[११] इस सूत्र से उसका यह लक्षण बताया है। अवकाश दे वह आकाश, यह उसकी सरल व्याख्या है।

यहां प्रश्न हो सकता है कि दूध शक्कर को अपने अन्दर रहने का अवकाश देता है और लोहे का गोला अग्नि को अपने अन्दर रहने का अवकाश देता है अर्थात् पुद्गलो मे भी अवकाश देने का गुण है, तो उसे आकाश का ही विशेष लक्षण कैसे माना जाए? इसका उत्तर यह है कि पुद्गल हमारी स्थूल दृष्टि में भले ही ठोस मालूम होता है, लेकिन लोहे जैसे ठोस लगने वाले पुद्गल भी सूक्ष्म दृष्टि से खोखले हैं और जो खोखला है वहां आकाश है और प्रकार आकाश होने से ही दूध में शक्कर और लोहे के गोले में अग्नि का प्रवेश हो सकता है। तात्त्विक दृष्टि से तो शक्कर या अग्नि को आकाश में ही अवकाश मिला कहा जाता है।

आकाश सब व्यापी है क्या कि वह सर्वत्र व्याप्त है। यहां यह प्रश्न हो सकता है कि 'ऊपर आकाश और नीचे धरती' ऐसा वचन अनेक व्यक्ति बोलते हैं और अनुभव में भी ऐसा ही आता है तो आकाश को नीचे व्याप्त कैसे माना जा सकता है? उसका उत्तर यह है कि हमारे ऊपर बहुतसा अवकाश रहा हुआ दिखाई देता है अतः ऊपर का है

सो आकाश ऐसा हम मान लेते हैं और उस प्रकार का भाषाप्रयोग करते हैं, परन्तु आकाश का विस्तार मात्र ऊर्ध्व दिशा में ही नहीं है। वह पूर्व पश्चिम उत्तर-दक्षिण, ईशान-नैऋत्य वायव्य और अग्नि इन आठों दिशाओं में व्याप्त है, इसी तरह अधोदिशा याने नीचे के भाग में भी व्याप्त है। हमारे नीचे धरती है यह बात सच है परन्तु यह धरती आकाश में रही हुई है। अतः आकाश नीचे भी व्याप्त है। धरती आकाश में स्थित है इसका प्रमाण यह है कि धरती का कोई भी भाग ले लिया जाय तो वहां आकाश शेष रहता है। एक दस फुट लम्बा चौड़ा गहरा खड्डा खोदा जाय तो उसमें क्या रहता है? शायद उत्तर मिलेगा कि उसमें हवा रहती है, परन्तु यदि वह हवा भी यंत्रादि के प्रयोग से खींच ली जाए तो वहां आकाश ही शेष रहता है। इसका अर्थ यह हुआ कि धरती का वह भाग आकाश में ही रहा हुआ था। इसी प्रकार सम्पूर्ण धरा–पृथ्वी के विषय में समझिये।

यदि यहाँ प्रश्न किया जाए कि 'इतनी भारी वजनदार पृथ्वी आकाश में किस तरह रह सकती है?' तो इसका उत्तर यह है कि पृथ्वी घनोदधि अर्थात् जमे हुए पानी पर रह सकती है। यह जमा हुआ पानी घनवात अर्थात् मोटी (गाढ़ी) हवा पर टिक सकता है। यह मोटी (गाढ़ी) हवा तनुवात अर्थात् पतली हवा पर रह सकती है और यह पतली हवा आकाश में रह सकती है। यहाँ वस्तु का ऐसा स्वभाव ही सिद्ध होता है जिससे वह उस भाँति रहती है। अन्यथा अपने पैरों के नीचे की पृथ्वी आदि को नीचे २ कहाँ तक मानें और किसके आधार पर मानें? इस प्रकार यह पृथ्वी आकाश में रही हुई,

का कितनी वार भाग दिया जा सकता है? तो उत्तर में 'अनंत' का ही आश्रय लेना पड़ता है। १ के १० होते हैं, १० के १०० होते हैं १०० के १००० होते हैं, १००० के १०००० होते है इस प्रकार शून्य बढ़ते ही जाते हैं। उस पर लाखों शून्य चढ़े तो भी ऐसा नहीं कह सकते कि अब गुणा नहीं हो सकता। विभाजन के विषय में भी ऐसा ही समझिये।

तात्पर्य यह है कि आकाश को अनंत कहना यथार्थ है। आज का विज्ञान भी आकाश को अनन्त ही मानता है।

आकाश अमूर्त है अर्थात् उसको कोई आकृति नहीं साथ ही वर्ण, गंध, रस या स्पर्श नहीं है। यहां पूछनेवाले पूछ सकते हैं कि 'यदि आकाश की आकृति नहीं, तो गुंबज के जैसा गोलाकार क्यों दीखता है? और वर्णविहीन है तो आसमानी रंग का क्यों दिखाई देता है? और इसी प्रकार प्रभात संध्या आदि के समय मनोहर रंग क्यों धारण करता है?' इसका समाधान यह है कि मैदान में खड़े रहने पर आकाश का आकार अर्ध गोलाकार जैसा दीखता है, वह हमारी दर्शन-क्रिया के कारण है। आकाश में एक प्रकार का वातावरण होता है अर्थात् उसमें हवा, रज आदि वस्तुएँ होती हैं उनके कारण दर्शन-क्रिया संभव होती है। इस दर्शन क्रिया का हिसाब ऐसा है कि सब ओर दृष्टि मर्यादा समान अन्तर वाली होती है। यदि आँख को मध्य बिन्दु स्थापित करके ऊपर और तिरछी लकीरें खींचें तो कुल मिलाकर गुम्बज का आकार बन जाएगा। इसके साथ ही दूसरी बात यह है कि दर्शन क्रिया का नियम ऐसा है कि यदि वस्तु अति दूर हो तो उसकी किरणें आँख तक पहुँचने में वक्राकार हो जाती हैं, अतः वह गोलाकार दिखाई देती

आधारित हैं।

आकाश निष्क्रिय है--क्योंकि वह कुछ भी क्रिया नहीं करता। यहां यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'यदि आकाश निष्क्रिय है, तो उसमें विविध प्रकार की क्रियाएँ क्यों दिखाई देती हैं ? और शब्द तो उसी से उत्पन्न होता प्रतीत होता है। ऐसा क्यों ?' इसका समाधान यह है कि 'आकाश में जो विविध क्रियाएँ होती हुई दिखाई देती हैं, वे जीव और पुद्गल के क्रिया-स्वभाव के कारण हैं। आकाश तो उनमें क्षेत्र देने के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं करता। घर के उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायेगी। घर में उठने, बैठने, चलने, फिरने, खाने, पीने आदि की अनेक प्रकार की क्रियाएँ होती दिखाई देती हैं, परन्तु वे क्रियाएँ घर नहीं करता। वे तो घर में रहने वाले मनुष्य ही करते हैं-घर तो केवल आश्रय देता है। आकाश के विषय में भी उसी प्रकार समझिये। शब्द आकाश से नहीं बल्कि पुद्गल से उत्पन्न होता है। आकाश तो उसका क्षेत्र मात्र है। यह बात आगे पुद्गल का वर्णन आएगा उसे पढ़ने से स्पष्ट हो जाएगी।

आकाश एक और अखंड है:-क्योंकि वह सर्वत्र एक रूप है, और उसके भाग नहीं हैं। यहाँ भी शंका हो सकती है कि 'यदि आकाश सर्वत्र एक रूप है और उसके भाग या टुकड़े नहीं हैं तो घटाकाश, पटाकाश, लोकाकाश आदि क्यों कहे जाते हैं।' इसका समाधान यह है कि 'ये सब औपचारिक प्रयोग हैं, अर्थात् अन्य वस्तुओं की अपेक्षा से उसे ऐसा कहते हैं, बाकी आकाश की अपनी एकरूपता या अखंडता में कोई कमी नहीं है। आकाश के जितने भाग में घट व्याप्त हो कर

अधोभाग कहलाता है, तथा वह अधोदिशा का निर्देश करता है। हम पृथ्वी के जिस भाग पर रहते हैं, वह मध्यलोक या तिर्यग् लोक कहलाता है अतः ऊपरी भाग ऊर्ध्वलोक और नीचे वाला भाग अधोलोक कहलाता है। जहाँ ऊँचे-नीचे का प्रश्न होता है, वहाँ ऊर्ध्व, तिर्यग् और अधो ऐसे तीन विकल्प ही संभव होते हैं।

जैन शास्त्रों में ऊर्ध्व दिशा को विमला कहा है क्योंकि उसमें प्रकाश है, अथवा वहाँ से प्रकाश आता है; और अधो-दिशा को तमा कहा है, क्योंकि वहाँ अंधकार है।

तिर्यग् भाग में चार दिशाएँ और चार विदिशाएँ हैं। उन्हें समझने के लिये आकृति नं० २ उपयोगी है चतुर्भुज को
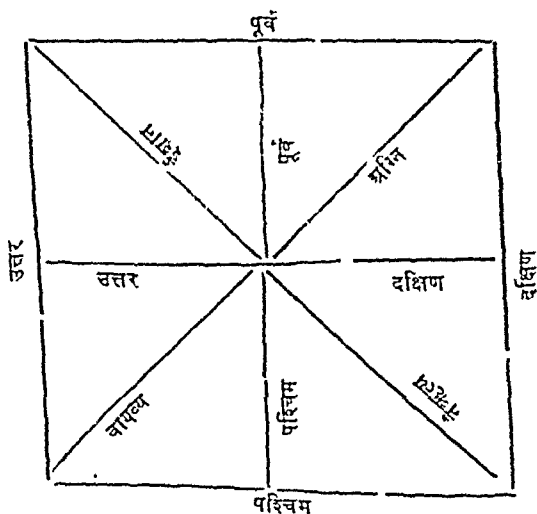
आकृति नं० २

चार भुजाएँ चार दिशाएँ है और चार कोण चार विदिशाएँ हैं। जिस ओर सूर्योदय होता है उसे पूर्व कहते हैं, जिस ओर सूर्यास्त होता है उस पश्चिम कहते है। जिस ओर ध्रुवतारा है उस उत्तर कहते है और उसके सामने वाली दिशा को दक्षिण कहते है।

पूर्व और दक्षिण के बीच स्थित कोण को अग्नि, दक्षिण और पश्चिम के मध्य स्थित कोण को नैऋत्य, पश्चिम और उत्तर के बीच स्थित कोण को वायव्य और उत्तर तथा पूर्व के मध्य स्थित कोण को ईशान कहते है।

चार दिशाओं और चार विदिशाओं के शास्त्रीय नाम निम्न लिखित है –

शाओं की गणना होती है। भगवती सूत्र आदि में इस विपय का वर्णन किया गया है।

यहाँ यह बता देना आवश्यक है कि दिशाओं का संकेत किसी भी वस्तु को मध्य में रखकर भी किया जा सकता है। उदाहरणार्थ उत्तर में हिमालय, दक्षिण में कन्याकुमारी, पूर्व में बंगाल और पश्चिम में सौराष्ट्र ऐसा दिशानिर्देश हम भारत के मध्य भाग को ध्यान में रखकर ही करते है। अब यदि हिमालय के ही उत्तर, दक्षिण, पूर्व और पश्चिम इस प्रकार विभाग करने हों तो उसमें से किसी भी स्थल पर मध्य बिन्दु की कल्पना करके वैसा कर सकते हैं और यह उत्तर हिमालय, यह दक्षिण हिमालय ऐसा व्यवहार चलाया जा सकता है।

दिशाओं का व्यवहार किसी भी वस्तु को मध्य में रखकर किया जा सकता है इसलिये वह सापेक्ष होता है, यह बात भी ध्यान में रखना आवश्यक है। एक वायुयान पृथ्वी से एक मील की ऊँचाई पर उड़ता हो, उसके और पृथ्वी के बीच एक सीधी रेखा खींची जाए तो इस रेखा के लिये ऊर्ध्वदिशा-दर्शक और अधोदिशा-दर्शक इस प्रकार दोनो व्यवहार हो सकते हैं। पृथ्वी पर खड़ा हुआ मनुष्य उस रेखा को ऊर्ध्व-दिशादर्शक कहेगा क्योंकि अपने से जो ऊँचा है उसे ऊर्ध्व दिशा कहते हैं और वायुयान में रहा हुआ व्यक्ति उसे अधो-दिशादर्शक कहेगा क्योंकि अपने से जो नीचा है उसे अधो-दिशा कहते हैं।

मार्ग में बड़ का एक वृक्ष हो तो उसे एक ग्राम के निवासी पूर्व स्थित कहते हैं। अन्य ग्राम के निवासी उसे पश्चिम-स्थित कहते हैं, तीसरे ग्राम के लोग उसे उत्तर में खड़ा हुआ कहते हैं और

चौथे गाँव वाले दक्षिण मे खड़ा हुआ बताते है। इसका कारण स्पष्ट है कि प्रत्येक अपने गाँव को मध्य मे रख कर दिशा का व्यवहार करता है। क के लिये क से ख तक का सारा अन्तर पूर्व है, अत वह उसे पूर्व स्थित कहता है, और ख के लिये ख से क तक का अन्तर पश्चिम है वह उसे पश्चिम स्थित कहता है। उसी प्रकार ग और घ के विषय मे समझ
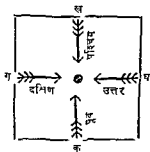
ख
पश्चिम
ग
दक्षिण
उत्तर
घ
पूर्व
क

आकृति न० ३

आकाश को हम स्कध कहे तो उसका कोई भी भाग देश कहलाएगा और उसका सूक्ष्मातिसूक्ष्म भाग प्रदेश कहलाएगा। ऐसे प्रदेश लोकाकाश मे असख्य होते है और अलोकाकाश मे अनन्त होते है। व्यवहार मे असख्य का अर्थ अनन्त समझा जाता है परन्तु जैन शास्त्रो ने सख्या के सख्य, असख्य और अनन्त ऐसे तीन प्रकार माने हैं अत असख्य का अर्थ अनन्त नही। अनन्त असख्य की अपेक्षा बहुत बडा परिमाण है।

(२-३) धर्म और अधर्म :

द्रव्यो की तालिका मे धर्म और अधर्म का नाम देखकर कितने ही तो भडक उठते हैं और यह मानने लग जाते है कि यह तो बहुत ही विचित्र बात है। धर्म और अधर्म तो जीवन से सबधित प्रवृत्तियों के अमुक प्रकार के नाम हैं, उन्हे द्रव्य कैसे कह सकते हैं? परन्तु यहाँ धर्म और अधर्म का जो निर्देश किया

जाता है वह पुण्य-पाप-लक्षण धर्म अधर्म का नहीं, परन्तु यह तो विश्व-व्यवस्था में सहायक दो मूल द्रव्यों का है।

"धर्म और अधर्म का लक्षण क्या है ?" इस प्रश्न का उत्तर उत्तराध्ययन सूत्रकार ने इस प्रकार दिया है: 'गइलक्खणो उ धम्मो, अहम्मो ठाणलक्खणो'[१२]— धर्म गतिलक्षण है, अधर्म स्थान अर्थात् स्थिति लक्षण है' तत्त्वार्थ सूत्रकार ने इस वस्तु को स्पष्ट करते हुए बताया है कि 'गतिस्थित्युपग्रहो।' धर्माधर्मयोरुपकार:[१३]— गति और स्थिति होने में धर्म और अधर्म सहायक हैं।' इससे भी अधिक स्पष्टतया यह है कि 'स्वत एव गमनं प्रति प्रवृत्तानां जीवपुद्गलानां गत्युपष्टम्भकारी धर्मास्तिकाय:, स्थितिपरिणतानां तु तेषां स्थितिक्रियोपकारी अधर्मास्तिकाय इति।[१४] स्वयं ही गमन के प्रति प्रवृत्त हुए जीव और पुद्गलों की गति में सहायक हो वह धर्मास्तिकाय और स्थिति में रहे हुओं को उनकी स्थितिक्रिया में सहायक हो वह अधर्मास्तिकाय।'

यहाँ गति के संबंध में छ: द्रव्यों में से सिर्फ जीव और पुद्गल, दो द्रव्यों का ही निर्देश करने का कारण यह है कि आकाश, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य गति नहीं करते अत: उनको सहायता देने का प्रश्न ही नहीं उठता। 'काल गया' 'काल चला गया' आदि वचन बोले जाते हैं, जो औपचारिक है। इनका अर्थ 'व्यतीत होने' से है।

जीव और पुद्गल ये दो द्रव्य गति करते है इस बात में तो शायद ही किसी को संदेह होगा, क्योंकि हम जीवित प्राणियों को हलन चलन करते, दौड़ते, और अनेक प्रकार की क्रियाएँ करते अर्थात् [illegible]न देखते हैं और पौद्गलिक पदार्थों

मे भी विविध प्रकार की गति का अवलोकन करते है। चावी दी हुई हो ता घडी चलती रहती है जोरदार धक्का लगने पर वस्तु उछलती अथवा दूर जाता है। बदूक से गोली छूटने पर कुछ दूर तक चली जाती है। प्रकाश ध्वनि आदि पौद्गलिक वस्तुओ की गतिशीलता प्रसिद्ध है।

य द्रव्य गति या स्थिति करने के स्वभाव वाले है परन्तु उनको गति या स्थिति करने के लिये किसी माध्यम (Medium) की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति ये धर्म और अधर्म करते है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि द्रव्य स्वय गति या स्थिति करने के स्वभाव वाला हो तो स्वय ही गति या स्थिति करता रहे उस माध्यम की आवश्यकता क्यो?' उसका समाधान यह है कि कोई वस्तु स्वय गति या स्थिति करने के स्वभाव वाला हो तो भी उसम सहायक होने वाली वस्तु की आवश्यकता रहती है मछली म तैरने का स्वभाव है वह स्वय तैर सकती है परन्तु यह तैरन की क्रिया जल की सहायता से ही हो सकती है। जल के बिना मछली तैरन की क्रिया नही कर सकती। रेलगाडी म दौडने की शक्ति है परन्तु वह पटरियो पर ही दौड सकती है उनके बिना नही। एक विद्यार्थी म पढने की शक्ति है परन्तु शिक्षक अथवा पुस्तक की सहायता हो तब ही पढ सकता है उसके बिना नही पढ सकता। इसी तरह छोटे बच्चे म या मार्ग म से उठे हुए व्यक्ति म अथवा अशक्त वृद्ध म चलने की शक्ति तो है परन्तु वह लकडी या किसी के सहारे से ही चल सकता है। इसी प्रकार प्राणियो म भी स्थिति करने की स्थिर रहने की शक्ति है परन्तु रास्ते म कोई

वृक्ष या विश्राम स्थल मिले तभी वे स्थिर रहते हैं। गाड़ी में स्थिर होने की शक्ति है, परन्तु वह स्टेशन आने पर ही स्थिर होती है। भिक्षुकों में एक स्थल पर इकट्ठे होने की शक्ति है, परन्तु जहाँ अन्न सत्र चलता हो वहीं वे इकट्ठे होते हैं। आशय यह है कि जीव और पुद्गल को गति-स्थिति करने में किसी माध्यम की आवश्यकता होती है यह स्वाभाविक है।

वैज्ञानिकों ने कई अनुसंधानों के बाद यह निश्चित किया है कि प्रकाश की किरणें एक सेकण्ड में १,८६,००० मील की गति से प्रवास करती हैं। फिर यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि ये किरणें किस प्रकार गति करती है ? सूर्य, ग्रह और तारों के बीच जो इतना विराट् शून्य प्रदेश फैला हुआ है, उसमें होकर वे कैसे गुजरती है ? इसके अलावा ये किरणें लाखों करोड़ों, अथवा अरबों मील की दूरी से आती हैं फिर भी इन सबकी गति समान होती है, न कि एक की शीघ्र और दूसरी की मंद। अतः इन किरणों के आने का कोई माध्यम होना चाहिये। इस संबंध में अनुसन्धान कार्य करते उन्होंने ईथर नामक द्रव्य को पाया। परन्तु उसके स्वरूप का निर्णय करने का कार्य सरल नहीं था। पहिले उसे भौतिक याने परमाणविक (परमाणुओं से बना हुआ, माना गया परन्तु अनेक मत परिवर्तन होने के बाद अब सभी इस मान्यता पर पहुँचे हैं कि ईथर अपरमाणविक वस्तु है, सर्वत्र व्याप्त है, और वस्तु के गतिमान होने में सहायता करता है।

अब धर्म और अधर्म की संख्या और परिमाण का स्वरूप समझें। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि—

धम्मो अहम्मो आगा[illegible] इक्किक्कमाहियं।

प्रणनाणि य दव्वाणि, कालो पुग्गल-जन्तवो ॥

'धर्म, अधर्म और आकाश ये एक २ द्रव्य हैं और काल पुद्गल तथा जीव ये अनन्त द्रव्य हैं।'

इसके आधार पर धर्म और अधर्म एक २ अखण्ड द्रव्य निश्चित होते हैं। युक्ति से भी ऐसा ही समझ में आता है। यदि उनके खण्ड हों तो उनमें सतत, अविरल गति सम्भव नहीं हो सकती। स्थिति के विषय में भी ऐसा ही समझिये।

ये दोनों द्रव्य लोक-प्रमाण हैं अर्थात् जितने भाग में लोक है उतने भाग में ही वे व्याप्त हैं। इस लोक का कोई भी भाग ऐसा नहीं जिसमें ये दोनों द्रव्य व्याप्त न हों। इसका अर्थ यह है कि जीव और पुद्गल की उत्कृष्ट गति-स्थिति लोक के एक सिरे से दूसरे सिरे तक सम्भव है परन्तु लोक के बाहर सम्भव नहीं, क्योंकि वहाँ इन दो द्रव्यों की उपस्थिति नहीं है।

यहाँ ऐसा तर्क को अवकाश है कि धर्म और अधर्म की व्याप्ति आकाश के अमुक भाग में ही क्यों? उन्हें भी आकाश *की भांति सर्वव्यापी मानें तो क्या आपत्ति है?* अतः उत्तर देना आवश्यक है कि 'जहाँ जहाँ आकाश वहाँ वहाँ धर्म और अधर्म ऐसा मानें तो धर्म और अधर्म को स्वतन्त्र द्रव्य मानने की जरूरत ही नहीं रहती, फिर तो गति और स्थिति में सहायता करना आकाश का ही लक्षण माना जाएगा क्योंकि जहाँ जहाँ आकाश होता है, वहीं गति और स्थिति भी पाई जाएगी। इसी इसी प्रकार धर्म और अधर्म को सर्वव्यापी मान तो अलोक का लोप हो जाए और लोक की सीमा अनन्त हो जाए और उसके कारण उसमें जो एक प्रकार की व्यवस्था दिखाई पड़ती है, वह दिखाई न दे। जीव और पुद्गल अनन्त आकाश क्षेत्र म रुके

विना संसरण करें तो ऐसे तितर वितर हो जाएँ कि फिर उनका मिलना लगभग असंभव ही हो जाए। इसके अलावा लोक में जो सिद्धि स्थान है, उसका भी लोप हो जाय जिससे सिद्धि का भी लोप हो जाय।

जीव की स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है अतः कर्मबंधन में से मुक्त होते ही वह ऊर्ध्व गति करके लोक के अग्र भाग में पहुँच जाता है। और आगे धर्म और अधर्म द्रव्य न होने से वहीं स्थिर हो जाता है। इस प्रकार मुक्त या सिद्ध जीवों के स्थिर होने का लोक के अग्र भाग में जो स्थान है उसे सिद्धिस्थान कहते हैं। यह अग्र भाग सूचित करता है कि लोक अनंत नहीं है। यदि लोक अनंत हो तो उसके किसी अग्र भाग का होना संभव नहीं। अतः जो जीव मुक्त अथवा सिद्ध हुआ हो उसे ऊर्ध्व गति जारी रखनी ही पड़े और उसका कभी अत न आए। क्योंकि वह अनंत लोक में गति कर रहा है। इस प्रकार आज तक जितने जीव सिद्ध हुए हैं वे सव गतिमान ही हों, अतः सिद्धिस्थान नामक कोई स्थान ही संभव न हो। सिद्धों की यह स्थिति देखने के वाद कौन सुज्ञ सिद्धि के लिये प्रयत्न करेगा? अतः सिद्धि का भी लोप हो जाय। दूसरी वात यह है कि मर्यादित लोकाकाश जैसा कुछ न हो तो जीव अनंत आकाश में कहीं के कहीं तितर वितर हो भटकने लग जाएँ जिससे मोक्ष मार्ग का उपदेश, साधना सामग्री आदि की व्यवस्था ही न हो; फिर मोक्ष होने की वात ही क्या? इस प्रकार धर्म और अधर्म को सर्व-व्यापी मानने से अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है, अतः उन्हें लोक पर्यन्त व्याप्त मानना ही उचित है।

गति सहायक-धर्म-और स्थिति [illegible]

मान जैन दर्शन मे ही दृष्टिगोचर होता है। वहा तक अन्य दर्शन नही पहुँचे। परन्तु अब तो उन्हे भी स्वीकार करना पडता है क्योंकि इन्हे जगत के एक महान् वैज्ञानिक का समर्थन प्राप्त है। प्रो० अल्बर्ट आइन्स्टीन का कथन है कि लोक परिमित है, अलोक अपरिमित है। लोक परिमित होने मे द्रव्य अथवा शक्ति लोक के बाहर नही जा सकती। लोक के बाहर इस द्रव्य या शक्ति का अभाव है। जो गति मे सहायक होती है।[१६]

धर्म और अधर्म नित्य है, अर्थात् कोई भी समय ऐसा नही था जब ये विद्यमान नही थे। आज भी वे विद्यमान है और भविष्य म भी सर्वदा विद्यमान रहग। भगवती सूत्र मे-कालओ जाव निच्चे[१७] इन शब्दो से यह वस्तु प्रकट की गई है। धर्म और अधर्म मूर्त नही, अत उनके वर्ण, रस, गंध और स्पर्श हो नही सकते। भगवती सूत्रकार ने उन्ह 'अवण्णे अगन्धे अरस अफासे' कहा है।[१८]

धर्म और अधर्म के प्रदेश असख्य हैं, यह बात 'असखेज्जा धम्मत्थिकायपएसा' इन शास्त्रीय वचनो से प्रकट होती है।[१९]

(४) काल

जैन सूत्रो म कहा है कि 'वत्तणालक्खणो कालो–काल वर्तनालक्षण वाला है[२०] वर्तनालक्षण वाला अर्थात् अपने आप वर्तना करते हुए पदार्थो की वर्तना क्रिया मे सहाय रूप होने वाला। इस जगत म जीव पुद्गल आदि अपने आप वर्तत है। उदाहरणार्थ अल्पायु या दीर्घायु, नये या पुराने अभी के या पहिले के वर्तते हैं। उनकी इस वर्तना मे काल सहायक होता है। यहाँ इतना स्पष्ट करना उचित है कि जैसे कुम्हार

के चक्र के नीचे रहा हुआ पत्थर उस चक्र की गति में सहायता करता है, परन्तु उसकी गति का कारण नहीं है, उसी तरह काल अन्य द्रव्यों की वर्तना में सहायता करता है परन्तु उनकी वर्तना करवाने वाला कारण नहीं है।

जैन दृष्टि से काल दो प्रकार का है : एक नैश्चयिक और दूसरा व्यावहारिक। 'जंबूद्वीपप्रज्ञप्ति' की वृत्ति में कहा है कि वर्तमान काल एक 'समय' का होता है उसे नैश्चयिक काल समझिये और शेष सभी विपल, पल, क्षण, सेकन्ड, मिनिट आदि को व्यावहारिक काल समझिये[२१]

यहाँ 'समय' पारिभाषिक शब्द है। काल का सूक्ष्माति-सूक्ष्म विभाग बताने के लिए उसकी योजना की गई है। सूक्ष्मतम काल से हम में से अधिकांश को सेकन्ड का ख्याल आएगा, परंतु शास्त्र की दृष्टि से तो यह भी बहुत बड़ा काल है। समय की सूक्ष्मता का कुछ खयाल उदाहरण से ही आ सकेगा। एक सशक्त व्यक्ति भाले की तीव्र नोंक के एक ही प्रहार से कमल के सौ पत्तों को वींध डालता है। वहाँ ऊपरी दृष्टि से तो ऐसा ही लगता है कि सभी पत्ते एक साथ विंध गए, परन्तु वे एक साथ इक्ट्ठे नहीं विंधते परन्तु क्रमशः ही विंधते हैं। मानलो कि इन पत्तों के विंधने में एक सेकन्ड का काल व्यतीत हुआ तो प्रत्येक पत्र के विंधने में औसतन् १/१०० सेकन्ड लगा। यह गणित से समझा जा सकता है, परन्तु अपनी सामान्य बुद्धि से हमें सेकन्ड के १/१०० भाग का ध्यान नहीं आ सकता।

एक और उदाहरण लें। मलमल का एक गज टुकड़ा है। वह बहुत जीर्ण हो गया है उसे एक बलशाली व्यक्ति हाथ में लेकर सिर्फ दो सेकन्ड में [illegible]र डालता है। एक गज के

३६ इंच और प्रत्येक इन्च मे १२० ताने, इस हिसाब से इस कपड़े म ३६ × १२० = ४३२० ताने थे। इनके टूटने मे दो सकंड लगे अत १ ताना टूटने मे $\frac{1}{२१६०}$ सेकंड लगा यह स्पष्ट है।

इस प्रकार गणित से सकंड के विभाग करते जाय तो उसके अ प्रन्त सूक्ष्म विभाग हो सकते हैं परन्तु 'समय' तो इतना सूक्ष्म काल है जिसके कल्पना मे भी दो विभाग नही हो सकते। ऐसा एक समय वर्तमान काल है और हमे उसे ही *नैश्चयिक काल समझना है।*

जो काल अभी तक आया नहीं उसे अनागत या भविष्य काल कहते हैं वह काल जब आता है तब उसे वर्तमान काल कहते हैं और जब वह चला जाता है तब उसे भूतकाल कहते है। इस प्रकार काल के तीन स्वरूपो का हम अनुभव करते हैं।

हम यदि कोई पूछे कि भूतकाल मे कितने वर्ष बीत गये ? तो *हम संख्या नही बता सकते* संख्या बताना संभव ही नही। उसके लिये कोई भी मर्यादा बाँध तो शीघ्र ही मन मे प्रश्न पैदा होता है कि इतने क्या ? इनसे अधिक क्यो नही ? उसके पूर्व क्या काल नहीं था ?' अत उस मर्यादा को छोड कर आगे बढना पड़ता है। परन्तु आगे भी कहाँ तक बढें ? *जहा भी ठहरते है वहा वही प्रश्न उपस्थित होता है,* और इस प्रकार उसका अन्त ही नही आता। यह स्थिति बताने के लिये हम ऐसा कह सकते हैं कि भूतकाल मे अनन्त वर्ष व्यतीत हो गये।

यदि कोई हम से प्रश्न करे कि "भविष्य म कितने वर्ष

आएँगे ?" तो तत्काल तो हमें ऐसा लगता है कि उसका हमें क्या पता लगे ? परन्तु हमेशा के अनुभव से समझ सकते हैं कि एक के बाद एक दिन, माह, वर्ष, आदि आते जाते हैं अतः वे आएँगे तो अवश्य ही। साथ ही यह भी समझ में आ सकता है कि काल बीच में रुक नहीं जाता है अतः उसका प्रवाह अविरल गति से चलता रहेगा। यह प्रवाह कभी बंद हो, ऐसी कल्पना ही हमारी बुद्धि को स्पर्श नहीं कर सकती। अतः ऐसा ही कहना पड़ता है कि भविष्य में अनन्त वर्ष आएँगे। इस प्रकार काल अनन्त है, अनन्त समयात्मक है।

'भूतकाल बड़ा या भविष्य काल बड़ा ?' इसकी चर्चा जैन शास्त्रों में हो चुकी है। उसका उत्तर भविष्य काल के पक्ष में दिया गया है।[२२]

'समय' से अधिक जो कालमान है उसे व्यावहारिक काल गिना जाय। इस व्यावहारिक कालमान का मुख्य आधार नियत क्रिया है और ऐसी क्रिया सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिष्कों की गति ही है। गति भी सभी ज्योतिष्कों में नहीं होती, सिर्फ मनुष्य-लोक में विद्यमान ज्योतिष्कों में ही होती है। इसलिये व्यावहारिक काल मात्र मनुष्यलोक में ही है। विशेषावश्यक-भाष्य[२३] तथा गोम्मटसार[२४] आदि में यह तथ्य बताया गया है। श्रीरत्नशेखरसूरि ने क्षेत्रसमास में विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि 'नद्यो ह्रदा घना बादराग्निर्जिनाद्युत्तम-पुरुषा नरजन्ममृतो कालो मुहूर्त-प्रहर-दिन-रात्रिवर्षादिकः आदि शब्दात् चन्द्रसूर्यपरिवेषादयो मनुष्यक्षेत्रं मुक्त्वा परतो न भवन्ति।' अर्थात् नदी, ह्रद, मेघ, बादर–अग्नि जिन प्रमुख–उत्तम पुरुष, मनुष्य क[illegible] या उसका मरण, वर्ष आदिकाल,

नथा सूय च द्र आदि का तेज मनुष्य क्षेत्र छोडकर अन्यत्र न्त्रा ह

इस य गरिक मदस्थ म काल को शास्त्रीय परिभाषा म सम   त्त जिसम सूक्ष्म नाई काल नहीं ह। उस स्पष्टतया त्त्त जान सकत है क्योंकि एक निमेष मान में कितन   अपर नहा किन्तु असख्य समय व्यतीत हो जात है।

उदया त क बाच का सूय का क्रिया स दिन का व्यवहार नाना ह अ र अस्त म उदय तक का क्रिया म रात्रि का व्यव-ह   ोता है।

दिन और रात्रि का तीसवाँ भाग मुहूर्त कहलाता है और आधा भाग घड़ कहलाता है। १ घडी म ३८॥ लव होते हैं १ लव म ७ स्तोक होत है १ स्तोक म ७ प्राण होते है और १ प्राण म   उच्छ्वास अथवा एक श्वासोच्छवास होता है। इतना मान तो व्यवहार खयाल म आ जाता है। उससे आगे का मान अधिक सूक्ष्म है

एक उच्छ्वास म   २ ३ ७३ आवलिकाएं होती हैं और ऐसी एक आवलिका असख्य समय का होता है।

अब दिन स वृद्धि करन वाले कालमान को देख। १५ दिन का १ पक्ष   पक्ष का एक मास   मास की १ ऋतु ३ ऋतुओं का एक अयन और अयन का एक वर्ष बनता है। य दो अयन उत्तरायण और दक्षिणायन है

पाच वर्षों का एक युग गिनने की रीति जैन खगोल मे प्रचलित था। व्यवहार म उसका उपयोग कम है।

८४००००० (चौरासी लाख) वर्षों का एक पूर्वांग गिना

जाता है और ८४ लाख पूर्वांगों का एक पूर्व गिना जाता है। इस प्रकार एक पूर्व ७०५६० अरब वर्षों का बनता है।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति तथा स्थानांग सूत्र आदि में सब से बड़ी संख्या १९४ अंक की बताई गई है जिसे शीर्ष प्रहेलिका कहते हैं। उसमें अंक इस प्रकार होते हैं : ७५८,२६३,२५३, ०७३,०१०,२४१,१५७,९७३,५६९,९७५,६९६,८९६,२१८, ९६६,८४८,०८०,१८३,२९६ इस प्रकार ५४ अंक और उन पर १४० शून्य, इस तरह कुल १९४। ज्योतिष करंडक में सबसे बड़ी संख्या २५० अंकों की भी बताई हुई है।

यहां तक का मान संख्याबद्ध काल का है। इसके बाद का काल मान असंख्य बनता है और वह उपमान से गिना जाता है। उसमें पल्योपम की प्रधानता है।

एक योजन लंबे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे पल्य (अनाज भरने का एक पात्र, प्याला) के आकार के एक गहरे खड्डे को बारीक से बारीक एक एक बाल के अगणित टुकड़ों से भरा जाय और उस पर से चक्रवर्ती की सेना अर्थात् महाबलशाली लश्कर निकले तो भी वह दब न सके, इस प्रकार ठूंस ठूंस कर भरें और फिर उसमें से प्रति सौ वर्ष में एक २ टुकड़ा निकालते जितने वर्षों में वह खड्डा खाली हो उतने वर्षों को एक पल्योपम कहते हैं। ऐसे १० कोटा कोटि (१००००००० × १००००००० = कोटाकोटि) पल्योपम का नाम सागरोपम और २० कोटाकोटि सागरोपम का नाम कालचक्र है।

प्रत्येक कालचक्र के १०–१० कोटाकोटि सागरोपम तुल्य अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी नामक दो समान भाग होते हैं। जिस काल विभाग [illegible] गंध, रस, स्पर्श, शरीर, आयुष्य, स[illegible]

१ दुःषम-दुःषमा	२१००० वर्ष
२ दुःषमा	२१००० वर्ष
३ दुःषम-सुषमा	१ कोटाकोटि सागरो० ४२००० न्यून
४ सुषम-दुःषमा	२ कोटाकोटि सागरो०
५ सुषमा	३ कोटाकोटि सागरो०
६ एकान्त-सुषमा (सुषम-सुषमा)	४ कोटाकोटि सागरो०

कालचक्र

यहां से असंख्य २ कालचक्र समाप्त होने के बाद अगली गणना अनंत काल में होती है, क्योंकि उसका गणित अनंत से ही होता है। अनंत कालचक्र=१ पुद्गल परावर्तन गिना जाता है। इस मान का जैन शास्त्र में उपयोग हुआ है।

काल मूर्त द्रव्य नहीं है, अर्थात् उसके वर्ण, गंध, रस, स्पर्श नहीं हैं तथा वह मात्र एक प्रदेश रूप होने से अस्तिकाय नहीं गिना। काल में प्रदेश का उर्ध्व प्रचय (ऊपर २ के समय की परम्परा) है अत: उसके मानत्व का हमें ज्ञान होता है, परन्तु तिर्यक् प्रचय (एक साथ मिलता हुआ समय-समूह) न होने से उसके विस्तार की अनुभूति नहीं होती।

आयुष्य का मान काल से गिनना है। ज्येष्ठ, कनिष्ठ-का व्यवहार काल से प्रवर्तित है और प्राचीन अर्वाचीन, शीघ्र विलम्बित आदि भी काल के कारण कहा जाता है। काल की सहायता न हो तो कोई भी क्रिया असम्भव है, किसी प्रकार का परिणाम सभव नही हो सकता। हलन-चलन, खान-पान, नहाना धोना, धधा रोजगार आदि काल की सहायता होने पर ही सभव हैं। इसी प्रकार बीज में से वृक्षोत्पत्ति, बालक में से युवा अथवा वृद्ध की परिणति भी काल की सहायता से ही हो सकती है।

(५) पुद्गल:—

पुद्गल शब्द का व्यवहार मुख्यत जैन दर्शन में ही मिलता है, अन्य दर्शनो म नहीं। वहा उसके स्थान पर प्रकृति, परमाणु आदि शब्द पाये जाते हैं। बौद्ध साहित्य म पुद्गल शब्द का प्रयोग हुआ है परन्तु वह आत्मा के अर्थ म। प्राचीन जैन साहित्य मे भी किसी २ स्थल पर इस शब्द का प्रयोग जीव के पर्याय के रूप म मिलता है[२५] परन्तु कालान्तर मे वह भौतिक पदार्थ के अर्थ मे ही रूढ बन गया है। आधुनिक विज्ञान मे उससे मिलता हुआ शब्द 'मैटर' (Matter) है। अधिक स्पष्ट करें तो 'मैटर' और एनर्जी (Energy) है पहले वैज्ञानिक

मैटर और एनर्जी को अर्थात् पदार्थ और शक्ति को एक दूसरे से भिन्न मानते थे, परन्तु प्रो० आइन्स्टीन ने यह स्पष्ट कर दिया है कि मैटर और एनर्जी एक दूसरे से एकदम भिन्न वस्तुएँ नहीं, वास्तव में वे दोनों एक ही हैं। तब से वैज्ञानिक इन दोनों वस्तुओं को एक ही समझने लगे हैं।

पुद्गल शब्द पुत् और गल, इन दो पदों से बना है। ये पद क्रमशः पूरण और गलन क्रिया के सूचक हैं। कोषकार कहते हैं कि 'पूरणात् पुत् गलयतीति गलः।' सिद्धसेनीय तत्त्वार्थटीका में 'पूरणाद् गलनाच्च पुद्गलाः' ऐसी व्याख्या देखने में आती है और दिगम्बर ग्रन्थ राजवार्तिक में भी 'पूरणगलनान्वर्थसंज्ञत्वात् पुद्गला': ऐसा बताया गया है। अतः जो द्रव्य पूरण और गलन अर्थात् इकट्ठा होना और अलग होना, भरना, ह्रास होना, जुड़ना–विभक्तहोना–इन लक्षणों वाला है, उसे पुद्गल समझें।

धर्म अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य एक हैं अखंड हैं, अतः उनके प्रदेशों में वृद्धि तथा ह्रास की क्रिया संभव नहीं है। काल का प्रत्येक प्रदेश स्वतंत्र है, अतः उसमें भी वृद्धि अथवा ह्रास क्रिया असम्भव है। ऐसी ही स्थिति जीव की भी है। उसका कोई भी भाग अलग होकर शामिल नहीं होता। वह अखंड असंख्य प्रदेशी वस्तु के रूप में जैसा होता है वैसा ही रहता है। इस प्रकार संयोजित और वियोजित होना पुद्गल की विशेषता है और इसलिये उसे पुद्गल का लक्षण माना गया है।

उत्तराध्ययन सूत्र के अट्ठाईसवें अध्ययन में सभी द्रव्यों के लक्षण बताते हुए पुद्गल का लक्षण भी बताया है परन्तु

वह स्वरूप-दर्शक है।[२६] भगवती सूत्र में पुद्गल का लक्षण भिन्न प्रकार से बताया है परन्तु वह सविस्तार है,[२७] अत: जैसा ऊपर बताया गया है वैसा संक्षिप्त लक्षण ही ध्यान में रखना है। यदि सरल व्यावहारिक भाषा में कहना हो, तो ऐसा कह सकते हैं कि जो रुकता है, गिरता है, टूटता है, फूटता है और ग्रहण धारण का विषय बन सकता है, उसका नाम है पुद्गल।

जीव, धर्म, अधर्म और आकाश, प्रत्येक के स्कंध देश प्रदेश-ऐसे तीन २ भेद हैं जबकि पुद्गल के चार भेद हैं — (१) स्कंध (२) स्कंध देश (३) स्कंध प्रदेश और (४) परमाणु। इस विषय में भगवती सूत्र में कहा है कि 'जे रुवी ते चउव्विहा पण्णत्ता त जहा खंधा, खंधदेसा, खंधपएसा, परमाणु पोग्गला।' जो रूपी द्रव्य है, वह चार प्रकार का बताया गया है जैसे-स्कंध स्कंध देश स्कंध प्रदेश, और परमाणु पुद्गल।[२८]

दिगम्बर ग्रंथ पंचास्तिकाय में भी 'खंधा य खंधदेसा, खंधपदसा य होंति परमाणू' इन शब्दों से पुद्गल के चार विकल्प है भेद बताये गये हैं [२९] नव तत्त्व प्रकरण में अजीव के चौदह भेद प्रकार बताये गये हैं उसमें भी पुद्गल के ये चार भेद ही ग्रहण किये गये हैं।[३०] अत: प्राचीन परम्परा पुद्गल के चार प्रकार मानने की है।

तत्त्वार्थ सूत्र में 'अणव: स्कधाश्च'[३१] इस सूत्र के द्वारा पुद्गल के दो प्रकार बताए हैं उसमें अणु शब्द से परमाणु का और स्कंध शब्द से स्कंध, स्कंध देश और स्कंध प्रदेश इन तीनों का संयुक्त सूचन है अत: इसमें कोई तात्त्विक भेद नहीं।

अब हम पुद्गल के चारों भेदों का वास्तविक स्वरूप

समझें।

स्कंधः—

पौद्गलिक पिंड रूप सम्पूर्ण वस्तु को स्कंध कहते हैं जैसे-लकड़ी, चाकू, पत्थर का टुकड़ा, शक्कर की डली आदि। इस सम्पूर्ण वस्तु के टुकड़े हों तो उन्हें भी स्कंध ही कहते हैं, क्योंकि वे भी पौद्गलिक पिंड रूप एक सम्पूर्ण वस्तु ही हैं। वालू का एक छोटा कण भी स्कंध कहलाता है, क्योंकि वह भी पौद्गलिक पिंड रूप एक सम्पूर्ण वस्तु है।

स्कंध देशः—

देश का अर्थ है अंश, खंड, भाग अथवा विभाग। स्कंध का कोई भी भाग जो कि उसके साथ प्रतिवद्ध अर्थात् जुड़ा हुआ हो, वह स्कंध–देश कहलाता है। लकड़ी का यह पौना भाग है ऐसा कहें तो यह स्कंध देश है। स्कंध का कोई भी भाग अलग होने पर वह भी स्कंध ही वनता है, इसीलिये यहाँ प्रतिवद्धता की आवश्यकता वताई गई है।

स्कंध प्रदेशः—

देश का देश और उसका भी देश, ऐसा करते करते जव ऐसी स्थिति में पहुंच जाएँ कि उसका अधिक देश करना संभव न हो तव उस सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश को प्रदेश कहते हैं। प्र उपसर्ग उत्कृष्टता के भाव का सूचक है, अतः जो उत्कृष्ट देश-विभाग, वही प्रदेश, ऐसा समझें और उस प्रदेश को स्कंध के साथ संयोजित समझें।

परमाणुः—

जव स्कंध में से उसका प्रदेश अलग होता है तव अणु

या परमाणु संज्ञा धारण करता है। परमाणु का स्वरूप जैन शास्त्रों मे अनेक प्रकार से स्पष्ट किया गया है जैसे परमाणु पुद्गल अविभाज्य, अछेद्य, अभेद्य, अदाह्य है और अग्राह्य है अर्थात् किसी भी उपाय अथवा उपचार से उसके विभाग नही हो सकते, उसका छेदन या भेदन नही हो सकता, उसे अग्नि मे डालने पर भी जलता नही, चाहे जितनी वर्षा होने पर भी वह भीगता नही, चाहे जैसे यंत्र या जिन किये जाएँ फिर भी उसे पकड नही सकते। परमाणु मे आदि मध्य या अन्त की कल्पना हो नही सकती। वही आदि है, वही मध्य है और वही अन्त है। वह एक प्रदेशी है, नित्य (सर्वथा नाश के लिये अयोग्य) है और इन्द्रियो द्वारा अग्राह्य है। उसे मूर्त कहते हैं, सो आपेक्षिक है, अर्थात् उसके स्कन्धो का विशिष्ट परिणमन होने से वह इन्द्रिय ग्राह्य बनता है जिससे वह मूर्त कहलाता है।

पाश्चात्य देशो की यह धारणा है कि परमाणु सम्बन्धी प्रथम चर्चा डेमोक्रेटस (ई० पूर्व ४८० से ३७०) ने की थी। परन्तु उस समय भारत परमाणु की बात जानता था। इतना ही नही परन्तु तत्सम्बन्धी विचार चर्चा करता था। वैदिक दर्शनो मे न्याय वैशेषिक दर्शन ने परमाणु पर प्रकाश डाला है, परन्तु इसका परमाणु अति स्थूल है—किरण मे उडती हुई दिखाई पडती रज का छठा भाग। जैन दर्शन जो सभी वैदिक दर्शनो की अपेक्षा प्राचीन है,[३१] उसमे परमाणु के विषय में अति सूक्ष्मता से चर्चा की गई है इसलिये इसका श्रेय मुख्यत जैन दर्शन को मिलता है। वैशेषिक के परमाणु की अपेक्षा अनन्तवे भाग का परमाणु यह मानता है।

यहा एक प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'यदि अणु

अर्थात् परमाणु अभेद्य है, तो उसका विस्फोट कैसे होता है ? अणु का विस्फोट होने से प्रचन्ड शक्ति उत्पन्न होती है और उसी सिद्धान्त के आधार पर आज का अणु वम वना हुआ है।' इस प्रश्न का उत्तर यह है कि आज जिसे अणु (atom) कहते हैं, वह जैन दर्शन द्वारा मान्यता–प्राप्त अणु–परमाणु नहीं, परन्तु स्कंध है और इसीलिये उसमें इस क्रिया की संभावना हो सकती है। उन्नीसवी शताब्दी तक वैज्ञानिक यह मानते थे कि अणु अन्तिम इकाई है परन्तु वीसवीं शताब्दी में साइक्लोट्रोन और एक्सरे की प्रकाश-किरणों की सहायता से अणु को फोड़ सकते है, यह ज्ञात हुआ। ई० सं० १९११ में रूदरफोर्ड नामक वैज्ञानिक ने ऐसी शोध की थी कि एटम एक प्रकार के सौरमंडल जैसा है। उसके वीच में प्रोटोन (परमाणु) के आस पास अन्य इलेक्ट्रन गोल चक्राकार में फिरते रहते है। साथ ही उसने यह भी प्रकट किया कि उसे अणु के मध्यस्थ भाग को अलग करने में १० लाख रेडियम के अणु का उपयोग करना पड़ा। इस पर से जाना जा सकता है कि वैज्ञानिकों ने जिसका नाम अणु (atom) रक्खा है वह वास्तव में अणु परमाणु नहीं वल्कि एक प्रकार का स्कंध ही है।

स्कंध की उत्पत्ति संघात, भेद और भेद संघात इन तीन प्रकारों से होती है। संघात अर्थात् एक होने की क्रिया। जव दो अलग रहे हुए परमाणु एक साथ जुड़ते हैं, तव द्विप्रदेशिक स्कंध कहलाता है। इसी प्रकार तीन, चार, संख्य, असंख्य, अनंत, अनन्तानन्त परमाणु मिलने से जो त्रिप्रदेश, चतुष्प्रदेश, संख्यप्रदेश, असंख्यप्रदेश, अनन्तप्रदेश और अनन्तानन्त

प्रदेश वाले स्कध बनते हैं, वे सब सघातजन्य हैं।

किसी बड़े स्कध के टूटने से छोटे स्कध बनते हैं तब उन्हे भेदजन्य कहते हैं। ऐसे स्कध भी द्विप्रदेश से लगाकर अनन्तानन्त प्रदेश तक के हो सकते हैं।

जब किसी स्कघ के टूटने पर उसके अवयव के साथ उस समय अन्य कोई द्रव्य मिलने से नवीन स्कध बनता है, तब वह भेदसघातजन्य कहलाता है। उसमे भी द्विप्रदेशिक से लगाकर अनन्तानन्त प्रदेश तक हो सकते हैं।

एक वस्तु अनन्त प्रदेश से बनी हुई हो तो एक प्रदेश न्यून स उसे 'देश' सज्ञा दी जा सकती हैं और उसका विस्तार तीन प्रदेश तक होता है। द्विप्रदेश के भागो की कल्पना करें तो दोनो प्रदेश कहलाएँगे, अत वहा 'देश' सज्ञा नही दी जा सकती।

परमाणु की उत्पत्ति तो भेद की क्रिया से ही होती है।[33]

स्कधा मे कई चाक्षुप अर्थात् आंखो से देखे जाएँ ऐसे होते हैं और कई अचाक्षुप अर्थात् आखो से न देखे जा सकें ऐसे होते हैं। उन्हे क्रमश स्थूल और सूक्ष्म कहते हैं। स्थूलता और सूक्ष्मता की अपेक्षा से जैन महर्षियो ने उसके छ. प्रकार बताए हैं[34] जो इस प्रकार हैं—

१ स्थूल स्थूल=मिट्टी पत्थर, काष्ठ आदि।
२ स्थूल=दूध, दही, मक्खन, पानी आदि।
३ स्थूल सूक्ष्म=प्रकाश, विद्युत्, उष्णता आदि।
४ सूक्ष्म-स्थूल=वायु, वाष्प आदि।
५ सूक्ष्म=मनोवर्गणा, भाषावर्गणा, कार्मणवर्गणा आदि।
६ सूक्ष्म सूक्ष्म द्विप्रदेशी स्कन्ध, त्रिप्रदेशी स्कन्ध आदि।

आधुनिक विज्ञान ने पदार्थ के तीन स्वरूप वतलाये हैं; (१) घन (Solid) (२) प्रवाही या द्रव (Liquid) और (३) वायु (Gas)। ये अनुक्रम से जैन दर्शन द्वारा मान्य प्रथम, द्वितीय और चौथे प्रकार में आ जाते हैं, परन्तु तीसरे, पाँचवे और छठे प्रकार के लिये विज्ञान की परिभाषा अभी तक निश्चित आकार नहीं ले सकी है। इस पर से हम समझ सकते हैं कि जैन दर्शन का पुद्गल विषयक ज्ञान कितना गहन है।

स्पर्श, रस, गंध और वर्ण ये पुद्गल के चार मुख्य धर्म हैं और ये पुद्गल के प्रत्येक परमाणु में होते हैं।

स्पर्श के ८ भेद हैं:—मृदु, कठोर, गुरू (भारी), लघु (हल्का), शीत, उष्ण, स्निग्ध (चिकना) और रुक्ष (रूखा)।

रस के पाँच भेद हैं:—तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय (कसैला)। क्षार रस मधुर का ही एक भाग है अतः यहाँ उसकी गणना स्वतन्त्र रस में नहीं की गई है। संस्कृत भाषा में तिक्त का अर्थ कड़वा होता है और कटु का अर्थ तीखा होता है इस भेद पर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

गँध के दो भेद हैं:—सुरभि गँध, और दुरभि गंध।

वर्ण के पाँच भेद हैं:—कृष्ण (काला), नील (आसमानी) लोहित (लाल), पीत (पीला), और श्वेत (सफेद)।

अपेक्षा विशेष से इन ८+५+२+५=२० भेदों के संख्य, असंख्य, और अनंत भेद हो सकते हैं।

वर्णादि पुद्गल के अपने ही धर्म हैं या हम इन धर्मों का उनमें आरोपण करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि ये पुद्गल के अपने ही धर्म है। जो धर्म जिसका नहीं होता उसका

उसमे हर वक्त आरोपण नही हो सकता, वरना कोई भी धर्म वास्तविक रहता ही नही। यह सत्य है कि वर्णादि के प्रतिभास मे न्यूनाधिक अतर पड सकता है। एक वस्तु एक व्यक्ति को अधिक काली दिखाई पडती हो, वही अन्य व्यक्ति को कम काली दिखाई पड सकती है, परन्तु इसका अर्थ यह नही कि वह वर्ण ही वास्तविक नही है। यदि ऐसा ही हो तो कोई भी वस्तु काली दिखाई दे, क्योकि कालापन वस्तु मे तो है नही। अत वर्णादि धर्म वस्तुगत है ऐसा मानना ही उचित है।

भगवती सूत्र मे बताया गया कि एक परमाणु मे एक वर्ण, एक गध, एक रस और दो स्पर्श होते हैं। एक वर्ण कोई भी हो, एक गध भी चाहे जो हो और एक रस भी कैसा ही हो।

परन्तु स्पर्श तो स्निग्ध अथवा रुक्ष मे से एक और उष्ण व शीत में से एक होता है और इस प्रकार उसमे दो स्पर्श होते है।[34] मृदु और कठोर, लघु और गुरू ये चार स्पर्श सापेक्ष होने से स्कध मे होते हैं, परन्तु परमाणु मे नही होते।

वैशेषिक नौ द्रव्य मानते हैं पृथ्वी, अप, तेज, वायु, आकाश काल, दिक्, आत्मा और मन। इन नौ द्रव्यो मे से प्रथम चार पुद्गल द्रव्य में समाविष्ट हो जाते हैं। वैशेषिक दर्शन ऐसा मानता है कि वायु मे मात्र स्पर्श गुण ही होता है, उसमे वर्ण रस और गध नही होते, परन्तु जैन दर्शन इस बात को स्वीकार नही करता। वह बताता है कि रूप, रस गध और स्पर्श सहचारी है, अतएव जहा स्पर्श हो वहा रूप, रस, और गध अवश्य होने चाहिए। कोई वस्तु चर्म-चक्षुगोचर

न हो अतः उसकी विद्यमानता नहीं, ऐसा नहीं कह सकते। जैन दर्शन की इस मान्यता का विज्ञान ने प्रवल समर्थन किया है वह वताता है कि Air can be converted into bluish liquid by continuous cooling, just as steam can be converted into water. अर्थात् जैसे भाप को ठंडी करके पानी वनाया जा सकता है उसी प्रकार वायु के सतत ठंडी करने से आसमानी रंग का प्रवाही (द्रव) वन जाता है। जव वह द्रव वनता है तव उसके रूप, रस और गंध ये तीनों होते हैं यह स्पष्ट है।

वैशेपिक दर्शन तेज में रस और गन्ध नहीं मानता। उसका कहना है कि उसमें मात्र स्पर्श और रूप ही होते हैं, परन्तु यह धारणा भी मिथ्या है। तेज–अग्नि भी एक प्रकार का पुद्गल द्रव्य है, अतः उसमें चारों गुण होते हैं। विज्ञान भी इस वात को मानता है कि अग्नि भौतिक द्रव्य है और उसमें उष्णता का अंश अधिक रहता है।

वैशेपिक मानते हैं कि गंध केवल पृथ्वी में ही होती है। उनकी ऐसी मान्यता भी ठीक नहीं है। हमें सामान्यतया वायु, अग्नि आदि में गंध की प्रतीति नहीं होती, परन्तु इससे हम यह नहीं कह सकते कि उनमें ये वस्तुएँ ही नहीं हैं। जिनकी इन्द्रियाँ तीव्र शक्तिशाली हैं, वे इस वस्तु का अनुभव कर सकते हैं।

वैशेपिक दर्शन पृथ्वी आदि में रूपादि गुण को मूल द्रव्य से सर्वथा भिन्न मानता है, इसी तरह वह द्रव्यों के परमाणुओं को भी द्रव्यों से सर्वथा भिन्न मानता है तथा वे कभी भी अपना स्वरूप नहीं वदलते, ऐसा कहता है। उसके अनुसार

पृथ्वी के परमाणु उसी रूप में रहते हैं। उनमें से अप् के परमाणु नहीं होते। अप् के परमाणु वैसे के वैसे ही रहते हैं उनमें से पृथ्वी अथवा तेज आदि के परमाणु नहीं बनते आदि। परन्तु उसकी यह मान्यता भी उचित नहीं है। परमाणुओं में ऐसे कोई वर्ग नहीं हैं। वे सयोगवशात् पृथ्वी, अप्, तेज, वायु चाहे जिसमें परिणत हो सकते हैं। आधुनिक विज्ञान जैन दर्शन की इस मान्यता को पुष्ट करता है।

तत्त्वार्थ सूत्रकार ने बताया है कि 'शब्द-बन्ध-सौक्ष्म्य-स्थौल्य सस्थान-भेद-तमश्छायाऽऽतपोद्योतवन्तश्च' पुद्गल शब्द, बध, सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद, अधकार, छाया, आतप और उद्योत वाले भी होते हैं'[३५] अर्थात् पुद्गल के ये दस परिणाम हैं।

शब्द:—

पुद्गल द्रव्य का ध्वनि रूप परिणाम शब्द है। वह श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा ग्राह्य है, अर्थात् अरूपी या अभौतिक नहीं, परन्तु मूर्त है। उसके विषय में एक जैन ग्रन्थ में कहा है कि 'जैसे पीपर आदि वस्तुएँ द्रव्यान्तर के वैकारिक सयोग से विकृत मालूम पडती है, वैसे ही शब्द भी कठ, मस्तक, जीभ, दन्त, तालु, ओष्ठ इत्यादि द्रव्यान्तर के विकार से विकृत होता दिखाई देता है। इससे शब्द भी पीपर की भाँति मूर्त सिद्ध होता है। इसी प्रकार जब ढोल, नगारे, तबले, ताशे आदि बजाये जाते हैं, तब नीचे की भूमि में कपन होता है, इसका और कोई कारण नहीं, परन्तु शब्द में रही हुई मूर्तता है। विशेष प्रकार के सखादि के प्रचड शब्द कानों को बहरे कर सकते हैं। ऐसा सामर्थ्य अमूर्त आकाश में नहीं है। इतना

ही नहीं बलिक फेंकने के बाद किसी स्थल से टकराने पर पत्थर पुनः गिरता है, उसी प्रकार शब्द भी पुनः गिरता है अतः वह मूर्त है। इसके अतिरिक्त शब्द की प्रतिध्वनि भी होती है।

शब्द आतप (धूप) की तरह कहीं भी जा सकता है. धूंए की तरह यह फैल सकता है, तिनकों और पत्तों की तरह वायु इसे प्रेरणा दे सकती है। इसीलिये पीछे से जोर की हवा आती हो तो पिछला व्यक्ति अगले व्यक्ति का शब्द नहीं सुन सकता क्योंकि शब्द वायु द्वारा आगे को खींचा जाता है। शब्द पुद्गल हो तो ही ऐसा हो सकता है। दीपक की भांति यह सभी दिशाओं में प्रसारित होने वाला है। इसी तरह सूर्य की उपस्थिति में जैसे तारों का प्रकाश छिप जाता है उसी प्रकार अन्य भारी शब्दों के आगे छोटे शब्द दब जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि शब्द पुद्गल का परिणाम है। 'शब्द आकाश का गुण है और आकाश का यही लिंग है' ऐसी वैशेषिक दर्शन की मान्यता असंगत सिद्ध होती है।[३७]

शब्द के प्रकार :–

शब्द दो प्रकार का होता है, प्रायोगिक और वैस्रसिक। जिसका उच्चारण प्रयत्न-पूर्वक हो, वह प्रायोगिक और मेघादि की भाँति स्वाभाविक हो वह वैस्रसिक।

प्रायोगिक शब्द दो प्रकार का होता है :– भाषात्मक और अभाषात्मक। उसमें अर्थ प्रतिपादक वाणी को भाषात्मक कहते हैं और जिससे भाषा की अभिव्यक्ति नहीं होती उसे अभाषात्मक कहते हैं। उदाहरणार्थ खाँसी की आवाज, वाद्य यंत्र की आवाज।

भाषात्मक वाणी दो प्रकार की है – अक्षरकृत और अनक्षरकृत। इनमें मनुष्य की भाषा अक्षरकृत है और पशु पक्षी आदि की भाषा अनक्षरकृत है।

अभाषात्मक शब्द के चार प्रकार हैं – तत, वितत, घन और सुषिर। तत अर्थात् चमड़ा लपेटा हुआ हो, ऐसे वाद्यों का शब्द उदाहरणार्थ-तबला, पुष्कर भेरी आदि। वितत अर्थात् तार वाले वाद्यों का शब्द जैसे-वीणा, सारंगी, सितार आदि। घन अर्थात् दो वस्तुओं के आमने सामने टकराने से बजने वाले वाद्यों का शब्द जैसे ताल, घंटा, झांझ आदि। सुषिर अर्थात् फूंक मार कर बजाए जाने वाले वाद्यों का शब्द जैसे शंख, बाँसुरी आदि। नीचे दी गई तालिका पर दृष्टिपात करने से शब्द का वर्गीकरण ठीक ढंग से ध्यान में रह सकेगा।
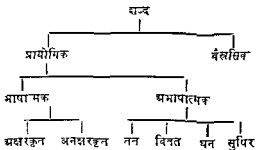
शब्द के सचित्त, अचित्त और मिश्र ऐसे तीन प्रकार भी होते हैं। जीव द्वारा बोला जाता हुआ शब्द सचित्त, अजीव द्वारा उत्पन्न शब्द अचित्त और जीव के प्रयत्न से अजीव वस्तु द्वारा उत्पन्न शब्द मिश्र।

शब्द की गति बहुत ही तेज है। अमुक संयोगों में तो वह एक समय मात्र में तिर्यक् लोक की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाता है और चार समय में समस्त लोक में व्याप्त हो जाता है।

बन्ध :—

विभिन्न परमाणुओं के संश्लेष अर्थात् संयोग को बन्ध कहते हैं। यह बन्ध भी दो प्रकार का होता है प्रायोगिक और वैस्रसिक। इनमें जो बन्ध प्रयत्न-सापेक्ष होता है, उसे प्रायोगिक कहते हैं जैसे जीव और शरीर का बन्ध, लकड़ी और लाख का बन्ध आदि। जो बन्ध प्रयत्न-निरपेक्ष होता है, उसे वैस्रसिक कहते हैं जैसे बिजली, मेघ, इन्द्र-धनुष्य आदि का बन्ध। इनमें भी प्रायोगिक बन्ध सादि अर्थात् आदि वाला होता है और वैस्रसिक बंध सादि तथा अनादि दोनों प्रकार का होता है। सादि वैस्रसिक बंध उसे कहते हैं जो बनता है, बिगड़ता है और बिगड़ने में किसी व्यक्ति विशेष की अपेक्षा नहीं रहती। बिजली, मेघ, उल्का, इन्द्र-धनुप आदि उसके उदाहरण हैं। यहां पुद्गल के परिणाम के रूप में बंध का निरूपण है। ये पुद्गल के परिणाम रूप बंध अनादि अनंत नहीं होते वे तो सादि-सांत ही होते हैं क्योंकि किसी भी पुद्गल परमाणु का अधिक से अधिक असंख्य काल के बाद किसी न किसी प्रकार से परिवर्तन अवश्य होता है। अनादि वैस्रसिक बंध उसे कहते हैं जिसका कोई आदि ही नहीं। आकाश, धर्म, अधर्म का बंध इस प्रकार का है।

बंध के विषय में जैन शास्त्रों में बहुत वर्णन किया गया है, परन्तु यहां [illegible]रिचय पर्याप्त है।

सौक्ष्म्य :—

सौक्ष्म्य अर्थात् सूक्ष्मता । इसके दो प्रकार हैं –अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणु की सूक्ष्मता अन्त्य है और आंवले की सूक्ष्मता आपेक्षिक है क्यो कि वह् कल से छोटा है परतु बेर स बड़ा है।

स्थौल्य :—

स्थौल्य अर्थात स्थूलता । यह भी दो प्रकार की है — अत्य और आपेक्षिक । जगद्व्यापी अचित्त महास्कन्ध जो केवलिसमुद्घात नामक क्रिया क समय लोकव्यापी बनते हुए जीव की तरह लोकव्यापी होता है, वह अत्य है और बेर, आवले कन आदि का स्थौल्य आपेक्षिक है।

संस्थानः—

सस्थान अर्थात् आकृति । उसके मुख्य दो भेद हैं –इत्थ भूत और अनित्थ भूत । व्यवस्थित आकृति इत्थ भूत है और शेष आकृति अनित्थ भूत है इत्थ भूत के पाच प्रकार हैं – १ परिमडल–गोल की तरह गाल २ वृत्त–थाला की तरह गोल ३ त्र्यस्र–त्रिकोण ४ चतुरस्र–चौकोर ५ आयत–दीर्घ उदाहरण के लिये रस्सा । इसक धन प्रतर आदि अन्य भी भेद बनते हैं।

भेदः—

विभाजन की क्रिया को भद कहते है । इसक पाच प्रकार हैं

औत्करिक –चीरने या फाड़ने म होन वाल लकड़ी, पत्थर आदि का भेदन ।

चौर्णिक –कण २ क रूप म चूर्ण होना जैसे जौ आदि का सत्तू आटा आदि ।

खंडः—टुकड़े २ होना जैसे घड़े के ठीकरे, पत्थर के टुकड़े

प्रतरः—परत निकलना जैसे अभ्रक की परत का अलग होना आदि।

अनुतरः—छाल उतरना जैसे वांस की छाल का निकलना ईख की छाल का निकलना आदि।

तमः—

तम अर्थात् अंधकार। यह वस्तु को देखने में वाधा वाले पुद्गल का एक प्रकार का परिणाम है। नैयायिक आदि तम को स्वतंत्र भावात्मक द्रव्य न मानकर प्रकाश का अभाव मात्र मानते हैं। जैन दर्शन के अनुसार तम अभावमात्र नहीं परन्तु प्रकाश की तरह भावात्मक द्रव्य है। जैसे प्रकाश में रूप है वैसे ही अंधकार में रूप है, अतः प्रकाश की भांति तम भावात्मक है। प्रकाश के पुद्गलों का तम-पुद्गलों में परिवर्तन होता है अन्यथा प्रकाश के पुद्गल गए कहाँ ? सर्वथा नष्ट तो होते नहीं।

छायाः—

प्रकाश पर आवरण आते ही छाया दृष्टीगोचर होती है स्थूल पुद्गल में से प्रति समय छाया पुद्गल वाहर निकलते हैं। उसके दो प्रकारहैं:-तद्वर्णादि विकार और प्रतिविम्व। दर्पण आदि स्वच्छ पदार्थों में मुख का जो विम्व पड़ता है और उसमें आकार आदि यथावत् दिखाई देता है, वह तद्वर्णादि विकार रूप छाया है और अन्य अस्वच्छ द्रव्यों पर प्रतिविम्व मात्र पड़ता है, वह प्रतिविम्व रूप छाया है। छाया पुद्गल

सौक्ष्म्य :—

सौक्ष्म्य अर्थात् सूक्ष्मता। इसके दो प्रकार हैं –अन्त्य और आपेक्षिक। परमाणु की सूक्ष्मता अन्त्य है और आंवले की सूक्ष्मता आपेक्षिक है क्यों कि वह केले से छोटा है परन्तु बेर से बडा है।

स्थौल्य :—

स्थौल्य अर्थात् स्थूलता। यह भी दो प्रकार की है —अन्त्य और आपेक्षिक। जगद्व्यापी अचित्त-महास्कन्ध जो केवलिसमुद्धात नामक क्रिया के समय लोकव्यापी बनते हुए जीव की तरह लोकव्यापी होता है, वह अन्त्य है और बेर आंवले केले आदि का स्थौल्य आपेक्षिक है।

संस्थान: —

संस्थान अर्थात् आकृति। उसके मुख्य दो भेद है —इत्थं भूत और अनित्थं भूत। व्यवस्थित आकृति इत्थं भूत है और शेष आकृति अनित्थं भूत है इत्थं भूत के पांच प्रकार हैं – १ परिमिडल–गोले की तरह गोल २ वृत्त–थाली की तरह गोल ३ त्र्यस्त्र–त्रिकोण ४ चतुरस्त्र–चौकोर ५ आयत–दीर्घ उदाहरण के लिये रस्सी। इसके घन प्रतर आदि अन्य भी भेद बनते है।

भेद:—

विभाजन की क्रिया को भेद कहते है। इसके पांच प्रकार है

औत्करिक –चीरने या फाडने मे होने वाले लकडी, पत्थर आदि का भेदन।

चौर्णिक –कण २ के रूप मे चूर्ण होना जैसे जौ आदि का सत्तू आटा आदि।

होने के संवंध में कितनी ही भविष्य वाणियाँ हो चुकी हैं और उनसे कई लोगों के दिल में भय घर कर गया है, परन्तु उनमें से एक भी भविष्यवाणी सच्ची सिद्ध नहीं हुई है और न आगे सत्य सिद्ध होने की कोई संभावना ही है। वस्तु स्थिति तो यह है कि इस लोक में जल के स्थान पर स्थल और स्थल के स्थान पर जल जैसे महान् परिवर्तन संभव हो सकते हैं परन्तु सर्वनाश अर्थात् समस्त विश्व का नाश कभी संभव नहीं हो सकता, क्योंकि ये छहों द्रव्य नित्य और अवस्थित हैं।

पुराय तत्व

बहुत से ऐसा कहते हैं कि पुण्य-पाप जैसा कुछ है ही नहीं। यह जगत स्वभाव से विचित्र है, अतः भला वुरा होता रहता है। परन्तु यह मंतव्य श्रुति, युक्ति और अनुभूति, इन तीनों से विरुद्ध है, अत: अस्वीकार्य भी है।

श्रुति अर्थात् धर्म शास्त्र। वे पुण्य–पाप का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं तथा पुण्योपार्जन करने का और पाप त्याग का उपदेश देते हैं। जगत का कोई भी प्रसिद्ध धर्म ऐसा नहीं जो पुण्य–पाप का विवेक न करता हो अथवा भले वुरे सभी कार्यों को करने का उपदेश देता हो।

युक्ति से विचार करें तो भले का फल भला और वुरे का फल वुरा दिखाई पड़ता है, परन्तु भले का फल वुरा और वुरे का फल भला नहीं दीखता। आम वोएँ तो आम उगता है और नीम वोएँ तो नीम उगता है, परन्तु आम वोने से नीम अथवा नीम वोने से आम नहीं उगता। इसी प्रकार आम्र वृक्ष पर आम्र फल ही पकता है, निवोली नहीं पकती। और

आतप :—

सूर्य का उष्ण प्रकाश आतप कहलाता है।

उद्योत —

चन्द्रमणि जुगनू (खद्योत) आदि का शीत प्रकाश उद्योत कहलाता है।

पुद्गल के परिणामों का यह एक दिग्दर्शन मात्र है। इस प्रकार उसके अन्य भी अनन्त कार्य हैं। शरीर, भाषा, श्वासोच्छवास, मन और कर्म ये सब पुद्गल में से ही बनते हैं और चेष्टा, शब्द, विचारादि तथा जीवन मरण की अवस्थाओं का अनुभव करवाने में मुख्य भाग लेता है।

अब लोक विषयक कुछ आवश्यक निर्देश करके अजीव का विषय समाप्त करेंगे। यह लोक अकृत्रिम है, अर्थात् किसी का बनाया हुआ नहीं है। यह लोक स्वयं संचालित है, अतः उसका सारा तन्त्र कारण कार्य के नियमाधीन अपने आप चलता रहता है। इसके अतिरिक्त यह लोक नित्य है, शाश्वत है, अतः उसका कभी भी नाश नहीं होगा।

कुछ लोग कहते हैं कि 'एक दिन महान् प्रलय होगा और संसार का अन्त हो जायगा। यदि उनसे प्रश्न करें कि 'महान प्रलय होगा तो क्या होगा ?' तो वे कहते हैं कि 'उस दिन आकाश में से उल्कापात होगा, प्रचंड झंझावात होगा, सागर अपनी मर्यादा छोड़कर पर्वत जैसी बड़ी ऊँची २ लहरें उठाएगा और इस पृथ्वी को अपने अन्दर डुबो देगा।' इसका अर्थ तो यह हुआ कि उस समय लोक के एक भाग में अर्थात् मध्य लोक में भारी परिवर्तन होगा, न कि पृथ्वी, सागर, हवा आकाश तथा सूर्य, चन्द्र, तारे, आदि का आत्यंतिक नाश हो जाएगा। विगत पच्चीस वर्षों में दुनिया का प्रलय

तुम एक को थप्पड़ लगाओ और दूसरे को वन्दन करो तो दोनों बराबर नहीं हो जाते। जिसे थप्पड़ लगाई है वह तुम्हारे भी थप्पड़ ही लगाता है और जिसे वन्दन किया है वह तुम्हें भी वन्दन ही करता है अथवा धर्मलाभादि आशीर्वाद देता है। अतः पुण्य-पाप के स्वतन्त्र फलों को ध्यान में रखकर पुण्योपार्जन करो और पाप को छोड़ो।

यहाँ कर्म-सिद्धान्त ऐसा है कि शुभाशुभ भाव से शुभाशुभ कर्म का बंधन होता है। इन शुभाशुभ कर्मों में पूर्वबद्ध में से कई विरुद्ध कर्म-प्रकृतियों का संक्रमण होने से फेर फार होता है, परन्तु सामान्य शुभ भाव के समय वह कार्य अल्प बनता है जबकि जीव के पाप-रस के कारण बँधते हुए अशुभ कर्म के अन्दर विशेष शुभ का संक्रमण होने से अशुभ-स्वरूप बनता है। सारांश यह है कि पुण्य करो, तो भी सिर पर रहे हुए पाप मिथ्या नहीं होते।

जीव को सुख के उपभोग में कारण रूप शुभकर्म द्रव्य-पुण्य कहलाता है और उस शुभ कर्म को उत्पन्न करने में कारण भूत जीव के शुभ अध्यवसाय-परिणाम भाव-पुण्य कहलाते हैं। यहाँ द्रव्य शब्द से लोक व्यवहार और भाव शब्द से तात्त्विक दृष्टि समझें।

पुण्य दो प्रकार का है: (१) पुण्यानुबंधी पुण्य और (२) पापानुबंधी पुण्य। अनुबंधपरंपरा। जो पुण्य पुण्य की परम्परा को चला सके अर्थात् जिस पुण्य को भोगते हुए नवीन पुण्य का बंध हो वह पुण्यानुबंधी और नवीन पाप का बंध हो वह पापानुबंधी। एक मनुष्य को पूर्व भव के पुण्य प्रताप से सभी प्रकार के सुख-साधन प्राप्त हुए हों, फिर भी

नीम के वृक्ष पर निंबोली ही पकती है, आम्र फल नहीं पकता। तात्पर्य यही है कि जगत में जो विचित्रता दिखाई पड़ती है और भला बुरा होना है, उसके पीछे भी कोई निश्चित नियम है। धार्मिक अथवा आध्यात्मिक क्षेत्र में इस नियम को पुण्य और पाप का नियम कहते है।

अनुमति अर्थात् अपना स्वय का अनुभव। इस विषय मे वह क्या कहता है? कोई अच्छा काम किया हो तो मन मे सुख सतोष और आनद की प्रतीति होती है और कोई बुरा काय किया हो तो मन मे दुख, असतोष अथवा क्लेश होता है। अत पुण्य पाप अवश्य है और उनके आधीन जीव सुख और दुख का अनुभव करता है, ऐसा मानना समुचित है।

यहाँ यह भी स्पष्ट कर द कि पुण्य और पाप दोनो स्वतन्त्र तत्व है अर्थात् उनमें स प्रत्येक का पृथक् २ फल भुगतना पड़ता है न कि दोनो की जोड बाकी हो जाती है। उदाहरण के लिए एक व्यक्ति ने ६० प्रतिशत पुण्य किया और ४० प्रतिशत पाप किया हो तो ४० प्रतिशत पाप के उड जाएँ और २० प्रतिशत पुण्य का ही उपभोग करना पड़े ऐसी बात नहीं है। उसे ६० प्रतिशत पुण्य का फल भी मिलेगा और ४० प्रतिशत पाप का फल भी मिलेगा।

यह स्पष्टता यहाँ इसीलिये करनी पड़ती है कि कई मनुष्यो की समझ ऐसी ही है कि 'अपने पाप भले करते हो, परन्तु साथ ही पुण्य भी करते है अत पाप धुल जाएगा तो फिर क्या आपत्ति है?' उन्हे सचेत करने के लिये ही जैन महर्षियो ने कहा है कि 'यह गलत है। जितना पाप करोगे उस सब का फल भोगना पड़ेगा अत. पाप करने से बचो।

९. देव-गुरु को नमस्कारादि करने से ।

यहाँ यह वात ध्यान में रखनी चाहिए कि धार्मिक वृत्ति प्रवृत्ति वाले स्त्री पुरुप वात्सल्य के पात्र हैं जवकि करुणा करने योग्य अपगादि जीव अनुकंपा पात्र हैं और मोक्ष मार्ग का सर्वाश रूप में आचरण करने वाले साधु-मुनिराज भक्ति के सुपात्र हैं। पात्र की अपेक्षा भी सुपात्र को दान देने की महिमा अधिक है, क्योंकि उससे कर्म की महा निर्जरा होती है और पुण्य पुन्ज का उपार्जन होता है।

जैन शास्त्रों में कहा है कि भूख आदि से पीड़ित जीवों को अन्नादि देने से और भयभीत को जीवनदान देने से भी पुण्य वंध होता है क्योंकि उसमें कारुण्य भाव की प्रधानता है। घर आये हुए ब्राह्मण वावा, जोगी, सन्यासी आदि जो सत्य धर्म से विमुख हैं, उन्हें 'ये भी धर्मी जीव है' अथवा 'मैं इन्हें दूंगा तो धर्म होगा, पुण्य होगा' ऐसी बुद्धि से नहीं, परन्तु 'श्रावक के अभंग द्वार होने से द्वार पर आया हुआ कोई भी जीव सर्वथा निराश होकर लौट न जाये और जाये तो मेरा धर्म जगत में निम्न माना जायगा अथवा मुझमें दाक्षिण्य गुण के अभाव माना जायगा,' ऐसा विचार करके अनुकम्पा से देना चाहिये क्यों कि ऐसा करने से अपना दान गुण प्रगट होता है अपना धर्म अच्छा गिना जाता है और अन्य जीव भी धर्माभिमुख होते हैं। महामंत्री वस्तुपाल की पाकशाला में नित्य कई भिखारियों सन्यासियों आदि को दान दिया जाता था और मुनियों की भक्ति होती थी।

जैन शास्त्रानुसार श्रावकपन के स्तर पर पहुँचे हुए व्यक्तियों को यह समझना चाहिये कि कई जीव कुए, वावडी और

उनमे मोहमूढ न बनकर आत्म-हित के उद्देश्य से वह मुक्ति की अभिलाषा रखता हुआ धर्मक्रिया करे तो पूर्व पुण्य भोगता समय नये पुण्यो का बंध होता है और इसमे वह पुण्यानुबंधी पुण्यवाला कहलाता है। दूसरी ओर एक अन्य व्यक्ति के पूर्व भव के पुण्य के फलस्वरूप सभी प्रकार के सुख साधन प्राप्त हुए हो, परन्तु वह मोहमूढतावश प्रमदाचारी बनकर उसका उपभोग करे तो उसे पाप का बंध होता है और इससे वह पापानुबंधी पुण्यवाला कहलाता है।

जैन शास्त्रो मे पुण्यानुबंधी पुण्य को मार्ग-दर्शक की उपमा दी है क्योंकि वह मार्गदर्शक की भांति मनुष्य को मोक्ष मार्ग बता कर फिर चला जाता है। इसी तरह पापानुबंधी पुण्य का लुटेरे को उपमा दी है क्योंकि वह मनुष्य की पुण्य रूपी सारी समृद्धि लूट लेता है और अन्त मे उसे पुण्य विहीन कर देता है। तात्पर्य यह है कि इन दो प्रकार के पुण्यो मे प्रथम पुण्य अर्थात् पुण्यानुबंधी पुण्य इष्ट है और उसे ही उपादेय तत्त्व मानना चाहिये।

पुण्य बंधन नौ प्रकार से होते है।

१ पात्र को अन्न देने से।
२ पात्र को जल देने से।
३ पात्र को स्थान देने से।
४ पात्र को शयन देने से।
५ मन के शुभ सकल्प से।
६ पात्र को वस्त्र देने से।
७ वचन के शुभ व्यवहार से।
८ काया के शुभ व्यापार से।

पुण्यानुवंधी पाप। जिस पाप को भोगते हुए और नया पाप वंधता है उसे पापानुवंधी पाप कहते हैं और जिस पाप को भोगते हुए पुण्योपार्जन होता है उसे पुण्यानुवंधी पाप कहते हैं। उदाहरणार्थ—कसाई, मछुए आदि जीव पूर्व भव के पापों के कारण इस भव में दरिद्रता आदि अनेक दुःख झेल रहे हैं और इसी पाप को भोगते २ अन्य नवीन पापों का वंध कर रहे हैं, अतः उन्हें हम पापानुवंधी पाप वाले कहते हैं। इसी प्रकार जो जीव पूर्व भव के पापवशात् इस भव में दारिद्रय आदि दुःख भोगते हैं परन्तु दुःख भोगने के साथ २ वे सत्संग आदि के कारण विवेक पूर्वक अनेक प्रकार के धर्मकृत्य करके पुण्योपार्जन करते हैं, अतः वे पुण्यानुवंधी पाप वाले कहलाते हैं।

इस प्रकार पुण्य और पाप की चातुर्भंगी होती है। इसकी विशेष स्पष्टता निम्न प्रकार से है।

(१) पुण्यानुवंधी पुण्य—जिससे इस भव में भी सुख है और परभव में भी सुख प्राप्ति निश्चित है, अतः वह आचरणीय है।

(२) पापानुवंधी पुण्य—जिससे इस भव में तो सुख है परन्तु परभव में दुःख है अतः वह त्याज्य है।

(३) पापानुवंधी पाप—जिससे इस भव में भी दुःख है। और परभव में भी दुःख है, अतः वह भी त्याज्य है।

(४) पुण्यानुवंधी पाप—जिसमें इस भव में दुःख है, परन्तु परभव में सुख है अतः वह आ पड़ा तो आदरणीय है, निन्दनीय अथवा खेद करने योग्य नहीं।

पाप वंध १८ प्रकार से होता है:—

(१) प्राणातिपात अर्थात् जीव हिंसा करने से।

तालाब खुदवाने म व या और गाय का दान करने म तथा वनादि म अ ग लगाकर पशुओ को चराने के लिये क्षत्र बनाने आदि म पुण्य मानते है परन्तु यह अनान है। यदि इस प्रकार पुण्य जब होता हो तब तो सभी जीवो के सुखाय खत जोत कर अन्न उपजाना प्र यक के लिए मकान खडे करना सब को गादी करना और सभी जीव जिनम सुख मनाते हो वस २ मानते उनके लिए जुटा देने चाहिये। फिर तो पाप काय र न सा रहा? अत ऐसा मानना अज्ञानमूलक है पर तु भूखा प्यासा ज व अथवा रोगादि म व्याकुल बना हुआ ज व हमारे पास आया हो तो करुणापूवक उसे पानी अन आदि स दान करना हमारा कत य है।

इस पुण्य के परिणाम स्वरूप जीव को देवगति मनुष्य गति उ च गोत्र पचेन्द्रिय की पूर्णता सुप्रमाण सुन्दर शरीर सुगठित अवयव रूप कान्ति आरोग्य सौभाग्य और दीर्घायु को प्र ति होती है और जहा जाए वहा आदर सत्कार मिलता है यह प्र तर्गिक फल है मुख्य फल म उत्तम धर्म- साधना के लिए यो य सामग्र और बल मिलता है तथा मोह की मन्दता प्राप्त होती है।

पाप तत्त्व

पुण्य त व का विरोधी पाप त व है। जीव को दुख अनुभव म कारणभूत अशुभ कम द्रव्य-पाप कहलाता है और उस अशुभ कम को उत्पन्न करने म कारणभूत जीव के अशुभ अथवा मलीन अध्यवसाय (परिणाम) भाव-पाप कहलाता है।

पाप दो प्रकार का है (१) पापानुबंधी पाप और (२)

पुण्यानुवंधी पाप। जिस पाप को भोगते हुए और नया पाप बंधता है उसे पापानुवंधी पाप कहते हैं और जिस पाप को भोगते हुए पुण्योपार्जन होता है उसे पुण्यानुवंधी पाप कहते हैं। उदाहरणार्थ—कसाई, मछुए आदि जीव पूर्व भव के पापों के कारण इस भव में दरिद्रता आदि अनेक दुःख झेल रहे हैं और इसी पाप को भोगते २ अन्य नवीन पापों का वंध कर रहे हैं, अतः उन्हें हम पापानुवंधी पाप वाले कहते हैं। इसी प्रकार जो जीव पूर्व भव के पापवशात् इस भव में दारिद्रच आदि दुःख भोगते हैं परन्तु दुःख भोगने के साथ २ वे सत्संग आदि के कारण विवेक पूर्वक अनेक प्रकार के धर्मकृत्य करके पुण्योपार्जन करते हैं, अतः वे पुण्यानुवंधी पाप वाले कहलाते हैं।

इस प्रकार पुण्य और पाप की चातुर्भगी होती है। इसकी विशेष स्पष्टता निम्न प्रकार से है।

(१) पुण्यानुवंधी पुण्य—जिससे इस भव में भी सुख है और परभव में भी सुख प्राप्ति निश्चित है, अतः वह आचरणीय है।

(२) पापानुवंधी पुण्य—जिससे इस भव में तो सुख है परन्तु परभव में दुःख है अतः वह त्याज्य है।

(३) पापानुवंधी पाप—जिससे इस भव में भी दुःख है। और परभव में भी दुःख है, अतः वह भी त्याज्य है।

(४) पुण्यानुवंधी पाप—जिसमें इस भव में दुःख है, परन्तु परभव में सुख है अतः वह आ पड़ा तो आदरणीय है, निन्दनीय अथवा खेद करने योग्य नहीं।

पाप बंध १८ प्रकार से होता है:—

(१) प्राणातिपात अर्थात् जीव हिंसा करने से।

है। उदाहरणार्थ–चलना काययोग है। यह चलने की क्रिया यदि देव गुरु के वन्दनार्थ होती हो अथवा किसी जीव की रक्षा करने के लिये होती हो तो उसे प्रशस्त-भावमय कहेंगे और इसलिये उससे शुभ कर्मो का आगमन होगा।

परन्तु यदि यही चलने की क्रिया अर्थ अथवा काम के निमित्त होती हो या किसी जीव का अहित करने के लिये होती हो तो उसे अप्रशस्त-भाव से हुई गिनेंगे और इसलिए उससे अशुभ कर्मों का आगमन होगा। इसी प्रकार वचनयोग और मनोयोग के विषय में भी समझें।

आत्मा में शुभ कर्मों का आगमन करवाने वाला पुण्यास्रव शुभास्रव है और अशुभ कर्मों का आगमन करवाने वाला पापास्रव-अशुभास्रव है।[४२]

जैन शास्त्रों ने आस्रव से निष्पन्न कर्म बंध के सांपरायिक और ऐर्यापथिक–ऐसे दो भेद किये हैं। वे भी समझने योग्य हैं। कषाययुक्त जीवों को कर्मों का जो बंध होता है वह सांपरायिक, और कषाय रहित वीतराग जीवों को कर्मो का जो बंध होता है वह ऐर्यापथिक।[४३]

इन दो प्रकार के बंध में सांपरायिक बंध का आस्रव कर्म की स्थिति पैदा करनेवाला है, अतः उससे संसार-वृद्धि होती है और इसीलिये जीव को उससे सावधान रहना चाहिये, डरना चाहिए। ऐर्यापथिक बंध के आस्रव से कर्म आते हैं जरूर, परन्तु वे प्रथम समय में जीव के साथ संबद्ध होते हैं और दूसरे समय में ही छूट जाते हैं, अतः उनसे डरने की आवश्यकता नहीं है।

उदाहरण सहित कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि [illegible]

पड़ता है। इसका मूल है आस्रव। इसीलिये आस्रव तत्त्व को हेय गिना गया है। जितने परिमाण में आस्रव घटता है, उतने ही परिमाण म बध घटता है और आत्मा की शुद्धि बनी रहती है अत मुमुक्षु जीवो को यथाशक्ति प्रयत्नकर आस्रव को घटाना चाहिये।

जीव असख्य प्रदेश वाला होता है यह बात हम जीव तत्त्व का वर्णन करते समय बता चुके हैं। इन प्रदेशो मे मध्य के आठ प्रदेश जिन्हे रुचक कहते हैं, उनके सिवाय सभी प्रदेशो मे एक प्रकार का परिस्पन्दन (Vibration) होता है और उस परिस्पन्दन के कारण ही कार्मण वर्गणाएँ जीव की ओर आकृष्ट होकर उसके साथ सम्बद्ध होती हैं। जीव जब अयोगी अवस्था प्राप्त करता है तब उसके प्रदेशो का यह परिस्पदन बद हो जाता है और उसमे कर्मो का उसकी ओर लेश मात्र भी आकर्षण नही होता। इस कारण सिद्ध जीव कर्म से सर्वथा निर्लिप्त होते है।

जीव के प्रदेशो म जो परिस्पन्दन होता है, उसे योग कहते हैं। (योग का प्रसिद्ध अर्थ यम नियमादि प्रक्रियाएँ हैं, परन्तु यहा वह अभिप्रेत नही) यह योग प्रवृत्ति के भेद से तीन प्रकार का है —काययोग वचनयोग, और मनोयोग। अर्थात् जीव के द्वारा काया सबधी जो प्रवृत्ति होती है, वह काययोग है, वचन सबधी जो प्रवृत्ति होती है, वह वचनयोग है और मन सबधी जो प्रवृत्ति होती है वह मनोयोग है।[४१]

काया वचन और मन के योग का वर्तन यदि प्रशस्त भाव से होता हो तो शुभ कर्मों का आगमन होता है और अप्रशस्त भाव से होता हो तो अशुभ कर्मों का आगमन होता

के आस्रव मात्र योग के कारण हैं। आस्रव कुल ४२ प्रकार का है।

व्रत अर्थात् विरति, प्रतिज्ञापूर्वक त्याग, नियम या प्रत्याख्यान। व्रत धारण से आत्मा अनुशासनबद्ध होता है और इस प्रकार वह अशुभ योगाचरण नहीं करता तथा भारी कर्म बंधन में से बच जाता है। इसके विपरीत जिस आत्मा में कोई व्रत नियम नहीं, वह निरंकुश और स्वच्छन्दी बन जाता है और अधिकतर आरंभ, परिग्रह और काम भोग की वृत्ति-प्रवृत्ति में लीन रहता है। इससे बहुत कर्मो का आस्रव होता है और भारी बन जाती है। अतः अव्रती होना अभिष्ट नहीं है। मनुष्य को अपनी शक्ति के अनुसार व्रत नियमादि अवश्य धारण करने चाहियें।

व्रत की अपेक्षा से अव्रत कहलाता है, अतः व्रत की भांति उसके भी पाँच ही प्रकार हैं। प्रतिज्ञापूर्वक जीव हिंसा का त्याग न करना पहिला अव्रत है, असत्य का त्याग न करना दूसरा अव्रत है, अदत्तादान का त्याग न करना तीसरा अव्रत है, मैथुन का त्याग न करना चौथा अव्रत है और परिग्रह का त्याग न करना पाँचवा अव्रत है। दूसरे शब्दों में कहें तो हिंसा, झूंठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह की छूट ये पाँचों कर्म-आस्रव के महाद्वार हैं और इसीलिये यहाँ प्रथम निर्देश उनका किया गया है।

कषाय शब्द की व्युत्पत्ति 'कष अर्थात् संसार की वृद्धि करवाने वाला' इत्यादि अनेक प्रकार से की जाती है, परन्तु उसका तात्पर्य यह है कि जो वृत्तियाँ जीव के शुद्ध स्वरूप को कलुषित करती हैं उन्हें कषाय कहते हैं। ऐसी वृत्तियाँ चार

युक्त जीव भीगे चमड जैसा है अत उसके पास कर्म रूपी रज जा आती है वह उसमे बराबर चिपक जाती है और उसीमे स्थिति प्राप्त करती है, जबकि कषाय रहित आत्मा सगमरमर की दीवार तुल्य है अर्थात् उसके पास कर्म रूपी जो रज आती है *वह सबध पाने के साथ ही अलग हो* जाती है।

सापरायिक और ऎर्यापथिक इन दो शब्द सकेतों के विषय म भी कुछ स्पष्टीकरण करल । जो सपरायजनित है वह है सापरायिक । सपराय का अर्थ युद्ध सकट अथवा कष्ट होता है परन्तु यहा वह कषाय क अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है, अत जो कषायजनित है उसे सापरायिक समझ । कषाय वाले जीव में कर्मा का जो अ स्रव होता है वह कर्म की स्थिति पैदा करने वाला है अत उसका फल भोगने के लिये जीव को ससार मे परिभ्रमण करना पडता है और इस प्रकार विविध सकटों और कष्टो को झलना पडता है। इस तरह *सापरायिक'* शब्द का सामान्य अर्थ भी यहाँ लगता है। जिसका ईर्यापथ के साथ सबध है वह ऎर्यापथिक। ईर्यापथ अर्थात् गमनागमन करने क म ग गमनागमन करने की प्रवृत्ति । तात्पर्य यह है कि जो जीव *कषायरहित हैं वीतराग हैं उनके मात्र गमना-* गमनादि कायिक वाचिक प्रवृत्ति के कारण ही कर्म का आस्रव होता है अत वही ऎर्यापथिक बध है।

सापरायिक बध अव्रत कषाय इन्द्रिय, क्रिया तथा योग के कारण होता है। उसमे अव्रत के ५ कषाय के ४, इन्द्रिय क ५ योग के ३ और क्रिया क २५ प्रकार हैं अत सांपरायिक बध के आस्रव कर ४२ प्रकार के हैं जब कि ऐर्यापथिक बध

चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोतेन्द्रिय। स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द उनके विषय हैं। इनमें स्पर्शः—मृदु, कठोर, गुरु, लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, इस तरह ८ प्रकार का होता है। रसः—तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय, इस तरह पाँच प्रकार का होता है। गंधः— सुरभि और दुरभि इस तरह दो प्रकार की है। रूप अर्थात् वर्ण पाँच प्रकार का होता हैः—कृष्ण नील, लोहित, पीत और श्वेत। शब्द तीन प्रकार का होता हैः—सचित्त, अचित्त, और मिश्र। इन्द्रियों के इन २३ विषयों में से अनुकूल विषयों की प्राप्ति से रागयुक्त होने से और प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से द्वेषयुक्त होने से कर्म का आस्रव होता है। यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि यदि इन्द्रियों के इन विषयों का सेवन प्रशस्तभाव से किया जाय तो वे शुभास्रव के कारण बनते हैं और अप्रशस्तभाव से सेवन किया जाय तो अशुभास्रव के कारण बनते हैं। उदाहरणार्थ—देव गुरु के चरण-स्पर्श कर प्रसन्न होना प्रशस्त-भावमय स्पर्श का सेवन है जबकि स्त्री या पुत्र के स्पर्श से प्रसन्न होना अप्रशस्तभावमय स्पर्श-सेवन है; देव गुरु के चरणामृत का पान करके प्रसन्न होना प्रशस्तभावमय रस सेवन है जब कि स्वादिष्ट भोजन करके प्रसन्न होना अप्रशस्त-भावयुक्त रस सेवन है। धर्म-निमित्त मंदिर में फैली हुई धूप एवं पुष्प की सुगंध से देवाधिदेव की अच्छी भक्ति होती है, अतः प्रसन्न होना, प्रशस्तभावमय गंध-सेवन है और दिल बहलाव के लिये तेल, फुलैल, इत्र अथवा सेन्ट का सेवन अप्रशस्तभावमय गंध सेवन कहलाता है। भगवान की प्रतिमा-आँगी, तथा गुरु की मनोहर मूर्ति आदि देखकर प्रसन्न होना

है — क्रोध अर्थात् गुस्सा द्वेष अथवा रोष। मान अर्थात् अभिमान मद या अहंकार। माया अर्थात् छल या कपट, और लोभ अर्थात् ममता राग तृष्णा अथवा असन्तोष। ये चारों कषाय प्रशस्तभावमय होने पर शुभास्रव के कारण बनते हैं और अप्रशस्तभावयुक्त होने पर अशुभास्रव के कारण बनते हैं। उदाहरण के लिए स्वयं से बार-बार भूल होती जाती हो और उससे स्वयं पर क्रोध किया जाय कि अरे दुरात्मन्! तू यह क्या करता है तुझे बार बार समझाता हूँ फिर भी तू क्या नहीं समझता अथवा मूर्ति मंदिर आदि सब धार्मिक उत्तम के साधनों पर कोई आक्रमण करता हो और इससे उस पर क्रोध आता हो तो वह क्रोध प्रशस्तभाव से हुआ, कहलाता है और उसके परिणाम स्वरूप शुभ कर्मों का आगमन होता है। यदि किसी को शत्रु मानकर उसकी भूल सहन करने की अशक्ति बताकर क्रोध किया जाय तो वह अप्रशस्त-भावमय क्रोध कहलाता है और उसके परिणाम स्वरूप अशुभ कर्म का आगमन होता है। इसी प्रकार मान माया और लोभ के विषय में भी समझें। उदाहरणार्थ पाप से दूर रहने के लिए जनत्व का गौरव प्रशस्त मान है स्व-पर की धर्म रक्षा के लिये आवश्यक माया प्रशस्त माया है और सम्यग् ज्ञान तप संयम का राग लोभ प्रशस्त लोभ है। सांसारिक वासना से मान आदि हो वे अप्रशस्त कहलाते हैं। कषायविषयक विस्तृत विचार कर्मग्रन्थों में किया गया है अतः विशेष जिज्ञासुओं को उस साहित्य का अवलोकन करना चाहिए।

इन्द्रियां पांच हैं स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय,

चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोतेन्द्रिय। स्पर्श, रस, गंध रूप और शब्द उनके विषय हैं। इनमें स्पर्शः—मृदु, कठोर, गुरु, लघु, शीत उष्ण, स्निग्ध और रुक्ष, इस तरह ८ प्रकार का होता है। रसः—तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय, इस तरह पाँच प्रकार का होता है। गंधः— सुरभि और दुरभि इस तरह दो प्रकार की है। रूप अर्थात् वर्ण पाँच प्रकार का होता हैः—कृष्ण नील, लोहित, पीत और श्वेत। शब्द तीन प्रकार का होता हैः—सचित्त, अचित्त, और मिश्र। इन्द्रियों के इन २३ विषयों में से अनुकूल विषयों की प्राप्ति से रागयुक्त होने से और प्रतिकूल विषयों की प्राप्ति से द्वेषयुक्त होने से कर्म का आस्रव होता है। यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि यदि इन्द्रियों के इन विषयों का सेवन प्रशस्तभाव से किया जाय तो वे शुभास्रव के कारण बनते हैं और अप्रशस्तभाव से सेवन किया जाय तो अशुभास्रव के कारण बनते हैं। उदाहरणार्थ—देव गुरु के चरण-स्पर्श कर प्रसन्न होना प्रशस्त-भावमय स्पर्श का सेवन है जबकि स्त्री या पुत्र के स्पर्श से प्रसन्न होना अप्रशस्तभावमय स्पर्श-सेवन हैं; देव गुरु के चरणामृत का पान करके प्रसन्न होना प्रशस्तभावमय रस सेवन है जब कि स्वादिष्ट भोजन करके प्रसन्न होना अप्रशस्त-भावयुक्त रस सेवन है। धर्म-निमित्त मंदिर में फैली हुई धूप एवं पुष्प की सुगंध से देवाधिदेव की अच्छी भक्ति होती है, अतः प्रसन्न होना, प्रशस्तभावमय गंध-सेवन है और दिल बहलाव के लिये तेल, फुलैल, इत्र अथवा सेन्ट का सेवन अप्रशस्तभावमय गंध सेवन कहलाता है। भगवान की प्रतिमा-आँगी, तथा गुरु की मनोहर मूर्ति आदि देखकर प्रसन्न होना

प्रशस्तभावमय रूप-सेवन है जब कि नवयौवना स्त्री आदि को देखकर प्रसन्न होना अप्रशस्तभावमय रूप-सेवन है। इसी प्रकार देव गुरु आदि के गुणगान या स्तवन आदि सुनकर प्रसन्न होना प्रशस्तभावमय शब्द-सेवन है और गायकों आदि के द्वारा मनोरजनार्थ गान तान सुनकर प्रसन्न होना अप्रशस्त-भावयुक्त शब्दसेवन है।

क्रिया के २५ प्रकार निम्नानुसार हैं:—

(१) कायिकी क्रिया—अयतना—असावधानीपूर्वक कायिक प्रवृत्ति करना।

(२) आधिकरणिकी क्रिया—घर के अधिकरण (उपकरण) अर्थात् सोटा, चाकू, कोश कुल्हाडी आदि साधनों से जीवहत्या करना।

(३) प्राद्वेषिकी क्रिया—जीव अजीव पर द्वेष करना।

(४) पारितापनिकी क्रिया—अपने आप को तथा अन्य को परिताप पहुँचाना।

(५) प्राणातिपातिकी क्रिया—एकेन्द्रियादि जीवों का हनन करना या करवाना।

(६) आरंभिकी क्रिया—जिसमें अधिकहिंसा होना सभव हो।

(७) पारिग्रहिकी क्रिया—धन धान्यादि नवविध परिग्रह प्राप्त करना और उन पर मोह रखना।

(८) मायाप्रत्ययिकी क्रिया—छल कपट करके दूसरे को कष्ट पहुचाना।

(९) मिथ्यादर्शनप्रत्ययिकी क्रिया—असत्य मार्ग का पोषण करना।

(१०) अप्रत्याख्यानिकी क्रिया—अभक्ष्य और अपेय वस्तुओं

का तथा अनाचरणीय प्रवृत्तियों का त्याग न करना ।

(११) दृष्टिकी क्रिया–सुन्दर वस्तुयें देखकर उनपर राग करना ।

(१२) स्पृष्टिकी क्रिया–सुकोमल वस्तुओं को रागवश स्पर्श करना ।

(१३) प्रातित्यकी क्रिया–दूसरे की ऋद्धि-समृद्धि देखकर ईर्ष्या करना ।

(१४) सामन्तोपनिपातिकी क्रिया–अपनी ऋद्धि समृद्धि की कोई प्रशंसा करे उससे प्रसन्न होना, अथवा तेल, घी, दूध, दही आदि के वर्तन खुले रखने से उनमें जीव आकर गिरें और इससे जो हिंसा हो वह ।

(१५) नैसृष्टिकी क्रिया–राजा आदि की आज्ञा से अन्य के पास यन्त्र-शस्त्रादि तैयार करवाने की क्रिया ।

(१६) स्वहस्तिकी क्रिया–अपने हाथ से अथवा शिकारी कुत्तों आदि से जीवहिंसा करना अथवा अपने हाथों स्वयं क्रिया को करने की आवश्यकता न हो फिर भी अभिमान पूर्वक स्वयं उस क्रिया को करना ।

(१७) आनयनिकी क्रिया–जीव अथवा अजीव के प्रयोग से कोई वस्तु अपने पास आए ऐसी कोशिश करना ।

(१८) विदारणकी क्रिया–जीव अथवा अजीव का छेदन-भेदन करना ।

(१९) अनाभोगिकी क्रिया–शून्यचित्त से वस्तुओं को लेना, रखना, बैठना, उठना, चलना-फिरना, खाना-पीना आदि ।

(२०) अनवकांक्षाप्रत्ययिकी क्रिया–इहलोक तथा परलोक

सम्बन्धी विरुद्ध काय का आचरण करना।

(२१) प्रायोगिकी क्रिया—मन वचन काया सम्बन्धी असद् विचारों में प्रवृत्ति करना परन्तु निवृत्ति न करना।

(२) समुदान क्रिया—कोई ऐसा कर्म करना कि जिससे ज्ञानावरणीयादि आठों कर्मों का एक साथ बन्ध हो।

( ) प्रेमप्रत्ययिका क्रिया—माया और लोभ से जो क्रिया की जाए।

( ) द्वेषप्रत्ययिका क्रिया—क्रोध और मान से जो क्रिया हो।

(४) ईर्यापथिका क्रिया—वीतराग मुनियों को तथाकेवल-ज्ञानी भगवान् को गमनागमन करते जो क्रिया लगती है वह।[४४]

इन सभी भेदों के तीव्रभाव मंदभाव ज्ञातभाव अज्ञात-भाव वीर्य और अधिकरण से अनेक भेदानभेद हो सकते हैं।[४५]

आ[illegible] का प्राकृत और पाली संस्कार आसव होता है औ[illegible] में भी [illegible] का मिलना है। वहाँ ऐसा बताया है कि [illegible] भी वस्तु स्थिर नहीं होने पर भी उसको स्थिर वस्तु के रूप में स्वीकार करने का जो अनादि दोष है, उसका नाम है अविद्या। यह अविद्या आसव के निमित्त से प्रकट होता है। इस आसव के चार प्रकार हैं—(१) कामासव, ( ) भवासव ( ) दृष्ट्यासव और (४) अविद्यासव। [illegible] विषयों को [illegible] की इच्छा कामासव पचस्कध में [illegible] रहने की इच्छा भवासव, बौद्ध दृष्टि से विपरीत दृष्टि रखने का वेग दृष्ट्यासव और अस्थिर अथवा अनित्य पदार्थों में स्थिरता अथवा नित्यता की बुद्धि अविद्यासव।

आसव इस अविद्या के सामान्य विकार हैं और क्लेश अविद्या का विशिष्ट विकार है।'

जैन दर्शन और बौद्ध दर्शन में प्रयुक्त इस आस्रव शब्द के विषय में प्रो० याकोबी ने धर्म और नीति के विश्वकोष (Encyclopedia of Religion and Ethics) की ग्यारहवीं पुस्तक में (पृ० ४७२) जैन दर्शन नामक लेख में विवेचन करते हुए बताया है कि 'आस्रव संवर और निर्जरा ये तीनों शब्द जैन धर्म के समान ही प्राचीन हैं। बौद्धों ने उनमें से अधिक महत्त्वशाली शब्द 'आस्रव' को उधार लिया है। वे इसका उपयोग लगभग इसी भाव में करते हैं, परन्तु उसके शब्दार्थ में नहीं करते, क्योंकि वे कर्म को एक वास्तविक पदार्थ नहीं मानते हैं और आत्मा का अस्वीकार करते हैं जिसमें आस्रव का होना संभव है इसलिये यह तर्क साथ २ यह भी सिद्ध करता है कि कर्मवाद जैनों का मौलिक एवं महत्त्वपूर्ण वाद है और वह बौद्ध धर्म की उत्पत्ति की अपेक्षा अत्यन्त प्राचीन है।[४६]

संवर तत्त्व

संवर अर्थात् कर्म के आस्रव को रोकने वाला। संवर, निर्जरा और मोक्ष ये तीनों शुद्ध उपादेय तत्त्व हैं। उनमें साध्य-साधन भाव निहित है। मोक्ष साध्य है, संवर और निर्जरा दोनों उसके साधन हैं। यदि संवर और निर्जरा न हों, तो मोक्ष की प्राप्ति हो नहीं सकती। इतना ही नहीं, किन्तु योग और अध्यात्म जिनकी सर्व महापुरुषों ने प्रशंसा की है, उन्हें प्रकट करवाने वाले ये दो तत्त्व ही हैं, अतः उनका महत्त्व अधिक है।

सवर और निर्जरा मे भी सवर का स्थान प्रथम है, क्योंकि सवरयुक्त निर्जरा ही सकल कर्म का क्षय करने मे सफल होती है। सवर न हो और मात्र निर्जरा हो तो आत्मा कभी भी कर्म रहित नही हो सकती। निर्जरावश कर्म झड़ते रहते हो परन्तु सवर के अभाव म नवीन कर्मों का आगमन होता रहे तो उसमे भी आत्मा को कर्म रहित होने का अवसर प्राप्त नही होता। एक ओर तालाब मे से पानी उलीचा जाता हो दूसरी ओर उतना ही नया पानी उसमे आता हो तो क्या वह तलाब कभी रिक्त हो सकता है ?

सवर आस्रव निरोध की क्रिया है[४०] अर्थात उससे नवीन कर्मों का आगमन होने म रुकता है और वही इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है।

सवर के द्रव्यसवर और भावसवर नामक दो भेद हैं। इनमे कर्म पुद्गल के ग्रहण का छेदन अथवा रोध करना द्रव्य-सवर है और ससार वृद्धि मे कारणभूत क्रियाओ का त्याग करना अथवा आ मा का शुद्धोपयोग तथा उससे युक्त समिति आदि भाव सवर है।[१८]

आस्रव निरोध अथवा सवर की सिद्धि छ वस्तुओ से होती है। तत्सम्बन्धी निर्देश करते हुए तत्त्वार्थ सूत्रकार ने बताया है कि स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै। वह (सवर) गुप्ति समिति धर्म अनुप्रेक्षा (भावना) परीषह जय और चारित्र द्वारा होता है।[४१] नव तत्त्व प्रकरण म भी सवर की सिद्धि के लिये इन्ही वस्तुओ का निर्देश किया गया है[४] परन्तु उनके क्रम म थोडा अन्तर । यथा समिति गुप्ति परीषह जय यतिधर्म, भावना और

चारित्र ऐसा क्रम है।

आस्रव का मूल योग है, अतः संवर का मूल योग-निरोध ही मानना चाहिये। इस प्रकार गुप्तियाँ उसका मुख्य अंग बनती हैं। गुप्ति का शब्दार्थ गोपन है, विशेषार्थ असत् प्रवृत्ति का नियंत्रण है। गुप्ति की महत्ता बताते हुए उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि 'गुत्ती नियत्तणे वुत्ता, असुभत्थेसु सव्वसो। गुप्तियाँ अशुभ व्यापार से निवृत्त होने के लिये उपयोगी हैं।[४१] अतः चाहे अशुभ को रोकने से हों चाहे शुभ में प्रवृत्ति करने से हों ये गुप्ति कहलाती हैं। इसीलिये शास्त्रकार गुप्ति को निवृत्ति-प्रवृत्ति उभयरूपों में मानते हैं।

गुप्तियों के प्रकार के विषय में 'स्थानांग सूत्र के तीसरे स्थान में बताया है कि स्थान, 'तओ गुत्तीओ पण्णत्ता, तं जहा मणगुत्ती, वयगुत्ती कायगुत्ती। गुप्तियां तीन प्रकार की हैं:—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति, और कायगुप्ति।' सब प्रकार की असत् कल्पना का त्याग करके मन को समता में सुप्रतिष्ठित करना मनोगुप्ति है; वाणी का निरोध करना अर्थात् मौन धारण करना, अथवा धर्म्य वचनोच्चार करना वचन गुप्ति है और काया को वश में रखना अथवा शुभ प्रवृत्ति में लगाना कायगुप्ति है।

गुप्ति के उपभेद भी हैं। उनसे गुप्ति का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है, अतः हम उनका निर्देश करना उचित समझते हैं। आर्त और रौद्र-ध्यानानुबंधी कल्पना जाल का त्याग अकुशल मनोवृत्ति रूपी प्रथम प्रकार की मनोगुप्ति है।[४२]

शास्त्रानुसारी परलोक साधक धर्म-ध्यानानुबंधी और माध्यस्थ्य परिणाम रूप गुप्ति इसका दूसरा प्रकार है अर्थात्

धम और शुक्लध्यान म मन को लगाना कुशल प्रवृत्ति रूप दूसरे प्रकार की मनोगुप्ति है और कुशलाकुशल मनोवृत्ति के निरोधपूवक सभी योगो के निरोध की अवस्था म होने वाली आत्मरमणता योगनिरोधरूप तीसरे प्रकार की मनोगुप्ति है।

योगाचाय श्री पतजलि ऋषि ने चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है[४३] अत योगशास्त्र जैन दशनाभिमत मनोगप्ति का ही वणन है, ऐसा कथन यथाथ है। यद्यपि यह अपूण व्याख्या ह क्योकि भले सम्पूण चित्तवृत्ति निरोध न हो परन्तु क्लिष्ट चित्तवत्ति का निरोध भी गुप्ति है फिर भले असक्लिष्ट चित्तवत्ति प्रवनमान हो।

मुख मस्तक नयन हाथ आदि की अथसूचक चेष्टा रूप सना आदि के निरोध पवक मौन मौनावलवन रूप प्रथम प्रकार की वचनगुप्ति है और वाचना प्रच्छना परावतना आदि[४४] के प्रसग म मुख को मुखवस्त्रिका से आच्छादित करके वाचा का नियन्त्रण करना वाग नियमनरूप दूसरे प्रकार की वचनगप्ति ह।

कायोत्सर्गादि द्वारा की जाने वाली शरीर की स्थिरता अथवा सवयोग के निरोध के समय की केवलज्ञानी की कायिक निश्चलता कायिक चेष्टा निवृत्ति रूप प्रथम प्रकार की कायगुप्ति है और शास्त्रो के कथनानुसार शयन, आसन लेते रखते तथा जीवन धारण के लिये आवश्यक अन्य प्रवृत्तियो के प्रसग म काया की चेष्टा को वश म रखना यथा-सूत्र चेष्टा नियमन रूप द्वितीय प्रकार की कायगुप्ति है।

गुप्ति के जितना ही महत्त्व समिति का है क्योकि वह

गुप्ति की पोषक है तथा जीवन का प्रत्येक व्यवहार उपयोग-पूर्वक करने की शिक्षा देती है और उससे जीव नवीन कर्म बंधन से वच जाता है। समिति अर्थात् उपयोग पूर्वक क्रिया। समिति में सम् और इति ये दो पद हैं। उनमें सम् उपसर्ग उपयोग पूर्वक का अर्थ देता है और इति पद क्रिया का सूचन करता है। जैन शास्त्रों में 'समेकीभावेनेति समितिः' ऐसी व्याख्या भी दृष्टिगोचर होती है। उसका अर्थ है 'जिस क्रिया में एक भाव अर्थात् एकाग्रता अच्छी तरह हुई हो वह समिति।' अर्थात् समिति का मूल उपयोग, सावधानी अथवा आत्मजागृति में निहित है।

समितियों के प्रकार के संबंध में समवायांग सूत्र में बताया है कि ,पंचसमिईओ पण्णत्ताओ, तं जहा ईरियासमिई भासासमिई, एसणासमिई, आयाण-भंडमत्त-निक्खेवणसमिई उच्चारपासवण-खेल-जल-सिंघाणपारिट्ठावणियासमिई। समिति पाँच प्रकार की है :—

(१) ईर्यासमिति, (२) भाषासमिति, (३) एषणा-समिति, (४) आदाननिक्षेपसमिति, (यह नाम ऊपरके नाम में से संक्षिप्त किया हुआ है) और (५) पारिष्ठापनिकासमिति (यह नाम भी उपरोक्त नाम में से संक्षिप्त किया गया है)।

तीन गुप्ति और पाँच समिति को जैन शास्त्रों में 'अष्ट प्रवचनमाता' का सूचक नाम दिया गया है। जिस प्रकार माता अपने बालक का धारण, पोषण और रक्षण करती है, उसी प्रकार गुप्ति और समिति के ये आठ प्रकार प्रवचन अर्थात् चारित्ररूपी ;बालक का धारण-पोषण एवं रक्षण करती हैं।

का कितना महत्व है । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि–

एमा पवयणमाया जे सम्म आयरे मुणी ।
सोखिप्पं सव्वसंसारा, विप्पमुच्चइ पण्डिए ॥

इन प्रवचन माताओ का जो बुद्धिमान मुनि भली प्रकार पालन करता है वह सर्व ससार म से शीघ्र मुक्त होता है।'

ईर्यासमिति अर्थात उपयोग पूर्वक चलना । उसके सबध म निम्नलिखित नियमो का पालन आवश्यक है –

(१) ज्ञान दर्शन–चारित्रार्थ चलना परन्तु अन्य हेतु से चलना नही ।

(२) दिन का चलना पर रात को नही चलना ।

(३) आने जाने के चालू मार्ग पर चलना परन्तु नवीन मार्ग पर जिसमे सजीव मिट्टी आदि की विशेष सभावना हो उस पर नही चलना ।

(४) आगे देख कर चलना परन्तु बिना देखे नहीं चलना ।

(५) दृष्टि को नीचा रखकर चार हाथ भूमि का अवलोकन करना परन्तु दृष्टि ऊची रख कर अथवा इधर उधर नजर फिराते हुए नही चलना ।

भाषासमिति अर्थात उपयोग पूर्वक बोलना । तत्सबधी निम्नलिखित नियमो का पालन आवश्यक है –

(१) कठोर भाषा का उपयोग नहीं करना । काने को काना, नपुसक को नपुसक, व्याधि ग्रस्त को रोगी अथवा चोर को चोर कहकर सबोधित करने से उसे दुःख होता है अतः ऐसो को भी महानुभाव महाशय, देवानुप्रिय आदि मधुर शब्दो से सबोधित करना ।

(२) क्रोधपूर्वक नहीं बोलना ।
(३) अभिमान पूर्वक वचनोच्चार नहीं करना ।
(४) कपटपूर्वक नहीं बोलना ।
(५) लोभवृत्ति से नहीं बोलना ।
(६) हास्य से अर्थात् हँसने के लिये नहीं बोलना ।
(७) भय से नहीं बोलना ।
(८) वाक्चातुर्य से नहीं बोलना ।
(९) विकथा नहीं करना ; विकथा अर्थात् स्त्री, भोजन, देशाचार और राज्य की समृद्धि के विषय में वार्तालाप ।

वचन गुप्ति में असद् वाणी-व्यवहार का नियंत्रण और सद्वचन का प्रवर्तन करना होता है, जब कि भाषासमिति में क्या बोलना ? इसका विवेक रखना पड़ता है । अतः वचन-गुप्ति और भाषासमिति दोनों एक वस्तु नहीं हैं । समिति प्रवृत्ति रूप है और गुप्ति निवृत्ति-प्रवृत्ति उभयरूप है ।

एषणासमिति अर्थात् जीवनधारण के लिये आहार, उपधि, वसति (स्थान) आदि उपयोग पूर्वक प्राप्त करना । तत्संबंधी निम्न लिखित नियमों का पालन आवश्यक है ।

(१) जो आहार अथवा वस्तु श्रमण के लिये ही बनाई गई हो उसे स्वीकार नहीं करना ।

(२) जो आहार अथवा वस्तु श्रमण और अन्य याचक को ही लक्ष्य में रखकर तैयार की हो उसे ग्रहण न करना ।

(३) जो आहार अकल्प्य के संसर्ग में आया हो उसे नहीं लेना ।

(४) जो आहार या वस्तु अपने परिवार और श्रमण

(२०) जाति बताकर।

(२१) निर्धनता अथवा दीनता बताकर।

(२२) दवाई करके।

(२३) क्रोध करके।

(२४) अहंकार करके।

(२५) लोभ करके।

(२६) कपट करके।

(२७) गुणगान गाकर।

(२८) विद्या, जादू अथवा वशीकरण द्वारा

(२९) मंत्र-तंत्र का प्रयोग करके।

(३०) गोली-चूर्ण आदि का नुसखा बताकर।

(३१) सौभाग्य-दुर्भाग्य बताकर।

(३२) गर्भपात करवा कर।

(३३) जिस आहार अथवा वस्तु की निर्दोषिता के विषय में पूर्ण विश्वास न हो उसे नहीं लेना।

(३४) हाथ सचित्त (सजीव) या जुगुप्सनीय वस्तु से सने हुए हों और वस्तु दी जाय तो नहीं लेना।

(३५) आहार या वस्तु यदि किसी सचित्त पदार्थ पर रक्खी गई हो।

(३६) अथवा कोई सचित्त पदार्थ उस पर रक्खा गया हो।

(३७) अथवा वह सचित्त वस्तु का स्पर्श करती हो तो ग्रहण नहीं करना।

(३८) दाता अंधा पंगु अथवा अति रोगी हो तो उसके पास से वस्तु न लेना।

वह भवपरंपरा का नाश करके सर्व दुःख का अंत करती है।[५६]

भावना बारह प्रकार की है। तत्त्वार्थसूत्र, प्रशमरति-प्रकरण, अध्यात्मकल्पद्रुम, शांतसुधारसभावना आदि में उनके नाम निम्न प्रकार से बताये हैं:—

(१) अनित्य (२) अशरण (३) संसार (४) एकत्व (५) अन्यत्व (६) अशुचित्व (७) आस्रव (८) संवर (९) निर्जरा (१०) धर्मस्वाख्यात (११) लोकस्वरूप और (१२) बोधिदुर्लभ।

सर्व बाह्य-आभ्यन्तर संयोगों की अनित्यता का चिंतन करना **अनित्य भावना** है। अरिहंतादि चार शरणों को छोड़कर संसार में प्राणी को किसी की शरण नहीं, ऐसा चिन्तन करना **अशरण भावना** है। संसार में जीव का अनादि परिभ्रमण तथा उसके अनंत जन्म, मरण और अस्थिर संबंधों का चिंतन करना **संसार भावना** है। जन्म मरण तथा सुख दुःख का संसार में जीव को अकेले ही अनुभव करना पड़ता है, ऐसा चिन्तन करना **एकत्व भावना** है। आत्मा को शरीर, बंधु तथा धन आदि से भिन्न मानना **अन्यत्व भावना** है। शरीर की अपवित्रता का चिन्तन **अशुचित्व भावना** है। कषाय, योग, प्रमाद, अविरति तथा मिथ्यात्व का अशुभ कर्म के हेतु के रूप में चिन्तन करना **आस्रव भावना** है। संयम, समिति गुप्ति आदि के स्वरूप का एवं उनके लाभों का चिन्तन **संवर भावना** है। कर्म की निर्जरा में कारण भूत बारह प्रकार के तप की महिमा का चिन्तन करना **निर्जरा भावना** है; जिनेश्वरों ने धर्म भली प्रकार कहा है और वह महाप्रभावशाली है, ऐसा

चि तन करना **धर्मस्वाख्यात भावना** है लोक के स्वरूप का चिन्तन करना **लोक स्वरूप भावना** है और सम्यक्त्व की प्राप्ति दुर्लभ है अत उसके लिये उपयोग रखना ऐसा चि तन **बोधि-दुर्लभ भावना** है।

इन भावनाओं में चि तन किस प्रकार करना ? इस संबंध में जैन शास्त्रों में समुचित विस्तार है और उन पर कथा दृष्टान्त भी बहुत है

संवर के पाचवे प्रकार में परीषह आता है। धर्म मार्ग में दृढ रहने तथा कर्म बंधनों का विध्वंस करने के लिये जो परिस्थिति समभावपूर्वक सहन करने योग्य है उसे परीषह कहते हैं। एक दूसरे की अपेक्षा भेद से अनेक प्रकार के हो सकते हैं परन्तु जैन शास्त्रों ने उनके मुख्य प्रकार बाईस माने हैं।[५७] वे इस प्रकार हैं —

भूख जितनी तथा और तृषा की वेदना होने पर स्वीकृत मर्यादा के विरुद्ध आहार पानी न लेते हुए समभाव पूर्वक इन वेदनाओं को सहन करना क्षुधा और पिपासा परीषह।

–४ चाहे जितनी ठंड और गर्मी की कठिनाई होने पर भी उसे दूर करने के लिये किसी अकल्प्य वस्तु का सेवन किये बिना ही समभाव पूर्वक इन वेदनाओं का सहन करना शीत और उष्ण परीषह

५ दंश–मशक डांस मच्छर आदि जंतुओं द्वारा कृत उपद्रव को समभाव पूर्वक सहन करना दंशमशक परीषह।

६ वस्त्र का सर्वथा अभाव होने पर अथवा जीर्णप्राय और अल्पवस्त्र होने पर भी वस्त्र प्राप्ति का दीन चिन्तन न

करना—अचेलक परीषह। यहाँ चेल का अर्थ वस्त्र समझें।

७. चारित्रमार्ग में विचरण करते हुए जो अरति, अधैर्य, अथवा अरुचि उत्पन्न हो उसका निवारण करना अरति परीषह।

८. स्त्री द्वारा विषयेच्छापूर्ति के लिये कृत उपसर्गो या उपद्रवों को सम्यक् प्रकार से सहन करना, परन्तु लेश मात्र भी विकार न होने देना और स्त्री के अधीन न होना स्त्री-परीषह। स्त्री साधक के लिये इसके विपरीत बात समझें।

९. ग्रामानुग्राम विहार करना परन्तु एक स्थान पर नियत निवास करके नहीं रहना—चर्या परीषह।

१०. स्मशान, शून्य गृह, वृक्ष आदि के नीचे आसन जमा कर बैठने पर जो भय उपस्थित हो जाएँ उन्हें निश्चलता पूर्वक जीतना परन्तु उस आसन से च्युत होना नहीं—यह निषद्या परीषह है।

११. कोमल अथवा कठिन, ऊँची अथवा नीची, जैसी भी शय्या, (वसति—निवास स्थान) मिले वैसी शय्या को समभाव पूर्वक सहन करना परन्तु उससे उद्विग्न न होना—शय्या परीषह।

१२. कोई चाहे जैसा कठोर अथवा कटु वचन कहे, उसे सहन करना—आक्रोश परीषह।

१३. कोई ताड़ना-तर्जना करे तो उसे समभावसहित सहन करना—वध परीषह।

१४. धर्मयात्रा के निर्वाहार्थ याचक वृत्ति स्वीकार करना—याचना परीषह।

१५. याचित वस्तु की प्राप्ति न होने पर उद्विग्न न होना-

परन्तु लाभान्तराय के उदय का चिन्तन करना–अलाभ परीषह।

१६ रोग अथवा व्याधि उत्पन्न होने पर आकुल व्याकुल न होना परन्तु उसे समभाव पूर्वक सहन करना–रोग परीषह।

१७ सथारे मे अथवा अन्यत्र तृण आदि की तीक्ष्णता का अनुभव हो उसे सहन करना–तृण स्पर्श परीषह।

१८ शरीर मे मलादि की उत्पत्ति होने पर घृणा न करना–समभाव से सहन करना–मल परीषह।

१९ चाहे जितना सत्कार प्राप्त होने पर भी गर्व न करना सत्कार परीषह।

२० अतिशय ज्ञान का गर्व न करना–प्रज्ञा परीषह।

२१ अज्ञानता का खेद न करना परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय मानकर यथाशक्ति ज्ञान प्राप्ति के लिये उद्यम करना–अज्ञान परीषह।

२२ अनेक उपसर्गो–कष्टो के होने पर भी सर्वज्ञोक्त धर्म पर से श्रद्धा न बदलना और मिथ्याचार का आचरण न करना सम्यक्त्व परीषह।

सवर का छठा भेद चारित्र है। चय अर्थात् (कर्म का) समूह उसे जो रिक्त करे वह चारित्र। अन्य शब्दों मे कहे तो आत्मिक शुद्ध दशा मे स्थिर होने का प्रयत्न करना चारित्र है। यह चारित्र पाच प्रकार का है (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापनीय (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्म सपराय और (५) यथाख्यात।[४८]

मन वचन और काया से पाप कर्म करना नही, करवाना नही और करने वाले का अनुमोदन-अनुमति देना नही उसे

संकल्प पूर्वक जो चारित्र ग्रहण किया जाता है उसे सामायिक चारित्र कहते हैं।

यहाँ इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि शेष चारों चारित्र सामायिक रूप तो हैं ही, परन्तु आचार और गुण की विशेषता के कारण उन चार को अलग किया गया है। सामायिक चारित्र का सरलार्थ प्रथम दीक्षा है। इसमें सर्व सावद्य (पापयुक्त) व्यापार के त्याग की प्रतिज्ञा (पच्चक्खाण) है।

प्रथम दीक्षा लेने के पश्चात् विशिष्ट श्रुत का अध्ययन करके विशेष शुद्धि के लिये जो जीवन पर्यन्त महाव्रत के स्वीकार रूप पुन: दीक्षा ली जाती है, उसे छेदोपस्थापनीय चारित्र कहते हैं। प्रथम ली हुई दीक्षा में दोष लगने से उसका छेदन करके पुन: नये सिरे से जो महाव्रतों में उपस्थापना रूप दीक्षा दी जाती है, वह भी छेदोपस्थापनीय चारित्र कहलाता है। श्री पार्श्वनाथ भगवान के चातुर्याम व्रतवाले साधुओं ने पंच महाव्रत वाला श्री महावीर स्वामी का मार्ग स्वीकार किया तब नये सिरे से चारित्र ग्रहण किया था, उसे भी इसी प्रकार का चारित्र समझें। छेदोपस्थापनीय चारित्र का सादा अर्थ बड़ी दीक्षा है।

विशिष्ट तपश्चर्या से चारित्र को अधिक विशुद्ध करना परिहार विशुद्धि चारित्र कहलाता है।

जिसमें क्रोध, मान और माया इन तीनों कषायों का उदय नहीं होता और चौथे लोभ का अंश अति सूक्ष्म होता है, वह सूक्ष्मसंपराय चारित्र कहलाता है।

जिसमें किसी भी कषाय का उदय नहीं होता, वह यथाख्यात अथवा वीतराग चारित्र कहलाता है। वीतराग को

राग द्वेष रहित मानते है क्योकि उनमे माया और लोभ रूपी राग अथवा क्रोध और मान रूपी द्वेष का उदय नही होता।

सवर के ये सत्तावन भेद साधु जीवन को लक्ष्य मे रख कर कहे गए है। इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि सवर की सिद्धि के लिये साधु धर्म अपेक्षित है। गृहस्थ सामायिक-पौषध आदि धार्मिक अनुष्ठान करके तथा आत्मजागृति, कषाय त्याग तितिक्षा आदि का विकास करके अमुक सीमा तक प्रगति कर सकते है।

तत्वार्थ सूत्र म कहा है कि 'तपसा निर्जरा च'। तप के द्वारा सवर और निर्जरा होती है।[११] अर्थात् सवर के ५७ भेदो मे तप के १२ भेद बढाकर उनके ६९ भेद मानने की भी एक परम्परा है।

निर्जरा तत्व

आत्मप्रदेशो के साथ सम्बद्ध कर्मों का स्खलित होना निर्जरा है। यह क्रिया जब उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेती है तब आत्मप्रदेशो से सम्बधित सर्व कर्मों का स्खलन हो जाता है और आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर लेता है अर्थात् वह सिद्ध, बुद्ध निरजन होकर अनन्त सुख का भोक्ता बनता है इसीलिये इस तत्व की उपादेयता अधिक है।

निर्जरा दो प्रकार की है अकाम और सकाम। यहाँ काम शब्द इच्छा या अभिलाषा के अर्थ मे प्रयुक्त है। अर्थात् जो निर्जरा अनायास स्वाभाविक रीति से कर्म-स्थिति का परिपाक होने म अथवा अज्ञानतावश कष्ट सहन करने से होती है वह अकाम और जो निर्जरा कर्मक्षय की अभिलाषा से या सकल्प पूर्वक होती है वह सकाम, ऐसा समझें। एक

मनुष्य पराधीनतावश अथवा निरुपाय स्थिति में या अज्ञानभाव से कष्ट सहन करता हो तो उसकी अकाम निर्जरा होती है और आत्मशुद्धि की इच्छा से कष्ट सहन करता हो तो उसकी सकाम निर्जरा होती है। वनस्पति, जंतु, कीड़े, पक्षी, पशु तथा मूढ़ तपस्वी आदि अनिच्छापूर्वक अनेक प्रकार के कष्ट सहन करते हैं। इस प्रकार उन्हें अकाम निर्जरा होती है।

अकाम और सकाम निर्जरा में महत्त्व सकाम निर्जरा का है, क्योंकि सर्व कर्मों का नाश उसी के सहारे किया जा सकता है।

जैन शास्त्रों में कहा है कि 'भवकोडिसंचियं कम्मं तवसा निज्जरिज्जइ–करोड़ों भवों में संचित कर्म तप से निर्जरित हो जाते हैं—स्खलित हो जाते हैं।[६०] अर्थात् निर्जरा का साधन तप है। वैदिक श्रुति स्मृतियों में भी 'तपसा किल्विषं हन्ति–तप द्वारा पाप का नाश करते हैं' ऐसा पाठ आता है, अतः तप में आत्मा का मल दूर करने की शक्ति रही हुई है यह बात निर्विवाद है।

जैन शास्त्रों ने मोक्ष मार्ग के उपायों में तप का स्पष्ट निर्देश भी किया है जैसे:—

'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं अहिंसा संजमो तवो'

दश वै० १–१

अहिंसा संयम और तप ये धर्म हैं और ये उत्कृष्ट मंगल हैं।

नाणं च दंसणं चेव, चरित्तं च तवो तहा।
एयमग्गमणुपत्ता, जीवा गच्छन्ति सोग्गइं॥

'दर्शन, ज्ञान चारित्र और तप के मार्ग को प्राप्त हुए जीव मोक्ष

फिर ऐसा भी कहा है—

खवेत्ता पुव्वकमाइ, सजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो॥

'सयम और तप द्वारा पूर्व कर्मों का क्षय करके महर्षि सर्व दुःखों से रहित जो मोक्षपद है, उसके लिये पराक्रम करते है।'[६२]

तप की व्याख्या भिन्न २ धर्मों में भिन्न २ प्रकार से की गई है। किसी ने अमुक व्रत को ही तप माना है; किसी ने वनवास कदमूलभक्षण अथवा सूर्य के आतप को सहन करने को ही तप गिना है, तो किसी ने केवल देह और इन्द्रियों के दमन से ही तप की पूर्णता स्वीकार की है। किसी ने मात्र मानसिक तितिक्षा को ही तप मानने की हिमायत की है, परन्तु जैन धर्म ने तप का बडा विशाल अर्थ किया है और उसमें शरीर, मन, आत्मा की शुद्धि करने वाली सर्व वस्तुओं को स्थान दिया है।

'अप्पाण-आत्मा का दमन करो'[६३] यह जैन धर्म का प्रसिद्ध सूत्र है परन्तु वह मनुष्य को बाह्य अथवा अज्ञानतामय तप का आर न जान वाला नहीं, वह तो ज्ञान पूर्वक आत्मा की दुष्ट वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने का सूचन करता है, और इसलिये वह ज्ञानमय वास्तविक तप का निर्देशक है।

'सो तवो दुविहो वुत्तो बाहिरब्भन्तरो तहा—' ये आर्ष वचन सूचित करते हैं कि तप दो प्रकार का है: बाह्य और आभ्यन्तर[६४]। इनमें बाह्य तप का विशेष सबध शरीर के साथ है और आभ्यन्तर तप का विशेष सबध मन और आत्मा के साथ है।

'बाहिरो छव्विहो वुत्तो' यह आगम-वचन है। इसका

अर्थ है कि वाह्य तप छः प्रकार का है।'[६५]दशवैकालिक निर्युक्ति में उन छः प्रकारों के नाम निम्न प्रकार से प्राप्त होते हैं:—

(१) अणसणं–अनशन। (४) ऊणोदरिआ–ऊनोदरिका। (३) वित्ती संखेवणं–वृत्ति संक्षेप–आहारादि के द्रव्यों में संक्षेप। (४) रसच्चाओ–रस त्याग (५) कायकिलेसो–काय क्लेश और (६) संलीणया–संलीनता।[६६]

उत्तराध्ययन सूत्र में वृत्ति–संक्षेप के स्थान पर 'भिक्खायरिया' अर्थात् भिक्षाचर्या शब्द है[६७]और तत्त्वार्थ-सूत्र में संलीनता के स्थान पर विविक्तशय्या शब्द है[६८]परन्तु इनमें कोई तात्त्विक भेद नहीं है क्योंकि वृत्तिसंक्षेप भिक्षाचर्या के संबंध में ही करना है और विविक्तशय्या संलीनता का ही एक प्रकार है।

'एवमब्भन्तरो तवो' इन आगम वचनों से आभ्यंतर तप के भी छः प्रकार सूचित होते हैं।[६९] दशवैकालिक निर्युक्ति में उनके नाम इस प्रकार बताए गए हैं:

(१) पायच्छित्तं–प्रायश्चित्त, (२) विणओ–विनय, (३) वेयावच्चं–वैयावृत्य, (४) सज्झाओ–स्वाध्याय, (५) झाणं–ध्यान और (६) उस्सग्गो–उत्सर्ग।[७०]

उत्तराध्ययन सूत्र में भी इन्हीं छः नामों का निर्देश है, परन्तु वहाँ उत्सर्ग के स्थान पर व्युत्सर्ग शब्द का प्रयोग है।[७१] तत्त्वार्थसूत्र में भी व्युत्सर्ग शब्द का ही प्रयोग है, परन्तु वहाँ व्युत्सर्ग को पाँचवाँ और ध्यान को छठा स्थान दिया गया है।[७२]

इस प्रकार तप के कुल बारह प्रकार होते हैं। उनका

यहां क्रमशः परिचय दिया जाता है।

(१) **अनशन**——अशन अर्थात् आहार। अन् उपसर्ग निषेध वाचक है अतः अनशन का अर्थ आहार का त्याग होता है। यदि आहार का त्याग अमुक समय के लिये ही हो तो उसे 'इत्वर अनशन' कहते हैं। नमुक्कारसी पोरिसी, एकासना, आयंबिल उपवास छट्ठ (दो उपवास), अट्ठम, (तीन उपवास) आदि का उसमें समावेश होता है। आमरण आहार-त्याग यावत्कथिक अनशन कहलाता है। लोक व्यवहार में इसी को अनशन कहते हैं।

आहार करना जीव का अनादि काल का स्वभाव है। उस पर इस तप से काबू किया जा सकता है। वैद्यक शास्त्रों ने भी इस तप की उपयोगिता स्वीकार की है और निसर्गोपचार वाले तो इस तप को बहुत ही महत्त्व देते हैं। कितने ही सुप्रसिद्ध मनुष्यों ने उपवास सम्बन्धी अपने अनुभव प्रकट किये हैं और उपवास में रही हुई अद्भुत शक्ति का परिचय कराते हैं।[33]

(२) **ऊनोदरिका**——उदर अर्थात् पेट का भोजन करते समय थोड़ा ऊन अपूर्ण रखना-ऊनोदरिका कहलाता है। पेट भरकर भोजन करने से मस्तिष्क पर रक्त का दबाव विशेष हो जाता है परिणामस्वरूप स्फूर्ति कम हो जाती है और आलस्य तथा नींद आने लगता है। इसके अतिरिक्त ठूंस ठूंस कर भोजन करने से शरीर में मेद (चर्बी) बढ़ जाती है और उससे भी कई रोग हो जाते हैं एवं रात को स्वप्न दोष भी होता है। जिसे शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करना हो उसे ऊनोदरिका का आलंबन अवश्य लेना चाहिये।

(३) **वृत्तिसंक्षेप:**—भोजन और पानी के सहारे जीवित रह सकते हैं अतः उसे वृत्ति कहते हैं। इस वृत्ति का संक्षेप करना वृत्ति–संक्षेप नाम का तप है। उसका द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से संक्षेप करने से उग्र तितिक्षा होती है। उदाहरणार्थ अमुक द्रव्य ही लेने अथवा अमुक प्रकार की भिक्षा मिले तो ही लेना यह द्रव्य-संक्षेप है। एक, दो, अथवा अमुक घर में से भिक्षा मिले तो ही लेना यह क्षेत्र संक्षेप। दिन के प्रथम प्रहर अथवा मध्याह्न के वाद ही भिक्षा ग्रहण करने जाना यह काल संक्षेप। साधुओं को मध्याह्न में ही गोचरी करनी चाहिए इस अपेक्षा से यहाँ प्रथम प्रहर और मध्याह्नोपरान्त प्रहर की गोचरी को वृत्तिसंक्षेप में गिना है और अमुक स्थिति में रहा हुआ व्यक्ति ही भिक्षा दे तो ग्रहण करना–यह भाव संक्षेप। श्री महावीर स्वामी को ये चारों प्रकार का संक्षेप करते दस वोल का (दस नियमवाला) उग्र अभिग्रह हुआ था और वह पाँच माह और पच्चीस दिन के उपवास के वाद चंदनवाला द्वारा पूर्ण हुआ था। गृहस्थ इस तप को कम से कम या अमुक सामग्री द्वारा ही निभाने का निश्चय करके कर सकते हैं।

(४) **रस त्याग:**—मधु (शहद) मदिरा, मांस, मक्खन, दूध, दही, घी, तेल, शक्कर (गुड़) और पकवान इन दस की संज्ञा रस है। इनमें से प्रथम चार रसों का सर्वथा त्याग करना और शेष छः रसों का यथाशक्ति त्याग करना, रस त्याग नामक तप गिना जाता है। एकाशन पूर्वक रस का त्याग करना और विना मसाले का रूखा भोजन करना आयंविल कहलाता है। जैन धर्म में इसकी वहुत महिमा है।

वितर्क निर्विचार अनुज्ञात के आलम्बन पूर्वक मनोयोगादि किसी भी एक योग में स्थिर होकर द्रव्य के एक ही पर्याय का एकाग्र चिंतन करना। इस ध्यान के अन्त में आत्मा वीतराग सर्वज्ञ बनता है सदेह परमात्मा बनता है। (३) सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती मन का एकाग्रता सो ध्यान इस अर्थ में यह ध्यान नहीं परन्तु मन वचन काया की सभी प्रवृत्तियां या योग का रोध सो ध्यान—इस अर्थ में यह ध्यान है। इस में सर्व योग का निरोध होना है परन्तु श्वासोच्छवास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रहा करता होता है और (४) समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति-जब आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कंप हो जाएँ तब इस ध्यान की प्राप्ति हुई मानी जाती है। इसमें मानसिक वाचिक अथवा कायिक किसी प्रकार का स्थूल या सूक्ष्म क्रिया नहीं होती इसका समय अत्यल्प होता है अर्थात् अ इ उ, ऋ, लृ ये पांच ह्रस्व स्वर बोलने में जितना समय लगता है उतने ही समय का होता है इस ध्यान के प्रताप से शेष सब कर्मों का नाश होता है और आत्मा देह छोड़ अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध शिला में विराजमान होता है तो यह ध्यान है कि इसके बाद वह सिद्ध की अवस्था में आता है अर्थात् विदेह परमात्मा बनती है और सारे दुःखों से सदा के लिये मुक्त हो जाता है।

करना। (४) भक्तपानव्युत्सर्ग–आहार पानी का त्याग करना। भावव्युत्सर्ग तीन प्रकार का है:– (१) कपाय-व्युत्सर्ग–कपाय का त्याग करना। (२) संसारव्युत्सर्ग–संसार का त्याग करना। यहाँ संसार शब्द से संसार पर की आसक्ति समझें। (३) कर्मव्युत्सर्ग–आठों प्रकार के कर्मों का त्याग करना।

तप कर्म-निर्जरा का मुख्य साधन होने से जैन धर्म में अत्यन्त प्रतिष्ठावान् है और उस पर विचार विमर्श भी वहुत हुआ है जिसका सार यह है–

(१) तप, पूजा, प्रसिद्धि अथवा सांसारिक लाभों के के लिये नहीं करना चाहिये, परन्तु मात्र कर्म क्षय के हेतु से ही करना चाहिए। तप से सांसारिक लाभ की इच्छा करना रत्न के वदले में कौड़ी प्राप्त करने जैसा मूर्खतापूर्ण व्यवहार है।

(२) तप इस प्रकार करना कि जिससे किसी अंग, इन्द्रिय का खंडन न हो। अंग भंग होने पर नित्य की धर्म-प्रवृत्तियों का हनन हो जाता है जो अभीष्ट नहीं है।

(३) तप इस प्रकार नहीं करना जिससे मन अमंगल का चिंतन करने लग जाय, अर्थात् आर्त्त-रौद्र ध्यान में चढ़ जाए अथवा मोक्षसाधक स्वाध्यायादि योगों का ह्रास हो।

(४) तप आजीविका के हेतु अथवा खेदपूर्वक न करना चाहिए।

जैन महर्षियों की यह हित शिक्षा है कि प्रारम्भ में कड़वे परन्तु परिणाम में सुन्दर ऐसे वाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप सदा करने चाहिये क्योंकि ये मोहरोग और

(४) स्वाध्याय:–जिनसे आध्यात्मिक प्रगति हो ऐसे सूत्र सिद्धान्त अथवा धार्मिक तात्त्विक ग्रन्थों का अध्ययन करना यह स्वाध्याय नामक आभ्यन्तर तप है। उसके वाचना-पाठ लेना, पृच्छना-प्रश्न करना, परावर्तना-आवृत्ति करना, अनुप्रेक्षा-तत्त्व चिंतन करना और धर्मकथा–तत्त्व की चर्चा, विचार विमर्श करना या धर्म प्राप्ति करवाने के लिए उपदेश देना, ये पाँच भेद प्रसिद्ध हैं। मंत्र जाप को भी स्वाध्याय ही कहते हैं, क्योंकि उसमें मन्त्र की आवृत्ति होती है।

(५) ध्यान:–मन की एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। यदि वह शुभ अध्यवसायपूर्वक हो तो उसका समावेश आभ्यंतर तप में होता है। उसके दो भेद हैं धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान। जिसमें धर्म का चिंतन मुख्य हो वह धर्म ध्यान और जिसमें व्याक्षेप तथा संमोहादि से रहित आत्म-रमण की मुख्यता हो वह शुक्ल ध्यान।

धर्म ध्यान के चार प्रकार हैं: (१) आज्ञा विचय–वीतराग महापुरुषों की धर्म सम्बन्धी जो आज्ञाएँ हैं उनकी अतुल महिमा और स्वरूप का सतत चिंतन करना। (२) अपाय-विचय–राग द्वेषादि तथा सांसारिक सुखों द्वारा होने वाले अपाय या अनिष्ट का सतत चिंतन करना (३) विपाकविचय–कर्म के शुभाशुभ विपाकों का चिंतन करना और (४) संस्थान-विचय–विश्व या लोक के स्वरूप के सम्बन्ध में सतत चिंतन करना।

शुक्ल ध्यान के भी चार प्रकार हैं: (१) पृथक्त्व वितर्क सविचार-श्रुत ज्ञान के आलम्बन पूर्वक चेतन और अचेतन

वितर्क-निर्विचार ज्ञान के आलम्बन पूर्वक मनोयोगादि किसी भी एक योग में स्थिर होकर द्रव्य के एक ही पर्याय का एकाग्र चिंतन करना। इस ध्यान के अन्त में आत्मा वीतराग सर्वज्ञ बनता है सदेह परमात्मा बनता है। (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपाती मन की एकाग्रता सो ध्यान, इस अर्थ में यह ध्यान नहीं परन्तु मन वचन-काया की सभी प्रवृत्तियां का-योग का-रोध सो ध्यान—इस अर्थ में यह ध्यान है। इस में सर्व योग का निरोध होता है परन्तु श्वासोच्छवास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही शेष रहा हुई होती है और (४) समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति-जब आत्मप्रदेश सर्वथा निष्कंप हो जाएँ तब इस ध्यान की प्राप्ति हुई मानी जाती है। इसमें मानसिक वाचिक अथवा कायिक किसी प्रकार की स्थूल या सूक्ष्म क्रिया नहीं होती। इसका समय अल्प ही होता है अर्थात् अ, इ, उ, ऋ, ऌ ये पांच ह्रस्व स्वर बोलने में जितना समय लगता है उतने ही समय का होता है। इस ध्यान के प्रभाव से शेष सर्व कर्मों का नाश होता है और आत्मा देह छोड़कर अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से लोक के अग्रभाग में स्थित सिद्ध शिला में विराजमान होता है। तात्पर्य यह है कि इसके बाद वह सिद्ध की अवस्था में आता है अर्थात् विदेह परमात्मा बनती है और सारे दुःखों से सदा के लिये मुक्त हो जाती है।

करना । (४) भक्तपानव्युत्सर्ग–आहार पानी का त्याग करना। भावव्युत्सर्ग तीन प्रकार का है:– (१) कपाय-व्युत्सर्ग–कपाय का त्याग करना। (२) संसारव्युत्सर्ग–संसार का त्याग करना। यहाँ संसार शब्द से संसार पर की आसक्ति समझें। (३) कर्मव्युत्सर्ग–आठों प्रकार के कर्मो का त्याग करना।

तप कर्म-निर्जरा का मुख्य साधन होने से जैन धर्म में अत्यन्त प्रतिष्ठावान् है और उस पर विचार विमर्श भी बहुत हुआ है जिसका सार यह है–

(१) तप, पूजा, प्रसिद्धि अथवा सांसारिक लाभों के के लिये नहीं करना चाहिये, परन्तु मात्र कर्म क्षय के हेतु से ही करना चाहिए। तप से सांसारिक लाभ की इच्छा करना रत्न के बदले में कौड़ी प्राप्त करने जैसा मूर्खतापूर्ण व्यवहार है।

(२) तप इस प्रकार करना कि जिससे किसी अंग, इन्द्रिय का खंडन न हो। अंग भंग होने पर नित्य की धर्म-प्रवृत्तियों का हनन हो जाता है जो अभीष्ट नहीं है।

(३) तप इस प्रकार नहीं करना जिससे मन अमंगल का चिंतन करने लग जाय, अर्थात् आर्त्त-रौद्र ध्यान में चढ़ जाए अथवा मोक्षसाधक स्वाध्यायादि योगों का ह्रास हो।

(४) तप आजीविका के हेतु अथवा खेदपूर्वक न करना चाहिए।

जैन महर्षियों की यह हित शिक्षा है कि प्रारम्भ में कड़वे परन्तु परिणाम में सुन्दर ऐसे बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के तप सदा करने चाहिये क्योंकि ये मोहरोग और

कम गण के निकदन की औषधियां हैं। रसायन जिस प्रकार दुष्ट रोगों का नाश करता है उसी प्रकार ये तप कुकर्मों के समूह का नाश करते है।

कुछ लोग मात्र बौद्ध ग्रन्थों के पठन से यह मानने लग जाते हैं कि जैनों की तपश्चर्या कायदंडरूप है, परन्तु यहाँ जैन धर्म की तपश्चर्या का जो वर्णन किया गया है उसके आधार पर समझ सकते हैं कि जैनों की तपश्चर्या कायदंड रूप नहीं है। उसमें कायिक संयम के अतिरिक्त मानसिक शुद्धि को भी उतना ही स्थान प्राप्त है। जो तपश्चर्या काया और मन दोनों की शुद्धि द्वारा आत्मा का निर्मल स्वभाव प्रकट करने वाली हो उसे कायदंड कैसे कह सकते है? इस विषय में बौद्ध धर्म के परम अभ्यासी प्रो० धर्मानंद कौशांबी का एक अवतरण देना उपयोगी होगा। वे 'तप' नामक एक लेख में कहते हैं–

बौद्ध धर्म ऐसे तप का विरोध करता है जो तप मात्र शरीर के लिये दंडरूप हो और जिसके द्वारा शारीरिक वाचिक अथवा मानसिक संयम की साधना न होती हो। वह तप सर्वथा वृथा है। उस तप को बौद्ध शास्त्र में कायदंड कहते हैं। ऐसा कायदंड तो मजदूर भी बहुत करते हैं। जल में कैदी भी कष्ट करते हैं। मुसलमान भी ऐसा ही तप करते है। रोमन कैथोलिक (ईसाई धर्म का एक सम्प्रदाय) तप करने के दिनों में मांसाहार नहीं करते परन्तु मछली का आहार करते हैं। ये लोग ऐसा मानते हैं कि जो वस्तु स्त्री से पैदा होती हैं उसे खाने में मांसाहार है। मछली तो जल में पैदा होती है, अतः उसे खाने में कोई आपत्ति नहीं। मछली खाने के लिये भी

पोप (ईसाई धर्म के गुरु) की लिखित अनुमति प्राप्त करते हैं क्योंकि पोप के हाथ में स्वर्ग के द्वार की चावियाँ हैं, ऐसी उनकी मान्यता है। यह सब कायदंड की विडंबना है—इसी प्रकार की तप की विडंबना रशियन चर्च में भी है। वहाँ स्त्री और पुरुप जननेन्द्रिय को भी काट देते हैं। इस प्रकार भिन्न २ देशों में मात्र कायदंड ही चल रहा है।

टॉलस्टॉय ने वहुत तपश्चर्या की है, परन्तु वह तपश्चर्या टॉलस्टॉय के वाचिक और मानसिक संयम के लिए पोपण रूप थी, इसीलिये हमारे लिये वह अनुकरणीय है। तप में देह का दंडन तो है ही, परन्तु जो दंड संयम का पोषक हो वह उपादेय गिना जाता है और ऐसे ही तप का बौद्ध धर्म में समर्थन है। महावीर स्वामी का तप भी उनमें प्रज्ञा, मेधा, स्मृति, वीर्य और संयम का पोपक था इसीलिये वह तप प्रख्यात हुआ है।[७४]

तप की मीमांसा जैन धर्म के अनेक ग्रन्थों में दृष्टिगोचर होती है। तप के विविध प्रकार तथा विधि-विधान के लिये तपोरत्नमहोदधि नामक ग्रन्थ देखने योग्य है।[७५]

बंध तत्त्व :—

जीव के साथ कर्म का संबंध होना, कर्म का ओतप्रोत होना, बंध कहलाता है। बंध के कारण जीव का स्वरूप मलीन वनता है और उसके कारण संसार में परिभ्रमण करना पड़ता है, अतः बंध की गणना हेय तत्त्व में होती है।

यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जीव के साथ सम्बन्ध तो कार्मणवर्गणाओं का ही होता है और सम्बन्ध होने के वाद वे वर्गणाएँ ही कर्म के रूप में पहचानी जाती हैं:

परन्तु, 'जो पुद्गल कर्म रूप में परिणत होने की योग्यता रखते है सो कर्म है,' इस दृष्टि से यहाँ 'कर्म का सम्बन्ध होना, कर्म का ओतप्रोत होना' ऐसा शब्द प्रयोग होता है।

आस्रव तत्त्व का वर्णन करते समय यह कहा था कि 'कार्मण वर्गणाएँ समस्त लोक मे व्याप्त हैं और आस्रव रूपी कारण उत्पन्न होते ही व जीव की ओर आकर्षित होकर उसके साथ सम्बद्ध होती है, इस पर से यह समझें कि—

(१) आस्रव बध का कारण है।

(२) कर्मों को कही लेने जाना नही पडता क्योंकि कार्मण वर्गणा के रूप मे वे सर्वत्र व्याप्त है।

(३) कर्म स्वेच्छापूर्वक जीव से चिपक नही जाते हैं, परन्तु कारण उत्पन्न होने पर ये कार्मणस्कन्ध कर्मरूप बनकर जीव के साथ सम्बन्ध प्राप्त करते हैं। यदि कर्म स्वत जीव से सलग्न होते हो तो जीव कभी भी कर्मरहित न बन सकता, क्योंकि जहाँ जीव है वही कर्म रहे हुए हैं अत वे इसके साथ लगते ही रहेगे।

यदि यहा ऐसा कहा जाय कि अमूर्त आत्मा के साथ मूर्त कर्मो का बध किस प्रकार होता है ? तो यह जानना आवश्यक है कि जीव और कर्म का सम्बन्ध अनादि काल से है इससे आत्म प्रदेश और कर्म की वर्गणाएँ क्षीर और नीर की भांति अथवा अग्नि और लोहे के गोल की तरह अनादि काल से परस्पर मिल हुए है। तात्पर्य यह है कि ससारी आत्मा सर्वथा अमूर्त नही परन्तु कथचित् मूर्त भी है और इसीलिये उसके साथ मूर्त कर्मो का बध हो सकता है।

अब यह देखे कि बध के कारण अर्थात् हेतु कौनसे है ?

तत्त्वार्थ सूत्र में कहा है कि 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाय-योगा बन्धहेतवः':–मिथ्यात्व, अविरति प्रमाद, कषाय, और योग-ये बंध के हेतु हैं।[७६]

आत्मा के गुणों का विकास बताने के लिये जैन दर्शन में 'चौदह गुणस्थानकों' का निरूपण किया गया है। उन में जिन दोषों के दूर होने से आत्मा की उन्नति मानी गई है, उन दोषों का यहाँ बंध के हेतुओं के रूप में निरूपण किया गया है। ऊँचे चढ़ते समय पहले मिथ्यात्व जाता है, फिर अविरति जाती है, फिर प्रमाद जाता है, फिर कषाय जाता है और अंत में योग का सर्वथा निरोध होने पर आत्मा सर्व कर्मो से मुक्त बनकर सिद्धावस्था प्राप्त करता है, इसीलिये मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इस क्रम का अनुसरण किया गया है।

मिथ्यात्व अर्थात् दृष्टि विपर्यास। वस्तु हो एक प्रकार की और उसे माने दूसरे प्रकार की, तब दृष्टिविपर्यास हुआ कहलाता है। ऐसा दृष्टिविपर्यास तत्त्व की अज्ञानता के कारण 'जो मेरा सोई सच्चा' ऐसी मनोवृत्ति (अभिग्रह) के कारण, सत्य और असत्य का निर्णय करने की उदासीनता (अनभिग्रह) के कारण पकड़ी हुई बात को न छोड़ने की आदत (अभिनिवेश) के कारण, अनिर्णयात्मक मनोदशा (संशय) के कारण तथा उपयोग के अभाव (अनाभोग) के कारण होता है, इसीलिये उसके आभिग्राहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक ऐसे पाँच प्रकार किये गए हैं। अपेक्षा विशेष से उसके छः और दस प्रकार भी होते हैं।[८७]

अविरति अर्थात् अव्रत (अंशतः अथवा सर्वथा संयम का

प्रमाद)। इसका परिचय आस्रव तत्त्व मे दे दिया गया है।

प्रमाद अर्थात् आत्मविस्मरण। अधिक स्पष्ट करें तो कर्तव्य और अकर्तव्य के विषय में सावधानी न रखना प्रमाद है। आचारांग सूत्र में कहा है कि 'पमत्तस्स सव्वओ भयं, अप्पमत्तस्स न कुओ वि भयं' जो प्रमत्त है, प्रमादयुक्त है उसे सब ओर से भय है—जो अप्रमत्त है प्रमाद से रहित है उसे किसी ओर से भय नहीं। उत्तराध्ययन सूत्र में 'समयं गोयम ! मा पमायए' हे गौतम ! तू समय-मात्र भी प्रमाद न करना। इन वचनों के द्वारा प्रमाद का सर्वथा परिहार करने की सूचना दी गई है। यहाँ प्रमाद का अर्थ ऊपर बताया है, वह है।

प्रमाद का परिचय शास्त्र में विविध प्रकार से दिया गया है। एक स्थल पर उसके मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ये पाँच प्रकार बताए हैं,[७५] अन्य स्थल पर उसके अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान राग द्वेष, मतिभ्रंश (विस्मरण) धर्म के प्रति अनादर और योगों का दुष्प्रणिधान (मन वचन कायाकी दुष्ट प्रवृत्तियाँ) ये आठ प्रकार बताए हैं[७६] तो एक अन्य स्थल पर चार प्रकार की विकथा चार प्रकार के कषाय, पाच प्रकार की इन्द्रियाँ निद्रा और प्रणय इस प्रकार उसके पन्द्रह प्रकार भी बताये है।[७७] प्रमाद के इन पाँच, आठ अथवा पन्द्रह आदि भेदों का आत्मविस्मरण मे अन्तर्भाव हो सकता है और इसीलिये यहाँ ऊपर कहे अनुसार आत्मविस्मरण अथवा कर्तव्याकर्तव्य के विषय मे असावधानी को प्रमाद कहा गया है।

कषाय और योग का परिचय आस्रव तत्त्व मे दे दिया

प्रमाद एक प्रकार का असंयम होने से उसका अन्तर्भाव अविरति या कषाय में हो जाता है और इसीलिये कर्म-प्रकृति आदि ग्रन्थों में बंध के हेतु चार ही माने गये हैं–मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग।

बंध के इन हेतुओं में कषाय और योग बंध के मुख्य कारण हैं और इसी कारण कोई बंध के हेतु मात्र कषाय और योग को ही माने तो उसमें कोई विरोध नहीं। यहाँ तक कि अकेला योग किसी विशेष कर्म-बंध का हेतु नहीं है अतः कषाय से कर्म और अकषाय से मुक्ति ऐसा भी कहा जाता है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि बंध का कारण आस्रव है और आस्रव के हेतु अव्रत, कषाय, इन्द्रियाँ, क्रियाएँ और योग हैं तो मिथ्यात्व अविरति. प्रमाद, कषाय और योग के साथ उसका समन्वय किस प्रकार हो सकता है? 'इसका उत्तर यह है कि अविरति–अव्रत, कषाय और योग ये तीनों तो दोनों में समान हैं अतः प्रश्न रहा मिथ्यात्व और प्रमाद का। इन दोनों का अतंर्भाव पच्चीस क्रियाओं में हो जाता है।'

यहाँ दूसरा प्रश्न ऐसा हो सकता है कि 'आस्रव के हेतुओं में इन्द्रिय की विशेष गणना की गई है, वह यहाँ दृष्टिगोचर क्यों नहीं होती?' इसका उत्तर यह है कि यहाँ बंध के हेतुओं की जो गणना की गई है वह चौदह गुणस्थानों के क्रमारोहण को दृष्टि सम्मुख रख कर की गई है और उसमें इन्द्रियों का विशेष निर्देश नहीं है, अतः इसमें भी वह निर्देश नहीं किया गया है परन्तु इन्द्रियों का समावेश प्रमाद में हो जाता है। अथवा इन्द्रियाँ राग द्वेष करवाने वाली होने से आस्रव बनती हैं, अतः इनका समावेश कषाय में हो जाता है।

'बन्धो चउविगप्पो य' ।[८१] इन वचनों से यह समझना है कि बंध चार प्रकार का है और 'पयई ठिइ-अणुभागप्पए-सभेएहिं नायव्वा' [८२] इन शब्दों का अर्थ ऐसा समझना है कि प्रकृति बंध, स्थिति बंध, अनुभाग बंध और प्रदेश बंध उसके नाम हैं। तत्त्वार्थसूत्रकार ने अनुभाग के स्थान पर अनुभाव शब्द का प्रयोग किया है।[८३]

प्रकृति अर्थात् कर्म का स्वभाव, स्थिति अर्थात् कर्म की आत्मा के साथ रहने की कालमर्यादा, अनुभाग अर्थात् कर्म का शुभाशुभ रस और प्रदेश अर्थात् कर्म के दलिकों (वर्णों) का समूह।[८४]

जीव द्वारा योग की सहायता से ग्रहण की हुई कार्मण-वर्गणाएँ जब कर्म के रूप में परिणत होती हैं, तब उसमें तत्क्षण विद्यमान कषाय के अनुसार कर्म की स्थिति, लेश्या के अनुसार कर्म का शुभाशुभ रस और योग के अनुसार कर्म के प्रदेश अर्थात् दल उत्पन्न होते हैं। शेष समग्र आश्रव के अनुसार गुणस्थानक होते हैं और उन २ गुणस्थानकों के अनुसार कर्म के ८-७ ६ १ ऐसे मूल स्वभाव (प्रकृति) निश्चित, होते हैं। इनमें अवान्तर स्वभाव जहाँ शुभ और अशुभ दो प्रकार के हैं वहाँ शुभ आश्रव से शुभ और अशुभ आश्रव से अशुभ प्रवृत्ति निर्धारित होती है। जैसे यह कर्म अपने स्वभाव से अमुक प्रकार का फल देगा, यह कर्म अमुक अवधि तक आत्मप्रदेशों के साथ जुड़ा हुआ रहेगा, यह कर्म अमुक तीव्र-मंद भाववाला होगा और इस कर्म में कर्मदलिकों का अमुक पुंज (समूह) होगा।

जैन शास्त्रकार मोदक अर्थात् लड्डू के दृष्टान्त से यह वस्तु अधिक स्पष्ट करते हैं। वे कहते हैं कि जैसे अमुक

लड्डू का स्वभाव वायु को दूर करना होता है, अमुक लड्डू का स्वभाव कफ दूर करना होता है, और अमुक लड्डू का स्वभाव पित्त दूर करना होता है, उसी प्रकार अमुक कर्म का स्वभाव आत्मा के ज्ञानगुण पर आवरण डालना होता है, अमुक कर्म का स्वभाव आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डालना होता है, अमुक कर्म का स्वभाव आत्मा में काल्पनिक (पौद्‌गलिक, सांयोगिक) सुख दुःख उत्पन्न करना होता है, अमुक कर्म का स्वभाव आत्मा में मोह उत्पन्न करना होता है, आदि ।

कोई लड्डू दस दिन तक ठीक रहता है और उसके बाद उसका गुण नष्ट हो जाता है। कोई लड्डू १५-२० या २५ दिन तक ठीक रहता है और तत्पश्चात् उसका गुण विनष्ट हो जाता है, इसी प्रकार कोई कर्म आत्मा के साथ अमुक समय तक रहता है, कोई अमुक समय तक रहता है ।

कोई लड्डू अत्यन्त मीठा होता है, कोई कम मीठा होता है तो कोई तिक्त होता है, कोई कड़वा होता है । इसी प्रकार किसी कर्म का विपाक अति तीव्र होता है, किसी का कम तीव्र होता है, किसी का मंद होता है तो किसी का मंदतर या मंदतम होता है ।

कोई लड्डू आधा पाव का, कोई पाव सेर का तो कोई आधे सेर का होता है, उसी प्रकार कई कर्मों में दलिकों का अमुक समूह होता है, अन्य में अधिक होता है और किसी में उस से भी अधिक होता है आदि ।

प्रकृति और प्रदेश बंध का कारण योग है और स्थिति तथा रस का कारण [illegible] है । कर्म की असली भयंकरता

परस्पर जुड़ गई हों तो उन्हें अलग करने में कई उपायों की शरण लेनी पड़ती है और तब कहीं उन्हें अलग कर सकते हैं उसी प्रकार जिन कर्मों का बंध निधत्त होता है उन्हें आत्मा से अलग करने के लिये भारी परिश्रम करना पड़ता है और जिन सूइयों को भट्टी में तपाकर तथा कूट करके गट्ठा बना दिया गया हो, वे कैसे भी करके अलग नहीं की जा सकती, इसी प्रकार जो कर्म निकाचित होते हैं वे काफी परिश्रम करने पर भी आत्मा से अलग नहीं किये जा सकते, वे तो भोगे जा कर ही अलग होते हैं। इसलिये निकाचित कर्मबंध से बहुत सावधान रहना चाहिये। स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त कर्मबंधों में शुभ अध्यवसायों के बल से परिवर्तन लाया जा सकता है परन्तु निकाचित में नहीं लाया जा सकता है, अतः उसका फल अवश्य ही भोगना पड़ता है।

संसारी जीवों की स्थिति में जो विचित्रता दिखाई पड़ती है, वह कर्म-बंधन के कारण है। कर्म के स्वरूप का स्पष्ट ज्ञान हो इसीलिये हमने इसी खंड में 'कर्मवाद' का प्रकरण लिखा है, अतः यहाँ उसका विशेष विस्तार नहीं करते।

मोक्ष तत्त्व

सभी कर्मों का आत्यंतिक क्षय होना मोक्ष है। एक बार बँधा हुआ कर्म कभी न कभी तो क्षय को प्राप्त होता ही है, परन्तु उस प्रकार का पुनः कर्म बंध होने की संभावना हो अथवा उस प्रकार का कर्म अभी तक शेष हो तो उसका आत्यंतिक क्षय हुआ है, ऐसा हम नहीं कह सकते। आत्यंतिक क्षय का अर्थ तो यह है कि जहाँ नये कर्म बँधने की कोई संभावना न हो और पूर्वबद्ध कर्मों का सर्वथा नाश हुआ हो।

'ऐसा आत्यन्तिक क्षय कैसे हो ?' इसके उत्तर मे जैन महर्षियो ने बताया है कि 'बन्ध के हेतुओ का अभाव हो और निर्जरा चलती रहे तो ऐसी स्थिति उत्पन्न की जा सकती है।'[८८]

मुक्ति, सिद्धि, निर्वाण, नि-श्रेयस्, शिवपद, परमपद, अक्षय पद, अजरामर पद ये सब मोक्ष के पर्याय शब्द है।

मोक्ष मे सर्व दु खो का अभाव होता है और आत्मा के स्वभावभूत उत्कृष्ट सुख का अनुभव होता है, इसलिये उसे उपादेय तत्त्व माना गया है। मोक्ष के स्वरूप के विषय मे चाहे जितना विवाद क्यो न हो, परन्तु उसकी उपादेयता विषयक कोई विवाद नही। भारत के सभी आस्तिक दर्शन मोक्ष को उपादेय तत्त्व मानते ही है और उसे दृष्टि मे रख ही कर अपनी अन्तिम साधनाओ का प्रतिपादन करते हैं।

कई लोग कहते है कि जो आत्मा कर्मबद्ध है, वह उनसे अलग कैसे हो सकता है? तात्पर्य यह है कि वह कर्म से पराभव पाता है अत कर्म पर विजय प्राप्त नही कर सकता। परन्तु यह कथन वस्तु स्थिति के अज्ञान का सूचक है क्योकि पहली बात तो यह है कि जो २ कर्म भोग जाते हैं उन उनसे आत्मा छूट तो जाता ही है, इसलिए छूट ही नहीं सकता, ऐसा नही रहा। दूसरी बात यह है कि आत्मा प्रारंभिक अवस्था मे निविड कर्मो से आवृत होता है अत ऐसा लगता है कि वह कर्म से पराभूत है परन्तु वास्तव मे ज्ञानदशा प्रकट होने पर वह महा पराक्रमी है महा सत्त्वशाली है अत धीरे २ कर्मसत्ता के साथ टक्कर लेता जाता है, कर्म सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करता है और अन्त मे उस सत्ताच्युत करके उसका सर्वनाश

करके अपना साम्राज्य जमा सकता है। एक वार कोई देश किसी अन्य विदेशी सत्ता के अधीन बना हो तो वह उसके विरुद्ध सिर नहीं उठा सकता, उसके साथ युद्ध करके उसकी पराजय नहीं कर सकता, ऐसी वात नहीं है। जहाँ उसे अपनी परतन्त्रता का ध्यान आता है, वहीं वह सिर उठाने लगता है और अपने आंतरिक वलों को जुटाकर स्वतन्त्रता अथवा आजादी का युद्ध शुरु कर देता है और उसमें कभी पराजय भी सहन करनी पड़े तव भी वह युद्ध जारी रखता है। इससे अन्त में वह विजयी होता है और स्वतंत्रता प्राप्त कर सकता है। आत्मा की सम्पूर्ण स्वतत्रता का नाम ही मोक्ष है।

कुछ लोग कहते हैं कि "मोक्ष में दुःख का अभाव होता है, परन्तु सुख का सद्भाव (अस्तित्व) कैसे हो सकता है? सुख का अनुभव तो शरीर-इन्द्रियादि अन्य साधनों से ही हो सकता है और वे वहाँ होते नहीं। वहाँ तो मात्र आत्मा ही होता है।" ऐसा कहने वाले भूल जाते हैं कि सुख दो प्रकार का होता है। एक संयोगजन्य और दूसरा स्वाभाविक। वहाँ शरीर-इन्द्रियादि का अभाव होने से संयोगजन्य सुख नहीं होता, परन्तु अपने स्वभाव में रमण करते हुए जिस सुख का अनुभव होता है, वह तो वहाँ अवश्य होता है। दूसरी वात यह है। कि जब एक रोग अथवा एक शत्रु का नाश होता है अथवा एक इष्ट वस्तु की प्राप्ति या एक इच्छा की पूर्ति होती है तव सुख का अनुभव होता है, तो फिर जहाँ सर्व रोग और सर्व शत्रुओं का अभाव हो गया हो, तथा उत्कृष्ट वस्तु की प्राप्ति के साथ सर्व इच्छाओं का नाश हो गया हो, वहाँ अनन्त सुख का अनुभव हो-इसमें आश्चर्य ही क्या है?

यहाँ यह भी याद रखना चाहिये कि सयोगजन्य सुख क्षणिक सुख है क्योकि वह क्षण के वाद नष्ट होजाता है, वह वास्तविक सुख भी नही क्योकि वह किसी पूर्व दु ख का प्रतीकार मात्र है। इसीलिये कल्पनादि करते २ नया दु ख उत्पन्न होने से वह लुप्त हो जाता है। इस प्रकार उसकी प्राप्ति के वाद पुन दु ख का अनुभव होता है। जब कि स्वाभाविक सुख स्थायी सुख है, क्योकि वह सदैव रहता है, और वह वास्तविक सुख है क्योकि उसकी प्राप्ति होने के वाद कभी भी दु ख का अनुभव नही होता।

जैन शास्त्रो मे सिद्ध गति को शिव, अचल, अरुज, अनंत अक्षय, अव्यावाध और अपुनरावृत्ति कहा गया है, [८७] उसका मर्म यहा विचार करने योग्य है।

शिव अर्थात् सब उपद्रवो से रहित। सिद्धि स्थान मे देव अथवा मनुष्य कृत कोई उपद्रव नही होता और न प्रकृति (Nature) का कोई तूफान होता है। कदाचित् कोई सूक्ष्म उपद्रव होते भी हो तो सिद्धो की अवस्था ऐसी है कि उनका उन पर कोई प्रभाव नही होता, अत उनके लिये तो यह निरुपद्रव स्थान ही है।

अचल अर्थात् स्थिर। सिद्धिस्थान स्थिर है। वहाँ किसी प्रकार की अस्थिरता का कभी उद्‌भव नही होता। यदि वहाँ अस्थिरता का उद्‌भव होता हो, तो उसे ऊँचा, नीचा अथवा आगे पीछे होना पडे और उससे उसमें विराजते हुए सभी सिद्धो को भी ऊचा नीचा अथवा आगे पीछे होना पडे। इसे एक प्रकार का उपद्रव ही कह सकते हैं इसलिये उसका निरुपद्रवत्व भी टिक नही सकता।

अरुज अर्थात् व्याधि और वेदना से रहित। व्याधि शरीर में उत्पन्न होती है, वेदना मन में उत्पन्न होती है, परन्तु सिद्ध जीवों के न तो शरीर होता है और न मन ही होता है, अतः उनमें व्याधि या वेदना का होना संभव नहीं।

अनंत अर्थात् जिसका कभी भी अंत न हो ऐसा। यदि अंत हो जाए तो सिद्ध जीव रहे कहाँ? इसी तरह जो नये सिद्ध हों उन्हें तो किसी नए स्थान ही की खोज करनी पड़े। लोक अनादि अनंत है, उसी प्रकार यह स्थान भी अनादि अनंत है। अनंत का दूसरा अर्थ अनंत-विषयक है, इसके अनुसार सिद्ध भगवान् का ज्ञान अनंत द्रव्य पर्याय को अपना विषय बनाने के कारण अनंत कहलाता है।

अक्षय अर्थात् जिसका क्षय न हो वैसी। एक वस्तु अभी अखंड है परन्तु थोड़ा २ क्षय अर्थात् कमी हो तो वह अखंड नहीं रह सकती, इतना ही नहीं परन्तु एक काल ऐसा आता है कि उसका अस्तित्व ही नहीं रह पाता। सिद्धि को अक्षय पद कहा है, क्यों कि वहाँ किसी प्रकार का क्षय नहीं होता।

अव्याबाध अर्थात् कर्मजन्य पीड़ा से रहित। सिद्धि स्थान में स्थित जीवों को कर्म का किसी भी प्रकार का बंध नहीं होता अतः वहाँ कर्मजन्य पीड़ा का होना सम्भव नहीं। जो आत्मा एक बार सर्व कर्मों से रहित बना, उसे फिर कर्म-बंधन नहीं होता, क्योंकि उस अवस्था में कर्मबंध हो ऐसा कोई कारण विद्यमान नहीं होता। यदि सिद्धों के भी कर्म-बंधन होता हो तो सांसारिक और मुक्त इन दो अवस्थाओं में कोई अन्तर ही न रहे और तब तो मोक्षप्राप्ति के लिये सर्व पुरुषार्थ निरर्थक ही साबित हो।

अपुनरावृत्ति अर्थात् जहाँ जाने के बाद पुन ससार मे आना नही पडता। आत्मा की गुरुत्व के अभाव मे स्वाभाविक गति ऊर्ध्व है, अत वह कर्म-मुक्त होने के पश्चात् ऊपर जाता है, परन्तु वहाँ से नीचे नहीं आ सकता। नीचे आने के लिये कर्म का कोई भी बधन चाहिये और वह वहाँ होना नही। कई लोग ऐसा कहते है कि सिद्ध हुए जीव दुनिया को दुखी देख-कर उसका उद्धार करने के लिये मृत्युलोक मे अवतार लेते हैं और दुनिया का उद्धार करते हैं, परन्तु सिद्ध का स्वरूप देखने पर पता चलता है कि ऐसा होना सभव ही नहीं है। जो जीव सिद्ध हुए है, व सदा सिद्धि स्थान मे ही रहते है, वे कभी भी वहाँ से लौटते नही।

कर्म-बद्ध आत्मा कर्मफल भोगने के लिये नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव इन चार गतियो मे परिभ्रमण करता रहता है और पृथ्वीकायादि चौरासी लक्ष योनियो मे अवतार लेता है परन्तु कर्ममुक्त होने के पश्चात् वह सिद्धिस्थान मे जाता है। यह गति ससार की चारो गतियो से भिन्न पचम गति कहलाती है।

यहाँ यह भी बताना आवश्यक है कि ससारी जीव दो प्रकार के होते है भव्य और अभव्य। भव्य जीव मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता वाले होते है अत सामग्री मिलने पर मोक्ष प्राप्त कर सकते हैं और अभव्य जीव मोक्ष के लिये अयोग्य होने से कभी भी मोक्षप्राप्ति नही कर सकते। भव्यत्व और अभव्यत्व जीव का अनादि स्वाभाविक परिणाम है, अत उसमे कोई परिवर्तन नही होता अर्थात् भव्य हो वह अभव्य बने अथवा अभव्य हो वह भव्य बने ऐसी कोई सभावना नही। जैसे मूँग

के अन्दर कठोर मूंग होते हैं। दूसरे सभी मूंग पक जाते हैं परन्तु वे कठोर मूंग पकते नहीं, वैसे ही अभव्य जीवों की स्थिति कभी भी पकती नहीं। 'आध्यात्मिक विकास' का प्रकरण पढ़ते समय इस वस्तु को अधिक स्पष्टता होगी।

जो जीव मोक्ष को प्राप्त करते हैं उन्हें सिद्ध, बुद्ध, निरंजन परब्रह्म, परंज्योति, शुद्धात्मा या परमात्मा कहते हैं।

सिद्ध हुए जीवों में वास्तविक रीति से कोई भेद नहीं होता, परन्तु भूतकाल तथा वर्तमान काल की दृष्टि को समक्ष रखने से तत्संबंधी विशेष ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। इसीलिये तत्त्वार्थ सूत्र में बताया है कि 'क्षेत्र–काल–गति–लिंग–तीर्थ-चारित्र-प्रत्येक-बुद्ध-बोधित-ज्ञानावगाहनाऽन्तर-संख्याल्प-बहुत्वतः साध्याः—(१) क्षेत्र (२) काल (३) गति (४) लिङ्ग (५) तीर्थ (६) चारित्र (७) प्रत्येक–बुद्ध–बोधित (८) ज्ञान (९) अवगाहना (१०) अंतर (११) संख्या और (१२) अल्प–बहुत्व इन बारह द्वारों से सिद्ध जीवों का विचार हो सकता है।[८६]

यह विवेचना वास्तव में गहन है और इसके लिये विशेष जैन परिभाषा जानना आवश्यक है, परन्तु यहाँ उसका सामान्य परिचय देंगे।

(१) क्षेत्र–मनुष्य लोक में से सिद्ध हो सकते हैं।

(२) काल—निम्नलिखित काल में जन्मा हुआ मनुष्य मुक्ति का अधिकारी है। अवसर्पिणी के तीसरे आरे का अंत–चौथा आरा और उत्सर्पिणी का तीसरा आरा और चौथे का आरम्भ, उसके समान महाविदेह में सर्व काल।

(३) गति—अनु[illegible]य से विचार करें तो मनुष्य गति

में से गोये सिद्ध हो सकते है। नरक, तिर्यंच अथवा देव गति में से सिद्ध नही हो सकते। मनुष्य गति की यह विशेषता है और शास्त्रकार उसका अवश्य लाभ उठाने का आदेश देते है।

(४) लिंग—स्वलिंग (जैन लिंग) वाले सिद्ध होते हैं, अन्यलिङ्ग (परलिङ्ग) वाले भी सिद्ध होते हैं और गृहस्थ-लिङ्ग वाले भी सिद्ध होते हैं। यहाँ सिद्ध अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त करके जीव का सिद्ध होना समझें। फिर तो वे मुनिवेश में आ ही जाते है और आयु पूर्ण होने पर मोक्ष प्राप्त करते हैं। दूसरा, यहां गृहिलिंगसिद्ध अन्यलिंगसिद्ध कहे, जो मात्र बाह्य वेश में, परन्तु आत्मा के अन्तर्गत तो सम्यक्त्व, सर्वविरति, अप्रमत्त आदि गुणस्थानक का स्पर्श करके ही वीतराग सर्वज्ञ बन कर जीव सिद्ध होते हैं। अथवा पुरुष, स्त्री और कृत्रिम नपुंसक ये तीनों लिङ्गवाले सिद्ध होते है। दिगम्बर सम्प्रदाय स्त्रीलिङ्ग में सिद्धत्व को नही मानता है, परन्तु अभी २ दिगम्बर प्राचीन ग्रन्थों में स्त्री को मुक्ति होने के प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। जैन दर्शन की यह विशालता है कि जैन लिङ्ग तथा परलिङ्ग दोनों लिङ्ग वालों के लिये मुक्ति मानता है, साधु तथा गृहस्थ—इन दोनों अवस्थाओं में भी मुक्ति मानता है और मात्र पुरुष के लिये मुक्ति मानकर स्त्री या नपुंसकों को मुक्ति के लिये अनधिकारी घोषित नही करता है।

(५) तीर्थ—तीर्थंकर रूप में सिद्ध हुआ जाता है और अतीर्थंकर रूप में भी सिद्ध हो सकते है। सामान्य केवली (केवलज्ञानी) अतीर्थंकर की कोटि में आते हैं।

(६) चारित्र—अनन्तरता से अर्थात् मोक्ष प्राप्त करने के

पूर्व समय की दृष्टि से अंतिम समय को ध्यान में लें तो यथाख्यातचारित्र वाला आत्मा ही सिद्ध होता है। परंपरा से देखें तो सामायिक आदि चारित्र वाला भी सिद्ध होता है।

(७) प्रत्येकबुद्ध और बुद्धबोधित—प्रत्येकबुद्ध भी सिद्ध होता है और बुद्धबोधित भी सिद्ध होता है। संध्याकालीन मेघादि क्षणिक भावों को देखने के पश्चात् अपनी ज्ञान शक्ति से जो बोध प्राप्त करते हैं वे प्रत्येकबुद्ध कहलाते हैं और तीर्थंकर–गणधर–आचार्यादि के उपदेश से जो बोध पाते हैं, वे बुद्धबोधित कहलाते हैं।

(८) ज्ञान—जिसे केवलज्ञान प्राप्त हुआ हो वही सिद्ध हो सकता है।

(९) अवगाहना—अवगाहना अर्थात् शरीर की ऊँचाई। उत्कृष्ट पाँच सौ धनुष्य वाले और जघन्य दो हाथ ऊँचाई वाले सिद्ध होते हैं। जितने बड़े शरीर में रह कर सिद्ध हुए हों उसकी २/३ दो तृतीयांश अवगाहना सिद्धावस्था में रहती है। अर्थात् मोक्ष में जाने से पहले $\frac{1}{3}$ अवगाहना का संकोच हो जाता है।

(१०) अंतर—एक जीव के सिद्ध होने के बाद तुरन्त ही दूसरा जीव सिद्ध हो तो वह निरन्तरसिद्ध कहलाता है। जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय तक 'निरंतरसिद्धि' जारी रहती है। इस परिस्थिति में नौवें समय में कोई भी मोक्ष में नहीं जाता। आठ समय तक निरन्तर सिद्धि जारी रहने के बाद कम से कम एक समय का अन्तर पड़ना ही चाहिये। एक के सिद्ध होने के बाद दूसरे समय में कोई भी सिद्ध न हो और तीसरे समय में कोई सिद्ध हो तो वह

टिप्पणी

१. जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।

तत्त्वार्थ. अ. १, सू. ४

२. सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावा जीवाजीवाश्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षा: ।

३. जीवाऽजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणा: सप्त पदार्था: । पृ. ३

४. उसके २८ वें अध्ययन में निम्नलिखित गाथा आती है :

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव । १४।।

५. नव तत्त्व के संबंध में संस्कृत में निम्नानुसार साहित्य रचित है—

नवतत्त्वप्रकरण मूल
नवतत्त्वविचार – श्री भवसागर
बृहन्नवतत्त्व
नवतत्त्व विचारसारोद्धार गाथा ८
नवतत्त्वसार प्रकरण (कुलक) आंचलिक श्री जयशेखर सूरि
नवतत्त्वसार
नवतत्त्व प्रकरण — श्री देवगुप्तसूरि
नवतत्त्वभाष्य — श्री अभयदेवसूरि

वृत्तियाँ आदि बहुत हैं ।

प्राकृत भाषा में निम्नानुसार साहित्य रचित है—

नव तत्त्व बालावबोध — श्री सोमसुन्दरसूरि शि. श्री हर्ष-वर्धन गणि

'सान्तर' सिद्ध कहलाता है। एक सिद्ध होने के बाद दूसरा सिद्ध होने वाले के बीच का अन्तर जघन्य एक समय का और उत्कृष्ट छ मास का होता है अर्थात् छ मास में तो कोई न कोई जीव मोक्ष में जाना ही चाहिये।

(११) संख्या—एक समय में जघन्य से एक और उत्कृष्ट से १०८ सिद्ध हो सकते है।

(१२) अल्पबहुत्व—किस स्थिति में सिद्ध कम होते हैं और किस स्थिति में सिद्ध अधिक होते हैं, इसका विचार करना अल्पबहुत्व है। वस्तु का स्फुट और विस्तृत बोध होने के लिये जैन शास्त्रों में इस प्रकार का विवेचन मिलता है।

जैन तत्वज्ञान की मूल भूमिका समझानेवाला नव तत्व का परिचय यहाँ पूर्ण होता है।

टिप्पणी

१. जीवाजीवाश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम् ।

तत्त्वार्थ. अ. १, सू. ४

२. सर्वे च ते भावाश्च सर्वभावा जीवाजीवाश्रवबन्धसंवर-निर्जरामोक्षा: ।

३. जीवाऽजीवाऽऽश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षलक्षणा: सप्त पदार्था: । पृ. ३

४. उसके २८ वें अध्ययन में निम्नलिखित गाथा आती है :

जीवाजीवा य बन्धो य पुण्णं पावासवो तहा ।
संवरो निज्जरा मोक्खो, सन्तेए तहिया नव ।'१४।।

५. नव तत्त्व के संबंध में संस्कृत में निम्नानुसार साहित्य रचित है—

नवतत्त्वप्रकरण मूल
नवतत्त्वविचार – श्री भवसागर
बृहन्नवतत्त्व
नवतत्त्व विचारसारोद्धार गाथा ८
नवतत्त्वसार प्रकरण (कुलक) आंचलिक श्री जयशेखर सूरि
नवतत्त्वसार
नवतत्त्व प्रकरण श्री देवगुप्तसूरि
नवतत्त्वभाष्य श्री अभयदेवसूरि

वृत्तियाँ आदि बहुत हैं ।

प्राकृत भाषा में निम्नानुसार साहित्य रचित है—

नव तत्त्व बालावबोध श्री सोमसुन्दरसूरि शि. श्री हर्ष-वर्धन गणि

नव तत्त्व बालावबोध श्री पार्श्वचन्द्र
नव तत्त्व (कुशल) बालावबोध
इस साहित्य पर कुछ टिप्पणियाँ हैं।
गुजराती भाषा में निम्नलिखित साहित्य रचित है—

नव तत्त्व रास	श्री ऋषभदास
„ „	श्री भावसागर
„	श्री सौभाग्यसुन्दर
नव तत्त्व जोड	श्री विजयदानसूरि
नव तत्त्व स्तवन	श्री भाग्यविजयजी
„	श्री विवेकविजय जी
नव तत्त्व चौपाई	श्री कमलशेखर
	श्री सौभाग्यसुन्दर
,	श्री वर्धमानमुनि
नव तत्त्व चौपाई	श्री लुंपक मुनि
नव तत्त्व छंदाबद्ध भाषा	श्री ज्ञानसार मुनि
नव तत्त्व सार	

आदि। इनमें किसी भी स्थान पर सप्ततत्त्व' शब्द का प्रयोग नहीं आता अतः अधिक प्रचलित परम्परा नव तत्त्व की है।

६ श्री पतंजलि मुनि महाभाष्य के पस्पशाह्निक में इस वस्तु का सुन्दर समर्थन करते हैं। वे कहते हैं

द्रव्यं नित्यमाकृतिरनित्या। सुवर्णं कदाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते रुचकाकृति-मुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते कटकाकृतिमुपमृद्य, स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः। पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः

खदिराङ्गारसदृशे कुंडले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव, आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

'द्रव्य-मूल पदार्थ शाश्वत है; जब कि आकृति-आकार रूप पर्याय अशाश्वत है। आकार-युक्त सुवर्ण कभी पिंड रूप बनता है। इस पिंडरूप आकार का उपमर्दन (नाश) करके रुचक (मोहर) बनाई जाती है। रुचक के आकार का विध्वंस करके कड़े बनाये जाते हैं। कड़ा-रूप आकार का नाश करके स्वस्तिक बनाये जाते हैं फिर उन्हें गला कर सुवर्ण का पिंड बनाया जाता है और पुनः उसके आकार विशेष का उपमर्दन करके खदिर के अंगारों जैसे कुंडल बनाये जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि आकृति में तो उत्तरोत्तर परिवर्तन होता रहता है, परन्तु द्रव्य तो वही रहता है। आकृतियों को तोड़ने पर भी द्रव्य स्थायी रहता है।

७. गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। तत्त्वार्थसूत्र, अ० ५, सू. ३७
८. यह विषय पृ. २६ से शुरु होता है।
९. जैन दर्शन और आधुनिक विज्ञान पृ. १०१
१०. भगवती सूत्र श. १३, उ. ४, सू. ४८१
११. अ. ५, सू. १८
१२. अ. २८, गा. ९
१३. अ. ५, सू. १७
१४. उत्तराध्ययन—टीका श्रीमद् भावविजयजीकृत भाग ३, पृ. २५९
१५. अ. २३, गा. ८
१६. Cosmology old & New P. 67
१७. श. २, उ. १०

गोयमा अणेगा अभिवयणाप० तं—जीवेति वा जीवत्थिकायेति वा भूएत्ति वा सत्तेति वा विन्नेत्ति वा चेयाति वा जेयाति वा आयाति वा रंगणाति वा हिंडुराति वा पोग्गलेत्ति वा माणवेत्ति वा कत्ताति वा विकत्ताति वा जएति वा जंतुत्ति वा जोणित्ति वा सयंभूति वा ससरीरीति वा नायएति वा अंतरप्पाति वा जे यावन्ने तहप्पगारा सव्वे ते जाव अभिवयणा।'

हे भगवन् ! जीवास्तिकाय के कितने अभिवचन (पर्याय शब्द) कहे गए हैं ?' हे गौतम ! उसके अनेक अभिवचन कहे हुए हैं। जैसे—जीव, जीवास्तिकाय, भूत, सत्व, विज्ञ, चेतृ (चेतन), जेतृ, आत्मन्, रंगण (राग युक्त होने से), हिंडुक, (गमनशील होने से), पुद्गल, मानव (नवीन नहीं पुराना) कर्तृ, विकर्तृ, जगत्, (अतिशय गमन वाला होने से), जंतु (अन्य का उत्पादक), योनि, स्वयंभू, सशरीरिन्, नायक (ज्ञायक) और अंतरात्मन्, इसी तरह अन्य भी तथाविध सभी आत्मा के अभिवचन हैं।

२६. सद्दंधयार उज्जोओ, पहा छायाऽऽतवेइ या।
वण्ण—रस—गंध—फासा, पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१२॥

'शब्द, अंधकार, प्रकाश, कांति, छाया, आतप, वर्ण, रस, गंध और स्पर्श—ये सब पुद्गल के लक्षण है।'

२७. पोग्गलत्थिकाए णं पुच्छा, गोयमा ! पोग्गलत्थिकाएणं जीवाणं ओरालिय—वेउव्विय—आहारय—तेया—कम्मए—सोइंदिय—चक्खिंदिय—घाणिंदिय—जिब्भिंदिय—फासिंदिय—मणजोग—वयजोग—कायजोग—आणापाणाणं च गहणं पवत्तति, गहण—लक्खणं णं पोग्गलत्थिकाए। भ. १३, उ. ४, स. ४८१

'पुद्गलास्तिकाय के विषय मे पृच्छा (प्रश्न) है। हे गौतम! पुद्गलास्तिकाय से जीवों के औदारिक वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मण इन पाँच शरीरो का, श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय इन पांच इन्द्रियो का तथा मनयोग, वचनयोग और काययोग इन तीन योगो का तथा श्वासोच्छ्‌वास का ग्रहण होता है, इसलिय ग्रहण पुद्गलास्तिकाय का लक्षण है।

२८ श २, उ १०, सू ६६

२९ गाथा ८०

३० चउदस चउदस बायालीसा, बासी य हुति बायाला।
सत्तावन्न बारस चउ नव भेया कमेणसि ॥२॥
इस गाथा मे अजीव के चौदह भेदो का निर्देश है।
धम्माधम्मागासा, तिय तिय भेया तहेव अद्धा य।
खधा देस पएसा, परमाणु अजीव चउदसहा ॥८॥
इस गाथा म यह बताया है कि धर्म, अधर्म और आकाश के तीन २ भेद है—स्कध देश और प्रदेश। इस प्रकार नौ। काल का एक ही भद है मात्र प्रदेश, इस प्रकार दस, और पुद्गल क चार भेद हैं स्कध, देश, प्रदेश और परमाणु। इस प्रकार अजीव के कुल चौदह भेद है।

३१ अ ५ सू २५

३२. It is older than Hinduism or Buddhism.'
A History of philosophical system
P 6

३३ भेदादण। तत्त्वार्थसूत्र, अ ५ सू २३

गोम्मटसार जीवकांड गाथा ६०२

श्री कुंदकुंदाचार्य कृत नियमसार की २१ वीं गाथा में भी ऐसे ही छः भेद बताए हैं।

५. परमाणुपोग्गले णं भंते ! कइवण्णे, कइगन्धे, कइरसे कइ-फासे ? गोयमा ! एकवण्णे, एकगन्धे एकरसे दुफासे। जइ एगवण्णे सिय कालए, सिय णीलए, सिय लोहिए, सिय हालिद्दए सिय सुक्किल्लए। जइ एकगन्धे सिय सुब्भिगन्धे सिय दुब्भिगन्धे। जइ एगरसे सिय तित्ते, सिय कडुवे, सिय कसाये, सिय अंबिले, सिय महुरे। जइ दुफासे-सिय सीये-य णिद्धे य; सिय सीए य; लुक्खे य; सिय उसिणे य; णिद्धे य ; सिय उसिणे य लुक्खे य। श. २, उ. ५

३६. अ. ५, सू. २४

३७. आर्हत दर्शन दीपिका पृ. ६३५

३८. शास्त्रीय परिभाषा में उसके ४२ प्रकार हैं। तत्सम्बन्धी नवतत्त्वप्रकरण में निम्न लिखित गाथाएँ दी गई हैं :—

साउच्चगोअ मणुदुग, सुरदुग पञ्चिदिजाइ पणदेहा।
आइतितणूणुवंगा, आइमसंघयणसंठाणा ॥१५॥
वन्नचउक्काऽगुरुलहु-परघा उस्सास आयवुज्जोअं।
सुभखगइ निमिण तसदस, सुरनर तिरियाउ तित्थयरं ॥१६॥

साता वेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्यद्विक (मनुष्य गति और मनुष्यानुपूर्वी), देव द्विक (देवगति-देवानुपूर्वी), पंचेन्द्रिय जाति, पाँच प्रकार के शरीर, प्रथम तीन शरीर के उपांग (औदारिक उपांग वैक्रिय उपांग और आहारक उपांग), प्रथम संघयण (वज्र ऋषभ नाराच) और प्रथम संस्थान (समचतुरस्र) ये सभी (... [illegible]

से मिलती हैं।

शुभ वर्ण, शुभ गंध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, अगुरुलघु नामकर्म, पराघात नामकर्म, श्वासोच्छ्वास नामकर्म, आतप नामकर्म, उद्योत नामकर्म, शुभ विहायोगति नामकर्म, निर्माण नामकर्म, त्रस नामकर्म, बादर नाम, पर्याप्त नाम, प्रत्येक नाम, स्थिर नाम, शुभ नाम, सुभग नाम, सुस्वर नाम, आदेय नाम, यश नाम, देवायुष्य, मानुष्यायुष्य तिर्यचायुष्य और तीर्थंकरनाम ये सभी (२५ वस्तुएँ) पुण्योदय से प्राप्त होती हैं।

यह वर्णन कर्म की प्रकृतियों के अनुसार किया गया है, अतः कर्म का स्वरूप जानने के बाद उसका स्पष्ट बोध हो सकता है। उसका विवेचन नवतत्त्व विस्तारार्थ म पृ० १५६ से शुरू होता है सो देखिये।

३९ अठारह पापस्थानकों के विस्तृत वर्णन के लिये धर्मबोध ग्रन्थमाला में प्रकाशित 'पापनो प्रवाह' नामक पुस्तक देखें। (न धी टो शाह)

४० शास्त्रीय परिभाषा में उसके ८२ भेद हैं। इस सबंध में नवतत्त्वप्रकरण में निम्न लिखित गाथा दी गई है:
नाणंतरायदसगं, नव बीए नीअसायमिच्छत्तं।
थावरदस निरयतिगं कसायपणवीसं तिरियदुगं ॥१८॥

५ ज्ञानावरण और ५ अंतराय, दोनों मिलकर १० भेद, तथा दर्शनावरणीय कर्म के ९ भेद, तथा नीच गोत्र, असाता वेदनीय और मिथ्यात्व मोहनीय, स्थावर आदि १० भेद नरक का त्रिक (नरक गति, आनुपूर्वी और आयुष्य) २५ कषाय, (१६ कषाय और ९ नोकषाय) तिर्यंच का

द्विक (तिर्यंच की गति और आनुपूर्वी), ये सभी (६२ वस्तुएँ) पापोदय से प्राप्त होती हैं।

इगवितिचउजाईओ, कुखगइ उवघाय हुंति पावस्स।
अपसत्थं वन्नचउ, अपढमसंघयण संठाणा ॥१६॥

एकेन्द्रिय जाति, द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, और चतुरिन्द्रय जाति, ये चार जातियां, अशुभविहायोगति, उपघात नाम कर्म, अशुभवर्णादि चार और पहिले को छोड़कर पांच संघयण और पांच संस्थान ये सभी (२० वस्तुएँ) पाप के उदय से प्राप्त होती है।

इस प्रकार ६२+२० मिलकर कुल ८२ भेद है। यह वर्णन भी कर्म की प्रकृतियों के अनुमार है, अतः कर्म का स्वरूप जानने के वाद उसका स्पष्ट वोध होता है। उसका विवेचन नव-तत्त्व विस्तारार्थ में पृ. १७४ से आरम्भ होता है सो देखें।

४१ कायवाङ्मनःकर्म योगः। तत्त्वार्थसूत्र अ. ६ सू. १

४२ तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय में तत्संवंधी निम्नलिखित दो सूत्र दिये गए है :

शुभः पुण्यस्य ॥३॥ अशुभः पापस्य ॥४॥

४३ वही सूत्र, वही अध्याय, सूत्र ५, सकषायाकषाययोः—साम्परायिकेर्यापथयोः।

४४ तत्त्वार्थसूत्र में २५ क्रियाओं की गणना भिन्न प्रकार से करवाई गई है। उसमें परम्पराभेद समझें।

४५ इसके संवंध में तत्त्वार्थसूत्र के छठे अध्याय में कहा है कि:—

तीव्रमन्दज्ञाताज्ञात भाववीर्याधिकरणविशेषेभ्यस्तद्विशेषः ॥७॥

४६ Now these terms (Asrava Samvar and Nirjara) are as old as jainism For, the Buddhists have borrowed from it the most significant term Asrava they use it in very much the same sense as the jain s, but not in its literal meaning Since they do not regard karma as subtle matter and deny the existence of a soul into which the karma could have an influx' Thus the same argument serves to prove at the same time that the karma theory of jains is an original and integral part of their system and that jainism is considerably older than the origin of Buddhism

४७ आस्रवनिरोध संवर ।

तत्त्वार्थसूत्र अ ९ सू १

सर्वपामास्रवाणा तु निरोध संवर स्मृत ।

योगशास्त्र पृ ४ श्लोक ७८

४८ योगशास्त्र के चौथे प्रकरण मे कहा है कि —

स पुनर्भिद्यते द्वेधा द्रव्यभावविभेदत ॥७९॥

य कर्मपुद्गलादानच्छेद स द्रव्यसंवर ।

भवहेतुक्रियात्याग स पुनर्भावसंवर ॥८०॥

४९ अ० ९ सू० २

५० समिद गुत्ति परिसह जइधम्मा भावणा चरित्ताणि ।

पणतिदुवीसदसबारसपचभएहि सगवन्ना ॥२५॥

(संवर के मुख्य भेद) समिति, गुप्ति, परीषह यतिधर्म, भावना और चारित्र है। वे अनुक्रम से पाँच, तीन, बाईस,

स, बारह और पांच प्रकार के हैं। इस प्रकार संवर के कुल त्तावन भेद होते हैं।'

५१. अ० २४, गाथा २६

५२. दुःख अथवा असंतोष के विचार से चलती चिंतन की धारा आर्तध्यान है और क्रोध या वैर के विचार से चलती चिंतनधारा रौद्रध्यान है। ये दोनों ध्यान अशुभ हैं। ध्यानानुबंधी अर्थात् ध्यान से बांधी जाने वाली अथवा उस २ ध्यान की परंपरा।

५३. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। प्रथम पाद, सूत्र १

५४. ये सब स्वाध्याय के भेद हैं। निर्जरा तत्त्व में उसकी विशेष स्पष्टता की गई है।

५५. इस संबंध में तत्त्वार्थसूत्र के नवम अध्याय में निम्नलिखित सूत्र दिया गया है–

'उत्तमः क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्याणि धर्मः ॥७॥

नवतत्त्वप्रकरण में निम्नलिखित गाथा दी गई है:—

खंती य मद्दव अज्जव मुत्ती तव संजमे य बोद्धव्वे।
सच्चं सोयं आकिंचणं च बंभं च जइधम्मो ॥२६॥

उसकी तुलना इस प्रकार समझें: क्षमा,–खंति, मार्दव–मद्दव, आर्जव–अज्जव, शौच–सोयं, सत्य–सच्चं, संयम–संजम, तप–तव, त्याग–मुत्ती (निर्लोभता) आकिञ्चन्य–आकिंचणं, ब्रह्मचर्य–बंभ। तात्पर्य यह है कि ये दसों प्रकार समान हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं।

स्थानांग सूत्र में कहा है कि–दसविहे–समणधम्मे पन्नत्ते, तंजहा–खंती, मुत्ती, अज्जवे, मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे,

चिताते (यायें), वभचेरवासे। इसमे शौच के स्थान पर 'लघुता' है–इतना अन्तर है।

५६ भावणाजोगमुद्धप्पा, जले नावा व आहिया।
नावा व तीरमम्पन्ना, सव्वदुक्खा तिउट्टई॥
सूत्रकृताग सूत्र १–१५–६

५७ श्री उत्तराध्ययन सूत्र मे तत्सम्बधी पूरा अध्ययन है। अ०–२

५८ सामायिकछेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसपराय-यथाख्यातानि चारित्रम्।
तत्त्वार्थसूत्र अ. ९. सू. १८

मामाइअत्थ पढम, छओवट्ठावण भवे बीअ।
परिहारविसुद्धीअ, सुहुम तह सपराय च ॥३२॥
तत्तो अ अहक्खाय, खाय सव्वम्मि जीवलोगम्मि।
ज चरिऊण सुविहिया, वच्चति अयरामर ठाण ॥३३॥
नव तत्त्व प्रकरण

'पहिला सामायिक चारित्र, दूमरा छेदोपस्थापन चारित्र, तीमरा परिहारविशुद्धि और चौथा सूक्ष्मसंपराय चारित्र है।

'फिर इसके बाद सर्व जगत मे प्रसिद्ध यथाख्यात नामक पाँचवाँ चारित्र है, जिस चारित्र को अगीकार करके सुविहित मनुष्य मोक्ष प्राप्त करते है।

५९ अ० ९ सू० ३
६० अ० ३०, गा० ६
६१ उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० २·
६२· उत्तराध्ययन सूत्र अ० २८ गा० ३६
६३ आचाराग सूत्र १–४

६४. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३०, गा० ७

६५. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३०, गा० ७

६६. इसके संबंध में दशवैकालिक निर्युक्ति की निम्नलिखित गाथा प्रसिद्ध है:—

अणसणमूणोअरिया, वित्तीसंखेवणं रसच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य वज्झो तवो होइ॥

६७. अणसणमूणोयरिया य भिक्खायरिया रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया य वज्झो तवो होइ॥
अ० ३०, गा० ८

६८. अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्त-शय्यासनकायक्लेशा वाह्यं तपः॥
अ० ६. सूत्र० १६

६९. उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३०, गा० ७

७०. पायच्छित्तं विणओ, वेआवच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं उस्सग्गो विअ, अब्भिंतरओ तवो होइ॥

७१. पायच्छित्तं विणओ, वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो, एसो अब्भिंतरओ तवो॥
अ० ३०, गा० ८

७२. प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्गध्यानान्युत्त-रम्। अ० ६, सू० २०

७३. इनमें से कतिपय महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ हमने तप विचार (प्र०-ज्योति कार्यालय लि०) नामक पुस्तक में दी है।

७४. यह लेख अहमदावाद से प्रकाशित होने वाले 'सुघोषा'

और उसके आधार पर वह यहाँ दिया गया है ।

७५ तप की महत्ता के विषय मे हमारी लिखी हुई नीचे की दो पुस्तकें देखें तपनां तेज (धर्म बोध ग्रन्थ माला)' और तपनी महत्ता' (जैन शिक्षावली श्रेणी पहेली)

७६ अ० ८, सू० १

७७ छ प्रकार–लौकिक देवगत लौकिक गुरुगत लौकिक पवगत लोकोत्तर देवगत, लोकोत्तर गुरुगत, और लोकोत्तर पवगत । इस प्रकार के अधर्म मे धर्म सज्ञा धर्म म अधर्म सज्ञा, अमार्ग म मार्ग सज्ञा मार्ग म अमार्ग सज्ञा अजीव म जीव सज्ञा और जीव म अजीव सज्ञा, असाधु म साधु सज्ञा और साधु म असाधु सज्ञा अमुक्त में मुक्त सज्ञा और मुक्त म अमुक्त सज्ञा ।

७८ इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित गाथा प्रसिद्ध है —
मज्ज विसय कसाया निद्दा विगहा य पचमी भणिया ।
एए पच पमाया जीव पाडति ससारे ॥

७९ इस सम्बन्ध म नीचे दी हुई गाथाएँ पाई जाती हैं —
अन्नाण ससयो चेव मिच्छानाण तहेव य ।
रागो दोसो मइब्भसो धम्ममि य अणायरो ॥
जोगाण दुप्पणिहाण पमाओ अट्ठहा भवे ।
ससारुत्तारकामेण सव्वहा वज्जिअव्वओ ॥

८० ये भेद तत्त्वार्थराजवार्तिक म सूचित किये गए है ।

८१ नव तत्त्व प्रकरण गा० ३४

८२ वही

८३ प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशास्तद्विधय । अ० ८ सू० ४

८४ पयई सहावो वुत्ता ठिई कालावधारण ।

अणुभागो रसो णेओ, पएसो दलसंचओ ॥
नव तत्त्व प्रकरण गा० ३७

८५. कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः ।
तत्त्वार्थ० अ० १० सू० १

८६. वन्धहेत्वभावनिर्जराभ्याम् । तत्त्वार्थ सूत्र, अ० १०, सू० २

८७. सिवमयलमरुअमणंतमक्खयमव्वावाहमपुणरावित्ती
सिद्धिगइनामधेयं ठाणं संपत्ताणं ।
नमोत्थुणं सूत्र

८८. चौरासी लक्ष जीवयोनि की गणना जैन दर्शन में इस प्रकार होती है:—

७ लाख पृथ्वीकाय
७ लाख अप्काय
७ लाख तेजस्काय
७ लाख वायुकाय
१०. लाख प्रत्येक वनस्पतिकाय ।
१४. लाख साधारण वनस्पतिकाय ।
२. लाख द्वीन्द्रिय ।
२. लाख त्रीन्द्रिय ।
२. लाख चतुरिन्द्रिय ।
४ लाख देवता ।
४ लाख नारकी ।
४ लाख तिर्यंच पंचेन्द्रिय ।
१४ लाख मनुष्य ।

८४ लाख

८९तत्त्वार्थ०-अ० १० सू० ७

॥ विभाग-१ नवतत्त्व समाप्त ॥

विभाग-२

कर्मवाद

कर्मवाद

कर्मवाद की महत्ता :

जैन दर्शन का मूल नव तत्त्व है, परन्तु इन नव तत्त्वों की जड़ कर्मवाद है, इसीलिये कर्मवाद को जैन दर्शन का एक अविभाज्य अंग माना गया है। जैन दर्शन प्ररुपित कर्मवाद जीवन के अनेक प्रकार के रहस्यों को हमारे सम्मुख प्रकट करता है और पुरुषार्थ के प्रशस्त पथ पर पदार्पण करने की हमें प्रबल प्रेरणा देता है। इसके अतिरिक्त जीवन में शांति, समता, उदारता सहनशीलता आदि गुणों को प्रकट करने में वह बहुत सहायक सिद्ध होता है, अतः उनका परिचय देना अत्यन्त आवश्यक है।

कर्म पर विशिष्ट साहित्य की रचना :

कर्म का सिद्धान्त किसी न किसी रूप में अन्य दर्शनों ने भी स्वीकार किया है परन्तु उसका जो व्यवस्थित और विशद वर्णन जैन दर्शन में उपलब्ध होता है, वह अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। जिनागमों में अनेक स्थलों पर कर्म का वर्णन आता है।[1] चौदह पूर्व जो कि आज लुप्त हो चुके है,[2] उनमें 'कम्मपवाय' अर्थात् कर्मप्रवाद नामक एक विशेष पूर्व था। कर्म प्राभृत और कषाय प्राभृत जो 'पूर्व' के प्राभृत नामक प्रकरण में से उद्धृत है, उनमें भी कर्म सिद्धान्त का सूक्ष्म विवेचन है। इनमें कषाय प्राभृत पर श्वेताम्बर आम्नाय के आचार्य आर्य मंगु के शिष्य महाविद्वान यतिवृषभाचार्य ने चूर्णि की रचना की है। इन दोनों पर विस्तृत विवेचन अभी अभी आचार्य श्री विजयप्रेमसूरीश्वरजी महाराज अपने शिष्यों को साथ रखकर तैयार कर रहे है। लगभग डेढ लाख श्लोक तक होने का अनुमान है। कर्म प्रकृति के दस द्वारों पर विस्तृत

विवेचन चल रहा है जो लगभग ५०–६० हजार श्लोक तक होना सभव है। इसके अतिरिक्त दूसरे 'अग्रेनीय पूर्व' अर्थात् आग्रायनीय पूर्व मे भी कर्म सम्बन्धी बहुत विवेचन था जिसमे से सार ग्रहण करके श्री शिवशर्म सूरि ने 'कर्म प्रकृति' नामक एक महत्त्वपूर्ण प्रकरण की रचना की है। आगमविशारद श्री मलयगिरि आचार्य ने तथा प्रकाड पडित श्री यशोविजय उपाध्याय न उस पर सस्कृत भाषा मे टीकाएँ लिखी है। कर्मों का मौलिक ज्ञान प्राप्त करने के लिये श्री चन्द्र महर्षि कृत पच-सग्रह नामक ग्रन्थ उल्लेखनीय है, जिसमे शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति ये पाँच प्रकरण सगृहीत है। इसी तरह प्राचीन काल मे छ ग्रन्थ विद्यमान थे जो छ कर्म ग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध है। श्री देवेन्द्रसूरि महाराज ने उनके आधार पर पाँच नवीन कर्म ग्रन्थो की रचना की है और चन्द्र महत्तराचार्य ने सप्ततिका नामक छठा नवीन कर्म ग्रन्थ बनाया है। इन ग्रन्थो पर गुजराती मे श्री जीवविजयजी महाराज तथा श्री यश सोम गणि के शिष्य जयसोमजी ने टीकाओ की रचना की है। कर्म पर बधशतक, बधचूर्णि आदि और भी बहुत सा साहित्य है।

जैन धर्म का कथा तथा चरित विभाग भी कर्मवाद के रहस्य पर प्रकाश डालता है। उसमे कर्म का स्वरूप तथा उसका विपाक बताने वाली सैकडो वस्तुएँ मौजूद है।

एक स्पष्टीकरण :

यहाँ एक स्पष्टीकरण कर दें कि जैन दर्शन द्वारा प्ररूपित कर्मवाद भाग्यवाद नही है और न नियतिवाद ही है परन्तु-जैसा कि पिछले प्रकरण मे बताया गया है—यह मिथ्यात्वादि

के कारण आतमा को चिपकने वाले कर्म पुद्गल, उनकी प्रकृति, स्थिति, रस, प्रदेश, बंध, उदय, उदीरणा, सत्ता, संक्रमण, उद्वर्तना अपवर्तना..............घाती, अघाती परावर्तमान, अपरावर्तमान आदि का वहुत वड़ा विज्ञान है। यह लोगों से कर्म के भरोसे पर बैठे रहने को नहीं कहता, न उससे हताश होने को कहता है, परन्तु उसका नाश करने के लिये उत्साह-पूर्वक उद्यत होने की शिक्षा देता है और प्रत्येक आत्मा में जो प्रसुप्त शक्ति रही हुई है, उसे जागृत करने के लिये आवाज देता है।

कर्म को मानने के कारण :

जैन-दर्शन कहता है कि इस जगत् में एक सुखी, दूसरा दुःखी, एक धनवान, दूसरा भिखारी, एक पण्डित, दूसरा मूर्ख, एक सुन्दर, दूसरा कुरूप, इस प्रकार जो अनेक प्रकार की विचित्रता दिखाई पड़ती है, उसका कोई न कोई कारण अवश्य होना चाहिये। इस कारण का नाम ही कर्म है। यदि कर्म न हो तो ऐसी विचित्रता का अस्तित्व ही न मिले।

इसके अतिरिक्त पुरुषार्थ (श्रम) तो आजकल सभी मनुष्य करते हैं और भीख न मांगकर श्रम तो उन्हें करना ही चाहिये, परन्तु उसका फल सवको समान नहीं मिलता। इसका क्या कारण? यदि पुरुषार्थ की त्रुटि वताएँ तो अल्प पुरुषार्थी को अधिक लाभ होता है, और अधिक पुरुषार्थ करने वाले को अल्प लाभ की प्राप्ति होती है, अतः कर्म जैसी किसी वस्तु को अवश्य मानना ही चाहिए। सही वात तो यह है कि सांसारिक विषयों में भाग्य की प्रधानता मानी जाय तो दुर्ध्यान नहीं होता और धर्म के विषय में पुरुषार्थ को प्रधानता

दी जाय तो प्रगति हो सकती है।

तीसरी और महत्त्वपूर्ण बात संसार परिभ्रमण की है। उसके विषय में जैन महर्षि स्पष्ट कहते हैं कि 'कम्मं च जाई-मरणस्स मूलं-" अनादि काल से जीव को जन्म मरण करने पड़ते हैं और इसीलिये रोग, शोक, जरा आदि दुःखों का अनुभव करना पड़ता है, इसका मूल कर्म है।[3] यदि जीव कर्म-बद्ध न हो, तो उसे इस प्रकार जन्म मरण न करने पड़ें।

कर्म का अर्थ :

कर्म शब्द कार्य, प्रवृत्ति अथवा क्रिया के अर्थ में प्रचलित है परन्तु यहाँ कर्म शब्द से आत्मा के द्वारा मिथ्यात्वादि कारणों से ग्रहण की गई कार्मण वर्गणा समझें। मिथ्यात्वादि अर्थात् मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इसका विचार गत प्रकरण में बंध तत्त्व का वर्णन करते समय कर दिया गया है। कार्मण वर्गणा एक प्रकार की पौद्गलिक वर्गणा है अथवा पुद्गलों का पुंज है जो जीव द्वारा ग्रहण किये जाने के बाद कर्मरूप में परिणत हो जाता है। तात्पर्य यह है कि कर्म पौदगलिक वस्तु है और वह आत्मा की शक्तियों को अवरोधन दबाने का कार्य करता है।

कर्म का प्रकार :

कर्म दो प्रकार के हैं द्रव्य कर्म और भाव कर्म। इनमें कार्मण वर्गणाएं, जो जीव के साथ सम्बद्ध होकर कर्मरूप में परिणत होती हैं, द्रव्य कर्म हैं और परिणत होने के बाद विपाक उदय से उदित होकर अपना फल दिखाती है सो भाव कर्म हैं। (आचारांग वृत्ति अध्याय २-२) जीव के राग द्वेषात्मक या योगात्मक परिणाम के कारण ही द्रव्य कर्मों

का उसकी ओर आकर्पण होता है, इसलिए वे भाव कर्म के प्रयोजक वनते है। यदि मनुप्य इतना समझ ले कि मात्र कार्मण पुद्गल कुछ नहीं करते, राग-द्वेप ही तात्त्विक दृप्टि से आत्मा में कर्म-वन्धन के कारण है, तो वह राग-द्वेप से वचकर अपना अभीप्ट साध सकता है। इस हेतु से ही यहाँ कर्म के द्रव्य और भाव ऐसे दो प्रकार वताये गए है।

यहाँ इतना स्पप्टीकरण आवश्यक है कि राग-द्वेप कपाय से भिन्न वस्तु नहीं, वे कपाय रूप ही है और इसीलिये तत्वार्थ-सूत्र में कहा है कि 'सकपायत्वाज्जीव: कर्मणो योग्यान् पुद्गला-नादत्ते' कपाय के कारण जीव कर्म के योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है।[४]

कर्म की प्रकृति :

आत्मप्रदेशों के साथ कार्मण वर्गणाओं का सम्वन्ध होता है, उसी समय ('जैसी प्रवृत्ति वैसी प्रकृति' इस न्याय से) कर्म की प्रकृति अर्थात् स्वभाव और साथ ही इसकी स्थिति रस और प्रदेश का निर्माण हो जाता है। यह प्रकृति आठ प्रकार की होती है[५]: (१) ज्ञानावरणीय, (२) दर्शनावरणीय, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयुप्य, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। प्रकृति के आधार पर कर्म के आठ प्रकार वनते है; जैसे, जीव के स्वभावभूत ज्ञान को रोकने वाली प्रकृति वाला कर्म ज्ञानावरणीय कर्म, दर्शन को रोकने की प्रकृति वाला कर्म दर्शनावरणीय कर्म आदि। शास्त्र और व्यवहार में कर्म के ये आठ प्रकार प्रसिद्ध है और समस्त कर्मवाद इन्ही पर फूला-फला है।

'जीव ने ज्ञानावरणीय कर्म वाँधा', 'अन्तराय कर्म वाँधा'

आदि शब्दप्रयोगों के आधार पर कोई ऐसा समझता हो कि वैसे-वैसे कर्म होंगे और उनका आत्मा के साथ बन्ध होना होगा, तो ऐसा समझना उपयुक्त नहीं है। 'जीव ने ज्ञानावरणीय कर्मबन्धन किया'—इसका वास्तविक अर्थ यह है कि जीव ने अपने योग और अध्यवसाय से अर्थात् बन्धन परिणाम से कार्मण वर्गणाएँ ग्रहण की, वे कर्म रूप में परिणत हुईं और उनमें से ज्ञान पर आवरण डालने वाली एक प्रकृति निर्मित हुई।

कर्म की इन आठ प्रकृतियों को मूल प्रकृति कहते हैं क्योंकि वह प्रकृतियों का मूलभूत वर्गीकरण है। इनमें से प्रत्येक प्रकृति के उपभेद भी हैं जिन्हें उत्तर प्रकृति कहते हैं। कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १५८ हैं,[1] जिनका परिचय नीचे दी गई तालिका से हो सकेगा —

	मूल प्रकृति	उत्तर प्रकृति
१	ज्ञानावरणीय	५
२	दर्शनावरणीय	६
३	वेदनीय	२
४	मोहनीय	२८
५	आयुष्य	४
६	नाम	१०३
७	गोत्र	२
८	अन्तराय	५
		१५८

मूल और उत्तर प्रकृतियों का सामान्य परिचय कर लेने से ही कर्मवाद का स्वरूप बराबर समझा जा सकेगा।

ज्ञानावरणीय कर्म :

जो कर्म ज्ञान पर आवरण डाले, ज्ञान को ढँके, ज्ञान का प्रकाश कम करे वह ज्ञानावरणीय कर्म कहलाता है। जैसे आँख में देखने की शक्ति है परन्तु उस पर यदि पट्टी बाँध दी जाय तो वह देख नहीं सकती, उसी प्रकार आत्मा में सब कुछ जानने की शक्ति है, परन्तु ज्ञानावरणीय कर्म के कारण वह सब कुछ नहीं जान सकता।

ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम अर्थात् क्षय और उपशम होता है उतने प्रमाण में ही आत्मा जान सकता है, उससे अधिक नहीं। ज्ञानावरणीयादि घाती कर्म के रस का तीव्र रूप में उदय हो तो उदय कहलाता है और मन्दतापूर्वक उदय हो तो यह गुण का घातक न होने से क्षयोपशम कहलाता है। जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम कम होता है, वह कम जान सकता है और जिसके अधिक होता है, वह अधिक जान सकता है। जिसके ज्ञानावरणीय कर्म का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है, वह सब कुछ जान सकता है। उदाहरणार्थ-केवली भगवंत सब कुछ जान सकते हैं, क्योंकि उनके ज्ञानावरणीय कर्म का संपूर्ण क्षय हो जाता है। 'मनुष्यों में ज्ञान की बहुत असमानता-तरतमता दिखाई पड़ती है जो इस ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम की विचित्रता के कारण ही है।

हमने एक वस्तु पहले जान ली हो और अब याद करना चाहें, परन्तु याद नहीं आती। थोड़ी देर बाद वह याद आ जाती है। इसका अर्थ यह हुआ कि विस्मृति होने के समय भी प्रकटित शक्ति के रूप में ज्ञान तो था ही, अन्यथा थोड़ी देर बाद याद कैसे आजाय? अब ज्ञान था और विस्मृति हुई,

इसका कारण क्या ? कारण यही कि उस समय ज्ञान पर आवरण था, ज्ञान को रोकने वाली कोई वस्तु वहाँ विद्यमान थी जिसके खिसकने के साथ ही याद आगया। दीपक पर कपड़ का आवरण हो, तो प्रकाश नहीं आता, परन्तु उसे हटा दें तो तुरन्त प्रकाश आता है। ऐसे ही इसमें भी समझें।

ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां ५ हैं- (१) मतिज्ञानावरणीय, (२) श्रुतज्ञानावरणीय, (३) अवधिज्ञानावरणीय, (४) मन पर्यवज्ञानावरणीय और (५) केवलज्ञानावरणीय।

इन्द्रियां और मन की सहायता से जो (अक्षर रहित) मर्यादित ज्ञान होता है वह मतिज्ञान कहलाता है। उस पर आवरण डालने वाला जो कर्म है वह है मतिज्ञानावरणीय।

श्रुत अर्थात् शब्द। उसके निमित्त से इन्द्रियों और मन द्वारा होने वाला वाच्य-वाचक के संकेत का मर्यादित ज्ञान श्रुत ज्ञान है। उस पर आवरण डालने वाला कर्म श्रुतज्ञानावरणीय कर्म है।

इन्द्रियां और मन की सहायता के बिना आत्मा को रूपी पदार्थों का अमुक हद तक जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है सो अवधिज्ञान। उस पर आवरण डालने वाला कर्म अवधिज्ञानावरणीय कर्म है।

इन्द्रियां और मन की सहायता के बिना आत्मा को अढ़ाई द्वीपवर्ती संज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों द्वारा गृहीत मनोद्रव्य का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है वह मन पर्यव ज्ञान। उस पर आवरण डालने वाला जो कर्म है उसका नाम है मन पर्यव ज्ञानावरणीय कर्म।

इन्द्रियों और मन की सहायता के विना आत्मा को सर्व-कालीन सभी पदार्थों का सर्वांगीण प्रत्यक्ष ज्ञान जो होता है वह है केवलज्ञान। उस पर आवरण डालने वाला जो कर्म है उसका नाम है केवलज्ञानावरणीय कर्म।

पाँच ज्ञानों के विषय में नंदिसूत्र तथा विशेषावश्यक भाष्य में बहुत अच्छी चर्चा की गई है तथा अन्य शास्त्रों में भी इसका विवेचन आता है।

आत्मा निम्नलिखित कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म का बंधन करता है:—

(१) ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञान के साधनों के प्रति वैर भाव अथवा द्वेष रखने से।

(२) ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाने से।

(३) ज्ञान, ज्ञानी या ज्ञान के साधनों का नाश करने से।

(४) ज्ञान, ज्ञानी अथवा ज्ञान के साधनों की विराधना या आशातना करने से।

(५) कोई ज्ञान प्राप्ति करता हो, उसमें अंतराय डालने से।

दर्शनावरणीय कर्म :

जो कर्म आत्मा के दर्शन गुण पर आवरण डाले, उसे ढँके, वह दर्शनावरणीय कर्म कहलाता है। दर्शन अर्थात् वस्तु का सामान्य बोध, जैसे राजा के साथ भेंट करनी हो, फिर भी द्वारपाल या ड्योढ़ीवान् रोकता है, उसी प्रकार यह कर्म वस्तु का सामान्य बोध होने से अटकाता है। इस कर्म का जितनी मात्रा में क्षयोपशम होता है, आत्मा उतनी ही मात्रा में वस्तु का सामान्य बोध प्राप्त कर सकता है, उससे अधिक नहीं। जब इस कर्म का सम्पूर्ण क्षय होता है तब आत्मा सभी वस्तुओं

का दर्शन कर सकता है।

दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं :

(१) चक्षुदर्शनावरणीय (२) अचक्षुदर्शनावरणीय (३) अवधिदर्शनावरणीय (४) केवलदर्शनावरणीय (५) निद्रा (६) निद्रानिद्रा (७) प्रचला (८) प्रचला-प्रचला (९) स्त्यानर्द्धि (थीणद्धी)

जो चक्षुरिन्द्रिय द्वारा होने वाले सामान्य बोध को रोके वह चक्षुदर्शनावरणीय। जो चक्षु को छोड़कर शेष चार इन्द्रियों तथा मन द्वारा होने वाले सामान्य बोध को रोके वह अचक्षुदर्शनावरणीय। जो इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना आत्मा को होने वाले रूपी द्रव्य के सामान्य दर्शन को रोके वह अवधिदर्शनावरणीय और जो केवल दर्शन द्वारा होने वाले वस्तु मात्र के सामान्य दर्शन को रोके वह केवल दर्शनावरणीय। मन–पर्यवज्ञान विशेष बोध के रूप में ही होता है अतः उसमें दर्शन नहीं होता।

निद्रा में आत्मा का अव्यक्त उपयोग होता है अर्थात् उसे वस्तु का सामान्य बोध नहीं हो सकता। इसीलिए निद्रा के पाचों प्रकारों को दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियों के रूप में माना गया है। चक्षुदर्शनावरणीयादि चारों दर्शनावरणीय कर्म दर्शनशक्ति की प्राप्ति में ही बाधक होते हैं और निद्रा आदि पाँचों दर्शनावरणीय प्राप्त हुई शक्ति में बाधक बनते हैं।

सुख पूर्वक अर्थात् सरलता से जाग सके, उदाहरणार्थ आवाज मात्र से जगाया जा सके ऐसी निद्रा को निद्रा कहते हैं। दुःख पूर्वक अर्थात् हिलाने आदि से जगाया जा सके वह

'निद्रा निद्रा'। बैठे बैठे या खड़े खड़े आने वाली निद्रा 'प्रचला' और चलते चलते भी नींद आए वह 'प्रचला-प्रचला'। जिसमें दिन में सोचा हुआ कार्य कर ले और जगने पर पता न हो ऐसी गाढ़ निद्रा-'स्त्यानर्द्धि'। इस निद्रा में शरीर का बल अत्यधिक बढ़ जाता है।"

जिन कारणों से आत्मा ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है, उन्हीं कारणों से आत्मा दर्शनावरणीय कर्म बन्धन भी करता है। (इसमें अन्तर इतना ही है कि ज्ञान, ज्ञान के साधन और ज्ञानी की आशातना से ज्ञानावरणीय कर्म बांधता है और दर्शन, दर्शन के साधन और दर्शन की आशातना से दर्शनावरणीय कर्म बांधता है।)

वेदनीय कर्म---

जो कर्म आत्मा को पौद्‌गलिक सुख दुःख का संवेदन करवाता है वह वेदनीय कर्म कहलाता है। आत्मा स्वरूप से आनन्दघन है, फिर भी इस कर्म के कारण वह पौद्‌गलिक सुख दुःख का अनुभव करता है। जब तक यह रहता है तब तक आत्मा का सहज अनन्त सुख प्रकट नहीं होता।

इस कर्म की उत्तर प्रकृतियां दो हैं : (१) साता वेदनीय और (२) असाता वेदनीय। आरोग्य से शरीर और इष्ट विषय के संपर्क से इन्द्रियों को सुख का जो अनुभव होता है, वह है साता; इससे विपरीत, रोग प्रहार आदि अनिष्ट विषय के संपर्क से दुःख का अनुभव जो होता है वह है असाता। यह सुख दुःख पुद्‌गल के संयोग से होता है अतः पौद्‌गलिक कहलाता है।

आत्मा निम्नलिखित कारणों से साता वेदनीय कर्म बंधन करती है:—

(१) माता पिता तथा धर्माचार्य आदि पूज्य वर्ग की सेवा भक्ति करने से।

(२) क्षमा धारण करने से।

(३) जगत के सब जीवों के प्रति दया भाव रखने से।

(४) साधु अथवा श्रावक के व्रतों का पालन करने से।

(५) संयम योग का पालन करने से।

(६) कषाय को वश में रखने से।

(७) दान से अर्थात् अपनी न्यायोपार्जित वस्तु का परार्थ उपयोग करने से।

(८) दृढ़ धर्मी होने से।

जिसका व्यवहार इससे विपरीत होता है वह असाता वेदनीय कर्म बाँधता है।

मोहनीय कर्म—

जिस कर्म के कारण जीव मोहग्रस्त बनकर संसार में भटक जाए उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। यह कर्म मदिरा के समान है। जैसे मदिरापान करने से मनुष्य को सुध बुध का कोई ठिकाना नहीं रहता उसी प्रकार इस कर्म के कारण मनुष्य की विवेक बुद्धि तथा वर्ताव का कोई ठिकाना नहीं रहता।

आत्मा की शक्तियों को आच्छादित करने में मोहनीय कर्म का हाथ सबसे अधिक होता है। अतः उसे कर्मों का राजा माना जाता है। जब तक यह राजा प्रबल होता है तब तक सभी कर्म सबल होते हैं और जहाँ यह राजा ढीला हुआ कि सभी कर्म ढीले पड़ जाते हैं।

मोहनीय कर्म के मुख्य दो विभाग हैं–(१) दर्शन मोहनीय

और (२) चारित्र मोहनीय। इनमें दर्शन मोहनीय मान्यता में दुविधा पैदा करवाता है तथा देव–गुरु–धर्म के प्रति अश्रद्धा को जन्म देता है। यहाँ दर्शन शब्द सामान्य बोध के अर्थ में नहीं परन्तु सम्यक्त्व के अर्थ में प्रयुक्त है। सम्यक्त्व अर्थात् जीव का तत्त्वश्रद्धारूप निर्मल परिणाम।[८] उसका विशेष परिचय 'आध्यात्मिक विकासक्रम' नामक प्रकरण में दिया गया है।

चारित्र मोहनीय कर्म आत्मा के मूल गुण रूप चारित्र का अवरोध करता है, अर्थात् व्यवहार को विकृत बनाता है।

दर्शन मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ तीन हैं:—
(१) सम्यक्त्वमोहनीय (२) मिश्र मोहनीय (३) मिथ्यात्व मोहनीय। क्षायिक सम्यक्त्व आत्मा का मूल गुण है–उसका रोध करनेवाला कर्म सम्यक्त्वमोहनीय। जिससे मिथ्यात्व और सम्यक्त्व के मिश्र परिणाम उत्पन्न हों वह मिश्र मोहनीय और जिससे मात्र मिथ्यात्व में ही अनुरक्ति हो, वह मिथ्यात्व मोहनीय।

चारित्र मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ पच्चीस हैं। उनमें सोलह कषाय रूप हैं और नौ नोकषाय रूप हैं।[९]

क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार मूल कषाय हैं। इनमें प्रत्येक के तीव्रातितीव्र, तीव्र, मध्यम और मन्द ऐसे चार २ भेद करने से कषाय की संख्या सोलह बनती है। शास्त्रीय परिभाषा में तीव्रातितीव्र कषाय को अनंतानुबंधी, तीव्र कषाय को अप्रत्याख्यानी, मध्यम कषाय को प्रत्याख्यानी और मन्द कषाय को संज्वलन कहते हैं।

अनंतानुबंधी

जब तक उसका उदय होता है तब तक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती । अप्रत्याख्यानी कषाय देशविरति का घात करते हैं, अर्थात् उसका उदय होता है तब तक देशविरति अर्थात् श्रावकधर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती । प्रत्याख्यानी कषाय सर्वविरति का घात करते हैं, अर्थात् उसका उदय होता है, तब तक साधुधर्म की प्राप्ति नहीं हो सकती और संज्वलन कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करते हैं, अर्थात् उसके उदय में वीतरागत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । जब इस कषाय का अन्तिम अंश भी चला जाता है तब वीतरागत्व की प्राप्ति होती है । इसका अर्थ यह समझना चाहिए कि कषायों का रस ज्यों २ घटता जाता है, त्यों २ आत्मा अपनी स्वरूप-प्राप्ति के प्रति प्रगति करता जाता है और जब कषाय सर्वथा नष्ट हो जाते हैं तभी वह अपने मूल स्वरूप में आ सकता है ।

इन सोलह कषायों का स्वरूप कर्मग्रन्थों में निम्नानुसार बताया गया है —

क्रोध —

संज्वलन—पानी में खींची हुई रेखा के समान । पानी में रेखा खींची हो तो तुरन्त मिट जाती है उसी प्रकार यह क्रोध भी तुरन्त शान्त हो जाता है । इस कषाय की अधिक से अधिक अवधि पन्द्रह दिन की होती है ।

प्रत्याख्यानीय—बालू में खींची हुई रेखा के समान । बालू में रेखा खींची जाय तो वायु का झोंका आते ही वह मिट जाती है, इसी प्रकार यह क्रोध थोड़ी देर में ही शान्त हो जाता है । इसकी मर्यादा अधिक से अधिक चार माह की होती है ।

अप्रत्याख्यानीय—पृथ्वी में पड़ी हुई दरार के समान । पृथ्वी

में दरार पड़ी हो तो वह वर्षा होने पर मिट सकती है, इसी प्रकार यह क्रोध बहुत समय के बाद शांत होता है। इसकी मर्यादा अधिक से अधिक एक वर्ष की होती है।

अनंतानुबंधी–पर्वत में पड़ी हुई दरार के समान। पर्वत में दरार पड़ी हो तो वह मिलती नहीं उसी प्रकार यह क्रोध उत्पन्न होने के बाद आमरण शान्त नहीं होता।

मानः

संज्वलन–बेंत की छड़ी जैसा जो आसानी से झुक जाय।

प्रत्याख्यानीय––काष्ठ जैसा जो यत्न करने से झुक सके।

अप्रत्याख्यानीय––हड्डियां जैसा जो बड़ी मुश्किल से झुक सके।

अनंतानुबंधी––पत्थर के स्तम्भ जैसा जो किसी भी प्रकार से झुके ही नहीं।

इन चारों कषायों की कालमर्यादा ऊपर की तरह समझें।

मायाः

संज्वलन–बांस की छाल जैसी जो आसानी से अपनी वक्रता छोड़े।

प्रत्याख्यानीय––बैल के मूत्र की धारा सदृश, जो वायु आते ही वक्रता दूर हो।

अप्रत्याख्यानीय––भेड़ के सींगों जैसी जो बहुत प्रयत्न करने पर ही अपनी वक्रता छोड़े।

अनँतानुबँधी––बांस की कठिन जड़ के समान जो किसी भी प्रकार से अपनी वक्रता न छोड़े।

लोभः

संज्वलन--हल्दी के रंग जैसा जो सूर्य का ताप लगते ही दूर हो जाय।

प्रत्याख्यानीय--कीचड़ जैसा जिसका दाग लगा हो तो थोड़े प्रयत्न से दूर हो।

अप्रत्याख्यानीय--बैलगाड़ी के मैल के समान जो वस्त्र पर लगा हो तो बहुत प्रयत्न करने पर दूर हो।

अनंतानुबंधी--किरमिज के रंग जैसा जो एक बार चढ़ा हो तो फिर दूर हो न हो।

कषाय का उद्दीपन करनेवाले भाव नोकषाय माने गए हैं। इसका अर्थ यह है कि जो मनोवृत्तियाँ चारित्रगुण का रोध करने वाली है, परन्तु जिनका कषाय में अन्तर्भाव नहीं होता व नोकषाय है। नौ नोकषायो के नाम इस प्रकार हैं--(१) हास्य (२) रति, (३) अरति, (४) भय, (५) शोक (६) जुगुप्सा (७) पुरुषवेद, (८) स्त्रीवेद और (९) नपुंसकवेद।[१]

जीव को हँसी आती है इसमे हास्य मोहनीय कर्म का प्रभाव समझें। इष्ट विषयसामग्री मिलने पर अथवा अनिष्ट दूर होने पर रति अर्थात् प्रीति होती है उसे रति मोहनीय कर्म का प्रभाव समझें। इष्ट की अप्राप्ति और अनिष्ट की प्राप्ति पर अरति अर्थात् अप्रीति होती है, उसे अरति मोहनीय कर्म का प्रभाव समझें। इसी प्रकार भय, शोक और जुगुप्सा भी तदनुकूल कर्म के प्रभाव हैं।

जीव को स्त्रीसंसर्ग की अभिलाषा करवाने वाला पुरुष वेद, पुरुष संसर्ग की अभिलाषा करवाने वाला स्त्री वेद और

स्त्री तथा पुरुष दोनों के संसर्ग की अभिलाषा करवाने वाला नपुंसक वेद। पुरुष वेद ऐसा है कि इसके उदय से घास की आग की भाँति शीघ्र वासना की निवृत्ति होती है। स्त्री वेद ऐसा है कि इसके उदय से लींडी की अग्नि की भाँति दीर्घकाल होने पर वासना की निवृत्ति होती है। नपुंसक वेद ऐसा है कि जिसके उदय से नगर में अथवा वन में लगे हुए दावानल की भाँति वासना की निवृत्ति दीर्घकाल में भी नहीं होती। यहाँ वेद शब्द का अर्थ जातीय आकर्षण (Sex impulse) से है।

दर्शनमोहनीय की तीन और सम्यक्त्व मोहनीय की पच्चीस मिलकर मोहनीय कर्म की कुल उत्तर प्रकृतियाँ अट्ठाईस गिनी जाती हैं।

निम्नलिखित कारणों से आत्मा दर्शनमोहनीय कर्म बांधता है।

१. उन्मार्ग को मार्ग रूप प्रतिपादन करने से।
२. सन्मार्ग का नाश करने से।
३. देव द्रव्य का हरण करने से।
४. जिन का विरोध करने से।
५. मुनि का विरोध करने से।
६. चैत्य का विरोध करने से।
७. संघ का विरोध करने से।

निम्नलिखित कारणों से आत्मा चारित्रमोहनीय कर्म बांधता है।

१. कषाय करने से।
२. नोकषाय करने से

आयुष्य कर्म :

जिस कर्म के कारण आत्मा को एक शरीर में अमुक अवधि तक रहना पड़े उसे आयुष्य कर्म कहते है। यह कर्म बेडी के समान है। कैद होने के बाद चोर को अपनी अवधि समाप्त होने तक उसमे रहना पडता है। इसी प्रकार आत्मा ने जितने आयुष्य का बंध किया हो वह समाप्त होने तक उसे एक शरीर मे रहना ही पडता है।

आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ चार है (१) देवायुष्य (२) मनुष्य का आयुष्य (३) तिर्यचायुष्य (४) नरकायुष्य। देवायुष्य के कारण जीव देव रूप में उत्पन्न होता है और देवता का जीवन भोगता है। मनुष्य के आयुष्य वश जीव मनुष्य रूप में उत्पन्न होकर मनुष्य का जीवन भोगता है। इसी प्रकार तिर्यंच के आयुष्य से तिर्यच का और नरक के आयुष्य से नरक का जीवन भोगता है।

आयुष्य दो प्रकार का है (१) अपवर्तनीय और (२) अनपवर्तनीय। कारण प्राप्त होने पर जिस आयुष्य की काल-मर्यादा में कमी हो सके वह अपवर्तनीय और चाहे जैसे घात आदि कारण उपस्थित होने पर भी निर्धारित आयुष्य की काल मर्यादा में से एक क्षण भी कम न हो सके वह अनपवर्तनीय। अपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम ही होता है और अनपवर्तनीय आयुष्य सोपक्रम अथवा निरुपक्रम होता है।

उपक्रम के सात प्रकार हैं—अध्यवसान, निमित्त, आहार, वेदना, पराघात स्पर्श और श्वासोच्छ्वास।

आयुष्य अपवर्तनीय हो और उपरोक्त उपक्रमो में से कोई भी उपक्रम बाधा डाल तो आयुष्य की काल मर्यादा

समय से पूर्व समाप्त होती है। यहां एक बात विशेष ध्यान में रखनी चाहिये कि विगत जन्म में आयुष्य का बंध १०० वर्ष का बाँध करके यहाँ मनुष्य रूप में जन्म लिया, परन्तु आयुष्य शिथिल बंध से बाँधा गया था अतः अपवर्तनीय है। १०० वर्ष का आयुष्य होते हुए भी ५० वर्ष की उम्र में आकस्मिक दुर्घटना होने से उसकी मृत्यु हुई तो उस समय शेष ५० वर्षों में भोगने योग्य आयुष्य कर्म के दलिक जब आकस्मिक दुर्घटना बाधा डाले और मरण का प्रसंग आए तब अन्तिम क्षणों में एक साथ भोग लेता है, परन्तु ऐसा नहीं होता कि आयुष्य कर्म के दलिक भोगने शेष रहें और परभव में जाकर भोगे। वर्तमान भव के जो आयुष्य कर्म के दलिक यहाँ क्रमशः भोगे जाते थे वे उपक्रम (अकस्मात् दुर्घटना) उपस्थित होने पर एक साथ भोगे जाते है और आयुष्य की काल मर्यादा यकायक समाप्त हो जाती है, ऐसा आयुष्य अपवर्तनीय सोपक्रम आयुष्य कहलाता है।

अनपवर्तनीय के दो विभाग हैं—एक सोपक्रम अनपवर्तनीय और दूसरा निरुपक्रम अनपवर्तनीय।

जितने आयुष्य का बंध हुआ हो, उतना आयुष्य समाप्त होने आए, ऐसे अवसर में ही उपक्रम अकस्मात् दुर्घटना उपस्थित हो—वह सोपक्रम अनपवर्तनीय—और जो आयुष्य बराबर पूर्ण होने आए, तब उपरोक्त उपक्रमों में से किसी भी उपक्रम के बिना स्वाभाविक रीति से भोगा जाकर पूर्ण हो वह निरुपक्रम अनपवर्तनीय आयुष्य है।

त्रिषष्ठिशलाका पुरुष, उसी भव में मोक्षगामी मनुष्य, देव नारक और युगलिक-तिर्यंच-मनुष्य, निश्चित रूप से अनपवर्त-

नीय आयुष्य वाले होते हैं और उन्हे छोड़कर शेष जीव उभय प्रकार के आयुष्य वाले होते हैं।

जैसा कि ऊपर बताया गया है, जैन दर्शन के सिद्धान्तानुसार आयुष्य की कालमर्यादा घट सकती है, परन्तु आयुष्य की काल मर्यादा जो निश्चित हो चुकी है, उसमे एक सेकिंड की भी वृद्धि नही की जा सकती।

कर्म की आठ प्रकृतियों मे आयुष्य प्रकृति का बध वर्तमान जीवन मे एक ही बार अन्तर्मुहूर्त तक होता है और शेष सात प्रकृतियों का बध समय समय पर होता रहता है। इतना ही नही, परन्तु उसी भव मे मोक्षगामी आत्मा के सिवाय कोई भी ससारी आत्मा ऐसा नही होता जो अपने वर्तमान भव मे भवान्तर के आयुष्य कर्म का बध किये बिना रह जाय।

मनुष्य और तिर्यंच अपने जीवन का तृतीयाश शेष रहते पर परभव का आयुष्य बाँधते है। उदाहरणार्थ किसी की आयु ९० की हो तो ६० वर्ष तक नही बधता, परन्तु ६० वर्ष समाप्त होने पर बाधता है। इस समय उसकी आयु का तृतीयाश शेष होता है। यदि इस समय आयुष्य न बाँधे तो शेष रहे हुए भाग के तृतीयाश मे बाँधता है। अर्थात् पुन २० वर्ष व्यतीत होने पर आयुष्य बाधता है। कदाचित उस समय भी नही बाँधे तो उसका तृतीय भाग शेष रहने पर बाधे। इसी प्रकार आगे भी समझें। यदि इस प्रकार किसी भी समय मे आयुष्य न बाँधे तो मरण के समय अन्तर्मुहूर्त मे भी बाँधता है पर ऐसा ना हो ही नही सकता कि बध किये बिना ही रह जाय। देव और नारक अपने वर्तमान आयुष्य के छ माह शेष रहने पर परभव के आयुष्य का बध करते हैं।

आयुष्य चार प्रकार का है, जिसका बंधन निम्नलिखित कारणों से होता है:—

(१) देवताओं का आयुष्य-जो आत्मा सराग संयम अथवा संयमासंयम (देश विरति) का पालन करे, अकाम निर्जरा करे, बाल तप करे, वह देवता के आयुष्य का बंध करता है। संपूर्ण कषाय छूटने से पहिले का चारित्र सराग संयम कहलाता है। देशविरति का अर्थ है संयमासंयम। अकाम निर्जरा अर्थात् अनिच्छापूर्वक सेवित कष्ट। बाल तप अर्थात् अज्ञानता पूर्वक किया हुआ तप। इस पर से यह सिद्ध होता है कि मनुष्य की संयम और तप की आराधना शुद्ध कोटि की हो तो वह उसे मोक्ष-प्राप्ति करा देती है, अन्यथा देवसुख की प्राप्ति तो अवश्य कराती है। अतः संयम की भावना रखकर उसके लिये शुद्ध प्रयास करना वांछनीय है।

(२) मनुष्य का आयुष्य-जो आत्मा अल्पारंभी अर्थात् अल्प हिंसक होता है, अल्प परिग्रही अर्थात् कम परिग्रह से-जीवन निर्वाह के अल्प साधनों से संतोष मानने वाला होता है, प्रकृति से ऋजु अर्थात् सरलता धारण करने वाला और मृदु अर्थात्-नम्रतायुक्त होता है, वह मनुष्य का आयुष्य बाँधता है।

(३) तिर्यंच का आयुष्य-जो आत्मा माया अर्थात्-छल कपट का सेवन करता है, वह तिर्यंच का आयुष्य बांधता है।

(४) नरकायुष्य-जो आत्मा बहुत हिंसा करता है, बहुत परिग्रह रखता है अथवा महा हिंसा या महा परिग्रह की वृद्धि रखता है और रुद्र अर्थात् भयंकर परिणाम रखता है, वह नरक के आयुष्य का बंध करता है। इस पर से यह समझना चाहिये कि हिंसा और परिग्रह इन दो वस्तुओं से आत्मा,

का भविष्य अन्धकारमय बन जाता है और वह सन्देहित और प्रकम्पित हुआ सा अनुभव करता है।

नाम कर्म

जिस कर्म के फलस्वरूप आत्मा नाम रूप अर्थात् शरीरादि धारण करता है वह नाम कर्म कहलाता है। यह कर्म चित्रकार जैसा है। चित्रकार जैसे भिन्न २ जाति के चित्रों का निर्माण करता है, उसी प्रकार नाम कर्म भी आत्मा के धारण करने के भले-बुरे रूप, रंग, अवयव, तथा यश, अपयश, सौभाग्य, दुर्भाग्य आदि का निर्माण करता है।

नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ १०३ हैं। उनकी गणना इस प्रकार होती है —

चौदह पिंड प्रकृति के उत्तर भेद	७५
प्रत्येक प्रकृति	८
स्थावर दशक	१०
त्रस दशक	१०
	१०३

जिसमें दो, तीन अथवा अधिक प्रकृतियाँ संयुक्त हों, वह पिंडप्रकृति। उसके मूल भेद चौदह और उत्तर भेद ७५ हैं, जो इस प्रकार हैं —

मूल भेद	उत्तर भेद
१ गति	४
२ जाति	५
३ शरीर	५
४ उपांग	३
५ बंधन	१५

६. संघातन	५
७. संहनन	६
८. संस्थान	६
९. वर्ण	५
१०. रस	५
११. गंध	२
१२. स्पर्श	८
१३. आनुपूर्वी	४
१४. विहायोगति	२
योग	७५

गति—एक भव में से दूसरे भव में लेजाने वाला कर्म गति नाम कर्म होता है। इसके चार प्रकार हैं:—(१) नरक गति नाम कर्म (२) तिर्यञ्च गति नाम कर्म (३) मनुष्य गति नाम कर्म (४) देव गति नाम कर्म। इसका अर्थ इस प्रकार समझें कि जो आत्मा नरक का आयुष्य बांधता है, वह नरक गति नाम कर्म भी अवश्य बांधता है। आयुष्य नरक का बांधे और गति नाम कर्म अन्य बांधे ऐसा नहीं होता। परन्तु नरक गति बांधे तब आयुष्य न भी बांधे। चारों प्रकार के आयुष्य के विषय में ऐसा ही समझें।

जाति—जो कर्म आत्मा के लिये अमुक जाति निर्माण करे वह जाति कर्म। इसके ५ प्रकार हैं (१) एकेन्द्रिय जाति, (२) द्वीन्द्रिय जाति, (३) त्रीन्द्रिय जाति, (४) चतुरिन्द्रिय जाति और (५) पंचेन्द्रिय जाति।

इन्द्रियाँ सब मिलकर पाँच हैं और पाँच ही रहेंगी। आधुनिक काल में कई

इन्द्रिय, आदि शब्दों का प्रयोग करते है परन्तु उसे औपचारिक समझें जिन्हें छठी इन्द्रिय आदि कहते है, वे आत्मा की विशिष्ट शक्तियाँ हैं न कि इन्द्रियाँ। इतनी बात याद रखने से जाति की सख्या के सबध मे किसी शका को अवकाश नही रहेगा।

शरीर—शरीर शब्द का सामान्य अर्थ तो है 'शीर्यते इति शरीरम्' जो सड जाय, गिर जाय वह शरीर, परन्तु यहाँ शरीर शब्द से जीव के क्रिया करने का एक प्रकार का साधन-ऐसा अर्थ समझे। सिद्ध जीवो के शरीर नही होता अत वे अशरीरी कहलाते है। ससारी जीवो के शरीर अवश्य होता है। इस शरीर के भिन्न २ अपेक्षा से अनेक भेद किये जा सकते है, परन्तु कार्य कारण आदि की समानता को लक्ष्य मे रख कर जैन शास्त्रकारो ने उसके पाच प्रकार किये है—(१) औदारिक (२) वैक्रिय (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्मण।

जो शरीर उदार (वडे) परमाणुओ से निर्मित हो अथवा जो सर्व शरीरो से वडे परिमाणवाला होने से अथवा केवल-ज्ञान और मोक्ष जैसे उत्तम लाभ इस शरीर की सहायता से ही मिल सकने के कारण वह औदारिक कहलाता है। मनुष्य पशु, पक्षी, कीडे मकोडे आदि तथा पृथ्वीकायादि तिर्यचो के जो शरीर दृष्टिगोचर होते है, वे औदारिक है।

जो शरीर विक्रिया को प्राप्त कर सकता है, अर्थात् छोटा वडा अथवा दृश्य अदृश्य, एक-अनेक हो सकता है और विभिन्न रूप धारण कर सकता है वह वैक्रिय कहलाता है। देव तथा नरक के जीवो का ऐसा शरीर होता है। मनुष्य और तिर्यंच भी कभी २ तपोजन्य वैक्रिय लब्धि द्वारा ऐसा शरीर बना

सकते हैं।

जो शरीर अव्याघाती विशुद्ध पुद्गलों का बना हुआ होता है वह आहारक कहलाता है। ऐसा शरीर जो किसी चतुर्दश पूर्वधर अर्थात् चौदहपूर्व नामक महान् शास्त्र के ज्ञाता मुनि के ही होता है और तीर्थंकर की ऋद्धि देखने के लिये अथवा अपनी सूक्ष्म शंकाओं का निवारण करने के लिये उन्हें जब केवली भगवंत के पास जाना होता है तभी वे उसे धारण करते हैं।

जो शरीर तैजस् अर्थात् उष्मापरिणाम वाले पुद्गलों से बना हुआ होता है वह तैजस कहलाता है। आहार का पाचनादि करने में वह उपयोगी होता है।

आत्मा द्वारा धारण किया हुआ कर्म का समूह कार्मण शरीर कहलाता है।

अन्तिम दोनों शरीर प्रत्येक संसारी आत्मा के अवश्य होते हैं और आत्मा जब एक गति में से अन्य गति में जाता है तब भी वे साथ जाते हैं। तात्पर्य यह है कि हमारा औदारिक शरीर यहाँ पड़ा रहता है, परन्तु उसमें रहे हुए तैजस और कार्मण नामक शरीर यहाँ पड़े नहीं रहते। कार्मण शरीर को वासना-शरीर भी कह सकते हैं, क्योंकि सभी वासनाएँ कर्म रूप में उसी में होती हैं।

इन पाँचों शरीरों के स्वरूप के सम्बन्ध में जैन शास्त्रों में गहराई से विचार किया गया है और उसके लिये विशेष अध्ययन की आवश्यकता है।

जिसके कारण शरीर की प्राप्ति होती है वह शरीरनाम-कर्म कहलाता है।

उपांग (अगोपाग)—शरीर को अग कहते हैं, उसके अवयवो को उपाग कहते हैं। कुछ लोग शरीर के अग, उपाग और अगोपाग एसे तीन भेद भी बताते हैं, परन्तु यहाँ योजित उपाग शब्द में तो सभी का अन्तर्भाव हो जाता है। औदारिकादि शरीरा के अगोपागा की रचना इस उपागनामकर्म द्वारा होती है, अत यहाँ उपाग नाम कर्म को भिन्न माना गया है। उपाग के तीन प्रकार हैं औदारिक उपाग, वैक्रिय उपाग और आहारक उपाग। तैजस और कार्मण शरीर के उपाग नहीं होते।

बधन—प्रथम गृहीत औदारिक आदि पुद्गलो के साथ नवीन ग्रहण किये जाने वाले औदारिकादि पुद्गला का सबध करवाने वाला बधननामकर्म कहलाता है। इसके पन्द्रह प्रकार इस तरह गिने जाते है–(१) औदारिक-औदारिक-मिश्र, (२) औदारिक-तैजस (३) औदारिक-कार्मण, (४) औदारिक-तैजस-कार्मण, (५) वैक्रिय-वैक्रिय मिश्र, (६) वैक्रिय तैजस, (७) वैक्रिय कार्मण (८) वैक्रिय-तैजस कार्मण, (९) आहारक-आहारक मिश्र, (१०) आहारक-तैजस (११) आहारक-कार्मण (१२) आहारक तैजस कार्मण (१३) तैजस-तैजस मिश्र (१४) तैजस कार्मण और (१५) कार्मण-कार्मण।

सघातन—गृहीत औदारिकादि पुद्गला को शरीर मे अपने अपने स्थान पर एकत्रित करने वाले कर्म का सघातन नाम कर्म कहते हैं। हँसिया जैसे घास के समूह को इकट्ठा करता है, वैसे ही सघातन नाम कर्म औदारिकादि पुद्गला को इकट्ठा करता है और अपने २ योग्य स्थानो मे जमाता है। इसके पाच प्रकार हैं—(१) औदारिकसघातन नाम कर्म (२) वैक्रियसघातन नाम कर्म (३) आहारकसघातन नाम

कर्म (४) तैजससंघातन नाम कर्म और (५) कार्मणसंघातन नाम कर्म।

संहनन (संघयण)—संहनन अथवा संघयण का अर्थ 'अस्थिबंध की विशेष रचना' होता है। यह रचना प्रत्येक शरीर में समान नहीं होती अतः इसे कर्म की उत्तर प्रकृति मानी गई है। संहनन छः प्रकार के होते हैं:—(१) वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन–जिस जोड़ में मर्कट बंध, उसके चारों ओर पट्टा और उसके बीच वज्र जैसी कील लगाई हुई होती है। (२) ऋषभ-नाराच-संहनन–जिसमें कील नहीं होती परन्तु मर्कट बंध और पट्टा होता है। (३) नाराच संहनन–जिसमें केवल मर्कट बंध होता है। (४) अर्ध नाराच संहनन–जिसमें अर्ध मर्कट बंध होता है। (५) कीलिका संहनन–जिसमें मर्कट बंध बिल्कुल नहीं होता परन्तु दो जोड़ कील से जुड़े हुए होते हैं। (६) सेवार्त संहनन–जिसमें दो जोड़ मात्र एक दूसरे से अटके हुए होते है। तीर्थंकर, शलाका पुरुष और चरम शरीर जीव प्रथम संहनन वाले होते हैं।

संस्थान—शरीर की आकृति को संस्थान कहते हैं इसके छः प्रकार हैं:–(१)समचतुरस्त्र–सभी अंग प्रमाणोपेत और लक्षणयुक्त। (२) न्यग्रोध परिमंडल–नाभि के ऊपर का भाग प्रमाणोपेत और लक्षणयुक्त परन्तु नीचे का भाग प्रमाण और लक्षण से रहित। न्यग्रोध अर्थात् वट वृक्ष। उसकी स्थिति ऐसी ही होती है अतः यहाँ इसकी उपमा दी गई है। (३) सादि–नाभि से नीचे के अंग प्रमाणोपेत और लक्षणयुक्त परन्तु ऊपर के अंग प्रमाण एवं लक्षण से रहित। (४) वामन-हाथ, पैर, मस्तक, ग्रीवा प्रमाणोपेत एवं लक्षणयुक्त परन्तु अन्य

जो प्रकृति पिंड रूप नहीं, परन्तु अकेली होती है उसे प्रत्येक प्रकृति कहते हैं। उनके आठ प्रकार हैं–(१) अगुरुलघु (२) उपघात, (३) पराघात, (४) आतप, (५) उद्योत, (६) श्वासोच्छ्वास (७) निर्माण और (८) तीर्थंकर।

अगुरुलघु नाम कर्म–जिसके उदय से आत्मा अति भारी भी नहीं और बहुत हल्का भी नहीं, ऐसा शरीर प्राप्त करता है वह अगुरुलघु कर्म।

उपघात नाम कर्म–जिसके उदय से आत्मा प्रतिजिह्वा, चोर दांत, छठी उंगली, आदि उपघातकारी अवयवों को प्राप्त करता है, वह उपघात नाम कर्म।

पराघात नाम कर्म–जिसके उदय से आत्मा दर्शन अथवा वाणी द्वारा दूसरे का पराघात कर सकता है अर्थात् अपना प्रभाव डाल सकता है, वह पराघात नाम कर्म।

आतप कर्म–अनुष्ण शरीर में उष्ण प्रकाश का नियामक कर्म आतप कर्म कहलाता है। सूर्य के विमान के बाहर रत्न हैं वे पृथ्वीकाय के जीव हैं, उनका शरीर शीतल होते हुए भी दूर से वे दूसरे को गर्मी देते हैं, उनके यह आतप नाम कर्म का उदय जानें।

उद्योत नाम कर्म–शीत प्रकाश का नियामक कर्म उद्योत नामकर्म कहलाता है। ज्योतिष्क के विमान के रत्नों के जीव इस प्रकार के होते हैं तथा जुगनू और कई वनस्पतिकाय जीव भी इस प्रकार के होते हैं।

श्वासोच्छ्वास नाम कर्म–इस कर्म के उदय से जीव को श्वासोच्छ्वास (ऊँचा श्वास और नीचा श्वास) के योग्य पुद्गल ग्रहण करने की अनुकूलता प्राप्त होती है।

निर्माण नाम कर्म–इस कर्म के उदय से जीव जिस स्थान पर जो अंगोपांग होने चाहियें उनकी तदनुसार योजना करता है।

तीर्थंकर नाम कर्म–जो जीव केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जिनसे भवसागर को पार किया जा सकता है ऐसे श्रुतधर्म चारित्र धर्म के आधार रूप साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ रूपी तीर्थ की स्थापना करते हैं, वे तीर्थंकर कहलाते हैं। ऐसे तीर्थंकरपन की प्राप्ति इस कर्म के उदय से होती है।

स्थावरदशक और त्रसदशक ये दोनों प्रतिपक्षी हैं अतः उनका विचार साथ में करना ही उपयुक्त होगा। स्थावर नाम कर्म से प्रारंभ होने वाली १० कर्म प्रकृतियाँ स्थावरदशक और त्रस नाम कर्म से प्रारंभ होने वाली १० कर्म प्रकृतियाँ त्रसदशक कहलाती हैं।

स्थावर नाम कर्म–इस कर्म के उदय से जीव को स्थावरपन की प्राप्ति होती है, अर्थात् वह एक स्थल से अन्य स्थल में स्वेच्छापूर्वक गमनागमन नहीं कर सकता। पृथ्वीकाय अप्काय तेजस्काय वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव इस प्रकार के है।

त्रसनामकर्म—से जीव को त्रसपना प्राप्त होता है। वह स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकता है। स्थावर को छोडकर शेष जीव त्रस है।

सूक्ष्म नाम कर्म–इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है जो एक या अनेक इकट्ठे हो, तब भी किसी भी इन्द्रिय द्वारा जाने नही जासकते। बादर नामकर्म

के उदय से जीव बादर शरीर की प्राप्ति करता है जो एक या अनेक संयुक्त होकर इन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं।

अपर्याप्त नाम कर्म–इस कर्म के उदय से जीव अपने प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी नहीं कर सकता। पुद्गल में रही हुई परिगमन शक्ति को उपयोग में लेने की जीव की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। ऐसी पर्याप्तियां छः हैं:– (१) आहार पर्याप्ति, (२) शरीर पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, (५) भाषा पर्याप्ति, (६) मनः पर्याप्ति। कोई भी जीव नवीन भव धारण करता है तब आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति ये तीन पर्याप्तियाँ तो पूरी करता ही है, जब कि शेष तीन में से यथायोग्य पूर्ण करता या नहीं भी करता। इसीलिये जीव के अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे दो भेद किये गये हैं। पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव अपने प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी करता है।

साधारण नाम कर्म–के उदय से अनंत जीवों का एक साधारण शरीर होता है और प्रत्येक नाम कर्म से प्रत्येक जीव का अपना स्वतंत्र शरीर होता है।

अस्थिर नाम कर्म–के उदय से अपने स्थान पर रहे हुए अवयव अस्थिर होते हैं जैसे–जीभ, अंगुली, हाथ, पैर आदि। और **स्थिर नामक कर्म** के उदय से अपने स्थान पर रहे हुए अवयव स्थिर-दृढ़ रहते हैं जैसे दांत, हड्डियां आदि।

अशुभ नाम कर्म–के उदय से उत्तम माने जाते मस्तक, हाथ आदि अवयवों का स्पर्श दूसरों को अप्रिय लगता है और **शुभ नाम कर्म** के उदय से मस्तक, हाथ आदि शरीर के अवयवों

निर्माण नाम कर्म इस कर्म के उदय से जीव जिस स्थान पर जो अंगोपांग होने चाहिए उनकी तदनुसार योजना करता है।

तीर्थंकर नाम कर्म—जो जीव केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जिनसे भवसागर को पार किया जा सकता है ऐसे श्रुतधर्म चारित्र धर्म के आगार रूप साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इस चतुर्विध संघ रूप तीर्थ की स्थापना करते हैं वे तीर्थंकर कहलाते हैं। इस तीर्थंकरपन की प्राप्ति इस कर्म के उदय से होती है।

स्थावरदशक और त्रसदशक ये दोनों प्रतिपक्षी हैं अतः इनका विचार साथ में करना ही उपयुक्त होगा। स्थावर नाम कर्म से प्रारम्भ होने वाली १० कर्म प्रकृतियाँ स्थावरदशक और त्रस नाम कर्म से प्रारम्भ होने वाली १० कर्म प्रकृतियाँ त्रसदशक कहलाती हैं

स्थावर नाम कर्म इस कर्म के उदय से जीव को स्थावरपन की प्राप्ति होती है अर्थात् वह एक स्थल से अन्य स्थान में स्वेच्छापूर्वक गमनागमन नहीं कर सकता। पृथ्वीकाय अप्काय तेजसकाय वायुकाय और वनस्पतिकाय के जीव इस प्रकार के हैं।

त्रसनामकर्म —से जीव को त्रसपना प्राप्त होता है। वह स्वेच्छा से एक स्थान से दूसरे स्थान में गमनागमन कर सकता है स्थावर को छोड़कर शेष जीव त्रस हैं।

सूक्ष्म नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव को ऐसा सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है जो एक या अनेक इकट्ठे हों तब भी किसी भी इंद्रिय द्वारा जाने नहीं जासकते। बादर नामकर्म

के उदय से जीव बादर शरीर को प्राप्ति करता है जो एक या अनेक संयुक्त होकर इन्द्रिय द्वारा जाने जा सकते हैं।

अपर्याप्त नाम कर्म—इस कर्म के उदय से जीव अपने प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी नहीं कर सकता। पुद्गल में रही हुई परिगमन शक्ति को उपयोग में लेने की जीव की शक्ति को पर्याप्ति कहते हैं। ऐसी पर्याप्तियां छः हैं:— (१) आहार पर्याप्ति, (२) शरीर पर्याप्ति, (३) इन्द्रिय पर्याप्ति, (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, (५) भाषा पर्याप्ति, (६) मनः पर्याप्ति। कोई भी जीव नवीन भव धारण करता है तब आहार पर्याप्ति, शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति ये तीन पर्याप्तियाँ तो पूरी करता ही है, जब कि शेष तीन में से यथायोग्य पूर्ण करता या नहीं भी करता। इसीलिये जीव के अपर्याप्त और पर्याप्त ऐसे दो भेद किये गये हैं। पर्याप्त नाम कर्म के उदय से जीव अपने प्राप्त करने योग्य पर्याप्ति पूरी करता है।

साधारण नाम कर्म—के उदय से अनंत जीवों का एक साधारण शरीर होता है और प्रत्येक नाम कर्म से प्रत्येक जीव का अपना स्वतंत्र शरीर होता है।

अस्थिर नाम कर्म—के उदय से अपने स्थान पर रहे हुए अवयव अस्थिर होते हैं जैसे—जीभ, अंगुली, हाथ, पैर आदि। और **स्थिर नामक कर्म** के उदय से अपने स्थान पर रहे हुए अवयव स्थिर-दृढ़ रहते हैं जैसे दांत, हड्डियां आदि।

अशुभ नाम कर्म—के उदय से उत्तम माने जाते मस्तक, हाथ आदि अवयवों का स्पर्श दूसरों को अप्रिय लगता है और **शुभ नाम कर्म** के उदय से मस्तक, हाथ आदि शरीर के अवयवों

का स्पर्श दूसरों के लिये प्रीति का कारण होता है।

दुस्वर नाम कर्म–के उदय से स्वर कर्कश और अरुचिकर होता है तथा **सुस्वरनाम कर्म** के उदय से स्वर मधुर और सुखदायक होता है।

दुर्भग नामकर्म–के उदय से जीव सबको अप्रिय लगता है और **सुभग नाम कर्म** के उदय से सब को प्रिय लगता है।

अनादेय नाम कर्म–के उदय से जीव के वचन अन्य व्यक्तियों द्वारा मान्य नहीं होते जब कि **आदेय नाम कर्म**–के उदय से उसके वचन अन्य जनों द्वारा मान्य होते हैं।

अयश कीर्ति नाम कर्म के उदय से जीव चाहे जितना काम करे फिर भी उस यश अथवा कीर्ति की प्राप्ति नहीं होती और **यश कीर्ति नाम कर्म** के उदय से जीव थोड़ा कार्य करके भी यश कीर्ति पाता है। मर्यादित क्षेत्र मे विस्तृत होती है उसे कीर्ति और अमर्यादित क्षेत्र म विस्तार पाये उसे यश कहते हैं।

नाम कर्म के शुभ और अशुभ दो भाग हैं। इनमें शुभ नाम कर्म से सभी वस्तुएं शुभ मिलती है और अशुभ नाम कर्म से सभी वस्तुएँ अशुभ मिलती है।

जो जीव मन, वचन और काया की प्रवृत्ति मे एकसूत्रता रखते हैं और किसी प्रकार का दंभ नहीं करते, तथा रस-ऋद्धि-सातागारव (मद) रहित और संसारभीरु, क्षमा मार्दवादि गुण युक्त होते हैं उनके शुभ नाम कर्म का बंध होता है और जो जीव इससे विपरीत वर्ताव करते हैं, उनके अशुभ नाम कर्म का बंध होता है।

दर्शनविशुद्धि विनय-सम्पन्नता आदि बीस स्थानकों मे से

एक दो या अधिक स्थानकों को स्पर्श करने वाला तीर्थंकर नाम कर्म का वंध करता है।

गोत्र कर्म–जिसके कारण जीव को उच्चता, नीचता की प्राप्ति होती है, वह गोत्र कर्म कहलाता है। इसके दो प्रकार हैं (१) उच्च गोत्र और (२) नीच गोत्र। ख्यातिवान् कुलीन वंश में जन्म दिलानेवाला उच्च गोत्र कहलाता है और अख्यात अथवा निंद्य कुल में जन्म दिलानेवाला नीच गोत्र कहलाता है। तात्त्विक दृष्टि से जहाँ जन्म होने से सदाचार और संस्कृति का वातावरण प्राप्त होता है वह उच्च गोत्र और इससे विपरीत नीच गोत्र।

उच्च गोत्र का वंध निम्न लिखित कारणों से होता है—

(१) अपनी त्रुटियों का अवलोकन करके आत्मा को दोष देने से।
(२) दूसरों के सद्गुणों की प्रशंसा करने से।
(३) किसी के सद्गुणों को कहकर वताने से, दूसरों का उत्कर्ष करने से।
(४) किसी के दुर्गुणों को ढँकने से।
(५) विनय और नम्रता दिखाने से।
(६) मदरहित होने से।
(७) पठन-पाठन की प्रवृत्ति रखने से।

इससे विपरीत आचरण करने से नीच गोत्र वंध होता है।

अंतराय कर्म–जिस कर्म के कारण आत्मा को शक्ति में अंतराय हो उसे अंतराय कर्म कहते हैं। इसके पाँच प्रकार होते हैं–(१) दानांतराय (२) लाभांतराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय।

जिसक उदय न दान दन की सामग्रा विद्यमान होते हुए भी तथा योग्य पात्र की उपस्थिति म भा देने की भावना न हो वह दानान्तराय कहलाता है। जिसके उदय से बुद्धिपूवक श्रम करते हुए भी लाभ होने म बाधा पड जाय वह लाभात राय। जिसक उदय म प्राप्त भोग्य वस्तु का भी भोग न किया जा सक वह भोगा तराय और जिसक उदय से उपभोग्य वस्तु का उपभोग न किया जा सके वह उपभोगा तराय। इसी प्रकार जिसक उदय से शक्ति होत हुए भी काम न किया जा सके वह वार्या तराय।

अ तराय कम का बध निम्न लिखित कारणो से होता है—

(१) जिन पूजा का निषध करन म।
(२) हिंसा असत्य चोरी मथुन और परिग्रह म रत रहन मे।
(३) रात्रि भोजन म रत रहन स।
(४) मोक्षमाग म दोष बनाकर विघ्न डालने स।
(५) साधुओं का आहार पाना उपाश्रय उपकरण औषधि आदि देने का निषध करन स।
(६) अ य जीवो के दान लाभ भोग–उपभोग म अतराय करने से।
(७) मत्रादि के प्रयोग म अ य का वीय नष्ट करने से।
(८) छेदन भेदनादि स दूसरा की इन्द्रिया की शक्तिया का नाश करने स।

कर्म प्रकृति म घाती अघाती का विभाग—

आठ कर्मों मे स ज्ञानावरणीय दशनावरणीय मोहनीय, और अन्तराय ये चारो कम घाती कम कहलाते हैं क्योकि वे

आत्मा के मुख्य गुण-ज्ञान, दर्शन, क्षयिक सम्यक्त्व और चारित्र तथा वीर्य का घात करते हैं। शेष चार कर्म वेदनीय, आयुष्य, नाम और गोत्र अघाती कहलाते हैं, क्योंकि वे आत्मा के मुख्य गुणों का स्वतन्त्र रूप में घात नहीं करते।

आत्मा का वास्तविक संघर्ष घाती कर्मों के साथ और विशेषतः मोहनीय कर्म के साथ ही है। मोह के क्षय के साथ घाती कर्म दूर हो जाने पर केवलज्ञान तथा केवल दर्शन प्रकट होते हैं तथा क्षायिक सम्यक्त्व, वीतरागत्व एवं अनन्त शक्ति का उद्भव होता है। घाती कर्मों को जीतने वाला अन्त में शेष चार कर्मों का भी अवश्य नाश करता है और मोक्ष में जाता है।

कर्म प्रकृति में शुभाशुभ का व्यवहार—

तात्विक दृष्टि से तो सभी कर्म अशुभ हैं, क्योंकि वे मोक्ष प्राप्ति में अंतराय पैदा करते हैं, परन्तु व्यवहार में सभी घाती कर्म अशुभ हैं और अघाती कर्मों में शुभ, अशुभ दो विभाग हैं।

सामान्यतः जिस कर्म का उदय जीव को रुचिकर हो, वह शुभ कर्म कहलाता है, और जिसका उदय अरुचिकर हो, वह अशुभ कर्म माना जाता है। उदाहरणार्थ तिर्यंच को तिर्यंच गति का उदय अरुचिकर लगता है, तो वह अशुभ कर्म है, परन्तु आयुष्य अर्थात् जीना रुचिकर लगता है तो तिर्यंच आयुष्य कर्म शुभ कर्म है।

(१) ज्ञानावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ ५ हैं जो सभी अशुभ हैं।

(२) दर्शनावरणीय कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ नौ हैं। इन्हें

भी अशुभ समझें।

(३) वेदनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां २ है। उनमें से शातावेदनीय[11] शुभ है और अशातावेदनीय अशुभ है।

(४) मोहनीय कर्म की उत्तर प्रकृतियां २८ हैं। उनमे दर्शन मोहनीय की उत्तर प्रकृतिया ३ है, परन्तु बन्ध तो मात्र मिथ्यात्व मोहनीय का ही होता है, फिर उसके तीन विभाग हो जाते है सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, और मिथ्यात्व मोहनीय। अत शुभाशुभ की गणना करते समय उसकी २६ प्रकृतिया गिनी जाती है। ये २६ प्रकृतियां अशुभ है।

(५) आयुष्य कर्म की उत्तर प्रकृतियां ४ है। उनमे देव[2] मनुष्य[3] और तिर्यञ्च का आयुष्य[4] शुभ माना जाता है, क्योकि उन्हे अपना जीवन प्रिय होता है। नारकीय जीव मरना चाहते है, अत उनका आयुष्य अशुभ गिना जाता है।

(६) नाम कर्म की उत्तर प्रकृतियां १०३ है। उनमे शुभाशुभ की गणना के समय वर्ण, गध रस, स्पर्श की कुल २० प्रकृतिया मे से शुभ वर्ण, अशुभ वर्ण, इस प्रकार ८ प्रकृतिया मानी जाती है। १५ बधन और ५ सघातन कर्मों की गणना बध मे नही होती, अत उनकी गणना यहा नही की जाती। इस प्रकार ३२ प्रकृतियाँ घटाने पर ७१ प्रकृतियाँ ही गिनती मे ली जाती है। उनमे से निम्नलिखित प्रकृतियो को शुभ गिन। (शाता वेदनीय १ + आयु ३ = ४ शुभ गिनी हैं अब आगे नाम कर्म म) देवगति,[5] मनुष्य गति,[6] पचेन्द्रिय जाति,[7] पाच शरीर[8 12] औदारिकादि तीन उपाग,[13 15] वज्र-ऋषभ नाराच सहनन,[16] समचतुरस्र सस्थान,[17] प्रशस्त वर्ण, रस, गध, स्पर्श[18 21] देव तथा मनुष्य सबधी आनुपूर्वी[22 23],

प्रशस्त विहायोगति,[२४] अगरुलघु,[२५] पराघात,[२६] आतप,[२७] उद्योत,[२८] उच्छ्वास,[२९] निर्माण,[३०] तीर्थंकर नाम कर्म,[३१] त्रस,[३२] बादर,[३३] पर्याप्ति,[३४] प्रत्येक,[३५] स्थिर,[३६] शुभ,[३७] सुस्वर[३८] सुभग,[३९] आदेय,[४०] यशःकीर्ति[४१]

नाम कर्म की शेष प्रकृतियां अशुभ मानी जाती हैं।

(७) गोत्र कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ २ है। उनमें उच्च गोत्र[४२] शुभ माना जाता है और नीच गोत्र अशुभ गिना जाता है।

(८) अंतराय कर्म की उत्तर प्रकृतियां ५ हैं। वे सब अशुभ है।

इस प्रकार शुभाशुभ की गणना के योग्य १२४ प्रकृतिओं में से ४२ शुभ है। (जो ऊपर अंक रखकर प्रदर्शित की गई हैं) और शेष ८२ अशुभ है।

कर्मों की स्थिति

आत्म प्रदेशों के साथ कार्मण वर्गणाओं का जब संबंध होता है, तत्क्षण कर्म की स्थिति का निर्माण हो जाता है।

स्थिति अर्थात् काल मर्यादा। वह तीन प्रकार की होती है:—(१) जघन्य (२) मध्यम और (३) उत्कृष्ट। लघुतम स्थिति को जघन्य कहते हैं, अधिकतम स्थिति को उत्कृष्ट कहते हैं और जो इन दोनों के बीच की होती है उसे मध्यम कहते हैं।

आठ कर्मो की जघन्य और उत्कृष्ट स्थिति निम्न प्रकार से होती है।[११]

कर्म	जघन्य स्थिति	उत्कृष्ट स्थिति
१ ज्ञानावरणीय	अंतर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम-

दर्शनावरणीय	अन्तर्मुहूर्त	३० कोटाकोटि सागरोपम
वेदनीय	बारह मुहूर्त	"
४ मोहनीय	अन्तर्मुहूर्त	७० कोटाकोटि सागरोपम
५ आयुष्य		३३ सागरोपम
६ नाम	आठ मुहूर्त	२० कोटाकोटि सागरोपम
७ गोत्र		"
८ अन्तराय	अन्तर्मुहूर्त	३० "

सागरोपम का परिमाण इस प्रकरण के अजीव तत्त्व में काल का वर्णन करते समय बता दिया गया है, उसके आधार पर पता चलेगा कि कर्म की यह काल मर्यादा कितनी लम्बी होती है। सरल भाषा में कहना हो तो ऐसा कह सकते हैं कि कर्म करोड़ों अरबों वर्षों तक आत्मा का पीछा नहीं छोड़ते। वे उसके साथ लगे रहते हैं और अपनी प्रकृति के अनुसार उसको शुभ अथवा अशुभ फल प्रदान करते हैं।

देव आयुष्य की उत्कृष्ट स्थितिबंध ३३ सागरोपम का बताया है जो सर्वार्थसिद्ध विमानवासी जीव तथा सातवीं नरक के जीवों का होता है।

कर्म का अनुभाग

कर्मों का फल एक प्रकार का नहीं होता। मुख्यतः कर्म के शुभ अशुभ दो विभाग होते हैं। उनमें भी बहुत तरतमता होती है। कोई कर्म अति तीव्र फल देता है कोई कम तीव्र फल देता है कोई मध्यम फल देता है तो कोई सामान्य फल देता है। फल की यह तीव्रता-मंदता अनुभाग अथवा रस के आधार पर निश्चित होती है, अर्थात् आत्म-प्रदेशों के साथ कार्मण वर्गणाओं का जब सम्बन्ध होता है तब जैसा अध्यवसाय

चलता हो, उसके अनुसार उनमें शुभ-अशुभ, तीव्र-मंद फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है।

अध्यवसायों की तरतमता को लेश्या कहते हैं। ये लेश्याएं छः प्रकार की हैं: (१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४)पीत, (५)पद्म, और (६)शुक्ल[१२]। यहां प्रश्न किया जा सकता है कि 'अध्यवसायों का वर्गीकरण करने में रंगों का आश्रय क्यों लिया गया है?' इसका उत्तर यह है कि अध्यवसायों की तीव्रता-मन्दता के अनुसार शरीर में से एक प्रकार का पुद्गल प्रवाहित होता है और उसमें ऐसे रंग की झलक पड़ती है। आजीविक सम्प्रदाय में पुरुषों की आठ अभिजातियाँ रंग के आधार पर ही निश्चित की गई थीं। आधुनिक काल में "थियोसोफी" के नाम से प्रसिद्ध सम्प्रदाय भी इस सिद्धान्त को मानता है और उसने इस विषय में कुछ साहित्य प्रकाशित किया है। नूतन मनोविज्ञान, जो मनुष्य के विचार-भावना आदि का गहन अध्ययन करता है, वह भी इस इस मत का प्रतिपादन करता है और अब तो पदार्थविज्ञान वाले भी अर्थात् भौतिक शास्त्री भी इस सिद्धान्त को मानने लगे हैं। डा० गुथोन रिचार्डस ने 'दी चेन ऑफ लाइफ' (The chain of Life) नामक पुस्तक में एक ऐसे विद्युत-संचालित यन्त्र का वर्णन किया है जिसका मानव शरीर के साथ संबंध करने पर उसके अन्दर चलते हुए मनोमंथनों-अध्यवसायों के अनुसार यंत्र के दूसरे सिरे पर विभिन्न रंग की चमक दिखाई देती है और उसके आधार पर मानव की आन्तरिक स्थिति का पता चलता है।

जैन शास्त्रों ने लेश्याओं का स्वरूप समझाने के लिये

जामुन के वृक्ष और छ पुरुषों का उदाहरण दिया है जो अत्यन्त मार्मिक है।

यात्रा करते हुए छ पुरुष एक जामुन के वृक्ष के समीप आये। उनमें से पहिले ने कहा, 'इस जामुन के वृक्ष को गिरा दे तो मन चाहे फल खा सकते है। दूसरे ने कहा, "सारे वृक्ष को गिराने की क्या आवश्यकता है? उसकी, एक विशाल डाली को तोड दे तब भी हमारा काम चल सकता है।" तीसरा बोला– अरे भाइयो! विशाल डाली को भी गिराने की आवश्यकता नही, उसकी एक छोटी शाखा भी तोड ले तो काम चल जाएगा।' चौथा बोला, 'इसमें शाखा प्रशाखा तोडने की भी कहाँ आवश्यकता है? अपने तो उनमें से फल के ही गुच्छों को ही तोड ले।' पांचवां बोला 'मुझे तो यह भी नहीं जचता। यदि हम जामुन ही खाने है तो मात्र जामुन ही क्यो न चुन ले?' इस पर छठा व्यक्ति बोला, 'मित्रो' मेरा मत आप सब से भिन्न ही है। यदि भूख शान्त करनी हो तो यहाँ ताजे जामुन गिरे पडे हैं, उन्हे ही क्या न उठा लें? हमारी भूख उनमें अवश्य शान्त हो जायगी।

यहां पहले पुरुष के अध्यवसाय अति अशुभ अर्थात् तीव्रतम होने से उसे कृष्ण लेश्या समझें। दूसरे पुरुष के अध्यवसाय तीव्रतर अशुभ होने से उसे नील लेश्या समझें। तीसरे पुरुष के अध्यवसाय तीव्र अशुभ होने से उसे कापोत लेश्या समझें। चौथे पुरुष के अध्यवसाय शुभ होने से उसे पीत लेश्या समझें। पांचवे पुरुष के अध्यवसाय शुभतर होने से उसे पद्म लेश्या समझे और छठे पुरुष के अध्यवसाय शुभतम–अधिक पवित्र होने से उसे शुक्ल लेश्या समझें।

इनमें से प्रथम तीन लेश्याएं तीव्र होने से अशुभ हैं और अन्तिम तीन लेश्याएँ मंद होने से शुभ हैं। कृष्ण से शुक्ल तक का क्रम उत्तरोत्तर शुद्ध है।

लेश्याओं के रस, गंध और स्पर्श का वर्णन भी जैन शास्त्रों ने अति सूक्ष्मता पूर्वक किया है।[13]

अनुभाग या रस का यह विभाग हमें यह सूचित करता है कि कर्म बंधन जैसे भाव में किया हो, वैसे ही भाव में उसका उदय होता है, अतः मन के परिणाम सदा कोमल रखने चाहिये। कोई भी कार्य निर्दयता पूर्वक अथवा निर्ध्वंस परिणाम पूर्वक नहीं करना चाहिये।

सत्ता, उदय और अबाधा काल

जब तक कर्म आत्मा के साथ लगा रहता है, तब तक वह सत्ता में गिना जाता है और जब कर्म अपना फल देने लगता है, तब उसका उदय माना जाता है। यदि शुभ कर्म का उदय हो तो सब अच्छा होने लगता है और उलटे डाले हुए पासे भी सीधे पड़ते हैं, जब कि अशुभ कर्म का उदय होने पर सब कुछ बुरा होने लगता है, और सुयोजित उपाय भी निष्फल सिद्ध होते हैं। ऐसे समय बुद्धि में भी प्रायः विफलता उत्पन्न होती है और इससे अकरणीय भी करणीय लगता है तथा करणीय वस्तु करने की इच्छा नहीं होती। 'बुद्धिः कर्मानुसारिणी' इस उक्ति में बहुत सत्य है और इससे कर्म के प्रभाव का हमें पता चलता है।

जैन साहित्य में निम्नलिखित श्लोक प्रसिद्ध है—

नीचैर्गोत्रावतारश्चरमजिनपतेर्मल्लिनाथेऽबलात्व-
मान्ध्यं श्री ब्रह्मदत्तेऽभ्भरतनपजयः सर्वनाशस्तु कृष्णे।

निर्वाणि नारदे पि प्रशमपरिणति स्याच्चिलातीसुते वा,
श्रेणारयादवस्तनुर्जयति विजयिनी कर्मनिर्माणशक्ति ॥
चरम जिनपति अर्थात् श्री महावीर स्वामी को नीच गोत्र में (ब्राह्मण कुल में) अवतरित होना पड़ा था, श्री मल्लिनाथ को अबलापन प्राप्त हुआ था, श्री ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती की आखें अंधी होगई थी, भरत जैसा महान् चक्रवर्ती अपने भाई द्वारा पराजित हुआ था और श्रीकृष्ण का सर्वनाश हुआ था। नारद जैसा का निर्वाण हुआ और चिलातीपुत्र जैसे एक समय के महा दुष्ट के हृदय में प्रशम-भाव प्रकट हुआ। इस प्रकार लोगों को आश्चर्य में डालने वाली कर्म की निर्माणशक्ति की विजय होती है।

कर्म के अशुभ और शुभ उदय में कैसे परिणाम होते हैं, वह इसमें बताया है। ऐसा ही एक श्लोक ब्राह्मण साहित्य में दृष्टिगोचर होता है—

ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्डभाण्डोदरे,
विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे।
रुद्रो येन कपालपाणिपुटके भिक्षाटनं सेवते,
सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे ॥

उस कर्म को नमस्कार हो जिसने इस विश्व में ब्रह्मा जैसे महान् देव को कुम्हार की भांति जगत की आकृतियाँ बनाने का कार्य सौंपा, विष्णु को दस अवतार लेने का कार्य सौंप कर महान् संकट में पटका, शंकर के हाथ में भिक्षा पात्र देकर भिक्षाटन करवाया और जिसके प्रभाव से सूर्य नित्य गगन में परिभ्रमण करता है।

कहने का तात्पर्य यह है कि कर्म को किसी से लज्जा

नहीं आती और न किसी से भय लगता है। यह तो अपना प्रभाव अचूक बताता ही है, फिर भोक्ता इस विश्व का चाहे जितना महान् व्यक्ति क्यों न हो ?

'हमें अभी कितने कर्मों का उदय है'? इसका उत्तर-आठों कर्मों का उदय है। यह कैसे ? सो यहाँ समझाया जायगा। हमें ज्ञानावरणीय कर्म का उदय है, अतः हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं, हमारे ज्ञान में बहुत कमी है। दर्शनावरणीय कर्म का भी उदय है, अतः हमारी दर्शन शक्ति अपूर्ण है। हम शाता अशाता का अनुभव करते हैं, अतः वेदनीय कर्म का उदय प्रत्यक्ष है। हम मोहजन्य अनेक भावों से दबे हुए हैं, अतः मोहनीय कर्म भी अपना उदय बता रहा है। हम मनुष्य का आयुष्य भोग रहे हैं, अतः आयुष्य कर्म का उदय भी चल रहा है। हम शरीर-इन्द्रियादि विविध नाम रूप से अंकित हैं जो नाम कर्म के उदय बिना कैसे सभव हो सकता है ? इसी तरह हम ऊंच-नीच में से एक गोत्र में हैं अतः गोत्र कर्म का भी उदय है ही। और अपनी शक्तियाँ सीमित हैं, अतः अंतराय कर्म का उदय भी मानना ही रहा।

बँधे हुए कर्मपुद्गल पर यदि अन्य संक्रमकरण आदि करण न लगें तो वे बंध होने के बाद तुरन्त उदय में आने नहीं लगते परन्तु अमुक समय तक वे अबाधित पड़े रहते है। इस समय को अबाधा काल कहते हैं। अबाधा काल अर्थात् कर्म को बाधा न पहुँचाने का काल। उदाहरण के लिये आज नरकायुष्य का बंध किया हो तो आज ही उदय में आकर वह बाधा अर्थात् फेरफार को प्राप्त नहीं करता, परन्तु अमुक समय के बाद उदय में आकर फल दिखाने के बाद झड़ जाने

का परकार पाता है। इस प्रकार प्रत्यक कम का अपना अबाधाकाल अर्थात् कर्म क पकने का स्थिति का काल होता है। यह सामान्य सयोगो की स्थिति है। जिन कम पुद्गलो पर अन्य करण लगते हैं उनमे तो अबाधा काल क अन्दर भी परिवतन होता है।

सभी कर्मों का जघन्य अबाधा काल अन्तमुहूत का होता है और उत्कृष्ट अबाधा काल निम्न प्रकार स होता है—

कम	उत्कृष्ट अबाधा काल
१ ज्ञानावरणीय	३००० वप
२ दशनावरणीय	"
३ वदनीय	
४ मोहनीय	७००० वप
५ आयुष्य	पूव कोटि वप का तृतीयांश
६ नाम	२००० वप
७ गोत्र	
८ अतराय	३००० वप

कम की उत्कृष्ट स्थिति जितने कोटाकोटि सागरोपम का उतने सौ वप का अबाधा काल—यह इसका सरल हिसाब है। ७०५६० अरब वप प्रमाण १ पूर्व नामक काल होता है। एक एक करोड पूव क आयुष्य मे उसके अतिम तृतीय भाग म परभव का आयुष्य बाधा जाता है। और वह इस भव की समाप्ति क बाद उदय म आता है। अर्थात् इस भव क पूव कोटि वप का तृतीय भाग अबाधा काल हुआ।

आठ करण —

जो कम सत्ता म हो उसम परिवतन भी होता है और

ह परिपक्व होने के वाद ही उदय में आता है। कर्म पुद्गल एक वार फल देने के वाद झड़ जाते हैं। झड़े हुए कर्म पुनः आत्मा में नहीं लगते। यहाँ इतना स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि जो कर्म निकाचित वांधा हो, उसमें अन्य करण लग कर कोई परिवर्तन नहीं होता। उसके सिवाय सभी कर्मों में अन्य करण लग कर परिवर्तन होता है, अर्थात् जो स्पृष्ट होते हैं, वे वद्ध, निधत्त अथवा निकाचित वनते हैं, वद्ध हों वे स्पृष्ट, निधत्त-अथवा निकाचित वनते हैं, और जो निधत्त हों वे स्पृष्ट वद्ध अथवा निकाचित वनते हैं। इसका अर्थ यह है कि एक वार अशुभ कर्म वंधन हो गया हो, परन्तु वाद में अध्यवसाय शुद्ध-विशुद्ध हों तो उसके स्थिति रस आदि में कमी की जा सकती है। इसी प्रकार उसे निःसत्त्व भी वनाया जा सकता है। इसके विपरीत शुभ कर्म (पुण्य) में स्थिति घटती है और रस वढ़ता है और अध्यवसाय विगड़े तो अशुभ की स्थिति, रस आदि में वृद्धि हो जाती है, जवकि शुभ कर्म (पुण्य) में रस घटता है और स्थिति वढ़ती है।

यहां प्रश्न होगा कि 'किये हुए कर्मों का फल भोगे विना छुटकारा होता ही नहीं ऐसा कहा जाता है, उसका क्या? इसका उत्तर यह है कि यह उक्ति निकाचित कर्म के लिये है, अनिकाचित कर्म के लिये नहीं। यह निकाचित कर्म का नियम भी सापवाद है। यदि पूर्ववद्ध कर्मों में तनिक भी परिवर्तन होना अशक्य हो, तव तो सभी आत्मा कर्म की शतरंज के प्यादे ही वन जाएं और वे जैसे चलावें वैसे ही चलना पड़े। उसमें तो पुरुषार्थ के लिये फिर कोई स्थान ही न रहे क्योंकि कर्म का जो फल मिलना है वह तो निश्चित

हो रहेगा परन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। ग्रात्मा पुरुषार्थ करे तो कर्म के किले मे बडी २ दरारे बना सकता है ग्रौर उसे मिट्टी मे भी मिला सकता है।

ग्रध्यवसाय के बल को करण कहते हैं। उसके ग्राठ प्रकार हैं—(१) बधन करण (२) निधत्त करण (३) निकाचना करण (४)उद्वर्तना करण (५)ग्रपवर्तना करण (६)सक्रमण करण (७) उदीरणा करण ग्रौर (८) उपशमना करण।

जिसके द्वारा कार्मण वर्गणा का ग्रात्मप्रदेशो के साथ योग ग्रथवा बधन होता है वह बधन करण।

पहिले गाँठ ढीली बाँधी हो परन्तु फिर उसे खीच तो दृढ होती है। इसी प्रकार पहिले नीरस ग्रथवा सामान्य भा से बाधते समय कर्म ढीले बँध हो, परन्तु फिर उनकी प्रश कर उन पर गर्व करें तो वे बद्ध कर्म दृढ होते है ग्रौर निध ग्रवस्था को प्राप्त करते हैं। इसे कहते हैं निधत्त करण।

एक कर्म बाधने के पश्चात् ग्रत्यन्त तीव्र उल्लास ग्रा उसकी बार बार पुष्टि की जाय ग्रौर बहुत २ प्रसन्नता हो त वह कर्म निकाचित बनता है। फिर उस पर किसी करण क प्रभाव नही पडता। जो स्पृष्ट बद्ध ग्रथवा निधत्त कर्म क निकाचित बनाता है उसका नाम निकाचित करण।

जिसके कारण कर्म की स्थिति और रस बढ जाता है वह उद्वर्तनाकरण ग्रौर जिसके कारण कर्म की स्थिति ग्रौ रस घट जाता है वह ग्रपवर्तनाकरण। आत्मविकास का मार्ग सरल बनाने के लिये ग्रशुभ कर्म की स्थिति और रस की ग्रपवर्तना करना आवश्यक है।

जिसके कारण बँधनेवाली कर्मप्रकृति मे पूर्व बद्ध कर्म

प्रकृति का मिश्रण हो जाने से कर्म की प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है उसे संक्रमण करण कहते हैं। संक्रमण सजातीय प्रकृति में होता है, न कि विजातीय प्रकृति में--यह बात भी लक्ष्य में रखना आवश्यक है। एक ही मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सजातीय कहलाती हैं और दूसरे मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ विजातीय कहलाती हैं।

कर्म के उदय के लिये जो काल निश्चित होता है उसके पूर्व ही कर्म का उदय करवादे उसे उदीरणा करण कहते हैं। आम को घास में रखने से जैसे जल्दी पक जाता है, वैसे ही यदि प्रयत्न किया जाय तो कर्म की उदीरणा हो सकती है। महापुरुष कर्म को उदीरणा करके उसे भोग लेते हैं और इस प्रकार मोक्षप्राप्ति का मार्ग सरल बना देते हैं।

योग और अध्यवसाय के जिस बल के कारण कर्म शांत पड़े रहें--ऐसे कर दिये जाएँ, अर्थात् उनमें उदय-उदीरणा न हो उसे उपशमनाकरण कहते हैं। अंगारे जल रहे हों, उन पर राख डाल दें तो वे ठण्डे पड़ जाते हैं अथवा प्याले के पानी को स्थिर रहने दें तो अन्दर का मैल नीचे बैठ जाने से पानी को मैला नहीं कर सकता, इसी प्रकार की यह क्रिया है।

यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जो कर्म बंधावलिका संक्रमावलिका और उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके हों उन पर करण का प्रभाव नहीं चलता, शेष सभी पर चलता है। बंध समय से आरम्भ होने वाला आवलिकाकाल बंधावलिका काल कहलाता है। इसी प्रकार संक्रमावलिका काल। उदय समय के पूर्व की आवलिका (समय का विशिष्ट भाग) सो उदया-वलिका। प्रत्येक कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होने के पश्चात्

प्रकृति का मिश्रण हो जाने से कर्म की प्रकृति में परिवर्तन हो जाता है उसे संक्रमण करण कहते हैं। संक्रमण सजातीय प्रकृति में होता है, न कि विजातीय प्रकृति में–यह बात भी लक्ष्य में रखना आवश्यक है। एक ही मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ सजातीय कहलाती हैं और दूसरे मूल कर्म की उत्तर प्रकृतियाँ विजातीय कहलाती हैं।

कर्म के उदय के लिये जो काल निश्चित होता है उसके पूर्व ही कर्म का उदय करवादे उसे उदीरणा करण कहते हैं। आम को घास में रखने से जैसे जल्दी पक जाता है, वैसे ही यदि प्रयत्न किया जाय तो कर्म की उदीरणा हो सकती है। महापुरुष कर्म की उदीरणा करके उसे भोग लेते हैं और इस प्रकार मोक्षप्राप्ति का मार्ग सरल बना देते हैं।

योग और अध्यवसाय के जिस बल के कारण कर्म शांत पड़े रहें–ऐसे कर दिये जाएँ, अर्थात् उनमें उदय-उदीरणा न हो उसे उपशमनाकरण कहते हैं। अंगारे जल रहे हों, उन पर राख डाल दें तो वे ठण्डे पड़ जाते हैं अथवा प्याले के पानी को स्थिर रहने दें तो अन्दर का मैल नीचे बैठ जाने से पानी को मैला नहीं कर सकता, इसी प्रकार की यह क्रिया है।

यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि जो कर्म बंधावलिका संक्रमावलिका और उदयावलिका में प्रविष्ट हो चुके हों उन पर करण का प्रभाव नहीं चलता, शेष सभी पर चलता है। बंध समय से आरम्भ होने वाला आवलिकाकाल बंधावलिका काल कहलाता है। इसी प्रकार संक्रमावलिका काल। उदय समय के पूर्व की आवलिका (समय का विशिष्ट भाग) सो उदयावलिका। प्रत्येक कर्म उदयावलिका में प्रविष्ट होने के पश्चात्

हो भोगा जाता है एक के बाद दूसरी दूसरी के पश्चात् तीसरी इस प्रकार प्रवाह कर्म की उदयप्रावलिराम्रा की परम्परा जारी रहती है। अतः ऐसा कोई भी समय नहीं निकलता जबकि कर्म का उदय जारी न हो।

कर्मवाद का सार—जैन दर्शन द्वारा प्ररूपित कर्मवाद का सार यह है कि—

(१) सभी जीव अपनी अपनी कमाई का उपभोग करते हैं। सुख भी अपनी कमाई है और दुःख भी अपनी ही कमाई है।

(२) किसी भी प्राणी की ओर से हमें कोई कष्ट दिया जाय अथवा हमें सताया जाए तो समझना चाहिए कि मैंने पूर्व भव में मन वचन अथवा काया से अनुचित आचरण किया होगा इसलिए मेरे पाप का उदय हुआ है। वह प्राणी तो उसमें निमित्त मात्र है अतः उस पर क्रुद्ध न होकर शांति समता रखनी चाहिये

(३) अच्छे का फल अच्छा मिलता है और बुरे का फल बुरा मिलता है। अतः सदैव अच्छा (भलाई) करने की ओर ही लक्ष्य रखना चाहिये।

(४) जीव के कर्म परभव में भी साथ ही आते हैं और वे अपना फल दिये बिना नहीं रहते अतः कर्म बाँधने से पूर्व विचार करना चाहिए।

(५) किसी भी पाप कर्म का अति आसक्त होकर बंध न करना क्योंकि उसका परिणाम बहुत बुरा होता है।

(६) कोई बुरा कार्य हो जाए तो पश्चात्ताप करना परन्तु उसकी प्रशंसा न करना अथवा उसे अच्छा नहीं समझना चाहिये।

(७) अध्यवसाय—मन के परिणामों को यथाशक्ति कोमल रखना। उससे कर्म के बल को घटाया जा सकता है।

(८) सत् पुरुषार्थ के योग से आत्मा सकल कर्म का नाश करके मुक्ति का अधिकारी बन सकता है। अतः सत्पुरुषार्थ पर विश्वास रखकर उसे निरन्तर करते ही रहना चाहिये।

टिप्पणी

१. सूयगडांग सूत्र, प्रश्नव्याकरण सूत्र, उत्तराध्ययन सूत्र आदि।

२. दृष्टिवाद नामक बारहवे अंग सूत्र के पांच भाग थे। उनमें से एक भाग चौदहपूर्व माना जाता था। उनके नाम इस प्रकार हैं—

(१) उत्पाद पूर्व	(८) कर्मप्रवाद पूर्व
(२) आग्रायनीय पूर्व	(९) प्रत्याख्यानप्रवाद पूर्व
(३) वीर्यप्रवाद पूर्व	(१०) विद्याप्रवाद पूर्व
(४) अस्ति नास्तिप्रवाद पूर्व	(११) कल्याणप्रवाद पूर्व
(५) ज्ञानप्रवाद पूर्व	(१२) प्राणप्रवाद पूर्व
(६) सत्यप्रवाद पूर्व	(१३) क्रियाविशाल पूर्व
(७) आत्मप्रवाद पूर्व	(१४) लोकबिन्दुसार पूर्व

कर्म प्रवाद आठवां पूर्व है। ये पूर्व श्री महावीर निर्वाण के पश्चात् क्रमशः लुप्त होते गये।

(३) रागो य दोसो वि य कम्म वीयं,
कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३२. गा० ७।

'राग और द्वेष ये दोनों कर्मों के बीज हैं। कर्म मोह से उत्पन्न होता है, ऐसा ज्ञानियों का कथन है। जन्म मरण यह दुःख है और इस जन्म मरण का मूल कर्म है।

(४) अ० ८ सू० २

(५) नाणस्सावरणिज्जं दंसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥२॥
नाम कम्मं च गोयं च अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥३॥
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३

(६) इहनाण-दंसणावरण-वेय-मोहाउनामगोयाणि।
विग्धं च पणनव दुअट्ठवीस चउतिसयदुपण विहं॥
नवतत्त्वप्रकरण गा० ३८

(७) सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दाय दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओविट्ठस्स पयलपयला उ चंकमओ॥
दिणचिंतिअत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला।

(८) तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।
तत्त्वार्थ सूत्र, अ० १ सू० २

(९) श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में कहा है कि–

सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं। गा० ११॥
इस पर से नोकषाय की सात प्रकृतियाँ गिनने का भी सम्प्रदाय होगा ऐसा मालूम होता है। उसमें हास्यादि ६ और एक वेद इस प्रकार सात नोकषाय गिने जाते हैं।

(१०) देखिये नवतत्त्वप्रकरण, अजीव तत्त्व, पुद्गल का वर्णन।

(११) उदहिसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिया ठिई होई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥
आवरणिज्जाण दुण्हं वि, वेअणिज्जे तहेव य ।
अंतराए अ कम्मंमि, ठिई एसा विआहिआ ॥२०॥
उदहिसरिसनामाणं सत्तरि कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिआ ॥२१॥
तेत्तीस सागरोवम, उक्कोसेण विआहिआ ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहण्णिआ ॥२२॥
उदहिसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडिओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहण्णिआ ॥२३॥
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३

नवतत्त्वप्रकरण में भी कर्म की स्थिति इसी प्रकार बताई गई है ।

(१२) कण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ, नामाई तु जहक्कमं ॥३॥
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४

(१३) देखिये, उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३४ । यह संपूर्ण अध्ययन लेश्याओं का स्वरूप बताने के लिये ही रचा गया है ।

'राग और द्वेष ये दोनो कर्मो के बीज है। कर्म मोह से उत्पन्न होता है ऐसा ज्ञानियो का कथन है। जन्म मरण यह दुःख है और इस जन्म मरण का मूल कर्म है।

(४) अ० ८ सू० २

(५) नाणस्सावरणिज्जं दसणावरणं तहा।
वेयणिज्जं तहा मोहं, आउकम्मं तहेव य॥२॥
नाम कम्मं च गोयं च अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइं कम्माइं, अट्ठेव उ समासओ॥३॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३

(६) इहनाण दसणावरण-वेय-मोहाउनामगोयाणि।
विग्घं च पणनव दुअट्ठवीस चउतिसयदुपण विहं॥

नवतत्त्वप्रकरण गा० ३८

(७) सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दाय दुक्खपडिबोहा।
पयला ठिओविट्ठस्स पयलपयला उ चंकमओ॥
दिणचिंतिअत्थकरणी, थीणद्धी अद्धचक्किअद्धबला।

(८) तत्त्वार्थश्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।

तत्वार्थ सूत्र, अ० १ सू० २

(९) श्री उत्तराध्ययन सूत्र के तेईसवें अध्ययन में कहा है कि–

सत्तविहं नवविहं वा कम्मं नोकसायजं। गा० ११॥
इस पर से नोकषाय की सात प्रकृतियाँ गिनने का भी सम्प्रदाय होगा ऐसा मालूम होता है। उसमें हास्यादि ६ और एक वेद इस प्रकार सात नोकषाय गिने जाते है।

(१०) देखिये नवतत्वप्रकरण, अजीव तत्त्व, पुद्गल का वर्णन।

(११) उदहिसरिसनामाणं, तीसई कोडिकोडिओ ।
उक्कोसिआ ठिई होई, अंतोमुहुत्तं जहण्णिआ ॥१९॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि, वेअणिज्जे तहेव य ।
अंतराए अ कम्मंमि, ठिई एसा विआहिआ ॥२०॥
उदहिसरिसनामाणं सत्तरि कोडिकोडिओ ।
मोहणिज्जस्स उक्कोसा, अंतोमुहुत्तं जहण्णिआ ॥२१॥
तेतीस सागरोवम, उक्कोसेण विआहिआ ।
ठिई उ आउकम्मस्स, अंतोमुहुत्तं जहण्णिआ ॥२२॥
उदहिसरिसनामाणं, वीसई कोडिकोडिओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा, अट्ठमुहुत्ता जहण्णिआ ॥२३॥
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३३

नवतत्त्वप्रकरण में भी कर्म की स्थिति इसी प्रकार बताई गई है ।

(१२) कण्हा नीला य काऊ य तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा उ, नामाइं तु जहक्कमं ॥३॥
उत्तराध्ययन सूत्र अ० ३४

(१३) देखिये, उत्तराध्ययन सूत्र, अ० ३४ । यह संपूर्ण अध्ययन लेश्याओं का स्वरूप बताने के लिये ही रचा गया है ।

विभाग-३
आध्यात्मिक विकास क्रम

आध्यात्मिक विकासः

शरीर से सम्बन्धित विकास शारीरिक विकास कहलाता है, मन से सम्बन्धित विकास मानसिक विकास कहलाता है, इसी प्रकार आत्मा से सम्बन्धित विकास आत्मिक विकास अथवा आध्यात्मिक विकास (Spiritual progress) कहलाता है।

अवस्थाओं में क्रम (Order) होता है–बाल, युवा, वृद्ध, ऋतुओं में क्रम होता है–हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, इसी प्रकार आध्यात्मिक-विकास में भी क्रम होता है–– प्रथम भूमिका, द्वितीय भूमिका तृतीय भूमिका आदि।

इस क्रम का परिचय होने से आत्मा की उन्नत-अवनत अवस्थाओं का पता चल सकता है और इससे विकास-साधना में बड़ी सहायता मिलती है, इसीलिये जैन शास्त्रों ने आध्यात्मिक विकास का क्रम बताने वाले गुणस्थानों का वर्णन किया है।

चौदह गुणस्थानः

गुण अर्थात् आत्मा के गुण, आत्मा की शक्तियाँ। स्थान अर्थात् विकास की भूमिका। तात्पर्य यह है कि आत्म-शक्ति का विकास बतलाने वाली भूमिका को गुणस्थान कहते हैं।

गुण के प्रकर्ष-अपकर्ष की तरतमता को ध्यान में रखने पर गुणस्थान असंख्य हो सकते हैं, परन्तु सरलतापूर्वक समझ में आ जाएँ इस दृष्टि से उनके चौदह विभाग किए गए हैं और वे ही शास्त्रों में चौदह गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

समवायांग सूत्र में चौदह गुणस्थानों के नाम निम्न प्रकार से उपलब्ध होते हैं[1]:—

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

(२) सास्वादन सम्यगृदृष्टि गुणस्थान

आध्यात्मिक विकासः

शरीर से सम्बन्धित विकास शारीरिक विकास कहलाता है, मन से सम्बन्धित विकास मानसिक विकास कहलाता है, इसी प्रकार आत्मा से सम्बन्धित विकास आत्मिक विकास अथवा आध्यात्मिक विकास (Spiritual progress) कहलाता है।

अवस्थाओं में क्रम (Order) होता है–बाल, युवा, वृद्ध, ऋतुओं में क्रम होता है–हेमन्त, शिशिर, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, इसी प्रकार आध्यात्मिक-विकास में भी क्रम होता है–– प्रथम भूमिका, द्वितीय भूमिका तृतीय भूमिका आदि।

इस क्रम का परिचय होने से आत्मा की उन्नत-अवनत अवस्थाओं का पता चल सकता है और इससे विकास-साधना में बड़ी सहायता मिलती है, इसीलिये जैन शास्त्रों ने आध्यात्मिक विकास का क्रम बताने वाले गुणस्थानों का वर्णन किया है।

चौदह गुणस्थानः

गुण अर्थात् आत्मा के गुण, आत्मा की शक्तियाँ। स्थान अर्थात् विकास की भूमिका। तात्पर्य यह है कि आत्म-शक्ति का विकास बतलाने वाली भूमिका को गुणस्थान कहते हैं।

गुण के प्रकर्ष-अपकर्ष की तरतमता को ध्यान में रखने पर गुणस्थान असंख्य हो सकते हैं, परन्तु सरलतापूर्वक समझ में आ जाएँ इस दृष्टि से उनके चौदह विभाग किए गए हैं और वे ही शास्त्रों में चौदह गुणस्थान के नाम से प्रसिद्ध हैं।

समवायांग सूत्र में चौदह गुणस्थानों के नाम निम्न प्रकार से उपलब्ध होते हैं[1]:––

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान
(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान
(५) विरताविरत गुणस्थान
(६) प्रमत्त सयत गुणस्थान
(७) अप्रमत्त सयत गुणस्थान
(८) निवृत्ति गुणस्थान
(९) अनिवृत्ति गुणस्थान
(१०) सूक्ष्मसपराय गुणस्थान।
(११) उपशान्तमोह गुणस्थान।
(१२) क्षीणमोह गुणस्थान।
(१३) सयोगि-केवलि-गुणस्थान।
(१४) अयोगि केवलि गुण स्थान।

कर्मस्तव नामक द्वितीय कर्म ग्रन्थ मे मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को मिथ्यात्व गुणस्थान, सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान को मिश्र गुणस्थान और विरताविरत गुणस्थान को देशविरति गुणस्थान कहा गया है[२] परन्तु इसका अर्थ समान ही है। इसके अतिरिक्त उनमे अन्य किसी प्रकार का तात्त्विक भेद नही है। अन्य ग्रन्थो मे भी अधिकाशत ये ही नाम पाये जाते है। कहा जो क्वचित् अन्तर दिखाई देता है, वह स्थिति को अधिक स्पष्ट करने के लिये ही होता है।

किचित् विचारनिमज्जन—

इन गुणस्थानो का परिचय प्राप्त करने से पूर्व जरा विचारनिमज्जन कर ले। यदि आत्मा एक ही हो और वह सदा एक समान ही रहे ... तो उसमे किसी भी काल मे कोई ... न ... विकास का प्रश्न ही

उत्पन्न नहीं होता, क्योंकि विकास एक प्रकार का परिवर्तन है। उन्नति की ओर अभिमुख होने वाले परिवर्तन को ही विकास कहते हैं। परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। इस लोक में आत्माएँ अनन्त हैं और उनकी स्थिति या अवस्था में परिवर्तन होता रहता है, जो प्रत्यक्ष दिखाई पड़ता है, अतः विकास का प्रश्न उचित ही सिद्ध होता है।

यदि आत्मा पूर्ण अथवा शुद्ध हो, तब भी विकास का प्रश्न खड़ा नहीं होता। जो पूर्ण अथवा शुद्ध है, उसका विकास कैसा ? विकास तो अपूर्ण अथवा अशुद्ध का ही हो सकता है। द्वितीया के चन्द्रमा का विकास होता है, न कि पूर्णिमा के चन्द्रमा का, कली का विकास होता है, न कि पुष्प का। कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा प्रारंभिक अवस्था में अपूर्ण और अशुद्ध होता है, इसीलिये उसके विकास का प्रश्न उपस्थित होता है।

आत्मा प्रथम शुद्ध था और फिर कर्म के संयोग से अशुद्ध अथवा मलीन हुआ—यह मान्यता तर्कविरुद्ध है, इसे जैन दर्शन स्वीकार नहीं करता। उसका कहना है कि, "यदि शुद्ध आत्मा के साथ कर्मबंधन होता हो, तो वह अकस्मात् होगा; उसमें तो कार्य-कारणभाव का भंग होता है। कारण के विना कार्य बन ही नहीं सकता—यह सार्वत्रिक नियम है। फिर यदि शुद्ध आत्मा के साथ कर्मबंधन हो सकता हो तो मोक्ष या निर्वाण के सारे प्रयत्न निरर्थक ही सिद्ध होंगे, क्योंकि इस प्रकार आत्मा के शुद्ध होने के पश्चात् भी उसके साथ कर्मबंधन होना निश्चित है और परिणाम स्वरूप दुःख परम्परा भी प्राप्त होगी ही। तात्पर्य यह है कि इस [illegible]

पर मोक्ष की बात ही उड जानी है और ऐसा होने पर पुण्य, पाप, आस्रव, सवर, निर्जरा तथा वध की चर्चा विचारणा का भी कोई अर्थ नही रहता । अत आत्मा कर्म-सयोग के कारण खान मे रहे हुए सुवर्ण की भाँति, आरम्भ से अशुद्ध होता है और वह क्रमश अपनी शक्तियो, अपने गुणो का विकास करता जाता है, ऐसी मान्यता रखना ही उचित है।"

रेखा खीचने बैठें तो वह लम्बी होती जाती है, छोटी नही होती, परन्तु आत्मविकास मे ऐसी स्थिति नही है । उसमे विकास का प्रारभ होने के पश्चात् भी पतन के प्रसग अनेक बार आते हैं और आत्मा पतित हो जाता है । पुन वह खडा होकर प्रगति की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करता है । इस प्रकार प्रयत्नों की दीर्घ परम्परा के पश्चात् ही वह ऐसी अवस्था मे पहुँचता है जहाँ से पुन पतन असभव होता है। अत आत्म विकास आरोह अवरोह वाला होता है, मात्र आरोह वाला नही ।

आधुनिक विज्ञान विकासवाद (Theory of evolution) को स्वीकार करता है जिसका स्वरूप निरूपण करने मे प्रो० डार्विन ने महत्त्वपूर्ण भाग लिया था । इस विकासवाद में सूक्ष्म जतुओ मे से मनुष्य तक के स्वरूप का निर्माण कैसे हुआ ? इसका प्रतिपादन है, परन्तु वह सरल रेखा के सिद्धान्त तुल्य है । उसमे पतन के लिये कोई स्थान या अवकाश नही है । स्पष्ट शब्दों में कहे तो यह विकासवाद बन्दर मे से मनुष्य बनने की शक्ति को स्वीकार करता है, परन्तु मनुष्य मे से बन्दर बनने की शक्ति को स्वीकार नही करता—जब कि विश्व मे अनेक उदाहरण पाये जाते हैं कि विकास होते २ बीच मे

विकार-पतन-भी होता है। इसके अतिरिक्त मुख्य वस्तु तो यह है कि इस विकासवाद में आत्मा को कोई स्थान नहीं दिया गया है, अर्थात् उसमें जो कुछ भी विकास माना गया है वह पुद्गलनिर्मित शरीर के अंगोपांगों के सम्बन्ध में माना गया है, अतः आध्यात्मिक विकास-क्रम के साथ उसकी तुलना की कोई गुंजाइश नहीं है।

गुणस्थानों की मौलिकता:

गुणस्थान जैन दर्शन की मौलिक वस्तु है। यह कर्मवाद के विकास में अति उपयोगी सिद्ध हुई है। इतना ही नहीं, परन्तु आत्मविकास का जहाँ अन्य रीति से प्रतिपादन किया गया है, वहाँ भी आधार तो इन गुणस्थानों का ही लिया गया है। उदाहरणार्थ योगावतारद्वात्रिंशका आदि ग्रन्थों में आत्मा की तीन अवस्थाएँ वर्णित हैं।[3] बाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। वह इन चौदह गुणस्थानों का ही संक्षेप है। प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुणस्थान में रहा हुआ आत्मा बाह्यात्मा, चौथे से बारहवें गुणस्थान में रहा हुआ आत्मा अन्तरात्मा और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में रहा हुआ आत्मा परमात्मा है।[4]

श्री हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय में आठ दृष्टियों के आधार पर विकास बताया है, उसके भी मुख्य आधार तो ये गुणस्थान ही हैं।[5]

गुणस्थानों की विशेषता:

आजीविक सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की आठ सीढ़ियाँ वर्णित हैं,[6] बौद्ध शास्त्रों में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की छः स्थितियाँ बताई गई हैं,[7] योगशास्त्र के महा-

भाष्य मे चित्त की पाँच वृत्तियो के विकासक्रम का वर्णन है,[८] और योगवासिष्ठ मे ज्ञान दशा की सात भूमिकाओं का सुन्दर चित्रण है,[९] परन्तु आत्मा की प्रारम्भिक स्थिति से लगातार पूर्णता पर्यन्त सभी अवस्थाओं का विशद एवं व्यवस्थित वर्णन तो मात्र गुणस्थानों में ही प्राप्त होता है, जो इनकी विशेषता है।

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान :

मिथ्यादृष्टि वाले आत्मा की अवस्थाविशेष को मिथ्यादृष्टि गुणस्थान कहते हैं। यहाँ दृष्टि शब्द दर्शन के अर्थ मे है। दर्शन अर्थात् देखना-समझना। (Perceiving-knowing) तात्पर्य यह है कि जिसकी देखने समझने की रीति मिथ्या है, वह मिथ्या दृष्टिवाला है। जैन शास्त्र निम्न लिखित आत्माओं को मिथ्यादृष्टि आत्मा मानता है –

(१) जो असत्य को पकड कर रखने वाले हो।

(२) जो सत्य और असत्य का विवेक नहीं कर सकते और इससे सारी वस्तु को अच्छी (सत्य) अथवा सारी वस्तु को बुरी (असत्य) मानते हो।

(३) जो शास्त्रीय सत्य की बाधा उपस्थित होती है, ऐसा समझते हुए भी अपनी असत्य वस्तु को पकड कर छोडते न हो, अर्थात् कदाग्रही या दुराग्रही हो।

(४) जो संशयग्रस्त अवस्था म रहते हो और उस संशय के निवारण का प्रयत्न न करते हो।

(५) जो महाअज्ञानी अथवा मूढ हो, अर्थात् कुछ भी समझते न हो।[१०]

इस मिथ्यात्व की दो अवस्थाएँ होती हैं एवं मोहराशि

और दूसरी भवाभिनंदी, पुद्गलानंदी। प्रथम अवस्था में रहे हुए आत्मा को संसार पर अरुचि और मोक्ष पर रुचि होती है, फिर भी वह प्रथम गुणस्थान में इसलिये है कि उसे सर्वज्ञ-कथित (दृष्ट) सत्य तत्त्व के प्रति अभी रुची नहीं हुई। दूसरी अवस्था में रहे हुए आत्मा राग द्वेष के गाढ़ परिणाम वाले होते हैं और पौद्गलिक सुखों में ही आसक्त रहनेवाले होते हैं। उन्हें सत्य की रुचि अथवा सत्य का आग्रह नहीं होता। तत्त्व की बात उन्हें उकताने वाली लगती है, वहाँ मुक्ति, मोक्ष या निर्वाण की बातों में तो प्रीति हो ही कैसे सकती है ?

मिथ्या दृष्टि को मिथ्यात्वी भी कहते हैं। जो मिथ्यात्व-युक्त है, वह मिथ्यात्वी। मिथ्यात्व अर्थात् दृष्टि का विपर्यास अथवा विपरीत श्रद्धा।

आत्मा वीतराग सर्वज्ञों द्वारा कथित वस्तु का—वस्तु स्थिति का सम्यग् दर्शन, उस पर सम्यक् श्रद्धा कर सकने में समर्थ है, परन्तु उसकी यह सुन्दर शक्ति दर्शनमोहनीय कर्म के प्रवल उदय के कारण प्रच्छन्न हो जाती है और इससे यह अनिच्छनीय स्थिति उत्पन्न होती है।

जब तक मिथ्यादृष्टि अथवा मिथ्यात्व का अन्त न हो, तब तक आत्मा अपना विकास साधन नहीं कर सकता, इसीलिये मिथ्यात्व को आत्मा का महान् शत्रु माना है।[११] उसका बंधन दृढ़ होता है, अतः दीर्घकाल तक वह आत्मा से दूर नहीं होता। जैन शास्त्र कहते हैं कि मनुष्य नौ पूर्वो का अभ्यास करे अर्थात् महान् शास्त्रज्ञ हो तब तक भी उस पर मिथ्यात्व का साम्राज्य हो सकता है।[१२]

यहाँ एक प्र[illegible]त हो सकता है कि 'जहाँ दृष्टि-

विपर्यास अथवा विपरीत श्रद्धा हो वहाँ गुणस्थान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि मिथ्यात्वी में दृष्टिविपर्यास अथवा श्रद्धा की प्रतिकूलता होती है परन्तु कई जीवों में भद्रतादि गुण होते हैं और सभी आत्माओं में ज्ञानादि गुणों का अल्पाधिक विकास तो अवश्य होता है। इस लोक में एक भी आत्मा ऐसा नहीं है जो ज्ञानादि गुणों से सर्वथा रहित हो। यदि वह ज्ञानादि गुणों से रहित हो तो उसे आत्मा ही नहीं कह सकते क्योंकि चेतना अथवा उपयोग जीव का मुख्य लक्षण है। अतः यहाँ गुणस्थान शब्द का जो प्रयोग होता है वह उचित है।

यदि ऐसा है तो फिर उसे सम्यग् दृष्टि ही मानो न?' यदि ऐसा कहा जाय तो यह कथन भी उचित नहीं है। सम्यग् दृष्टित्व तो सत्य रुचि अथवा तत्त्व रुचि में से उत्पन्न होता है और उसके प्रभाव से आत्मा वस्तु को वस्तु के रूप में ग्रहण करता है। वैसी स्थिति यहाँ प्रवर्त्तमान नहीं है अतः उसे सम्यग् दृष्टि नहीं कह सकते।

जगत के सभी आत्मा प्रथम इस गुणस्थान में होते हैं।

(२) सास्वादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—

जिस आत्मा का सम्यग् दृष्टि में से स्खलन होगया है, परन्तु मिथ्यात्व की भूमिका में जो पहुँचा नहीं और जिसे सम्यक्त्व का थोड़ा सा स्वाद होता है तब उसे इस गुणस्थान में रहा हुआ मानते हैं। आत्मा की ऐसी स्थिति कब होती है? यह यहाँ स्पष्ट किया जायगा।

संसारी आत्मा अनन्त पुद्गलपरावर्तन काल तक मिथ्यात्व का अनुभव करता हुआ संसार में परिभ्रमण करता है। उस समय अनाभोग अवस्था में अर्थात् अज्ञानतावश प्रवृत्ति

करता हुआ आयुष्य को छोड़कर सातों कर्मों की स्थिति को घटाकर लगभग[1] कोड़ा-कोड़ी सागरोपम जितनी करता है,तब वह रागद्वेष के निविड़ परिणाम रूप ग्रन्थि के समीप आता है। इस ग्रन्थि को भेदने का कार्य अत्यन्त कठिन है। परन्तु आत्मा भव्य और पुरुषार्थी, तथा दृढ़ और धीर हो तो अपने विशुद्ध परिणाम द्वारा इस ग्रन्थि को भेद डालता है और सम्यक्त्व के सम्मुख हो जाता है। यदि आत्मा अभव्य है तो वह इस ग्रन्थि को नहीं भेद सकता, अर्थात् सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं कर सकता। वह यहीं से लौट जाता है और उसका भव-भ्रमण अनन्त काल तक जारी रहता है। सम्यक्त्व को प्राप्त किया हुआ आत्मा कदाचित् पुनः उसे खो बैठे, तब भी वह अधिक से अधिक अर्ध पुद्गल परावर्तन काल में अवश्य ही सम्यक्त्वादि गुणस्थान का स्पर्श करके मोक्ष में जाता है। इसके आधार पर सम्यक्त्व का महत्त्व समझा जा सकेगा।

सम्यक्त्व प्राप्त करने की अवस्था का शास्त्रकारों ने तीन भागों में वर्गीकरण किया है—ग्रन्थि के समीप आए तब तक प्रथम अवस्था। उसका नाम यथाप्रवृत्तिकरण। स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति होना यथाप्रवृत्ति और तद्रूपी क्रिया-करण-सो यथाप्रवृत्तिकरण। नदी के प्रवाह में बहता हुआ तीक्ष्ण धारयुक्त पत्थर जैसे पानी के साथ टकराता हुआ, घिसता हुआ अन्त में गोल बन जाता है, उसी के समान यह स्थिति है। शास्त्रीय परिभाषा में कहें तो अकाम निर्जरा के योग से ऐसी स्थिति उत्पन्न होती है। ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण आत्मा अनन्त बार करता है और वह ग्रन्थि के समीप आता है, परन्तु वीर्य की मन्दता के कारण वह ग्रन्थिभेद किये बिना ही लौट

जाती है। जब परिणाम की विशुद्धि अमुक सीमा तक पहुँचती है तभी वह ग्रन्थिभेद करने में समर्थ होता है।

आत्मा ग्रन्थि का भेद करता है सो दूसरी अवस्था। उसका नाम है अपूर्वकरण। ऐसा करण आत्मा ने इसके पूर्व कभी भी किया न था, इसीलिए उसे अपूर्वकरण कहते हैं। श्री हरिभद्रसूरि 'योगबिन्दु' में कहते हैं कि 'यह दुर्भेद्य कर्मग्रन्थि रूप महा बलवान पर्वत जब अपूर्वकरण रूप तीक्ष्ण भाव-वज्र द्वारा भेदा जाता है, तब आत्मा में तात्त्विक आनन्द उत्पन्न होता है। उत्तम औषधि की सहायता से रोग वश में आने पर रोगी को जैसा आनन्द होता है, वैसा ही आनन्द इस समय अपूर्वकरण करने वाले आत्मा को होता है।[13]" इस अपूर्वकरण में चार अपूर्व क्रियायें होती हैं—अपूर्व स्थितिघात, अपूर्व रसघात अपूर्व गुणश्रेणी और अपूर्व स्थितिबंध। अपूर्वकरण के विशिष्ट शुभ अध्यवसाय के बल से पूर्वबद्ध पाप कर्म की कालस्थिति का पूर्व में कभी भी न हुआ हो ऐसा घात, इसी प्रकार उसके रस का घात—अपूर्व स्थितिघात—रसघात हैं। इसी प्रकार असंख्य गुण असंख्य गुण क्रम में मिथ्यात्व के दलिकों को ऊपर-नीचे की स्थिति में जमाना गुणश्रेणि कहलाता है और वर्तमान में कर्म की अपूर्व अल्प स्थिति का उपार्जन करना अपूर्व स्थितिबंध है। यहाँ मिथ्यात्व की सजातीय कोई शुभ प्रकृति न होने से गुणसंक्रम नहीं होता, अन्यथा गुणसंक्रम अर्थात् वर्तमान में बांधी जाती हुई शुभ प्रकृति में असंख्य गुण पूर्वबद्ध सजातीय अशुभ कर्म दलिकों का मिल कर शुभ रूप में परिवर्तित होना।

ग्रन्थिभेद करने के पश्चात् आत्मा का सम्यक्त्वोन्मुख

होना अनिवृत्तिकरण। निवृत्ति अर्थात् पुनः लौटना, अनिवृत्ति अर्थात् पुनः न लौटना। जिस करण में कार्य सिद्धि किये विना पुनः लौटना होता नहीं वह अनिवृत्तिकरण अथवा अपूर्वकरण में प्रवर्तमान जीवों के अध्यवसायों में प्रति समय निवृत्ति अर्थात् तरतमता होती है, वह इस करण में नहीं होती। समकाल में प्रविष्ट होने के पश्चात् विवक्षित समय में प्रवर्तमान अनेक जीवों का अध्यवसाय समान ही होता है। इसलिए भी अनिवृत्ति करण कहलाता है। सम्यक्त्व प्राप्त किये विना पुनः न लौटना तो अपूर्व करण में भी है अतः यह अर्थ अधिक उपयुक्त है। तात्पर्य यह है कि इस करण की प्राप्ति होने पर आत्मा सम्यक्त्व की प्राप्ति अवश्य करता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल में प्रति समय अनन्तगुण विशुद्धि द्वारा आत्मा अब तक सतत उदय चलता रहे वैसी मिथ्यात्व मोह की जो संलग्न स्थिति थी उसमें अन्तरकरण द्वारा दो विभाग कर देती है। अन्तर्मुहूर्त प्रमाण प्रथम स्थिति, बीच में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण अन्तर और उसके बाद अन्तः-कोड़ा-कोड़ी सागर प्रमाण दूसरी दीर्घ स्थिति। इसमें प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति का वेदन हो जाने के बाद बीच में अन्तर्मुहूर्त प्रमाण मिथ्यात्व के कर्मदलिकों से रहित जो अंतर है उसमें प्रवेश होता है, तब आत्मा को उपशम सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

जिस आत्मा ने मिथ्यात्व के दलिकों का क्षय करके सम्यक्त्व प्राप्त किया हो उसका सम्यक्त्व स्थायी रहता है, परन्तु जिस आत्मा ने मिथ्यात्व के दलिकों का उपशम करके सम्यक्त्व प्राप्त किया हो वह जघन्य एक समय पश्चात् और

उत्कृष्ट छ आवलिका के पश्चात अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होते ही इस सम्यक्त्व का वमन कर डालता है और मिथ्यात्व की ओर जाता है। उस समय उस सम्यक्त्व का कुछ स्वाद होता है। मिष्टान्न खाने के पश्चात वमन होने पर उसका कुछ स्वाद जीभ में रह जाता है, वैसी ही यह स्थिति है।

चौथे अविरति गुणस्थान से लगाकर ग्यारहवें उपशांत मोह गुणस्थान तक उपशम समक्तिवत जो आत्मा मोह का उदय होने से लटकते हैं वे यावत् (सभी आत्मा) इस गुणस्थान मे भी आ सकते हैं।

यह गुणस्थान ऊँचे चढते हुए आत्माओं म नही होता, परन्तु नीचे गिरते हुए आत्माओ मे होता है अत उसे अवनति-स्थान मानना चाहिए परन्तु इस गुणस्थान तक पहुँचे हुए आत्मा एक बार सम्यक्त्व को प्राप्त किये हुए होते हैं अत वे मोक्षप्राप्ति अवश्य करने वाले होते हैं। साथ ही यह अवस्था प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा बढकर है अत उसे गुणस्थान ही समझना चाहिए।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान–

जब आत्मा न तो सत्य दर्शन कर सकता है और न मिथ्या दृष्टि की स्थिति मे ही होता है, तब वह इस गुणस्थान म रहा हुआ माना जाता है। इस गुणस्थान म दर्शनमोहनीय का विष पहले जितना तीव्र नही होता परन्तु होता जरूर है। प्रथम गुणस्थान म आत्मा एकान्त रूप से तत्त्व को मिथ्या मान लेता है जब कि इस गुणस्थान मे वह तत्त्व के विषय में संदिग्ध विचार रखता है।

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान-

जो आत्मा मिथ्यात्व का नाश होने से सम्यग्दृष्टि हो चुका है, परन्तु चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से अभी तक विरत या संयत दशा को प्राप्त नहीं कर सका है वह इस गुण-स्थान में रहा हुआ माना जाता है। इस समय उसे सभी नव तत्वों के प्रति यथार्थ श्रद्धा होती है, अर्थात् वह ऐसा स्वीकार करता है कि 'यह जीव अजीव-कर्म से संयुक्त है; उसका कारण पुण्य-पाप है; पुण्य-पाप आने का कारण आस्रव है; आस्रव को संवर द्वारा रोका जा सकता है; पुराने कर्मों को निर्जरा से स्खलित किया जा सकता है और मिथ्यात्व अविरति, प्रमाद, कषाय तथा योग के कारण जीव के साथ कर्म का बंध होता है। यह कर्मबंध जन्म मरण का कारण है, अनन्त दु:ख का हेतु है। सर्व कर्म का क्षय होने पर शुद्ध आत्मस्वरूप–मोक्ष की प्राप्ति होती है।'

श्री अमृतचंद्राचार्य 'समयसार कलश' में कहते हैं कि "इस नव तत्त्व रूपी अनेक वर्ण की माला में एक आत्म तत्त्व रूपी सुवर्णसूत्र अर्थात् सोने का धागा पिरोया हुआ है, चिरकाल से गुप्त रूप से रहा हुआ है, उसकी शोध कर सम्यग् दृष्टि पुरुष आत्म तत्त्व का दर्शन करते हैं, अनुभव करते हैं।"[१४]

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मोक्षमार्ग के प्रयाण में एक बहुत बड़ा कदम है, इसी से इस गुणस्थान का महत्त्व अधिक है। इस समय सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यक्त्व का अवलोकन करवाने वाले जो पाँच चिह्न प्रकट होते हैं, उनपर भी यहाँ कुछ विचार करेंगे। वे चिह्न हैं, प्रशम, संवेग, निर्वेद, अनुकंपा और आस्तिक्य।

सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से पहिले कषाय का कुछ अश तक उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने के पश्चात् इस उपशम म वृद्धि होती है, अत प्रशम गुण प्रकट होता है। उसमे विवेक की वृद्धि होकर सवेग अर्थात् मोक्ष की अभिलाषा जागृत होती है। परिणाम-स्वरूप निर्वेद अर्थात् ससार से-भव भ्रमण से विरक्ति पैदा होती है और फिर स्वदया-पर-दया रूप अनुकपा जागृत होती है। मैं अब तक ससार में भूला भटका, ससार म बहुत फिरा, विविध प्रकार की अकथ्य यातनाएँ सहन की, फिर भी मेरा भव से निस्तार न हुआ। मेरा उद्धार कब होगा ? मैं इस ससार-सागर को कब पार करूँगा' इस प्रकार सोचना स्व दया है और किसी दीन दु खी अथवा पापपीडित प्राणी को देखकर हृदय म कपन हो, और इस प्राणी का दु ख पाप किन उपायो से दूर हो ? मैं किस प्रकार उसकी सहायता करूँ ? आदि विचार करना द्रव्य-भाव-उभय प्रकार स-परदया है। यहाँ इतना ध्यान मे रक्खें कि बाह्य क्षुधा, रोगादि की पीडा द्रव्य दु ख है और हिंसा, रागादि पापो की पीडा भाव दु ख है, दोनो प्रकार के दु ख दूर करने की भावनाओ को क्रमश द्रव्य दया और भाव दया कहते हैं। इन चारो गुणो का आत्मा मे जब परिणमन होता है, तब आस्तिक्य गुण दृढ होता है और सम्यक्त्व की शोभावृद्धि होती है।

इस गुणस्थान मे अनतानुबधी कषायो का उदय नही होता, परन्तु अप्रत्याख्यानीय, प्रत्याख्यानावरणीय और सज्वलन कषाय का उदय होता है जो क्रमश आगे के गुणस्थानो मे क्षीण होता जाता है।

(५) विरताविरत गुणस्थान–

सम्यग्दृष्टि आत्मा कई अंशों में विरत और कई अंशों में अविरत होता है, तब इस गुणस्थान में रहा हुआ माना जाता है। विरत होना अर्थात् विरति, व्रत, नियम या प्रत्याख्यान धारण करना। वह जब देश अर्थात् अमुक अंश में होती है, तब कुछ भाग अविरति का रह जाता है। श्रावकों के व्रत इस प्रकार के होते हैं, अतः वे देशविरति कहलाते हैं और इसलिये इस गुणस्थान को देशविरति गुणस्थान भी कहते हैं।

श्रावक तथा साधुओं के व्रतों का वर्णन धर्माचरण खण्ड में किया हुआ है।

(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान–

सम्यग्दृष्टि आत्मा जब सर्व विरति स्वीकार करके संयत अर्थात् साधु बनता है, परन्तु कुछ अंश तक प्रमाद युक्त होता है तब इस गुणस्थान में रहा हुआ माना जाता है।

सर्व विरति में पाप कर्म का सर्वांश रूप से त्याग होता है। मुख्य पाप पांच प्रकार के हैं–हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन और परिग्रह। सर्वांश रूप से अर्थात् नव कोटि से। नव कोटि इस प्रकार समझें:—

(१) मन से पाप न करना।
(२) वचन से पाप न करना।
(३) काया से पाप न करना।
(४) मन से पाप न करवाना।
(५) वचन से पाप न करवाना।
(६) काया से पाप न करवाना।
(७) मन से पाप का अनुमोदन न करना।

जागृति या आत्मतल्लीनता की वृद्धि होती है और प्रमाद दूर होता है। इस अवस्था को अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहते हैं।

यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि छठे और सातवें गुणस्थान का परिवर्तन बारम्बार हुआ करता है। जब आत्मतल्लीनता होती है तब आत्मा सातवें गुणस्थान में चढ़ता है और उसके परिमाण में न्यूनता आने पर वह पुनः छठे गुणस्थान में आ जाता है। सातवें गुणस्थान में अधिक से अधिक अंतर्मुहूर्त काल तक रहता है।

(८) निवृत्ति गुणस्थान–

इस गुणस्थान को निवृत्ति गुणस्थान कहने का कारण यह है कि इस गुणस्थान में समकाल में जिन आत्माओं का प्रवेश हुआ हो, उनके अध्यवसायों में परस्पर तरतमता होती है, परन्तु इस गुणस्थान का अधिक प्रसिद्ध नाम तो अपूर्वकरण गुणस्थान है और वह काफी विवेचन माँगता है।

श्री हरिभद्रसूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय में इसे द्वितीय अपूर्वकरण कहा है,[१९] क्योंकि ग्रन्थिभेद के समय भी एक अपूर्वकरण होता है।

जिस अवस्था में पहिले कभी भी न अनुभूत आत्मशुद्धि का अनुभव होता है, अपूर्व वीर्योल्लास जगता है, असाधारण सामर्थ्य प्रकट होता है उसका नाम अपूर्वकरण गुणस्थान। यहाँ से कोई विकासगामी आत्मा मोहनीय कर्म की प्रकृतियों का उपशम करके आगे बढ़ता है और नौवें तथा दसवें गुणस्थान में होकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पहुँच जाता है अर्थात् वह मोहनीय कर्म की प्रकृतियों को विशेष प्रकार के अध्यवसाय के बल से बिल्कुल जड़ मूल से न उखाड़ कर उपशांत

कर देना है, परन्तु इस गुणस्थान मे आने वाले आत्मा को मोहनीय कर्म बलपूर्वक नीचे गिरा देता है, अत विकास अवरुद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं परन्तु कई बार तो पुन विकास को प्रारम्भ से साधने की स्थिति पैदा हो जाती है। आत्मा ने यहाँ उपशमन करते समय आगे बढने की जो तत्परता की उसे शास्त्रीय परिभाषा मे गुणश्रेणि कहते हैं। यहाँ गुण-श्रेणि अर्थात् उपशमन की प्रक्रिया मे कर्मों की असख्य गुण असख्य गुण क्रम से का जाने वाली रचना, इन कर्मों का बाद म क्षय होना है। उसमे मोहनीय कर्म का उपशमन होता है, अत उसे उपशम श्रेणी के नाम स पुकारते हैं। जो आत्मा उपशम श्रणी से चढता है उसे उपशमक कहते हैं।

अन्य विकासगामी साधक यहाँ से मोहनीय कर्म की प्रकृतियो को जड मूल स उखाडते हुए अग्रसर होते हैं। वे नव तथा दसवें गुणस्थान मे होकर सीधे बारहवें गुणस्थान मे पहुँच जाते है, जहाँ पहुँचने के बाद नीचे गिरना नही होता। वहाँ मोहनीय कम की सभी प्रकृतियाँ क्षीण हो जाती हैं और वह आत्मा अवश्य तेरहव गुणस्थान मे पहुँच कर लोकालोक प्रकाशक केवलज्ञान की प्राप्ति करके सवज्ञ बनता है। यहाँ आत्मा ने मोहनीय क क्षयार्थ जो श्रणी की वह क्षपक श्रेणी कहलाती है और उसक आधार पर ऊपर चढने वाला आत्मा क्षपक कहलाता है।

इस प्रकार आठवाँ गुणस्थान आध्यात्मिक विकास के माग म तजी स आग बढने का एक निमित्त प्रस्तुत करता है। अब कम बध के दो ही हेतु शेष होते हैं कषाय और योग। अर्थात् कषाय के विरुद्ध भावी सघर्ष यही से प्रारम्भ होता है और वह दसवें गुणस्थान के अत तक जारी रहता है।

(९) अनिवृत्ति गुणस्थान :

आठवें गुणस्थान को प्राप्त किया हुआ आत्मा आगे बढ़ कर इस गुणस्थान में आता है और चारित्रमोहनीय कर्म के शेष अंशों को शमन करने का अथवा क्षीण करने का कार्य आगे बढ़ाता है। यहाँ अनिवृत्ति शब्द से ऐसा सूचित किया है कि निवृत्ति अर्थात् अध्यवसायों की भिन्नता यहाँ नहीं होती, क्योंकि इस गुणस्थान में समकाल में प्रवेश करनेवाले के अध्यवसाय प्रविष्ट होने के पश्चात् प्रत्येक समय परस्पर समान होते है।

इस गुणस्थान की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि उसमें सूक्ष्म क्रोध मान माया के अतिरिक्त सूक्ष्म कामवासना (Sex impulse) का भी सर्वथा नाश हो जाता है। सूक्ष्म या सुप्त कामवासना समय आने पर साधकों की साधना को कैसा कुचल डालती है, यह हम शास्त्र इतिहास और अनुभव से जान सकते हैं अतः सुप्त कामवासना का नाश होने से आध्यात्मिक विकास का मार्ग सरल होता है, ऐसा समझें।

(१०) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान—

आत्मा स्थूल कषायों से सर्वथा निवृत्त हुआ हो, परन्तु सूक्ष्म संपराय अर्थात् सूक्ष्म कषायों से युक्त हो, ऐसे आत्मा की अवस्थाविशेष को सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान कहते हैं। इस गुणस्थान में क्रोध, मान अथवा माया का अभाव होता है, परन्तु सूक्ष्म लोभ का उदय होता है। अन्तिम समय उपशांत या नष्ट होने से उसका उदय भी चला जाता है।

(११) उपशान्तमोह गुणस्थान—

जहाँ सभी मोहनीय कर्म अमुक समय तक उपशांत हो जाते हैं, आत्मा की ऐसी अवस्था विशेष को उपशांतमोह गुण-

स्थान कहते हैं। इस गुणस्थान मे आया हुआ आत्मा जघन्य से एक समय और उत्कृष्ट से एक अतर्मुहूर्त तक वीतराग दशा का अनुभव करता है। तत्पश्चात् उपशात किये हुए मोहनीय कर्म का उदय होने पर वह मोहपाश मे बंध जाता है और छठे, सातवें, पाचवें, चौथे अथवा पहिले गुणस्थान पर भी पहुँच जाता है।

इस गुणस्थान को उपशातकपाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान भी कहते है। इसका अर्थ यह है कि इस गुणस्थान मे कपाय अमुक समय तक उपशात होते हैं, जिससे वीतरागता का अनुभव होता है परन्तु छद्मस्थता अर्थात् अपूर्ण ज्ञानदशा दूर नही होती।

(१२) क्षीणमोह गुणस्थान—

जिसका मोहनीय कर्म दसवे गुणस्थान के अन्त मे सर्वथा क्षीण हो जाता है, उसकी अवस्था विशेष को बारहवां क्षीणमोह गुणस्थान कहते हैं। मोहनीय कर्म सभी कर्मों में बलवान हैं। और अन्य कर्मों को आश्रय देता रहता हैं। इस गुणस्थान में उसका सर्वथा अभाव होने से थोडी ही देर मे ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म का भी नाश हो जाता है।

क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ का अर्थ यह है कि इस अवस्था मे सभी कपाय क्षीण हो चुके हैं, वीतरागता की प्राप्ति होती है, परन्तु अभी तक छद्मस्थावस्था दूर नही हुई। (छद्म अर्थात् लेश मात्र भी अज्ञानता जिसमे वर्तते हैं सो छद्मस्थ)।

(१३) सयोगिकेवलि गुणस्थान—

मोहनीय, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय इन

चारों घाती कर्मों का बारहवें गुणस्थान के अन्त में नाश होने पर तेरहवें गुणस्थान के प्रथम समय में आत्मा केवलज्ञान और केवलदर्शन प्राप्त करता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी की कोटि में आता है। इस समय उसे भूत, भविष्य और वर्तमान इन तीनों कालों के सर्व पदार्थों का सर्वभाव से प्रत्यक्ष हो जाता है। इस गुणस्थान में आत्मा पूर्णतः वीतराग होकर वेदनीय आयुष्य, नाम और गोत्र इन चारों अघाती कर्मों के विपाक सहज और समभावपूर्वक भोगता है। अन्य दर्शनों में जिसे जीवन्मुक्त दशा कहते हैं, वह इसी अवस्था का अमर नाम है।

इस केवलज्ञानी परमात्मा के भी मन, वचन और काया की प्रवृत्ति रूप योग होते हैं, इसलिए वह सयोगी कहलाता है, और सयोगि-केवली आत्मा की अवस्था विशेष को सयोगि केवलि-गुणस्थान कहते हैं।

(१४) अयोगिकेवलि गुणस्थान–

सयोगि केवली निर्वाण का समय समीप आने पर मन, वचन और काया के योग का निरोध करके अयोगी अर्थात् योग रहित बनता है अर्थात् उसके आत्म-प्रदेशों का परिस्पंदन बन्द हो जाता है तब उसकी अवस्था विशेष को अयोगि-केवलि गुणस्थान कहते हैं।

त्रिविध योग बादर और सूक्ष्म दोनों प्रकार का होता है। उसमें तेरहवें गुणस्थान में रहे हुए केवली भगवंत प्रथम बादर काययोग द्वारा बादर मनोयोग का निरोध करते हैं। और फिर बादर वचनयोग का निरोध करते हैं। इस प्रकार तीन प्रकार के बादरयोग में से दो बादर योग जाने से एक बादर काययोग शेष रहता है। फिर सूक्ष्म काययोग

द्वारा वे बादर काययोग का निरोध करते हैं, सूक्ष्म वचनयोग का निरोध करते हैं और सूक्ष्म मनोयोग का भी निरोध करते हैं। अन्त मे सूक्ष्म काययोग शेष रहता है तब सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाती नामक तृतीय शुक्ल ध्यान आरम्भ करते हैं और उसके द्वारा सूक्ष्म काययोग का निरोध करते हैं। ये सब योग निरोध की क्रियाएँ तेरहवे गुणस्थान के अन्तिम क्षणो में होती हैं और ज्यो ही सूक्ष्म काययोग का भी निरोध हुआ कि तेरहवें गुणस्थान की समाप्ति के साथ चौदहवे गुणस्थान का प्रारम्भ होता है। इस समय आत्मा के सभी प्रदेश मेरु शैल जैसे निष्प्रकप बन जाते हैं। शास्त्रीय परिभाषा मे उसे शैलेशीकरण होना कहते हैं। इन गुणस्थानो का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ इन पाँच ह्रस्वाक्षरो का उच्चारण करें इतना होता है। यहाँ समुच्छिन्नक्रियाऽनिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान होता है। उसके अन्त में जीव सकल अघाती कर्मो का क्षय करके अपनी स्वाभाविक ऊर्ध्व गति से लोक के अग्र भाग में आई हुई सिद्धशिला में रहे हुए सिद्धि स्थान पर पहुँच जाता है और वहाँ स्थिर होता है। इस समय उसकी अवगाहना अन्तिम शरीर अवस्था के ⅔ भाग जितनी होती है क्योंकि आत्म प्रदेश स्थिर होने से शरीर का पोलापन उससे पूरित हो जाने के कारण सकोच होता है।

इस प्रकार सर्व कर्मों से मुक्त बना हुआ जीव अपना शुद्ध स्वरूप प्राप्त करता है और वह सिद्ध परमात्मा कहलाता है। यह आत्मविकास को चरम सीमा है। इससे अधिक उन्नत किसी अवस्था का लोक में अस्तित्व नहीं है।

आत्मा के इस विकासक्रम से स्पष्ट होता है कि जैन

दर्शन में कोई एक अनादि-सिद्ध परमात्मा का स्वीकार नहीं किया गया है। प्रत्येक प्राणी अपने पुरुषार्थ द्वारा परमात्म-पद को प्राप्त कर सकता है।

गुणस्थान और ध्यान–

आत्मा ज्ञान स्वभाव युक्त है अतः वह किसी भी गुण-स्थान में कभी ध्यानमुक्त नहीं रह सकता। ध्यान मुख्यतः दो प्रकार का है–अशुभ और शुभ। इनके भी प्रत्येक के दो-दो भाग हैं। अशुभ के दो भाग–आर्त और रौद्र; शुभ के दो भाग धर्म और शुक्ल। पौद्गलिक दृष्टि की मुख्यता अथवा आत्मविस्मृति में जो ध्यान होता है वह अशुभ होता है और पौद्गलिक दृष्टि की गौणता अथवा आत्मानुसंधान दशा में जो ध्यान होता है वह शुभ होता है। अशुभ ध्यान संसार वृद्धि का कारण होता है और शुभ ध्यान संसार क्षय अथवा भवनाश का कारण है।

प्रथम तीन गुणस्थानों में आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों में न्यूनाधिकता होती है। चौथे और पांचवें गुणस्थान में इन ध्यानों के अतिरिक्त सम्यक्त्व के प्रभाव से धर्म ध्यान भी होता है। छठे गुणस्थान में आर्त और धर्म ये दो ध्यान होते हैं फिर भी यहाँ तक मुख्यता आर्तध्यान की रहती है। सातवें गुणस्थान में मात्र धर्मध्यान होता है। आठवें से वारहवें तक के पाँच गुणस्थानों में धर्म और शुक्ल ये दो ध्यान होते हैं और तेरहवें तथा चौदहवें गुणस्थान में मात्र शुक्ल ध्यान होता है।[१०]

जैन दृष्टि से आध्यात्मिक विकास क्रम का यह सामान्य दिग्दर्शन है। इसका विशेष परिचय कर्म संबंधी साहित्य में मिल सकता है।

टिप्पणी

१ चोद्दस जीवठाणा पण्णत्ता-त जहा मिच्छदिट्ठी, सासायण सम्मदिट्ठी, सम्ममिच्छदिट्ठी, अविरयसम्मदिट्ठी, विरयाविरए, पमत्तसजए, अप्पमत्तसजए, नियट्टि अनियट्टिबायरे, सुहुमसपराए, उवसमए वा खवए वा, उवसतमोहे वा खीणमोहे, सजोगी केवली, अजोगी केवली।

स्थान १४वाँ

२ मिच्छे सासण, मीसे, अविरय पमत्त अपमत्ते।
नियट्टि अनियट्टि, सुहुमुवसम-खीणसजोगिअजोगिगुणा ॥२॥

३ बाह्यात्मा चान्तरात्मा च, परमात्मेति च त्रय.।
कायाधिष्ठायकध्येया, प्रसिद्धा योगवाङ्मये ॥१७॥

४ तत्राद्यगुणस्थानत्रये बाह्यात्मा, तत पर क्षीणमोह-गुणस्थान यावदन्तरात्मा, तत परन्तु परमात्मेति ॥ अध्यात्ममतपरीक्षा गा १२५।

५ 'इस प्राचीन जैन विचार का वर्णन हरिभद्र सूरि ने अन्य प्रकार से भी किया है। उनके वर्णन के दो प्रकार हैं: पहिले प्रकार मे अविकास और विकास क्रम दोनो का समावेश किया हुआ है (देखो योग दृष्टि समुच्चय) अविकासकाल का ओघ दृष्टि के नाम से और विकासक्रम का सद्दृष्टि के नाम से उन्होने परिचय दिया है। वे सद्दृष्टि के मित्रा, तारा, बला, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा ये आठ विभाग करते हैं। इन आठो विभागो मे उत्तरोत्तर विकास का क्रम बढता जाता है। प्रथम मित्रादि चार दृष्टियो मे आध्यात्मिक विकास

होता तो है, परन्तु उसमें कुछ अज्ञान और मोह का प्राबल्य रहता है; जबकि स्थिरादि अन्तिम चार दृष्टियों में ज्ञान और निर्मोहत्व का प्राबल्य बढ़ता जाता है। दूसरे प्रकार के वर्णन में उक्त आचार्य ने मात्र आध्यात्मिक विकास के क्रम का ही योग के रूप में वर्णन किया है; उसके पूर्व की स्थिति का वर्णन नहीं किया। योग के उन्होंने आध्यात्म, भावना, ध्यान, समता और वृत्तिक्षय, ये पाँच भाग किये हैं।

इन दोनों प्रकार के वर्णनों में प्राचीन जैन गुणस्थानक के विचारों का नवीन पद्धति से वर्णन मात्र है।

दर्शन और चिंतन, भाग २ पृ० १०२०-२१

६. आजीविक सम्प्रदाय में आध्यात्मिक विकास की आठ सीढियाँ थीं ऐसा उल्लेख मज्झिम निकाय की बुद्धघोष कृत सुमंगलविलास की टीका में आता है। वहाँ इन सीढियों के नाम तथा अर्थ इस प्रकार बताए हुए हैं (१) जन्म दिन से सात दिन तक गर्भ निष्क्रमण जन्य दुःख के कारण प्राणी मंद (मोमुह) स्थिति में रहता है। यह प्रथम मंद भूमिका (२) दुर्गति में से आकर जो बालक जन्म लेता है वह बार बार रुदन करता है और विलाप करता है, इसी प्रकार सद्गति में से आकर जो जन्म लेता है वह सद्गति का स्मरण करके हँसता है। यह दूसरी खिड्डा अर्थात् क्रीड़ा भूमिका। (३) माँ बाप के हाथ पैर पकड़ कर अथवा अन्य वस्तु का आधार लेकर बालक पृथ्वी पर कदम रखता है, वह तीसरी पदवी मंसा भूमिका। (४) पैरों पर स्वतन्त्र रूप से चलने का सामर्थ्य आता है, वह चतुर्थ उजुगत-ऋजुगत भूमिका (५) शिल्प कला सीखने का समय-पाँचवीं शेख-शैक्ष भूमिका। (६) गृह त्याग

कर मन्यास लेने का समय छठी समण श्रमण-भूमिका। (७) आचार्य की सेवा द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का समय सातवी जिन भूमिका। (८) कुछ भी न बोलने वाले निर्लोभी श्रमण की स्थिति पन्न प्राज्ञ भूमिका।

इसके सम्बन्ध में कई विद्वानों का ऐसा मंतव्य है कि बुद्धघोष के समय में अर्थात् ई० स० पाँचवी छठी सदी में शायद आजीविक सम्प्रदाय अथवा उसका साहित्य थोड़ा बहुत रहा होगा जिसके आधार पर उसे ये नाम मिले होंगे, परन्तु इतना तो स्पष्ट होता है कि उसकी यह व्याख्या युक्तिसगत नही है क्योंकि उसकी इस व्याख्या में बालक के जन्म से लेकर यौवनकाल पर्यन्त व्यावहारिक वर्णन है, जिसका आध्यात्मिक विकास के साथ मेल नहीं बैठता। उसका वास्तविक अर्थ उस सम्प्रदाय के अनुसार क्या रहा होगा, सो बताना आज साधनाभाव के कारण सम्भव नही।

७ बौद्ध शास्त्र में व्यक्ति का आध्यात्मिक विकासक्रम बताने के लिये छह स्थितियाँ बताई गई हैं जो इस प्रकार है—

(१) अंध पुथुजन जिसे आर्य दर्शन अथवा सत्सग प्राप्त नही हुआ और जो निर्वाण मार्ग से पराङ्मुख है।

(२) कल्याण पुथुजन जिसे आर्यदर्शन तथा सत्सग प्राप्त हुआ है परन्तु जो निर्वाणमार्ग से पराङ्मुख है।

(३) सोतापन्न दस सयोजनाओं में से तीन सयोजनों का क्षयकर्ता।

(४) सकदागामी तीन सयोजनाओं का क्षय और दो को शिथिल करने वाला।

(५) औपपातिक पाँच सयोजनाओं का क्षय करनेवाला।

(६) अरहा-दसों संयोजनाओं का क्षय करके श्रेष्ठ व्यक्तित्व प्राप्त करनेवाला।

बौद्ध दर्शन ने आस्रव, संवर और निर्जरा नामक शब्द जैसे जैन दर्शन में से लिये हैं, वैसे ही 'संयोजना' शब्द भी जैन दर्शन में से लिया है। कर्मग्रन्थों में उसका प्रयोग आता है अर्थात् सम्भव है कि उसने छः स्थितियों का वर्णन जैनदर्शनोक्त गुणस्थानों के आधार पर ही किया हो; जैनदर्शनोक्त गुणस्थानों में जैसे मोहनीय कर्म के क्षय, उपशम और क्षयोपशम की प्रधानता है, उसी प्रकार इसमें संयोजना के क्षय की प्रधानता है। इसी तरह गुणस्थानों में प्रथम भूमिका जैसे मिथ्यादृष्टि की है, उसी तरह इसमें अंधपुथुजन की है। गुणस्थान में तेरहवीं और चौदहवीं भूमिका सयोगि केवली और अयोगि केवली की है, उसी प्रकार इसमें अरिहा की है; परन्तु एक बात स्पष्ट है कि गुणस्थान को बीच की भूमिकाओं में आत्मविकास का जो स्पष्ट सुव्यवस्थित वर्णन है, वह इसमें दृष्टिगोचर नहीं होता।

८. योगदर्शन महाभाष्यकार ने चित्त की पाँच भूमिकाएँ बताई हैं (१) क्षिप्त (२) मूढ़ (३) विक्षिप्त, (४) एकाग्र और (५) निरुद्ध। इसमें से प्रथम दो भूमिकाएं अविकास की हैं, तीसरी भूमिका अविकास और विकास के मिश्रण जैसी है, चौथी भूमिका विकास का सूचन करती है और पाँचवीं भूमिका पूर्ण विकास का सूचन करती है। अर्थात् इसमें विकास की विशेष भूमिकाएँ नहीं बताई गई हैं। इसके अतिरिक्त ये भूमिकाएँ चित्तवृत्ति के आधार पर योजित हैं, अतः उनमें

अथ सतत विवक्तं दृश्यतामेकरूपम्,
प्रतिपदमिदमात्मज्योतिरुद्योतमानम् ॥

१४. पमायं कम्ममाहिंसु अप्पमायं तहावरं ।
तब्भावादेसओ वावि बालं पंडियमेव वा ॥

१५. द्वितीया पूर्वकरणे प्रथमस्तात्त्विको भवेत् ।
आयोज्यकरणादूर्ध्वं द्वितीय इति तद्विदः ॥१०॥
धर्मसंन्यासयोग ।

१६. इसके विषय में तत्त्वार्थसूत्र के ९वें अध्याय में निम्नलिखित सूत्र हैं ।

तदविरतदेशविरतप्रमत्तसंयतानाम् ॥३५॥
हिंसानृतस्तेयविषयसंरक्षणेभ्यो रौद्रमविरत-
देशविरतयोः ॥३६॥
आज्ञापायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्त-
संयतस्य ॥३७॥

जैन न्याय का उद्गम और विकास

* दर्शन शास्त्र म न्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान
* जैन परम्परा न्याय की समर्थक है।
* जैन न्याय का उद्गम कब ?
* जैन न्याय का सुन्दर वि---
* (टिप्पणी १ से २२ तक

दर्शनशास्त्र में न्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान :

प्रमाणों के द्वारा पदार्थ का परीक्षण करना न्याय कहलाता है।[1] अथवा संदिग्ध वस्तु का निर्णय करनेवाली अनुमान-पद्धति को न्याय कहते हैं।[2] पाश्चात्य विद्वानों ने सत्यान्वेषण में प्रवर्तित मनोव्यापार के नियमों को न्याय कहा है।[3] इन सभी व्याख्याओं का सार यह है कि वस्तु-तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझने में न्याय बहुत उपयोगी है।

न्याय की इस उपयोगिता के कारण सुज्ञजनों ने उसका सम्मान किया है, धर्म-शास्त्रों ने उसका आदर किया है और दर्शन शास्त्रों ने उसे अपने हृदय-स्थल में स्थापित किया है। जहाँ दर्शन है, वहाँ न्याय अवश्य होता है। न्याय ने दर्शन-शास्त्रों की विचारधारा को पल्लवित किया है।

जैनपरम्परा न्याय की समर्थक है :

जैन-दर्शन ने न्याय को स्थान दिया है, इतना ही नहीं, परन्तु उसे अपना एक अविभाज्य अंग बनाया है और उसके पठन-पाठन पर बहुत बल दिया है। इसके सम्बन्ध में उसका मुख्य तर्क यह है कि यदि आचार्य न्याय में निपुण न हों तो परिषद् (व्याख्यान-सभा) को जीत नहीं सकते, तथा श्रोता-गणों के मन के संशय का सर्वथा निवारण करने में असमर्थ रहते हैं। यदि उपाध्याय न्याय में प्रवीण न हों तो नय-निक्षेप और स्याद्वादयुक्त द्वादशांगी[4] का मर्म ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और इससे शिष्यों को उसका अध्ययन यथार्थ रूप में नहीं करवा सकते। इसी प्रकार साधु न्याय में कुशल न हों तो धर्मकथा कर नहीं सकते, उसमें इष्ट मत की सिद्धि और

द्वितीय खंड

न्याय

(१)

जैन न्याय का उद्गम और विकास

(२)

ज्ञान और प्रमाण व्यवस्था

(३)

नयवाद

(४)

निक्षेपवाद

(५)

स्याद्वाद और सप्तभंगी

जैन न्याय का उद्गम और विकास

* दर्शन शास्त्र म न्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान
* जैन परम्परा न्याय की समर्थक है।
* जैन न्याय का उद्गम कब ?
* जैन न्याय का सुन्दर विकास
* (टिप्पणी १ से २२ तक)

दर्शनशास्त्र में न्याय का महत्त्वपूर्ण स्थान :

प्रमाणों के द्वारा पदार्थ का परीक्षण करना न्याय कहलाता है।[1] अथवा संदिग्ध वस्तु का निर्णय करनेवाली अनुमान-पद्धति को न्याय कहते हैं।[2] पाश्चात्य विद्वानों ने सत्यान्वेषण में प्रवर्तित मनोव्यापार के नियमों को न्याय कहा है।[3] इन सभी व्याख्याओं का सार यह है कि वस्तु-तत्त्व का यथार्थ स्वरूप समझने में न्याय बहुत उपयोगी है।

न्याय की इस उपयोगिता के कारण सुज्ञजनों ने उसका सम्मान किया है, धर्म-शास्त्रों ने उसका आदर किया है और दर्शन शास्त्रों ने उसे अपने हृदय-स्थल में स्थापित किया है। जहाँ दर्शन है, वहाँ न्याय अवश्य होता है। न्याय ने दर्शन-शास्त्रों की विचारधारा को पल्लवित किया है।

जैनपरम्परा न्याय की समर्थक है :

जैन-दर्शन ने न्याय को स्थान दिया है, इतना ही नहीं, परन्तु उसे अपना एक अविभाज्य अंग बनाया है और उसके पठन-पाठन पर बहुत बल दिया है। इसके सम्बन्ध में उसका मुख्य तर्क यह है कि यदि आचार्य न्याय में निपुण न हों तो परिषद् (व्याख्यान-सभा) को जीत नहीं सकते, तथा श्रोता-गणों के मन के संशय का सर्वथा निवारण करने में असमर्थ रहते हैं। यदि उपाध्याय न्याय में प्रवीण न हों तो नय-निक्षेप और स्याद्वादयुक्त द्वादशांगी[4] का मर्म ठीक-ठीक समझ नहीं सकते और इससे शिष्यों को उसका अध्ययन यथार्थ रूप में नहीं करवा सकते। इसी प्रकार साधु न्याय में कुशल न हों तो धर्मकथा कर नहीं सकते, उसमें इष्ट मत की सिद्धि और

अनिष्टमत का खण्डन करना पड़ता है,[१] जो न्याय मे कुशल होने से ही हो सकता है।

जिन-प्रवचन का सार कहने मे समर्थ कौन है? इस प्रश्न के उत्तर मे जैन-महर्षियो ने दश,काल और जाति की उत्तमता-आदि छत्तीस गुणो की आवश्यकता बताई है, जिसमें आहरण (दृष्टान्त), हेतु, कारण और नय की निपुणता का भी निर्देश किया है। आहरण, हेतु, कारण और नय की निपुणता क्या न्याय की निपुणता नही?

इसके अतिरिक्त जैन-दर्शन मे ऐसा माना गया है कि जो आचार्य अथवा मुनि पुगव न्याय का अभ्यास करके वाद करने मे कुशल होते हैं, वे शासन की महान् प्रभावना कर सकते हैं और इसीलिए आठ प्रकार के प्रभावको मे वादी की गणना की गई है।[७] इन परिस्थितियो में जैन श्रमण-न्याय का अभ्यास करके मोक्ष-साधक जैन-दर्शन के स्याद्वादमूलक सिद्धान्त की सर्वोपरिता सिद्ध करने के लिए वाद करने मे कुशल होने की अभिलाषा रक्खें-यह स्वाभाविक है।

भगवान महावीर की शिष्य सपदा वादियो से समृद्ध थी। उनमे ४०० मुनि ऐसे थे जो वाद करने मे बहुत कुशल थे।[८] यदि न्याय के अभ्यास को जैन परम्परा का समर्थन प्राप्त न हो तो एव महान अध्यात्मवादी धर्म प्रवर्तक परमात्मा के शिष्य समूह म इतने वादी हो कैसे?

यहां यह भी स्पष्ट कर द कि जैन-परम्परा ने न्याय का समर्थन किया है और वाद की कुशलता का सत्कार किया है, उसके साथ यह भी घोषित किया है कि अन्य तीर्थिको के साथ वाद करते समय आत्म-समाधि वाला मुनि सत्य-साधक प्रतिज्ञा

हेतु और उदाहरण का प्रयोग करे और इस प्रकार बोले कि जिससे प्रतिपक्षी अपना विरोधी नहीं बने।[९] तात्पर्य यह है कि नैयायिक आदि लोगों ने वाद में विजेता बनने के लिए जल्प, वितंडा, छल, जाति और निग्रहस्थान जैसे साधनों को स्वीकार किया है,[१०] जिन्हें जैन धर्म ने स्वीकार नहीं किया है। इस क्षेत्र में भी वह अपनी सत्य और अहिंसा की नीति पर दृढ़तापूर्वक टिका हुआ है। जैन धर्म में शुष्क तर्कवाद को स्थान नहीं है—यह बात श्री सिद्धसेन सूरि ने वाद द्वात्रिंशिका में और श्री हरिभद्रसूरि ने वादाष्टक में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित की है।

जैन न्याय का उद्‌गम कब ?

'जैन न्याय का उद्‌गम कब ?' इस प्रश्न का उत्तर यहाँ सविस्तार दिया जायगा, क्योंकि इसके संबंध में अनेक भ्रमपूर्ण विचार प्रचलित हैं।

न्यायविशारदों ने बहुत चर्चा के पश्चात् यह निश्चित किया है कि जब से मनुष्य संस्कृत हुआ, उसने भिन्न २ वस्तुओं पर विचार और तर्क करना सीखा, और तत्संबंधी उदाहरण तर्क-वितर्क सुनकर अनुमान पर आना सीखा, तभी से न्याय का उद्‌गम हुआ है। अर्थात् वह मानवसंस्कृति के जितना ही प्राचीन है, बाद में तद्विषयक स्वतन्त्र शास्त्रों की रचना चाहे जब हुई हो। जैसे व्याकरण की रचना होने से पूर्व भाषा का व्यवहार अवश्य था, वैसे ही न्यायशास्त्र बनने से पूर्व न्याय का व्यवहार अवश्य था।[११]

जैन अनुश्रुति के अनुसार धर्म की समझ से युक्त मानवसंस्कृति का प्रसार श्री ऋषभदेव से हुआ है। [illegible]

का उद्भव श्री ऋषभदेव के समय मे हुआ ऐसा मानना युक्ति-सगत है। श्री ऋषभदेव भगवान ने धर्मतीर्थ की स्थापना करते समय 'उपन्नेइ वा विगमेइ वा धुवेइ वा' यह त्रिपदी कही थी उसमे अनेकान्तवाद की जड थी। बाद मे उन्होने जो धर्मोपदेश दिया उसमे सापेक्षता थी, तत्त्वनिष्ठता थी और सिद्धान्तो का यथार्थ निरूपण भी था, अर्थात् जैन न्याय के सब श्रेष्ठ तत्त्व उसमे विद्यमान थे। उनके उपदेश के आधार पर द्वादशागी की रचना की गई, उसमे भी ये सब वस्तुएँ आई थी। इसलिए तन्त्र के रूप मे न्याय का उद्गम द्वादशागी जितना ही प्राचीन है।

उस समय द्वादशागी के अध्ययन मे ही जैन न्याय के अध्ययन का समावेश हो जाता था, अत इस विषय मे किन्ही स्वतन्त्र शास्त्रो की रचना न हुई हो ऐसा भी सभव है। ये शास्त्र तो जब द्वादशागी के ज्ञान मे ह्रास होने से अनिवार्य सयोग उत्पन्न हुए तभी रचे गए परन्तु इसका अर्थ यह नही कि जैन न्याय का उद्भव तब हुआ।

जिनागम राजप्रश्नीय सूत्र मे श्रमण केशिकुमार और प्रदेशी राजा का सवाद आता है। ये श्रमण केशिकुमार भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा मे थे और प्रदेशी श्वेतम्बिका नगरी का राजा था। प्रदेशी राजा आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को नहीं मानता था और वह स्वर्ग नरक की मान्यता को भी मिथ्या समझता था। इस विषय मे उसने अपने तर्क एक के पश्चात् एक श्रमण केशिकुमार के सम्मुख प्रस्तुत किये और उन्होने उनका सुदर ढग से निराकरण किया। अन्त मे राजा प्रतिबोधित हुआ और उसने श्रावक के तत्त्वश्रद्धायुक्त पाँच

अणुव्रत ग्रहण किये । यह संवाद पढ़ने पर हमारे मन पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि श्रमण केशिकुमार एक समर्थ वादी थे और उस समय श्रमण संघ में न्याय का पठन पाठन अवश्य था ।

यही परिपाटी भगवान महावीर के श्रमण संघ में जारी रही और इसी से उसमें एक साथ ४०० मुनि वादी बने । भगवती सूत्र का निम्न संवाद हमें यह बताता है कि उस समय चार प्रकार के प्रमाणों द्वारा वस्तु की परीक्षा की जाती थी ।

श्री गौतम स्वामी भगवान महावीर से प्रश्न पूछते हैं और भगवान महावीर उनका उत्तर देते हैं :

प्रश्न–हे भगवन् ! जैसे केवली चरम शरीर को जान सकते हैं, वैसे ही क्या छद्मस्थ भी जान सकता है ?

उत्तर–हे गौतम ! वह स्वयं ऐसा नहीं कर सकता, परन्तु सुनकर जान सकता है अथवा प्रमाण से जान सकता है ।

प्रश्न–हे भगवन् ! किससे सुनकर ?

उत्तर–हे गौतम ! केवली से सुनकर ।

प्रश्न–हे भगवन् ! यह प्रमाण कौनसा ?

उत्तर–हे गौतम ! प्रमाण चार प्रकार के बताए गए हैं जो इस प्रकार हैं–**प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और आगम ।** (इसके विषय में जो अनुयोगद्वार सूत्र में कहा है, वही यहाँ जानना)[१२] कोष्टक के शब्द जिनागमों को सम्पादन करनेवाले श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के हैं ।

जिनागमों में नय[१३] निक्षेप[१४] और अनेकान्तवाद अथवा स्याद्वाद[१५] के उल्लेख भी कई बार आते हैं तथा चार प्रकार की धर्मकथा,[१६] तीन प्रकार की वक्तव्यता,[१७] चार प्रकार के आहरण,[१८] चार प्रकार के आहरण के दोष,[१९] चार प्रकार के

हेतु,[२०] छह प्रकार के विवाद [२१] दस प्रकार के वाद के दोष[२२] आदि का वर्णन भी मिलता है। यह सब न्याय के पठन पाठन की परिपाटी के बिना कैसे हो सकता है ?

आजकल ऐसा प्रचार चल रहा है कि न्याय के विषय ने प्रथम वैदिक परम्परा म स्थान प्राप्त किया और उसम वह विद्वत्प्रिय बना। यह देखकर बौद्ध उसकी ओर आकर्षित हुए और उन्होन भी इस विषय मे प्रयास प्रारम्भ किया। उनमे प्रभावित होकर जैनो ने भी न्याय का आरम्भ किया।' उपरोक्त प्रमाणो को देखने से यह बात निर्मूल सिद्ध होती है। इस पक्ष का एक तर्क ऐसा है कि 'आगमकाल मे न्याय के विभिन्न अगो का वर्णन मिलता है, परन्तु तत्सम्बन्धी कोई स्वतत्र ग्रन्थ रचना प्राप्त नही है। इसके दर्शन तो विक्रम की पहली स पाँचवी सदी तक मे हुए श्री सिद्धसेन दिवाकर के समय मे ही होते हैं। अत हमारा अनुमान सही है।' परन्तु इसके सबध मे अधिक गहरे उतरने की आवश्यकता है। वीर निर्वाण के पश्चात लगभग डेढ सौ वर्ष मे बारह वर्षीय भयकर दुष्काल पडा तब बहुतसा श्रुत विस्मृत हो गया, उसी प्रकार इस विषय का श्रुत भी विस्मृत हो गया हो, फिर भी वीर निर्वाण से १७० वष पश्चात् हुए श्रुतकेवली श्री भद्रबाहु स्वामी ने स्वरचित दशवैकालिक निर्युक्ति मे सविस्तार हेतु-व्याप्ति उदाहरण के उपन्यासपूवक न्याय के अनुमान प्रयोगा की गाथा बनाई ह। इसके अतिरिक्त श्री उमास्वाति वाचक जिनका समय प्रज्ञापना सूत्र की टीकानुसार वीर निवाण की चौथी शताब्दी ह, उन्होने तत्त्वाथ सूत्र के प्रथम अध्याय म 'प्रमाणनयैरधिगम' इस सूत्र द्वारा तत्त्वो का ज्ञान प्राप्त करने

के लिये प्रमाण और नय का उपयोग होता था, ऐसा सूचित किया है और स्वोपज्ञ भाष्य में उनका परिचय भी दिया है। इस परिचय में उन्होंने कई अवतरण भी दिये हैं। इस पर से भी उस समय जैन न्यायविषयक स्वतंत्र कृतियाँ होने का अनुमान होता है।

तात्पर्य यह है कि जैन न्याय का उद्गम, जैसा कि माना जाता है, वीर निर्वाण के पश्चात् पाँचवीं-दसवीं सदी में नहीं हुआ, परन्तु वह बहुत प्राचीन है।

जैन न्याय का सुन्दर विकास:—

भगवान महावीर के समय में भी दार्शनिक वाद-विवाद होते थे परन्तु वाद के समय में वे बहुत उग्र बन गये और उनमें तर्कवाद ने अपना बल अधिक बताना आरम्भ किया। ऐसे समय में निर्ग्रन्थ श्रमण चुप कैसे रह सकते थे? उन्होंने अपनी नैसर्गिक प्रतिभा द्वारा प्राचीन सामग्री का उपयोग करके न्याय विषयक स्वतंत्र रचनाएँ करना शुरू किया। इन रचनाओं के आधार पर श्रमणवर्ग प्रतिस्पर्धियों के सम्मुख टक्कर लेने के लिये शक्तिशाली बना और जिन शासन की रक्षा करके उसका गौरव बढ़ाने में सफल हुआ। विगत दो हजार वर्षों की इस प्रवृत्ति का यहाँ सामान्य अवलोकन करना उपयुक्त माना जाएगा।

विक्रम की पहली से चौथी सदी तक जैन न्याय की प्रतिष्ठा करनेवाली दो महान् विभूतियों का आविर्भाव हुआ। एक श्री सिद्धसेन दिवाकर और दूसरे श्री समन्तभद्र। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने सर्वप्रथम **न्यायावतार** की संस्कृत पद्य में रचना करके जैन प्रमाण की नींव [illegible] की। [illegible]

भर्तृहरि के कई महत्त्वपूर्ण उद्धरण हैं। आज यह टीका उपलब्ध है, परन्तु मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

विक्रम की छठी–सातवी शताब्दी में पात्र–केसरी नामक एक तेजस्वी आचार्य दिगम्बर परम्परा में हुए थे। उन्होंने **त्रिलक्षणकदर्थन** नामक न्यायग्रन्थ की रचना करके दिग्नाग-समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खंडन किया।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में श्री हरिभद्रसूरि ने **अनेकान्त-जयपताका** की रचना करके बौद्ध और अन्य दार्शनिकों द्वारा किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया और उनके सामने अनेकान्त वाद का विशद स्वरूप प्रस्तुत किया। **शास्त्रवार्तासमुच्चय, षडदर्शनसमुच्चय, ललितविस्तरा, लोकतत्त्वनिर्णय, धर्म-संग्रहणी** तथा **न्यायावतार वृत्ति** ये उनकी इस विषय में विशेष कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने दिग्नाग कृत **न्यायप्रवेश** पर **टीका** लिखकर अपनी उदारता का परिचय दिया और ज्ञानराशि सबकी है–यह बात सिद्ध की।

इसके पश्चात् राजगच्छीय तर्क-पंचानन श्री अभयदेव सूरि ने सन्मतितर्क पर वृहत् टीका की रचना करके जैन न्याय का गौरव बढ़ाया।

विक्रम की छठी से ग्यारहवीं सदी तक दिगम्बर संप्रदाय के चार महापुरुषों की प्रतिभा न्याय के विषय में बहुत चमकी थी। उनमें से प्रथम श्री अकलंक ने **राजवार्तिक, अष्टशती न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय** तथा **लघीयस्त्रय** की रचना की। दूसरे श्री विद्यानंद ने **प्रमाणपरीक्षा, अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा,** आदि की भेंट की। तीसरे श्री माणिक्यनंदि ने परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थ की

उन्होंने सन्मतितर्क नामक प्रकरण ग्रन्थ की प्राकृत भाषा में ग्रथा छन्द में रचना करके नयवाद की मूल दृढ़ करके अनेकान्त की स्थापना की। पश्चात् बत्तीस द्वात्रिंशिकाओं की रचना करके दार्शनिक गूढ़ विचारों को आकार दिया।

श्री समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्र द्वारा चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति की और उसके प्रत्येक पद्य में किसी न किसी दार्शनिकवाद की आलोचना की। युक्त्यनुशासन भी उनका इसी प्रकार का एक उत्कृष्ट काव्य है। आप्तमीमांसा में उन्होंने आप्त किसे कहते हैं? इसका दार्शनिक शैली से सुन्दर चर्चा की है और अबाधित सिद्धान्त को ही आप्तत्व की कसौटी सिद्ध की है। यह कसौटी लेकर वे आगे बढ़े हैं और एकान्तिकवादों में प्रमाणविरोध बताकर वे अनेकान्तवाद को ऊंचा रखने में सफल सिद्ध हुए हैं।

कुछ समय के पश्चात् आचार्य मल्लवादी हुए। वे तार्किक शिरोमणि थे। उन्होंने सन्मतितर्क पर महत्त्वपूर्ण टीका की रचना की थी परन्तु वह आज उपलब्ध नहीं है। उनका प्रसिद्ध और श्रेष्ठ ग्रन्थ द्वादशारनयचक्र है। उसमें तत्कालीन सभी दार्शनिकवादों को सग्रह है और उनमें से प्रत्येक का क्रम युक्त से खंडन होता है यह बता कर सिद्ध किया है कि प्रत्येक वाद का अपना अपनी योग्यता है और अपना अपना क्षेत्र है अपने क्षेत्र में वे सत्य है। इस प्रकार अनेकान्त की दृष्टि के आश्रय लेने से ही सभी वाद सुरक्षित रह सकते हैं।

श्री सिंहगणि ने द्वादशारनयचक्र पर १८००० श्लोक प्रमाण टीका लिखी है उसमें उनकी प्रतिभा का चमत्कार दिखाई पड़ता है। उसमें श्री सिद्धसेन दिगनाग और

भर्तृहरि के कई महत्त्वपूर्ण उद्धरण हैं। आज यह टीका उपलब्ध है, परन्तु मूल ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

विक्रम की छठी–सातवीं शताब्दी में पात्र–केसरी नामक एक तेजस्वी आचार्य दिगम्बर परम्परा में हुए थे। उन्होंने **त्रिलक्षणकदर्थन** नामक न्यायग्रन्थ की रचना करके दिग्नाग-समर्थित हेतु के त्रिलक्षण का खंडन किया।

विक्रम की आठवीं शताब्दी में श्री हरिभद्रसूरि ने **अनेकान्त-जयपताका** की रचना करके बौद्ध और अन्य दार्शनिकों द्वारा किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया और उनके सामने अनेकान्त वाद का विशद स्वरूप प्रस्तुत किया। **शास्त्रवार्तासमुच्चय, षड्दर्शनसमुच्चय, ललितविस्तरा, लोकतत्त्वनिर्णय, धर्म-संग्रहणी** तथा **न्यायावतार वृत्ति** ये उनकी इस विषय में विशेष कृतियाँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने दिग्नाग कृत **न्यायप्रवेश** पर **टीका** लिखकर अपनी उदारता का परिचय दिया और ज्ञानराशि सबकी है–यह बात सिद्ध की।

इसके पश्चात् राजगच्छीय तर्क-पंचानन श्री अभयदेव सूरि ने सन्मतितर्क पर वृहत् टीका की रचना करके जैन न्याय का गौरव बढ़ाया।

विक्रम की छठी से ग्यारहवीं सदी तक दिगम्बर संप्रदाय के चार महापुरुषों की प्रतिभा न्याय के विषय में बहुत चमकी थी। उनमें से प्रथम श्री अकलंक ने **राजवार्तिक, अष्टशती न्यायविनिश्चय, सिद्धिविनिश्चय** तथा **लघीयस्त्रय** की रचना की। दूसरे श्री विद्यानंद ने **प्रमाणपरीक्षा, अष्टसहस्री श्लोकवार्तिक, आप्तपरीक्षा, पत्रपरीक्षा,** आदि की भेंट की। तीसरे श्री माणिक्यनंदि ने परीक्षामुख नामक सूत्र ग्रन्थ की

रचना की और चौथे श्री प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय पर टीका के रूप में न्यायकुमुदचन्द्र तथा माणिक्यनन्दी कृत परीक्षामुख पर वृहत् टीका के रूप में प्रमेयकमलमार्तंड की रचना की। न्याय की दृष्टि से ये ग्रन्थ बड़े महत्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें प्रमाण शास्त्र के सर्व विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

ग्यारहवीं सदी के अन्तिम भाग में श्री जिनेश्वर सूरि ने न्यायावतार पर प्रमालक्ष्म नामक वार्तिक की रचना की और बारहवीं सदी के मध्य भाग में श्री चन्द्रप्रभसूरि ने प्रमेयरत्न-कोष नामक संक्षिप्त ग्रन्थ लिखा, जो प्रारम्भिक अभ्यास करने वाले के लिए बड़ा उपयोगी है।

इसी काल में दिगम्बराचार्य अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर प्रमेयरत्नमाला नामक एक संक्षिप्त सरल टीका लिखी, जो सामान्य कक्षा के अभ्यासियों के लिए उपयोगी है।

विक्रम की बारहवीं शताब्दी में हुए श्री वादिदेवसूरि जैन न्याय के एक जगमगाते हुए नक्षत्र हैं। उन्होंने प्रमेयरत्न-माला के ढंग पर प्रमाणनयतत्वालोक नामक ग्रन्थ की रचना की और उसमें दो प्रकरण नए भी जोड़े। जैन न्याय का अभ्यास करने के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। श्री वादिदेवसूरि ने इस ग्रन्थ पर स्वोपज्ञ विस्तृत टीका लिखी, जो स्याद्वादरत्नाकर के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि वह ८४००० श्लोक वाली थी परन्तु अब लगभग २२००० श्लोक वाली मिलती है।

श्री हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी उन्होंने प्रमाणमीमांसा की रचना करके तथा उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति रचकर जैन न्याय को विभूषित किया है। यह वृत्ति अति

संक्षिप्त भी नहीं और अति विशाल भी नहीं है। मूल तथा वृत्ति मिला कर मध्यम कलेवर की है। इसके अतिरिक्त उन्होंने **अयोगव्यवच्छेदिका** और **अन्ययोगव्यवच्छेदिका** नामक दो द्वात्रिंशिकाओं की रचना की है; वे भी बड़े महत्त्व की हैं। इनमें से द्वितीय द्वात्रिंशिका पर आचार्य मल्लिषेण ने **स्याद्वाद-मंजरी** नामक टीका लिखी है, जो शैली और सामग्री की दृष्टि से बहुत उपयोगी है।

विक्रम की तेरहवीं से सोलहवीं सदी तक भी यह क्षेत्र उज्ज्वल रहा है। वि. सं. १२०७ में श्री चन्द्रसेन ने **उत्पादादि-सिद्धि** नामक एक प्रकरण की रचना की और उसमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का तार्किक दृष्टि से प्रतिपादन किया। सं. १३८९ में श्री सोमतिलक ने **षड्दर्शन-समुच्चय** पर एक टीका लिखी और तत्पश्चात सौ सवा सौ वर्ष में श्री गुणरत्न ने **षड्दर्शनसमुच्चय** पर दूसरी बृहद् टीका लिखी, जो अधिक उपादेय बनी। इसी काल में दिगम्बर यति श्री अभिनव- धर्मभूषण ने **न्यायदीपिका** की रचना की।

पन्द्रहवीं शताब्दी में श्री मेरुतुंग ने **षड्दर्शन निर्णय** नामक ग्रन्थ लिखा, श्री राजशेखर ने **षड्दर्शनसमुच्चय, स्याद्वाद-कलिका, रत्नाकरावतारिका पंजिका** आदि की रचना की। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रशस्तपाद के भाष्य की टीका कंदली पर पंजिका लिखी। सोलहवीं सदी में श्री साधुविजय ने **वादविलयप्रकरण** और **हेतुखण्डन** नामक दो ग्रन्थ लिखे थे।

तत्पश्चात् नव्य न्याय का युग प्रारम्भ हुआ। इस युग

रचना की और चौथे श्री प्रभाचन्द्र ने लघीयस्त्रय पर टीका के रूप में न्यायकुमुदचन्द्र तथा माणिक्यनंदी कृत **परीक्षामुख** पर वृहत् टीका के रूप में **प्रमेयकमलमार्तंड** की रचना की। न्याय की दृष्टि से ये ग्रन्थ बड़े महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनमें प्रमाण शास्त्र के सब विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

ग्यारहवी सदी के अंतिम भाग में श्री जिनेश्वर सूरि ने न्यायावतार पर **प्रमालक्ष्म** नामक वार्तिक की रचना की और बारहवी सदी के मध्य भाग में श्री चन्द्रप्रभसूरि ने **प्रमेयरत्नकोष** नामक संक्षिप्त ग्रंथ लिखा जो प्रारंभिक अभ्यास करने वाले के लिये बड़ा उपयोगी है।

इसी काल में दिगम्बराचार्य अनन्तवीर्य ने परीक्षामुख पर **प्रमेयरत्नमाला** नामक एक संक्षिप्त सरल टीका लिखी, जो सामान्य कक्षा के अभ्यासियों के लिये उपयोगी है।

विक्रम की बारहवी शताब्दी में हुए श्री वादिदेवसूरि जैन न्याय के एक जगमगाते हुए नक्षत्र हैं। उन्होंने प्रमेयरत्नमाला के ढंग पर **प्रमाणनयतत्त्वालोक** नामक ग्रन्थ की रचना की और उसमें दो प्रकरण नए भी जोड़े। जैन न्याय का अभ्यास करने के लिये यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी है। श्री वादिदेवसूरि ने इस ग्रंथ पर स्वोपज्ञ विस्तृत टीका लिखी, जो स्याद्वादरत्नाकर के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि वह ८४००० श्लोक वाली थी परन्तु अब लगभग २२००० श्लोक वाली मिलती है।

श्री हेमचन्द्राचार्य की प्रतिभा सर्वतोमुखी थी उन्होंने **प्रमाणमीमांसा** की रचना करके तथा उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति रचकर जैन न्याय को विभूषित किया है। यह कृति अति

न्याय का अभ्यास कर रहे हैं और उसमें से उपयोगी कृतियों का संपादन-संशोधन करके उसे प्रसिद्ध कर रहे हैं। इससे जैन न्यायसमर्थित अनेकान्तवाद अथवा रहस्यवाद की ओर अनेक विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ है और वे इसके प्रति अपनी श्रद्धांजलि समर्पित कर रहे हैं।

आगे के पृष्ठों में जैन न्याय के महत्त्वपूर्ण अंगों का परिचय दिया गया है।

टिप्पणी

१ प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्याय ।

२ जैन न्यायनो क्रमिक विकास–दर्शन अने चिन्तन पृ० १०७७

३ न्यायशास्त्र उपोद्घात–ले० श्री मणिलाल नभुभाई द्विवेदी बी० ए०

४ जैन धर्म के बारह मौलिक शास्त्र । उनका परिचय चौथे खण्ड के जैन साहित्य प्रकरण में दिया गया है।

५ धर्मकथा चार प्रकार की है। उनमें से विक्षेपणी कथा में इस प्रकार करना होता है।

६ दस कुल जाइ रूवी सघयणी धिइजुत्तो अणासंसी ।
अविकत्थणो अमाई थिरपरिवाडी गहियवक्को ।।१।।
जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो देसकालभावन्नू ।
आसन्नलद्धपइभो णाणाविहदेसभासण्णू ।।२।।
पंचविह आयारे जुत्तो सुत्तत्थ तदुभयविहिन्नू ।
आहरण हेउ कारण णय णिउणा गाहणाकुसलो ।।३।।
ससमय परसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो ।
गुणसयकलिओ जुत्तो पवयणसारं परिकहेउं ।।४।।

ये गाथायें श्री हरिभद्रसूरि कृत दशवैकालिकटीका में तथा श्री शीलांकाचार्य विरचित आचारांगटीका में दृष्टिगोचर होती हैं।

७ पावयणी धम्मकही वाई नेमित्तिओ तवस्सी य ।
विज्जासिद्धा अ कवी अट्ठ व पभावगा भणिआ ।।
सम्यक्त्वसप्तति, [illegible] ३२ पृ० १०८

भगवान महावीर के परिवार का विवरण निम्नानुसार दिया गया है:—

केवल ज्ञान की उत्पत्ति से लगाकर विहार करते हुए चरम तीर्थंकर श्री वीर प्रभु के १४००० मुनि, ३६००० शांतहृदया साध्वियाँ, ३०० चौदह पूर्वधर श्रमण, १३०० अवधि ज्ञानी, ७०० वैक्रिय लब्धि वाले, उतने ही केवली, और उतने ही अनुत्तर विमान में जाने वाले, ५०० मन:पर्यव ज्ञानी, ४०० वादी, १५९००० श्रावक और ३१८००० श्राविकाएँ इतना परिवार हुआ।

९. सूयगडांग सूत्र १-३-३, १९

१०. नैयायिकों ने निम्नलिखित सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मुक्ति मानी हैं, प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति, और निग्रहस्थान।

११. न्यायशास्त्र, उपोद्घात ले० म० न० द्विवेदी।

१२. पाँचवाँ शतक, चौथा उद्देशक, १९१-९२

१३. आगे वर्णन आएगा।

१४. ,, ,, ,,

१५. ,, ,, ,,

१६. आक्षेपणी, विक्षेपणी, संवेदनी, निर्वेदनी; स्थानांग सूत्र ४-२-२८२

१७. स्वसिद्धान्त वक्तव्यता, परसिद्धान्त वक्तव्यता, स्व-पर-सिद्धान्त वक्तव्यता। अनुयोगद्वार सूत्र।

१८. अपाय, उपाय, स्थापना [illegible]
स्थानांग [illegible]

२. ज्ञान और प्रमाण-व्यवस्था

* ज्ञान के प्रकार
* मतिज्ञान
* इन्द्रियाँ
* मन
* मतिज्ञान के प्रकार
* श्रुतज्ञान
* मतिज्ञान और श्रुतज्ञान
* अवधिज्ञान
* मनःपर्यव ज्ञान
* केवलज्ञान
* प्रमाण किसे कहते हैं ?
* प्रमाण की परिभाषा
* प्रमाण का फल
* प्रमाण के भेद-प्रभेद
* प्रत्यक्ष प्रमाण
* परोक्ष प्रमाण
  (१) स्मरण अथवा स्मृति
  (२) प्रत्यभिज्ञान
  (३) तर्क
  (४) अनुमान
  (५) आगम
* (टिप्पणी १ से ३६)

२–ज्ञान और प्रमाण व्यवस्था।

न्याय शास्त्र में प्रमाण की प्रधानता है और यथार्थ को प्रमाण कहते हैं अत हम इस प्रकरण का प्रारम्भ स करग। ज्ञान का स्वरूप बराबर समझ में आजाने प्रमाण का स्वरूप समझन म सरलता रहेगी।

ज्ञान के प्रकार :

जैन दशन में ज्ञान पाँच प्रकार का माना गया है मति अथवा अभिनिबोधिक (२) श्रुत (३) अवधि मन पयव अर्थात मनपयाय और (५) केवलज्ञान।[1] पाचो ज्ञानो की सामान्य व्याख्याय प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रथम के कमवाद प्रकरण म दी गई है।

मतिज्ञान

मतिज्ञान का आभिनिबोधिक ज्ञान कहने का कारण है कि उसम वस्तु का अर्थाभिमुख निश्चित बोध होता यहा अभि उपसग अर्थाभिमुखता का और नि उपसर्ग नि तता का अर्थ प्रकट करता है।

श्री उमास्वाति महाराज ने तत्वार्थ सूत्र में बताया है मति स्मृति सज्ञा चिन्ता और अभिनिबोध ये शब्द ए हैं[2] अर्थात् जिसका व्यवहार स्मृति सज्ञा और क रूप म होता ह उसे भी मतिज्ञान ही समझ।

श्री भद्रबाहु स्वामी ने आभिनिबोधिक ज्ञान के लि निम्नलिखित पर्याय दिये हैं ईहा अपोह विमर्श मार्गण गवेषण सज्ञा स्मृति मति और प्रज्ञा।[3] नन्दिसूत्र में भी श द पाय जाते हैं।

तत्त्वार्थसूत्र में कहा है कि जो ज्ञान 'इन्द्रिय और मन के निमित्त से हो वह मतिज्ञान'[४]।

जैन शास्त्रों ने इन्द्रिय और मन का स्वरूप कैसा माना है यह यहाँ स्पष्ट करना उचित है।

इन्द्रियां : सर्व उपलब्धि और सर्व उपभोग के परम ऐश्वर्य का धारक होने के कारण आत्मा को इन्द्र कहते हैं। (उपलब्धि अर्थात् जानने की शक्ति, उपभोग अर्थात् विविध भावों का अनुभव) इन्द्र का लिंग-चिह्न इन्द्रिय। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय आत्मा के ज्ञान प्राप्त करने का एक साधन है। इन्द्रियाँ पाँच हैं:—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र।[५] कुछ लोग उनमें वाक्, पाणि आदि पाँच कर्मेन्द्रियों को मिला कर उनकी संख्या दस मानते हैं, परन्तु वाक्, पाणि आदि में इन्द्रिय का लक्षण घटित नहीं होता। यदि यह लक्षण चाहे जिस प्रकार घटाया जाय तो इन पाँचों के साथ मुख, मस्तक आदि को भी इन्द्रियों में क्यों नहीं गिनते ?

प्रत्येक इन्द्रिय दो प्रकार की है : द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय। पुद्गलमय जड़ इन्द्रिय को द्रव्येन्द्रिय कहते हैं और उसकी सहायता से होने वाले आत्म-परिणाम अथवा चेतना-व्यापार को भावेन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय में निवृत्ति और उपकरण नाम से अभिहित दो विभाग होते हैं और उनके प्रत्येक के बाह्य और आभ्यंतर ऐसे दो विशेष विभाग होते हैं। इस प्रकार द्रव्येन्द्रिय के बाह्य निर्वृत्ति, आभ्यंतर निर्वृत्ति, बाह्य उपकरण और आभ्यंतर उपकरण ऐसे चार प्रकार होते हैं।

इन्द्रिय की दृश्य आकृति बाह्य निर्वृत्ति, जैसे चमड़ी, जीभ, नाक, आंख, और कान। उसके अन्दर रहा हुआ पुद्गल

उसका आलम्बन लेकर आत्मा मनन-व्यापार करता है। मनन-व्यापार करते हुए आत्मा को भाव मन कहते हैं।

मुक्ति के जीव सकल कर्म से रहित होते हैं अतः वहाँ मन का होना संभव नहीं है। संसारी जीवों में कई जीवों के मात्र द्रव्य मन होता है, परन्तु भाव मन नहीं होता, कई जीवों के मात्र भाव मन होता है, परन्तु द्रव्य मन होता नहीं, और कई जीवों के द्रव्य मन और भाव मन दोनों होते हैं। केवली भगवंतों के कभी कभी द्रव्य मन होता है, परन्तु स्मरण-चिंतन रूप मनन-व्यापार नहीं होता, अर्थात् भाव मन नहीं होता। उनको केवलज्ञान से सर्व अर्थ की उपलब्धि जारी ही रहती है। अतः कुछ भी विचारना करना आदि नहीं रहता। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यञ्च और संमूर्च्छिम मनुष्य के द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन होता है। जब कि देव, नारक, गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य के द्रव्य मन और भाव मन दोनों होते हैं। हम गर्भज मनुष्य हैं, अतः हमारे द्रव्य मन तथा भाव मन दोनों हैं।

मन को अंतःकरण कहते हैं, क्योंकि ज्ञान प्राप्ति का वह आंतरिक साधन है। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'मन यदि ज्ञानप्राप्ति का साधन है, तो उसका समावेश इन्द्रियों में क्यों नहीं किया?' उसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों के और मन के कार्य में तथा स्वरूप में अन्तर है तथा इन्द्रियों को मन की आवश्यकता होती है, अतः उसका समावेश इन्द्रियों में नहीं किया। इन्द्रियाँ मात्र मूर्त अमुक २ पदार्थों को अमुक अंश में ग्रहण कर सकती हैं, जब कि मन तो मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के और सर्व इन्द्रियों के विषयभूत

उसका आलम्बन लेकर आत्मा मनन-व्यापार करता है। मनन-व्यापार करते हुए आत्मा को भाव मन कहते हैं।

मुक्ति के जीव सकल कर्म से रहित होते हैं अतः वहां मन का होना संभव नहीं है। संसारी जीवों में कई जीवों के मात्र द्रव्य मन होता है, परन्तु भाव मन नहीं होता, कई जीवों के मात्र भाव मन होता है, परन्तु द्रव्य मन होता नहीं, और कई जीवों के द्रव्य मन और भाव मन दोनों होते हैं। केवली भगवंतों के कभी कभी द्रव्य मन होता है, परन्तु स्मरण-चिंतन रूप मनन-व्यापार नहीं होता, अर्थात् भाव मन नहीं होता। उनको केवलज्ञान से सर्व अर्थ की उपलब्धि जारी ही रहती है। अतः कुछ भी विचारना करना आदि नहीं रहता। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, संमूर्च्छिम तिर्यंच और संमूर्च्छिम मनुष्य के द्रव्य मन नहीं होता, परन्तु भाव मन होता है। जब कि देव, नारक, गर्भज तिर्यंच और गर्भज मनुष्य के द्रव्य मन और भाव मन दोनों होते हैं। हम गर्भज मनुष्य हैं, अतः हमारे द्रव्य मन तथा भाव मन दोनों हैं।

मन को अंतःकरण कहते हैं, क्योंकि ज्ञान प्राप्ति का वह आंतरिक साधन है। यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'मन यदि ज्ञानप्राप्ति का साधन है, तो उसका समावेश इन्द्रियों में क्यों नहीं किया?' उसका उत्तर यह है कि इन्द्रियों के और मन के कार्य में तथा स्वरूप में अन्तर है तथा इन्द्रियों को मन की आवश्यकता होती है, अतः उसका समावेश इन्द्रियों में नहीं किया। इन्द्रियाँ मात्र मूर्त अमुक २ पदार्थों को अमुक अंश में ग्रहण कर सकती हैं, जब कि मन तो मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के और सर्व इन्द्रियों के विषयभूत

पदार्थों को अनेक रूप से ग्रहण कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियो मे निवृ त्ति और उपकरण ऐसे दो विभाग होते हैं, इस प्रकार के विभाग मन मे नही होते। शास्त्रो मे मन का व्यवहार अनिन्द्रिय के रूप मे हुआ है।

मन समस्त शरीर मे रहा हुआ है, क्योकि शरीर के भिन २ स्थानो म रहनेवाली इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सभी विषयो मे उसकी गति होती है।

मन अय वस्तु क साथ सबध प्राप्त नही करता, अत उसे अप्राप्यकारी माना जाता है।[७]

मतिज्ञान के प्रकार–मतिज्ञान चार सीढियो से होता है, अत उसके मुख्य भेद चार हैं अवग्रह इहा अपाय और धारणा।[८] अथ को अर्थात् जानने योग्य पदाथ को ग्रहण करना अवग्रह।

पौद्गलिक सामग्री–उसम प्रथम व्यजन (स्व विषय का सपक) ग्रहण किया जाता है अर्थात् विषय इन्द्रिय के अधिकाधिक सम्पक म आकर अभिव्यक्त होते जाते हैं ज्ञान के योग्य बनते जाते है और बाद मे कुछ' ऐसा अव्यक्त बोध होता है अर्थात् उसके **व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह** ऐसे दो विभाग बन जाते है। चक्षु और मन का व्यजनावग्रह नही होता क्योकि वे अप्राप्य प्रकाशकारो होने से विषय सपक की अपेक्षा नही रखते। विषय इन्द्रिय के ज्ञान योग्य देश म आजाए उतना ही पर्याप्त है। **'ईहा'** अर्थात् विचारणा जसे यह क्या होगा? अमुक या अमुक?' **अपाय** अर्थात् निश्चय। जैसे 'यह अमुक वस्तु है, और **धारणा** अर्थात् निश्चित् अर्थ का अवधारण। इन भेदो

का पाँच इन्द्रियों और मन से गुणा करने पर मतिज्ञान के कुल भेद अट्ठाईस होते हैं। वे इस प्रकार हैं:-

	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
स्पर्शने०	१	१	१	१	१
रसने०	१	१	१	१	१
घ्राण०	१	१	१	१	१
चक्षुरि०	×	१	१	१	१
श्रोते०	१	१	१	१	१
मन	×	१	१	१	१
	४	६	६	६	६

इन भेदों का वहु, अल्प, वहुविध, अल्पविध, आदि ग्रहण के १२ भेदों से गुणन करने पर ३३६ भेद होते हैं। उनमें औत्पातिकी आदि चार प्रकार की वुद्धि जोड़ने पर कुल ३४० भेद मतिज्ञान के होते हैं।

एक व्यक्ति आवाज सुनकर जाग उठता है। इसमें प्रथम आवाज के शव्द के आन्दोलन उसके कर्ण पर–उपकरणेन्द्रिय पर–टकराये, यह है व्यंजनावग्रह, तत्पश्चात् 'कुछ' ऐसा जो अव्यक्त-अस्पष्ट ज्ञान हुआ वह है अर्थावग्रह, फिर वह सोचने लगा कि 'यह क्या होगा' उदाहरणार्थ 'शंख का शव्द या शृंग का?' यह है ईहा, तदुपरान्त उसने निर्णय किया कि 'यह अमुक प्रकार की आवाज है, इसे कहते हैं अपाय। इसी प्रकार उस आवाज को उसने याद रक्खा, जिसे कहते हैं–धारणा।

धारणा तीन प्रकार की है: (१) अविच्युति, (२) वासना और (३) स्मृति। किसी वस्तु के उपयोग का सातत्य निभाना अविच्युति कहलाता है। इस अविच्युति रूप धारणा

पदार्थों को अनेक रूप से ग्रहण कर सकता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रियों मे निवृत्ति और उपकरण ऐसे दो विभाग होते हैं, इस प्रकार के विभाग मन मे नही होते। शास्त्रों मे मन का व्यवहार अनिन्द्रिय के रूप मे हुआ है।

मन समस्त शरीर मे रहा हुआ है क्योकि शरीर के भिन्न २ स्थानो मे रहनेवाली इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले सभी विषयो मे उसकी गति होती है।

मन ज्ञेय वस्तु के साथ सबध प्राप्त नही करता अत उसे अप्राप्यकारी माना जाता है।[७]

मतिज्ञान के प्रकार–मतिज्ञान चार सीढियो से होता है, अत उसके मुख्य भेद चार हैं अवग्रह ईहा अपाय और धारणा।[८] अर्थ को अर्थात् जानने योग्य पदार्थ को ग्रहण करना अवग्रह।

पौद्गलिक सामग्री–उसमे प्रथम व्यजन (स्व विषय का सपर्क) ग्रहण किया जाता है अर्थात् विषय इन्द्रिय के अधिकाधिक सम्पर्क मे आकर अभिव्यक्त होते जाते हैं ज्ञान के योग्य बनते जाते है और बाद मे कुछ ऐसा अव्यक्त बोध होता है अर्थात् उसके **व्यजनावग्रह और अर्थावग्रह** ऐसे दो विभाग बन जाते हैं। चक्षु और मन का **व्यजनावग्रह** नही होता क्योकि वे अप्राप्य प्रकाशकारी होने से विषय सपर्क की अपेक्षा नही रखते। विषय इन्द्रिय के ज्ञान योग्य देश मे आजाए उतना ही पर्याप्त है। *ईहा' अर्थात् विचारणा* जैसे यह क्या होगा? अमुक या अमुक?' **अपाय** अर्थात् निश्चय। जैसे 'यह अमुक वस्तु है, और **धारणा** अर्थात् निश्चित अर्थ का अवधारण। इन भेदो

का पाँच इन्द्रियों और मन से गुणा करने पर मतिज्ञान के कुल भेद अट्ठाईस होते हैं। वे इस प्रकार हैं:–

	व्यंजनावग्रह	अर्थावग्रह	ईहा	अपाय	धारणा
स्पर्शने०	१	१	१	१	१
रसने०	१	१	१	१	१
घ्राण०	१	१	१	१	१
चक्षुरि०	×	१	१	१	१
श्रोते०	१	१	१	१	१
मन	×	१	१	१	१
	४	६	६	६	६

इन भेदों का बहु, अल्प, बहुविध, अल्पविध, आदि ग्रहण के १२ भेदों से गुणन करने पर ३३६ भेद होते हैं। उनमें औत्पातिकी आदि चार प्रकार की बुद्धि जोड़ने पर कुल ३४० भेद मतिज्ञान के होते हैं।

एक व्यक्ति आवाज सुनकर जाग उठता है। इसमें प्रथम आवाज के शब्द के आन्दोलन उसके कर्ण पर–उपकरणेन्द्रिय पर–टकराये, यह है व्यंजनावग्रह, तत्पश्चात् 'कुछ' ऐसा जो अव्यक्त-अस्पष्ट ज्ञान हुआ वह है अर्थावग्रह, फिर वह सोचने लगा कि 'यह क्या होगा' उदाहरणार्थ 'शंख का शब्द या शृंग का?' यह है ईहा, तदुपरान्त उसने निर्णय किया कि 'यह अमुक प्रकार की आवाज है, इसे कहते हैं अपाय। इसी प्रकार उस आवाज को उसने याद रक्खा, जिसे कहते हैं–धारणा।

धारणा तीन प्रकार की है: (१) अविच्युति, (२) वासना और (३) स्मृति। किसी वस्तु के उपयोग का सातत्य निभाना अविच्युति कहलाता है। इस अविच्युति रूप धारणा

द्वारा ग्रहण किया हुआ और स्मृति होने में कारण भूत जो सस्कार होता है वह है वासना और जिस पदार्थ का अनुभव हुआ हो उसी पदार्थ का कालान्तर में स्मरण होना स्मृति कहलाता है। इसमें भी यह वस्तु सामने आई 'सो वही है' इस प्रकार वर्तमान के साथ अतीत का अनुसधान होना प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।

श्रुतज्ञान :

शब्द के निमित्त से वाच्य वाचक के सकेत पूर्वक मन द्वारा होनेवाला मर्यादित ज्ञान श्रुतज्ञान कहलाता है। इसके मुख्य दो भेद हैं अक्षरश्रुत और अनक्षरश्रुत। यहाँ अक्षर का अभिप्राय है लिपि। लिपि द्वारा जो ज्ञान होता है वह अक्षरश्रुत और उच्छ्वास, नि श्वास, थूँकने, खासी, छींक, सूँघना, चुटकी बजाना आदि अनक्षर ध्वनि से जो ज्ञान होता है वह अनक्षर श्रुत। श्रुत ज्ञान के अन्य प्रकार से भेद बनाएँ तो सम्यक् श्रुत और मिथ्याश्रुत ऐसे दो भाग किये जा सकते हैं। इसमें सम्यक्त्व धारण करनेवाले ने जो कुछ भी श्रुत ग्रहण किया हो वह सम्यक्श्रुत और मिथ्यात्वी ने जो भी श्रुत ग्रहण किया हो वह मिथ्याश्रुत। इन दो प्रकारों में से सम्यक् श्रुत इष्ट होने से सामान्यतया उसी को श्रुत कहते हैं।

श्रुतज्ञान के अन्य रीति से भी भेद किये जाते हैं जैसे-सज्ञि श्रुत-असज्ञि श्रुत, सादि श्रुत, अनादिश्रुत, सपर्यवसित श्रुत, अपर्यवसित श्रुत, गमिक श्रुत, अगमिक श्रुत, अग प्रविष्ट श्रुत, अनग प्रविष्ट श्रुत आदि। ये भेद जानने से श्रुत ज्ञान का स्वरूप अधिक स्पष्ट होगा।

सज्ञी पचेन्द्रिय छद्मस्थ आत्माओं का श्रुत सज्ञीश्रुत और

शेष एकेन्द्रिय से संमूच्छिम पंचेन्द्रिय तक के जीवों का श्रुत असंज्ञिश्रुत कहलाता है।

सादि श्रुत और अनादि श्रुत तथा सपर्यवसित श्रुत और अपर्यवसित श्रुत द्रव्य, क्षेत्र, काल तथा भाव की अपेक्षा से समझें। द्रव्य से एक व्यक्ति की अपेक्षा से श्रुतज्ञान का आदि और अंत (पर्यवसान) होता है, और अनेक व्यक्तियों की अपेक्षा से श्रुत अनादि अपर्यवसित होता है। क्षेत्र की अपेक्षा से पाँच भरत और पाँच ऐरवत में सादि पर्यवसित श्रुत होता है और पाँच महाविदेह में अनादि अपर्यवसित श्रुत होता है। काल की अपेक्षा से उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी में सादि सपर्यवसित श्रुत होता है और नो-उत्सर्पिणी-नो-अवसर्पिणी (महाविदेह क्षेत्र में इस प्रकार का काल होता है) में अनादि-अपर्यवसित श्रुत होता है। भाव की अपेक्षा से भव्य जीवों के लिए सादि सपर्यवसित श्रुत होता है और अभव्य जीवों के लिये अनादि अपर्यवसित श्रुत होता है।

गमिक श्रुत और अगमिक श्रुत के भेद दृष्टिवाद में आते हुए गमिक श्रुत को लक्ष्य में रखकर समझें। जिसमें पाठ अथवा आलाप समान आते हों वह गमिक श्रुत और जिसमें समान न आते हों वह अगमिक श्रुत।

अंगप्रविष्ट और अनंगप्रविष्ट के भेद क्रमशः द्वादशांगी और अन्य आगमों की अपेक्षा से समझें। उदाहरणार्थ-आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंगप्रविष्ट श्रुत हैं। आवश्यकादि अनंग-प्रविष्ट श्रुत हैं। अंगप्रविष्ट और आवश्यक सूत्र की रचना श्री गणधर भगवान ने की है, शेष अनंगप्रविष्ट की रचना प्रत्येकबुद्ध और पूर्वधरादि आचार्य करते हैं।

इस प्रकार श्रुतज्ञान के कुल चौदह भेद हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—प्रत्येक जीव के कम से कम दो ज्ञान होते हैं। वे हैं मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। केवल ज्ञान के समय ये दोनो ज्ञान होते हैं या नहो ? इसका उत्तर यह है कि 'ज्ञानावरणीय कर्म का सपूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है अतः उसके प्रकाश मे मति श्रुत का प्रकाश समा जाता है, या कहिये कि उस समय मात्र केवलज्ञान ही होता है, परन्तु अलग मति और श्रुत ज्ञान नही होते। केवल ज्ञान का अर्थ ही यह है कि अकेला ज्ञान, अनन्त ज्ञान जिसे किसी की सहायता अपेक्षित नहीं। उसमें कुछ भी अज्ञेय नहीं रहता।

मति और श्रुत ज्ञान का पारस्परिक सबंध है। इसके विषय म श्री उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य[11] मे कहा है कि 'श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। जब कि मति ज्ञान क लिय यह आवश्यक नहीं कि वह श्रुतज्ञान पूर्वक हो ही।' इस विषय मे नदिसूत्र मे कहा है कि 'जहा मति ज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञान होता है और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहा मतिज्ञान भी होता है'[11] दिगम्बर ग्रथ सर्वार्थसिद्धि[12] और राजवार्तिक[13] इस कथन का समर्थन करते हैं।

ये कथन प्रथम दृष्टि मे विरोधी लगते हुए भी वस्तुतः विरोधी नही है। श्री उमास्वाति जब ऐसा कहते हैं कि श्रुत के पूर्व मति आवश्यक है, वहाँ इसका अर्थ इतना ही है कि श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, तब तद्विषयक मतिज्ञानपूर्वक ही उत्पन्न होता है। मतिज्ञान के लिये यह आवश्यक नहीं कि पहिले श्रुतज्ञान हो और तत्पश्चात् मतिज्ञान हो, क्योंकि

वह पहिले होता है और श्रुतज्ञान पीछे। फिर यह भी आवश्यक नहीं कि जिस विषय का मतिज्ञान हो उसका श्रुतज्ञान होना ही चाहिये। नंदि सूत्र में जो सहचारिता बताई गई है वह विशेष ज्ञान की अपेक्षा से नहीं। उसमें तो एक सामान्य सिद्धान्त का निरूपण है। सामान्यतः मति और श्रुत सहचारी हैं क्यों कि वे प्रत्येक जीव में साथ २ रहते हैं। मति और श्रुत से रहित कोई जीव नहीं।' इस दृष्टि से ऐसा कहा गया है कि जहां मतिज्ञान हो वहां श्रुतज्ञान होता है और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहां मतिज्ञान होता है। जीव की अपेक्षा से ये ज्ञान सहचारी हैं, ज्ञान की उत्पादक प्रक्रिया की अपेक्षा से नहीं।

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यक भाष्य में श्रुतज्ञान के संबंध में जो स्पष्ट निर्देश किया है, वह भी ध्यान में रखने योग्य है। वे कहते हैं कि ज्ञान श्रुतानुसारी अर्थात् शब्द या शास्त्र को परम्परा का अनुसरण करने वाला हो, इन्द्रिय और मन से उत्पन्न हुआ हो और निश्चित अर्थ समझाने में समर्थ हो, उसे भावश्रुत समझें और शेष मतिज्ञान समझें।'[१४] कहने का भावार्थ यह है कि केवल शब्द संसर्ग से ही श्रुतज्ञान का उद्भव नहीं होता। इस प्रकार तो ईहा, अपाय आदि भी श्रुत ही गिने जाएँगे, क्योंकि वे शब्द-संसर्ग के बिना उत्पन्न यहीं होते। 'यह शब्द वीणा का है या वेणु का ?' ऐसा विकल्प अंतर्जल्प के बिना हो नहीं सकता। यह अंतर्जल्प शब्दसंसर्ग है। अतः शब्द संसर्ग होने के पश्चात् जहाँ श्रुतानुसारीपन है, वही ज्ञान श्रुत है। एक मनुष्य 'घट' शब्द बोला, उसे हमने सुना और वह 'घट' शब्द बोला

इस प्रकार श्रुतज्ञान के कुल चौदह भेद हैं।

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान—प्रत्येक जीव के कम से कम दो ज्ञान होते हैं। वे है मतिज्ञान और श्रुतज्ञान। केवल ज्ञान के समय ये दोनो ज्ञान होते हैं या नही ? इसका उत्तर यह है कि 'ज्ञानावरणीय कर्म का सपूर्ण क्षय होने पर केवलज्ञान उत्पन्न होता है अत: उसके प्रकाश मे मति श्रुत का प्रकाश समा जाता है, यो कहिये कि उस समय मात्र केवलज्ञान ही होता है, परन्तु अलग मति और श्रुत ज्ञान नही होते। केवल ज्ञान का अर्थ ही यह है कि अकेला ज्ञान, अनत ज्ञान जिसे किसी की सहायता अपेक्षित नही। उसम कुछ भी अज्ञेय नही रहता।

मति और श्रुत ज्ञान का पारस्परिक सबध है। इसके विषय म श्री उमास्वातिजी ने तत्त्वार्थसूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य[10] मे कहा है कि 'श्रुतज्ञान मतिज्ञान पूर्वक ही होता है। जब कि मति ज्ञान के लिये यह आवश्यक नही कि वह श्रुतज्ञान पूर्वक ही हो।' इस विषय मे नदिसूत्र मे कहा है कि 'जहा मति ज्ञान होता है वहाँ श्रुतज्ञानहोता है और जहाँ श्रुतज्ञान होता है वहा मतिज्ञान भी होता है'[11] दिगम्बर ग्रथ सर्वार्थसिद्धि[12] और राजवार्तिक[13] इस कथन का समर्थन करते हैं।

ये कथन प्रथम दृष्टि से विरोधी लगते हुए भी वस्तुत. विरोधी नही है। श्री उमास्वाति जब ऐसा कहते हैं कि श्रुत के पूर्व मति आवश्यक है, वहाँ इसका अर्थ इतना ही है कि श्रुतज्ञान उत्पन्न होता है, तब तद्विषयक मतिज्ञानपूर्वक ही उत्पन्न होता है। मतिज्ञान के लिये यह आवश्यक नही कि पहिले श्रुतज्ञान हो और तत्पश्चात् मतिज्ञान हो, क्योकि

में अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है।

स्वामी की परिस्थिति लक्ष्य में रक्खें तो यह अवधि ज्ञान छ: प्रकार का है:—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। कई प्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अप्रतिपाती के स्थान पर अवस्थित शब्द का प्रयोग भी करते हैं।

जो अवधि ज्ञान एक स्थान से छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी नष्ट न हो, वल्कि साथ साथ जाय वह अनुगामी कहलाता है और स्थान छोड़कर अन्यत्र जाते समय साथ नहीं जाता अर्थात् जिस क्षेत्र का है उसी में रहता है स्वामी के अन्य क्षेत्र में जाने पर भी वह मर्यादा से वाहर अनुसरण नहीं करता, परन्तु नष्ट हो जाता है, वह अननुगामी कहलाता है।

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् क्रमशः वृद्धि प्राप्त करता जाय वह वर्धमान कहलाता है। यह वृद्धि क्षेत्र, काल आदि किसी भी दृष्टि से हो सकती है।

जो अवधि ज्ञान उत्पत्ति के समय से परिणाम की विशुद्धि कम होने के कारण अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम मंद मंदतर होने से क्रमशः अल्प विषयक वनता जाता है, वह हीयमान कहलाता है।

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के वाद कालांतर में गिर जाता है, चला जाता है उसे प्रतिपाती कहते हैं और उत्पन्न होने के पश्चात् केवलज्ञान होने तक जो टिका रहता है उसे अप्रतिपाती कहते हैं।

जो अवधिज्ञान ऐसा का ऐसा रहता है, अर्थात् जिसकी न वृद्धि होती है न हानि होती है, उसे अवस्थित कहते हैं और जो

है ऐसा निर्णय करके उसकी धारणा की, यह मतिज्ञान है और 'घट शब्द से एक प्रकार का पात्र विशेष समझना श्रुतज्ञान है, क्योंकि उसमे श्रुतानुसारीपन है।

अवधि ज्ञान –इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना भी आत्मा को सीधा ज्ञान होता है। अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीनो इस प्रकार के ज्ञान है।

अवधि अर्थात् सीमा या मर्यादा, उससे युक्त ज्ञान अवधि-ज्ञान। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त के बिना होनेवाला जो ज्ञान अपने विषय मे मर्यादित है, वह अवधि ज्ञान है। अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है,[१५] अत वह मर्यादित है। रूपी द्रव्य अर्थात् रूप-रस गध और स्पर्श से युक्त द्रव्य। ऐसा द्रव्य मात्र पुद्गल है अत छ द्रव्यो मे से मात्र पुद्गल द्रव्य ही अवधि ज्ञान का विषय बन सकता है। धर्म, अधर्म, आकाश, काल और आत्मा उसके विषय नही बन सकते।

अवधि ज्ञान देव तथा नरक के जीवो को भवप्रत्यय होता है और मनुष्य तथा तिर्यंचो को गुणप्रत्यय होता है। इसका अर्थ यह है कि देव तथा नरक के जीव जन्म लेते है, तभी से उन्हे इस प्रकार का ज्ञान होता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। जबकि मनुष्यो तथा तिर्यंचो मे ऐसा ज्ञान सहज नही होता। वे व्रत, नियम, तपश्चर्यादि गुणो से उसे प्राप्त कर सकते है। इनमें तीर्थंकर अपवाद रूप है, क्योकि उन्हे यह ज्ञान गर्भ-काल से ही होता है और वह केवलज्ञान की प्राप्ति तक रहता है।

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनो प्रकार के अवधि ज्ञान

में अवधि ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशम आवश्यक है।

स्वामी की परिस्थिति लक्ष्य में रक्खें तो यह अवधि ज्ञान छः प्रकार का है:—अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती और अप्रतिपाती। कई प्रतिपाती के स्थान पर अनवस्थित और अप्रतिपाती के स्थान पर अवस्थित शब्द का प्रयोग भी करते है।

जो अवधि ज्ञान एक स्थान से छोड़कर अन्य स्थान पर जाते हुए भी नष्ट न हो, वल्कि साथ साथ जाय वह अनुगामी कहलाता है और स्थान छोड़कर अन्यत्र जाते समय साथ नहीं जाता अर्थात् जिस क्षेत्र का है उसी में रहता है स्वामी के अन्य क्षेत्र में जाने पर भी वह मर्यादा से वाहर अनुसरण नहीं करता, परन्तु नष्ट हो जाता है, वह अननुगामी कहलाता है।

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् क्रमशः वृद्धि प्राप्त करता जाय वह वर्धमान कहलाता है। यह वृद्धि क्षेत्र, काल आदि किसी भी दृष्टि से हो सकती है।

जो अवधि ज्ञान उत्पत्ति के समय से परिणाम की विशुद्धि कम होने के कारण अवधि ज्ञानावरण का क्षयोपशम मंद मंदतर होने से क्रमशः अल्प विषयक वनता जाता है, वह हीयमान कहलाता है।

जो अवधि ज्ञान उत्पन्न होने के वाद कालांतर में गिर जाता है, चला जाता है उसे प्रतिपाती कहते हैं और उत्पन्न होने के पश्चात् केवलज्ञान होने तक जो टिका रहता है उसे अप्रतिपाती कहते है।

जो अवधिज्ञान ऐसा का ऐसा रहता है, अर्थात् जिसकी न वृद्धि होती है न हानि होती है, उसे अवस्थित कहते हैं।

है ऐसा निर्णय करके उसकी धारणा की, यह मतिज्ञान है और 'घट शब्द से एक प्रकार का पात्र विशेष समझना श्रुतज्ञान है, क्योकि उसमे श्रुतानुसारीपन है।

अवधि ज्ञान –इन्द्रियो और मन की सहायता के बिना भी आत्मा को सीधा ज्ञान होता है। अवधि, मन पर्यव और केवल ये तीनो इस प्रकार के ज्ञान है।

अवधि अर्थात् सीमा या मर्यादा, उससे युक्त ज्ञान अवधिज्ञान। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय और मन के निमित्त के बिना होनेवाला जो ज्ञान अपने विषय मे मर्यादित है, वह अवधि ज्ञान है। अवधिज्ञान का विषय रूपी द्रव्य है,[15] अत वह मर्यादित है। रूपी द्रव्य अर्थात् रूप-रस गध और स्पर्श से युक्त द्रव्य। ऐसा द्रव्य मात्र पुद्गल है अत छ द्रव्यो मे से मात्र पुद्गल द्रव्य ही अवधि ज्ञान का विषय बन सकता है। धर्म, अधर्म आकाश, काल और आत्मा उसके विषय नही बन सकते।

अवधि ज्ञान देव तथा नरक के जीवो को भवप्रत्यय होता है और मनुष्य तथा तिर्यंचो को गुणप्रत्यय होता है। इसका अर्थ यह है कि देव तथा नरक के जीव जन्म लेते हैं, तभी से उन्हे इस प्रकार का ज्ञान होता है और वह जीवन पर्यन्त रहता है। जबकि मनुष्यो तथा तिर्यंचो मे ऐसा ज्ञान सहज नहीं होता। वे व्रत, नियम, तादवर्यादि गुणो से उसे प्राप्त कर सकते हैं। इनमें तीर्थंकर अपवाद रूप हैं, क्योकि उन्हे यह ज्ञान गर्भ-काल से ही होता है और वह केवलज्ञान की प्राप्ति तक रहता है।

भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय दोनो प्रकार के अवधि ज्ञान

पर्याय जान सकता है।

मनःपर्यव ज्ञान :

आत्मा जब मन द्वारा किसी भी प्रकार की विचारणा करता है अथवा किसी भी प्रकार का चिंतन करता है, तब चिंतनप्रवर्तक मानसवर्गणा के पुद्गलों की विशिष्ट आकृतियों की रचना होती है। उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में मन के पर्याय कहते हैं। मन के ऐसे पर्यायों का ज्ञान होना मनःपर्यव ज्ञान है।

यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, अर्थात्-मनोद्रव्य का साक्षात्कार करने में आत्मा को अनुमान का आश्रय नहीं लेना पड़ता।

मनःपर्यव ज्ञान दो प्रकार का है: ऋजुमति और विपुलमति। इनमें मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति और विशेष रूप से जानना विपुलमति कहलाता है।

केवलज्ञान :

ज्ञानावरणीयादि चार कर्मों का सर्वांशतः नाश होने पर जो एक, निर्मल, परिपूर्ण, असाधारण और अनंत [16] ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

एक अर्थात् अन्य से रहित केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यव ज्ञान नहीं होते, मात्र केवलज्ञान ही होता है, अतः वह एक है। उसमें किसी भी प्रकार का मल (अशुद्धि) नहीं होता अतः वह निर्मल है। केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब से जानने योग्य सर्व पदार्थों का ज्ञान होता ही है, अतः वह परिपूर्ण है। उसके जैसा अन्य एक भी ज्ञान नहीं, अतः वह असाधारण है और आने के पश्चात् जाता नहीं अतः वह अनंत है।

कभी बढता है, कभी घटता है, कभी प्रकट होता है तो कभी तिरोहित होना है, उसे अनवस्थित कहते है।

क्षेत्र की दृष्टि से अवधिज्ञान के तीन विभाग है: देशावधि, परमावधि और सर्वावधि। उनमे देशावधि और परमावधि के तीन तीन प्रकार हैं और सर्वावधि एक ही प्रकार का है। तीन प्रकार हैं जघन्य, उत्कृष्ट और अजघन्योत्कृष्ट।

जघन्य देशावधि का क्षेत्र अगुल का असख्यातवां भाग है। उत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र सपूर्ण लोक है। अजघन्योत्कृष्ट देशावधि का क्षेत्र इन दोनो के बीच का है जो असख्य प्रकार का है।

जघन्य परमावधि का क्षेत्र एक प्रदेशाधिक लोक है। उत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र असख्यात लोक प्रमाण है। अजघन्योत्कृष्ट परमावधि का क्षेत्र इन दोनो के बीच का है।

सर्वावधि का क्षेत्र उत्कृष्ट परमावधि के क्षेत्र से बाहर असख्यात क्षेत्र प्रमाण है।

लोक से अधिक अवधि का क्षेत्र नही, परन्तु यहाँ अवधि ज्ञान की शुद्धि का प्रमाण बताने के लिये इस प्रकार का शब्द-प्रयोग हुआ है।

काल से और भाव से भी अवधिज्ञान के जघन्यादि भेद हो सकते है। अवधिज्ञानी जघन्यत एक आवलिका का असख्यातवां भाग जान सकता है, उत्कृष्टत असख्य अवसर्पिणी-उत्सर्पिणी को जान सकता है और अजघन्योत्कृष्टत. उसके बीच का काल जान सकता है। अवधि ज्ञानी भाव से जघन्य सर्व पर्यायो का अनन्तवाँ भाग जान सकता है, उत्कृष्ट अनत जान सकता है और अजघन्योत्कृष्ट उसके बीच के

पर्याय जान सकता है।

मनःपर्यव ज्ञान :

आत्मा जब मन द्वारा किसी भी प्रकार की विचारणा करता है अथवा किसी भी प्रकार का चिंतन करता है, तब चिंतनप्रवर्तक मानसवर्गणा के पुद्गलों की विशिष्ट आकृतियों की रचना होती है। उन्हें शास्त्रीय परिभाषा में मन के पर्याय कहते हैं। मन के ऐसे पर्यायों का ज्ञान होना मनःपर्यव ज्ञान है।

यह ज्ञान प्रत्यक्ष है, अर्थात्-मनोद्रव्य का साक्षात्कार करने में आत्मा को अनुमान का आश्रय नही लेना पड़ता।

मनःपर्यव ज्ञान दो प्रकार का है: ऋजुमति और विपुल-मति। इनमें मनोगत भावों को सामान्य रूप से जानना ऋजुमति और विशेष रूप से जानना विपुलमति कहलाता है।

केवलज्ञान :

ज्ञानावरणीयादि चार कर्मो का सर्वांशतः नाश होने पर जो एक, निर्मल, परिपूर्ण, असाधारण और अनंत [१६] ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे केवल ज्ञान कहते है।

एक अर्थात् अन्य से रहित केवलज्ञान उत्पन्न होता है तब मति, श्रुत, अवधि और मनः पर्यव ज्ञान नही होते, मात्र केवलज्ञान ही होता है, अतः वह एक है। उसमें किसी भी प्रकार का मल (अशुद्धि) नहीं होता अतः वह निर्मल है। केवल ज्ञान उत्पन्न होता है तब से जानने योग्य सर्व पदार्थों का ज्ञान होता ही है, अतः वह परिपूर्ण है। उसके जैसा अन्य एक भी ज्ञान नही, अतः वह असाधारण है और आने के पश्चात् जाता नही अतः वह अनंत है

इस ज्ञान की प्राप्ति होने से भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनो कालो के सर्व पदार्थों के सभी पर्याय प्रत्यक्ष जाने जाते हैं। व्यक्ति के ज्ञान की यह चरम सीमा है। इससे बढकर कोई ज्ञान नही।

प्रमाण किसे कहते है ?

अब प्रमाण के सम्बन्ध मे विचार करें। उसकी एक व्याख्या ऐसी है कि 'प्रमाया करण प्रमाणम्-जो प्रमा का कारण है वह प्रमा प्रमाण प्रमा के लिय ऐसा कहा गया है कि 'तद्वति तत्प्रकारकानु भव प्रमा-जो वस्तु जैसी है, उसे वैसी ही मानना प्रमा है।' करण अर्थात् अतिम अथवा निकटतम साधन। एक अर्थ की सिद्धि मे अनेक वस्तु सहयोगी होती हैं, परन्तु उन सबको करण नही कहते। फल की सिद्धि मे जिसका व्यापार अव्यवहित अर्थात् प्रकृष्ट उपकारक होता है, वही करण कहलाता है। लेखन कार्य मे लेखनी और हाथ दोनो चलते हैं, उनमे करण तो कलम ही कहलायेगी, हाथ नही, क्योकि लेखन का अतिम अथवा निकटतम सम्बन्ध लेखनी के साथ है, हाथ का उसके बाद। इस व्याख्या के अनुसार वस्तु का यथार्थ स्वरूप जानने का जो निकटतम साधन है वह प्रमाण है। निकटतम साधन ज्ञानव्यापार है अत उसे प्रमाण कहते हैं।

कुछ लोग इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष को अथवा इन्द्रियो के व्यापार को प्रमाण मानते है, परन्तु इन्हे प्रमाण मानना उचित नही, क्योकि ये तो मुख्य प्रमाण के कारण हैं, स्वय मुख्य प्रमाण नही। मुख्य प्रमाण तो वही है जो पदार्थ को जानने मे अन्तिम कारण हो। उपर्युक्त इन्द्रियादि अन्तिम

कारण नहीं, क्योंकि इन्द्रियादि जड़ हैं और उनका व्यापार होते हुए भी यदि ज्ञानव्यापार न हो तो हम पदार्थ को जान नहीं सकते। यदि इन्द्रिय व्यापार के पश्चात् ज्ञान उत्पन्न होता है तो वही अन्तिम गिना जाता है, इन्द्रियव्यापार नहीं। अतः इन्द्रियव्यापारादि को गौण अथवा उपचरित प्रमाण मानना चाहिये। वास्तविक प्रमाण तो यथार्थ ज्ञान ही है।[१७]

प्रमाण की दूसरी व्याख्या ऐसी है कि 'प्रकर्षेण-संशयादि-व्यवच्छेदेन मीयते-परिच्छिद्यते-ज्ञायते-वस्तुतत्त्वं येन तत् प्रमाणम्।'

प्रमाण में प्र उपसर्ग है, वह प्रकर्ष का अर्थ सूचित करता है। प्रकर्ष से अर्थात् संशयादि दोषों के व्यवच्छेद पूर्वक संशयादि दोष अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय। जैन न्याय की परिभाषा में इन दोषों को समारोप कहते हैं।[१८] उसके व्यवच्छेद पूर्वक अर्थात् उसे छेदकर-टालकर, उससे रहित होकर। माण-मान में मीयते का अर्थ है। मीयते अर्थात् परि-रिच्छिद्यते-ज्ञायते। तात्पर्य यह है कि वस्तु तत्त्व का संशयादि-रहित यथार्थज्ञान प्रमाण कहलाता है।

यहाँ संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय का स्वरूप बराबर जानना चाहिये, अन्यथा संशयादि रहित ज्ञान किसे कहें यह स्पष्ट नहीं होगा।

रस्सी देखकर एक व्यक्ति कहता है कि 'यह रस्सी है' उसमें यथार्थ ज्ञान है। अन्य व्यक्ति कहता है कि 'यह रस्सी है अथवा सांप? कुछ समझ में नहीं आता'। इसमें संशय है। तीसरा व्यक्ति कहता है कि 'यह तो साँप है।' इसमें विपर्यय है और चौथा व्यक्ति रस्सी देखते हुए भी देखा सो देखा परन्तु

यह क्या है ? क्या नहीं है ? इसके सबंध में ,कुछ भी नहीं सोचता, इसमें अनध्यवसाय है।

प्रमाद, व्यामोह, अन्धकार, दीर्घ अन्तर, आदि अनेक कारणों से संशय होता है। यह ज्ञान को एक दोलायमान अवस्था है। 'यह या वह' का निर्णय इसमें नहीं होता। उसका सारा विकल्प अनिर्णयात्मक होता है। ऐसा अनिर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण कैसे बन सकता है ? तत्व के विषय में अनिश्चयात्मक स्थिति अनिष्ट है, इसीलिये श्री कृष्ण ने गीता में कहा है कि 'संशयात्मा विनश्यति।'

यहाँ स्पष्ट रूप से इतना समझ लेना चाहिये कि जो विकल्प निर्णयात्मक हो उसका समावेश संशय में नहीं होता। यदि पदार्थ के विषय में ऐसा कहा जाय कि 'पदार्थ नित्य भी है ही और अनित्य भी है ही, तो उसमें संशय नहीं, क्योंकि यह विकल्प निर्णयात्मक है। संशय या अनिर्णयात्मक विकल्प तो वह है जिसमें पदार्थ के एक धर्म के सम्बन्ध में दो विकल्प होते है। संशय का यथार्थस्वरूप नहीं समझने के कारण ही कई लोग भ्रान्तिपूर्वक स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के प्रामाणिक विकल्पों को संशयवाद कहने को प्रेरित हुए हैं।

विपर्यय निश्चयात्मक होता है, परन्तु यह निश्चय वस्तु के मूल स्वरूप से भिन्न अथवा विपरीत होता है। 'यह तो साँप है' ऐसा कहने में निश्चयात्मक ज्ञान है, परन्तु वह मूल स्वरूप में भिन्न है विपरीत है, क्योंकि वहाँ मूल स्वरूप में तो रस्सी ही है।

पदार्थ अपनी मूल द्रव्यात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है ही और पर्याय व अवस्थाभेद की दृष्टि से अनित्य है ही

इसलिये 'यह नित्य भी है और अनित्य भी है' ऐसा समझना सम्यग्ज्ञान है। इसके विपरीत ऐसा मानना कि 'यह पदार्थ नित्य ही है' अथवा 'यह पदार्थ अनित्य ही है' वस्तु स्थिति का अपलाप करनेवाला होने से विपर्यय ज्ञान है। इस प्रकार जितने निरपेक्ष एकांत दृष्टिकोण हैं,[१६] वे सब विपर्यय की कोटि में आते है और इसलिये प्रमाण रूप नहीं बन सकते।

जहाँ वस्तु का आलोचन मात्र है, परन्तु उसकी स्पष्टता नहीं है, वहाँ अनध्यवसाय है। रास्ते चलते समय कुछ देखा, परन्तु वह रस्सी थी? साँप था? या अन्य कुछ था? यह जानने की परवाह नहीं की जिससे स्पष्टता नहीं हुई, अतः वहाँ अनध्यवसाय हुआ।

अनध्यवसाय अर्थात् अस्पष्ट ज्ञान, धूमिल ज्ञान अथवा अपूर्ण ज्ञान। वह झूठा या संदिग्ध नहीं होता, परन्तु व्यवहार में वह निरुपयोगी है, अतः उसकी गणना समारोप में की गई है। जैनागमों में इसी ज्ञान को दर्शन कहा है। बौद्ध इसे निर्विकल्प कहते हैं और यही सच्चा प्रत्यक्ष प्रमाण है ऐसा बताते हैं।

प्रमाण की परिभाषा :

जैनाचार्यों ने प्रमाण की जो परिभाषा निश्चित की है उसका अब हम परिचय प्राप्त करें। श्री सिद्धसेन दिवाकर ने न्यायावतार में प्रमाण का लक्षण बताते हुए कहा है कि 'प्रमाणं स्वपराभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्–स्व और पर को प्रकाशित करने वाला बाधविवर्जित ज्ञान प्रमाण है। ज्ञान स्व प्रकाशक भी है और परप्रकाशक भी है। दीपक जैसे अपने आपको प्रकाशित करता है और अन्य वस्तुओं को भी

वह क्या है ? क्या नही है ? इसके सबंध मे कुछ भी नही सोचता इसमे अनध्यवसाय है ।

प्रमाद व्यामोह, अन्धकार, दीर्घ अन्तर, आदि अनेक कारणों से संशय होता है। यह ज्ञान की एक दोलायमान अवस्था है। यह या वह का निर्णय इसमे नही होता। उसका सारा विकल्प अनिर्णयात्मक होता है। ऐसा अनिर्णयात्मक ज्ञान प्रमाण कैसे बन सकता है ? तत्त्व के विषय में अनिश्चयात्मक स्थिति अनिष्ट है इसीलिये श्री कृष्ण ने गीता मे कहा है कि संशयात्मा विनश्यति ।

यहां स्पष्ट रूप से इतना समझ लेना चाहिये कि जो विकल्प निर्णयात्मक है उसका समावेश संशय मे नही होता। यदि पदार्थ के विषय मे ऐसा कहा जाय कि पदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है तो उसमे संशय नही, क्योंकि यह विकल्प निर्णयात्मक है। संशय या अनिर्णयात्मक विकल्प तो वह है जिसमे पदार्थ के एक धर्म के सम्बन्ध मे दो विकल्प होते है। संशय का यथार्थस्वरूप नहीं समझने के कारण ही कई लोग अज्ञानपूर्वक स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के प्रामाणिक विकल्पों को संशयवाद कहने को प्रेरित हुए है।

विपर्यय निश्चयात्मक होता है परन्तु यह निश्चय वस्तु के मूल स्वरूप से भिन्न अथवा विपरीत होता है। 'यह तो [illegible] है' [illegible] कहने मे निश्चयात्मक ज्ञान है, परन्तु वह मूल स्वरूप से भिन्न या विपरीत है क्योंकि वहां मूल स्वरूप मे तो [illegible] है।

पदार्थ अपनी मूल द्रव्यात्मक सत्ता की दृष्टि से नित्य है ही और पर्याय के अवस्थाभेद की दृष्टि से अनित्य है ही

श्री विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि 'वास्तविक अर्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण के लक्षण में अन्य विशेपण लगाने की आवश्यकता नहीं है। गृहीतग्राही हो चाहे अगृहीग्राही हो जो अपने अर्थ को जानता है वह प्रमाण है।[२०]

श्री अभिनव धर्मभूषण ने न्यायदीपिका में सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' ऐसा लक्षण वताया है। अर्थात् अर्थ का सम्यग् निर्णय ही प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानना या नहीं? उसके संबंध में कई मतभेद हैं। श्री अकलंक तथा उनके अनुकरण-कर्ता श्री माणिक्यनंदि आदि ने धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है, परन्तु श्वेताम्बरों की मान्यता धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानने की रही है। पं० दरवारीलाल ने न्याय-प्रवेश में धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिये, इसके संबंध में युक्तिसिद्ध सुन्दर विवेचन किया है।[२१]

प्रमाण का फल :

श्री सिद्धसेन सूरि ने न्यायावतार में प्रमाण का फल वताते हुए कहा है कि 'प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेप ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि है।'[२२]

कुछ विवेचन से इस कथन का भाव स्पष्ट होगा। प्रमाण के स्वरूप अथवा भेद प्रभेदों की चर्चा करना उसी समय उचित माना जा सकता है जब कि उसका विशिष्ट फल या विशिष्ट परिणाम हो। प्रमाण का ऐसा विशिष्ट फल, विशिष्ट परिणाम अज्ञान की निवृत्ति अर्थात् अज्ञान का नाश है। जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार का नाश होता है, उसी प्रकार

प्रकाशित करता है, वैसे ही ऐसा ज्ञान जब बाध अर्थात् संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय से विवर्जित (रहित) होता है तब वह प्रमाण बनता है।

यहाँ ज्ञान को स्वप्रकाशक कहने का कारण यह है कि मीमासक ज्ञान को स्वप्रकाशित नही मानते । नैयायिक वैशेषिक ऐसा मानते है कि ईश्वरीय ज्ञान को छोडकर अन्य सभी ज्ञान परप्रकाशित हैं, प्रमेय हैं । साख्य की दृष्टि मे ज्ञान प्रकृति का पर्याय है अर्थात् अचेतन है । इन मतो का निराकरण करने के लिये यहा ज्ञान को स्वप्रकाशक कहा है। ज्ञानाद्वैतवादी बौद्ध ज्ञान को ही परमार्थ सिद्ध मानते हैं, बाह्य पदार्थो को नही, उसका निराकरण करने के लिये यहा ज्ञान को परप्रकाशक कहा है ।

श्री समन्तभद्र ने स्वयभूस्तोत्र मे 'स्वपरावभासक' यथा प्रमाण भुवि लक्षणम्' इन शब्दो के द्वारा इस व्याख्या का समर्थन किया है ।

श्री वादिदेवसूरि ने प्रमाणनयतत्त्वालोक मे 'स्वपरव्यवसायि ज्ञान प्रमाणम्' ऐसा सूत्र दिया है । इसका अर्थ यह है कि अपने तथा पर स्वरूपो को निश्चय करवाने वाला ज्ञान प्रमाण है ।' यह लक्षण सक्षिप्त भी है और परिष्कृत भी है। इसमे आभासि और बाधविवर्जित दोनो पदो का भाव 'व्यवसायि' विशेषण से लाया गया है ।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने प्रमाणमीमासा मे कहा है कि सम्यगर्थनिर्णय प्रमाणम्–अर्थ का सम्यक् निर्णय ही प्रमाण है ।' यह लक्षण ऊपर के लक्षण से भी अधिक सक्षिप्त और परिष्कृत है ।

श्री विद्यानंदि ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि 'वास्तविक अर्थ को जाननेवाला ज्ञान प्रमाण है। प्रमाण के लक्षण में अन्य विशेषण लगाने की आवश्यकता नहीं है। गृहीतग्राही हो चाहे अगृहीग्राही हो जो अपने अर्थ को जानता है वह प्रमाण है।[20]

श्री अभिनव धर्मभूपण ने न्यायदीपिका में सम्यग्ज्ञानं प्रमाणम्' ऐसा लक्षण बताया है। अर्थात् अर्थ का सम्यग् निर्णय ही प्रमाण है।

धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण मानना या नहीं? उसके संबंध में कई मतभेद हैं। श्री अकलंक तथा उनके अनुकरण-कर्ता श्री माणिक्यनंदि आदि ने धारावाहिक ज्ञान को प्रमाण नहीं माना है, परन्तु श्वेताम्बरों की मान्यता धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानने की रही है। पं० दरबारीलाल ने न्याय-प्रवेश में धारावाहिक ज्ञान को भी प्रमाण मानना चाहिये, इसके संबंध में युक्तिसिद्ध सुन्दर विवेचन किया है।[21]

प्रमाण का फल :

श्री सिद्धसेन सूरि ने न्यायावतार में प्रमाण का फल बताते हुए कहा है कि 'प्रमाण का साक्षात् फल अज्ञान की निवृत्ति है। केवलज्ञान का फल सुख और उपेक्षा है। शेप ज्ञानों का फल ग्रहण और त्याग बुद्धि है।'[22]

कुछ विवेचन से इस कथन का भाव स्पष्ट होगा। प्रमाण के स्वरूप अथवा भेद प्रभेदों की चर्चा करना उसी समय उचित माना जा सकता है जब कि उसका विशिष्ट फल या विशिष्ट परिणाम हो। प्रमाण का ऐसा विशिष्ट फल, विशिष्ट परिणाम अज्ञान की निवृत्ति अर्थात् अज्ञान का नाश है। जैसे सूर्य के प्रकाश से अंधकार का नाश होता है, उसी प्रकार

प्रमाण से अज्ञान का नाश होता है। यह हुआ प्रमाण का सामान्य फल। वह किसके लिये कैसा होता है, सो भी यहाँ बताया गया है। जो केवलज्ञान को प्राप्त करते हैं, उन्हें अज्ञान के नाश के परिणामस्वरूप आत्मसुख को अर्थात् समभाव के सुख की प्राप्ति होती है और जगत के पदार्थों के प्रति उपेक्षा-उदासीनता रहती है। शेष लोगों में अज्ञाननाश के फलस्वरूप ग्रहण बुद्धि और त्याग बुद्धि पैदा होती है। यह वस्तु निर्दोष है अतः इसे ग्रहण करनी चाहिये-ऐसी बुद्धि ग्रहण-बुद्धि और यह वस्तु दोषपूर्ण है अतः इसका त्याग करना चाहिये-ऐसी बुद्धि त्यागबुद्धि कहलाती है। इसका दूसरा नाम विवेक है। ऐसा विवेक जागृत होने पर सत्कार्य करने की ओर असत्कार्यों से दूर रहने की वृत्ति प्रबल बनती है।

यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि हमारा उत्तरकाल-भावी ज्ञान पूर्वकालभावी ज्ञान का फल है।

प्रमाण के भेद प्रभेद :

प्रमाण की संख्या सभी दर्शनों ने एक समान नहीं मानी है, और न ऐसा संभव ही है, क्योंकि प्रत्येक की दृष्टि भिन्न है। चार्वाक ने मात्र प्रत्यक्ष प्रमाण ही माना है। वैशेषिकों ने प्रत्यक्ष और अनुमान इन दो प्रमाणों को स्वीकार किया है। सांख्य ने प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों से काम चलाया है। नैयायिकों ने उनमें उपमान मिलाकर प्रमाण की संख्या चार बनाई है। मीमांसकों में दो संप्रदाय हैं प्राभाकर प्रभाकर के अनुयायी और भाट्ट-कुमारिल भट्ट के अनुयायी। इनमें से प्राभाकरों ने उपर्युक्त चार प्रमाणों में अर्थापत्ति को मिलाकर प्रमाण की संख्या पाँच तक पहुँचा दी

है और भाट्टों ने तथा वेदान्तियों ने उसमें छठे प्रमाण अभाव को मिलाया है। पौराणिकों ने इन सभी प्रमाणों के अतिरिक्त संभव, ऐतिह्य और प्रातिभ जैसे अन्य प्रमाण भी माने हैं, परन्तु जैन दर्शन ने मुख्य प्रमाण दो ही माने हैं:–एक प्रत्यक्ष और दूसरा परोक्ष। इन दो भेदों में प्रमाण के सभी भेदों का समावेश हो जाता है।

प्रत्यक्ष प्रमाण

स्वरूप की अपेक्षा से ज्ञान में कोई अन्तर नहीं है, ज्ञान मात्र का स्वरूप प्रकाश है। यथार्थता के क्षेत्र में प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्थान न्यूनाधिक नहीं। अपने अपने विषय में दोनों यथार्थता का समान बल रखते हैं, परन्तु सामर्थ्य की दृष्टि से दोनों में थोड़ा अन्तर है। प्रत्यक्ष ज्ञप्तिकाल में स्वतंत्र होता है और परोक्ष साधनपरतंत्र। फलतः प्रत्यक्ष का पदार्थ के साथ अव्यवहित अर्थात् साक्षात् संबंध होता है और परोक्ष का व्यवहित अर्थात् अन्य माध्यमों के द्वारा होता है। इसके अतिरिक्त परोक्ष की अपेक्षा प्रत्यक्ष में विषय की अधिक विशेषताएँ जानी जाती हैं, यह भी अधिकता है।

प्रत्यक्ष के दो भेद हैं: (१) आत्मप्रत्यक्ष और (२) इन्द्रियप्रत्यक्ष। प्रथम भेद पारमार्थिक है, अतः वह वास्तविक प्रत्यक्ष है और दूसरा भेद व्यावहारिक है, अतः वह औपचारिक प्रत्यक्ष है।

आत्मप्रत्यक्ष अथवा पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो भेद हैं: (१) केवल ज्ञान अर्थात् सकल प्रत्यक्ष और (२) नोकेवल-ज्ञान अर्थात् विकल प्रत्यक्ष।

नो केवलज्ञान के पुनः दो भेद हैं: (१) अवधि और

(२) मन पर्यव ।

इन्द्रियप्रत्यक्ष अथवा व्यावहारिक प्रत्यक्ष के चार भेद है : (१) अवग्रह, (२) ईहा, (३) अवाय और (४) धारणा।

नीचे दी हुई तालिका पर दृष्टिपात करने से इन भेदो की स्पष्टता मन मे अकित हो जाएगी।

प्रत्यक्ष प्रमाण

- आत्म प्रत्यक्ष (पारमार्थिक)
  - सकल प्रत्यक्ष (केवलज्ञान)
  - विकल प्रत्यक्ष (नो केवलज्ञान)
    - अवधि
    - मन पर्यव
- इन्द्रिय अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष (व्यावहारिक)
  - अवग्रह
  - ईहा
  - अवाय
  - धारणा
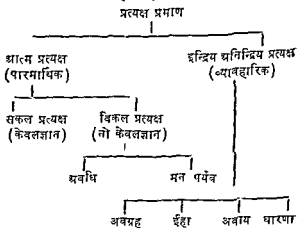
इन्द्रिय मन अथवा प्रमाणातर की सहायता के बिना आत्मा को पदार्थ का साक्षात् ज्ञान होता है उसे आत्मप्रत्यक्ष, पारमार्थिक प्रत्यक्ष अथवा नोइन्द्रियप्रत्यक्ष कहते है।

इन्द्रिय और मन की सहायता स जो ज्ञान होता है वह इन्द्रियो के लिये प्रत्यक्ष और आत्मा के लिय परोक्ष है अत उसे इन्द्रियप्रत्यक्ष अथवा सव्यवहार प्रत्यक्ष कहते हैं। इन्द्रियाँ धूम आदि लिगा की सहायता लिये बिना अग्नि आदि का साक्षात्कार करती हैं, अत वह इन्द्रियप्रत्यक्ष है।

त्रिकालवर्ती प्रमेयमात्र केवलज्ञान का विषय बनता है, इससे उसे सकलप्रत्यक्ष अथवा पूर्ण प्रत्यक्ष कहते हैं और उसका अमुक भाग अवधि और मनः पर्यव ज्ञान का विषय बनता है अतः वह विकलप्रत्यक्ष अथवा अपूर्ण प्रत्यक्ष कहलाता है।

प्रमाणमीमांसा और परीक्षामुख में प्रत्यक्ष का लक्षण वैशद्य (विशदता) माना गया है।[२३] प्रमाणनयतत्त्वालोक में उसका लक्षण स्पष्टता माना गया है।[२४] वास्तव में दोनों एक ही हैं। जिसका प्रतिभास होने में किसी प्रमाणान्तर की आवश्यकता नहीं हो अथवा जो 'यह' ऐसा स्पष्ट प्रतिभासित होता हो उसे वैशद्य कहते है। प्रमाणान्तर का निषेध यहाँ इसीलिये किया गया है कि प्रत्यक्ष को अन्य किसी प्रमाण की सहायता की आवश्यकता नहीं होती। अनुमान, आगम आदि प्रमाण पूर्ण नहीं, क्योंकि उनका आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष को किसी के आधार की आवश्यकता नहीं होती, अतः वह पूर्ण है।

परोक्ष प्रमाण :

जिसमें वैशद्य अथवा स्पष्टता का अभाव हो वह परोक्ष प्रमाण कहलाता है।[२५] उसके पाँच भेद हैं: (१) स्मरण या स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, (५) आगम।[२६]

(१) स्मरण अथवा स्मृति–संस्कार अथवा वासना का उद्बोधन होने पर स्मरण होता है। वह अतीतकालीन पदार्थ को अपना विषय बनाता है और उसमें 'तत्–वह' शब्द का उल्लेख अवश्य होता है। यद्यपि [illegible]

तो सामने नहीं होता, परन्तु अपने पूर्व अनुभव का विषय तो होता ही है और इस अनुभव का दृढ़ संस्कार सादृश्य आदि अनेक निमित्तों से उस पदार्थ को हमारे मन में चमका देता है। 'इसी स्मरण के कारण जगत का लेन-देन का व्यवहार चलता है। व्याप्तिस्मरण के बिना अनुमान और संकेत-स्मरण के बिना किसी भी प्रकार के शब्द का अर्थसूचक प्रयोग हो ही नहीं सकता। गुरु शिष्यादि संबंध, पिता-पुत्र-भाव तथा अन्य अनेक प्रकार के प्रेम, घृणा, करुणा आदि मूलक समस्त जीवनव्यवहार स्मरण पर अवलम्बित हैं। संस्कृति, सभ्यता और इतिहास की परम्परा स्मरण के सूत्र से ही हम तक पहुँची है।'[२३]

अनुभूतार्थविषयक ज्ञान के रूप में सभी दर्शनों ने स्मृति को स्वीकार किया है, परन्तु जैन दर्शन को छोड़कर अन्य किसी ने उसे प्रमाण नहीं माना। न्याय-वैशेषिक मीमांसक-बौद्ध आदि का यह कथन है कि स्मृति अनुभव द्वारा गृहीत विषय में ही प्रवृत्त होती है अतः गृहीतग्राही होने से वह प्रमाण नहीं बन सकती। उसके उत्तर में जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रामाण्य का आधार उसकी अविसंवादिता है। जैसे प्रत्यक्ष से जाने हुए अर्थ में विसंवाद न होने से उसे प्रमाण माना जाता है, उसी प्रकार स्मृति से जाने हुए अर्थ में विसंवाद न होने से उसे भी प्रमाण मानना चाहिये। यदि स्मृति में विसंवाद हो तो वह स्मृति नहीं परन्तु स्मृत्याभास है।[२४] दूसरी बात यह है कि स्मृति विस्मरणादि रूप समारोप का व्यवच्छेद करती है, इसलिये भी उसे प्रमाण मानना चाहिये।[२५] तीसरी बात यह है कि अनुभव तो वर्तमान अर्थ को विषय बनाता है और

स्मृति अतीत अर्थ को विषय बनाती है, अतः अतीत के अगृहीत अंश के अनुसार कथंचित् अगृहीतग्राही होने से भी उसका प्रमाण के रूप में स्वीकार करना चाहिये।

(२) **प्रत्यभिज्ञानः**–दर्शन (प्रत्यक्ष) और स्मरण से उत्पन्न होने वाले संकलनात्मक ज्ञान को प्रत्यभिज्ञान कहते हैं।[30] जैसे–'यह वही मनुष्य है जिसे मैंने कल देखा था' यहाँ वर्तमान में वह मनुष्य प्रत्यक्ष है और उसमें गई कल का स्मरण है। कई प्रत्यभिज्ञान को प्रत्यक्ष के साथ मिलाते हैं, परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष तो वर्तमानकालीन सामने खड़े हुए मनुष्य को अपना विषय बनाता है और प्रत्यभिज्ञान वर्तमान तथा अतीत मनुष्य को एवं मनुष्य में रही हुई एकता को। इन्द्रियों से होनेवाले प्रत्यक्ष में यह शक्ति नहीं कि वह अतीत के साथ की एकता को जान सके। जब उस मनुष्य में रही हुई एकता साक्षात् नहीं जानी जाती, बल्कि स्मृति पूर्वक विचार करने से उसका ज्ञान होता है, तब उसे असाक्षात् ही कहना चाहिये और उसका समावेश परोक्ष प्रमाण में ही होना चाहिये।

'प्रत्यभिज्ञान प्रत्यक्ष और स्मृति से पैदा होता है, तो इन दो में ही उसका समावेश क्यों न किया जाय? इसका पृथक् अस्तित्व क्यों माना जाय?' ऐसा प्रश्न हो सकता है; परन्तु यह ध्यान में रखना आवश्यक है कि प्रत्यभिज्ञान ज्ञानद्वय नहीं किन्तु एक स्वतंत्र ज्ञान है। वह ऐसा कि जो सर्वथा प्रत्यक्ष रूप नहीं, वैसे ही स्मृति रूप भी नहीं, किन्तु इन दोनों से भिन्न है। पृथक् व्यक्तित्व का कारण वर्तमान-अतीत की एकता रूप विषय का पृथक्त्व ही है। अनुमान भी प्रत्यक्ष और तर्क

को मिलाने से होता है परन्तु इससे उसका पृथक् व्यक्तित्व मिट नही जाता। माता पिता से उत्पन्न होने वाली संतान का व्यक्तित्व माता पिता मे ही नही समा जाता, परन्तु स्वतन्त्र रहता है, उसी प्रकार प्रत्यभिज्ञान का व्यक्तित्व भी प्रत्यक्ष और स्मृति से स्वतन्त्र रहता है।

प्रत्यभिज्ञान के अनेक भेद है। जैसे–एकत्व प्रत्यभिज्ञान, सादृश्य प्रत्यभिज्ञान, वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान आदि। एकत्व प्रत्यभिज्ञान का उदाहरण तो ऊपर आचुका है। सादृश्य प्रत्यभिज्ञान उसे कहते है जहा दो पदार्थों की समानता बताई जाती हो। उदाहरण के लिये 'ये आँख मृग के जैसी हैं।' यहाँ एक वस्तु का प्रत्यक्ष है और दूसरी परोक्ष है। दोनो की समानता प्रत्यभिज्ञान का विषय है। कुछ लोग सादृश्य प्रत्यभिज्ञान के स्थान पर उपमान शब्द का प्रयोग करते हैं। उसमे विशेष हानि नही है, परन्तु उपमान मे प्रत्यभिज्ञान के सभी भेदो का समावेश नही होता, अत उपमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानना उचित नही है।

जिसके द्वारा दो वस्तुओ की विसदृशता जानी जाती है वह वैसादृश्य प्रत्यभिज्ञान कहलाता है। जैसे–घोडा, हाथी से विभिन्न हैं, गाय भैस से भिन्न है आदि। दो पदार्थों की तुलना भी प्रत्यभिज्ञान के द्वारा ही की जाती है। जैसे आवला आम से छोटा है। यहा आवला प्रत्यक्ष है और आम स्मृति का विषय है। यदि दोनो वस्तुऐं आखो के सामने हो तो भी तुलना करते समय एक ही वस्तु प्रत्यक्ष का विषय बनती है। तुलनात्मक ज्ञान आखो से नही, परन्तु सोचने से होता है अत वह परोक्ष है। किसी को पहिचानना भी प्रत्यभिज्ञान

का कार्य है, क्योंकि उसमें उसके चिह्नों का स्मरण होता है और सोचने की आवश्यकता रहती है।

प्रत्यवमर्श, प्रत्यभिज्ञा और संज्ञा ये प्रत्यभिज्ञान के पर्यायवाची शब्द हैं।

(३) तर्क:—एक वस्तु के अन्य वस्तु के साथ अवश्यंभावी अर्थात् अविनाभाव संबंध को व्याप्ति कहते हैं। उसके आधार पर ज्ञान होना तर्क है। जिसमें साध्य के सद्भाव में साधक (लिंग) हो और साध्य के असद्भाव में साधक न हो उसका संबंध अविनाभाव माना जाता है। अ–साधनाभाव, विना–साध्य विना, भाव-होना; तात्पर्य यह है कि साध्य के विना साधन का अभाव होना अविनाभाव है।

अविनाभाव को अन्वय–व्यतिरेक भी कहते हैं। जहाँ अग्नि (साध्य) होती है वहाँ धुंआ (साधक) होता है। ऐसा विकल्प होना अन्वय व्याप्ति है और 'जहां अग्नि (साध्य) न हो, वहाँ धुंआ (साधक) नहीं होता' ऐसा विकल्प होना व्यतिरेक व्याप्ति है।

व्यक्ति सर्व प्रथम कार्य और कारण को प्रत्यक्ष करता है और अनेक वार प्रत्यक्ष होने पर वह उसकी अन्वय संबंधी भूमिका की ओर अग्रसर होता है। फिर साध्य के अभाव में साधन का अभाव देखकर व्यतिरेक के निश्चय द्वारा प्रथम के अन्वय ज्ञान को निश्चयात्मक रूप देता है। उदाहरणार्थ-किसी व्यक्ति ने रसोई घर में प्रथम अग्नि देखी और उसमें से धुंआ निकलता हुआ देखा। फिर तालाब पर गया। वहाँ अग्नि न होने से धुंआ नहीं देखा। वहाँ से पुनः रसोई घर में आने पर अग्नि में से धुंआ निकलता हुआ देखा और उसने

निश्चय किया कि 'अग्नि कारण है और धूमा कार्य है।' यह उपलम्भ–अनुपलम्भ संबंधी सर्वोपसंहार करने वाला विचार तर्क की मर्यादा में आता है। इसमें प्रत्यक्ष स्मरण और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कारण रूप होते हैं। इन सब की पृष्ठ भूमि में 'जब जब जहाँ जहाँ धूमा हो, वहाँ वहाँ तब तब अग्नि अवश्य होती है' इस प्रकार का एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है, उसी का नाम तर्क या ऊह है।

नैयायिक तर्क को प्रमाण-सहायक मानते हैं, परन्तु प्रमाण नहीं मानते। इसके संबंध में जैन दर्शन की दलीलें प्रचुर हैं। जैन दर्शन कहता है कि तर्क को प्रत्यक्ष में स्थान नहीं मिल सकता, क्योंकि इसमें दो वस्तुओं के संबंध का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष रूप में हम दो वस्तुएं देख सकते हैं, परन्तु उनके संबंध में हम कोई नियम नहीं बना सकते। यह काम तर्क का है। प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहायता से तर्क उत्पन्न होता है, अतः इन तीन में से किसी में भी तर्क को स्थान नहीं मिल सकता। इसे अनुमान में भी समा नहीं सकते क्योंकि अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित किये गये नियम के आधार पर ही अनुमान की उत्पत्ति होती है। अतः तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये।

बौद्ध लोग तर्क को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता ऐसी है कि तर्क का कार्य तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होने वाली विकल्पबुद्धि से होता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह विकल्पबुद्धि प्रमाण रूप है अथवा अप्रमाण रूप? यदि प्रमाण रूप कहें तो बौद्ध

दर्शन में स्वीकार किये हुए प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त तृतीय प्रमाण स्वीकार करने का अनिष्ट प्रसंग उत्पन्न होता है। यदि इसे अप्रमाण कहने का साहस किया जाय तो कोई प्रमदा अपने नपुंसक पति से पुत्र की इच्छा रखे ऐसी बात है, अर्थात् ऐसी अप्रमाणरूप विकल्पबुद्धि तर्क का कार्य करने मे असमर्थ है। अतः चाहे जिस शब्द से तर्क को प्रमाण मानना सिद्ध होता है।[३१]

अनुमान:–साधन द्वारा साध्य का जो ज्ञान होता है वह अनुमान है।[३२] उसके दो भेद हैं–स्वार्थ और परार्थ।[३३] अपनी ही समझ के लिये हृदय में साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा जो अनुमान किया जाता है वह स्वार्थानुमान और अन्य को समझाने के लिये अनुमानप्रयोग प्रस्तुत करके उसे अनुमान ज्ञान प्राप्त करवाना परार्थानुमान है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके स्वार्थानुमान को ही परार्थानुमान कहा जाता है अतः वास्तव में तो अनुमान स्वार्थ ही है।

साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा अनुमान किस प्रकार होता है? यह भी यहाँ स्पष्ट कर लें। किसी स्थल पर मनुष्य ने धुँआ देखा। इसे देखते ही उसे धुएँ और अग्नि की व्याप्ति होने का स्मरण हुआ अर्थात् जहाँ धुंआ हो वहाँ अग्नि होती है यह व्याप्ति उसे याद आई। इससे 'इस स्थल पर अग्नि होनी चाहिये' ऐसा उसने अनुमान लगाया।

साधन, लिंग और हेतु तीनों एकार्थी शब्द हैं। बौद्धों ने हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन लक्षण माने हैं, जब कि नैयायिकों ने इनके अतिरिक्त

निश्चय किया कि 'अग्नि कारण है और धुआ कार्य है।' यह उपलभ-अनुपलंभ सबको सर्वोपसंहार करने वाला विचार तर्क की मर्यादा मे आता है। इसमे प्रत्यक्ष स्मरण और सादृश्य प्रत्यभिज्ञान कारण रूप होते है। इन सब की पृष्ठ भूमि मे 'जब जब जहाँ जहा धुआ हो, वहाँ वहाँ तब तब अग्नि अवश्य होती है' इस प्रकार का एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है, उसी का नाम तर्क या ऊह है।

नैयायिक तर्क को प्रमाण सहायक मानते है, परन्तु प्रमाण नही मानते। इसके सबध मे जैन दर्शन की दलीलें अचूक है। जैन दर्शन कहता है कि तर्क को प्रत्यक्ष मे स्थान नही मिल सकता, क्योकि इसमे दो वस्तुओ के सबध का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष रूप से हम दो वस्तुएँ देख सकते हैं, परन्तु उनके सबध म हम कोई नियम नही बना सकते। यह काम तर्क का है। प्रत्यक्ष, स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहायता से तर्क उत्पन्न होता है, अत इन तीन म से किसी मे भी तर्क को स्थान नही मिल सकता। इसे अनुमान मे भी समा नही सकते, क्योकि अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित किये गये नियम के आधार पर ही अनुमान की उत्पत्ति होती है। अत तर्क को एक स्वतत्र प्रमाण के रूप मे ही स्वीकार करना चाहिये।

बौद्ध लोग तर्क को प्रमाण के रूप मे स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता ऐसी है कि तर्क का कार्य तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होने वाली विकल्पबुद्धि से होता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह विकल्पबुद्धि प्रमाण रूप है अथवा अप्रमाण रूप ? यदि प्रमाण रूप कहें तो बौद्ध

दर्शन में स्वीकार किये हुए प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त तृतीय प्रमाण स्वीकार करने का अनिष्ट प्रसंग उत्पन्न होता है। यदि इसे अप्रमाण कहने का साहस किया जाय तो कोई प्रमदा अपने नपुंसक पति से पुत्र की इच्छा रखे ऐसी बात है, अर्थात् ऐसी अप्रमाणरूप विकल्पबुद्धि तर्क का कार्य करने में असमर्थ है। अतः चाहे जिस शब्द से तर्क को प्रमाण मानना सिद्ध होता है।[३१]

अनुमानः–साधन द्वारा साध्य का जो ज्ञान होता है वह अनुमान है।[३२] उसके दो भेद हैं–स्वार्थ और परार्थ।[३३] अपनी ही समझ के लिये हृदय में साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा जो अनुमान किया जाता है वह स्वार्थानुमान और अन्य को समझाने के लिये अनुमानप्रयोग प्रस्तुत करके उसे अनुमान ज्ञान प्राप्त करवाना परार्थानुमान है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके स्वार्थानुमान को ही परार्थानुमान कहा जाता है अतः वास्तव में तो अनुमान स्वार्थ ही है।

साधन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा अनुमान किस प्रकार होता है? यह भी यहाँ स्पष्ट कर लें। किसी स्थल पर मनुष्य ने धुँआ देखा। इसे देखते ही उसे धुएँ और अग्नि की व्याप्ति होने का स्मरण हुआ अर्थात् जहाँ धुंआ हो वहाँ अग्नि होती है यह व्याप्ति उसे याद आई। इससे 'इस स्थल पर अग्नि होनी चाहिये' ऐसा उसने अनुमान लगाया।

साधन, लिंग और हेतु तीनों एकार्थी शब्द हैं। बौद्धों ने हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन लक्षण माने हैं, जब कि नैयायिकों ने इनके अतिरिक्त

निश्चय किया कि अग्नि कारण है और धुआ कार्य है।' यह उपलभ-अनुपलभ अथवा सर्वोपसंहार करने वाला विचार तर्क की मर्यादा में आता है। इसमें प्रत्यक्ष स्मरण और प्रत्यभिज्ञान कारण रूप होते हैं। इन सब की पृष्ठ भूमि में जब जब जहाँ जहाँ धुआ हो वहाँ वहाँ तब तब अग्नि अवश्य होता है' इस प्रकार का एक मानसिक विकल्प उत्पन्न होता है उसी का नाम तर्क या ऊह है।

नैयायिक तर्क को प्रमाण सहायक मानते हैं, परन्तु प्रमाण नहीं मानते। इसके सबध में जैन दर्शन की दलीलें प्रचुर हैं। जैन दर्शन कहता है कि तर्क का प्रत्यक्ष में स्थान नहीं मिल सकता क्योंकि इसमें दो वस्तुओं के सबध का ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष से हम दो वस्तुए देख सकते हैं परन्तु उनके सबध में हम कोई नियम नहीं बना सकते। यह काम तर्क का है। प्रत्यक्ष स्मरण और प्रत्यभिज्ञान की सहायता से तर्क उत्पन्न होता है अतः इन तीनों में से किसी में भी तर्क को स्थान नहीं मिल सकता। इसे अनुमान में भी समा नहीं सकते क्योंकि अनुमान तर्क का कार्य है। तर्क द्वारा निश्चित किये गये नियम के आधार पर ही अनुमान की उत्पत्ति होती है। अतः तर्क को एक स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में ही स्वीकार करना चाहिये।

बौद्ध लोग तर्क को प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। उनकी मान्यता ऐसी है कि तर्क का कार्य तो निर्विकल्प प्रत्यक्ष के बाद उत्पन्न होने वाली विकल्पबुद्धि से होता है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि यह विकल्पबुद्धि प्रमाण रूप है अथवा अप्रमाण रूप ? यदि प्रमाण रूप कहें तो बौद्ध

र्शन में स्वीकार किये हुए प्रत्यक्ष और अनुमान के अतिरिक्त तृतीय प्रमाण स्वीकार करने का अनिष्ट प्रसंग उत्पन्न होता है। यदि इसे अप्रमाण कहने का साहस किया जाय तो कोई प्रमदा अपने नपुंसक पति से पुत्र की इच्छा रक्खे ऐसी वात है, अर्थात् ऐसी अप्रमाणरूप विकल्पवुद्धि तर्क का कार्य करने मे असमर्थ है। अतः चाहे जिस शब्द से तर्क को प्रमाण मानना सिद्ध होता है।[३१]

अनुमानः—साधन द्वारा साध्य का जो ज्ञान होता है वह अनुमान है।[३२] उसके दो भेद हैं—स्वार्थ और परार्थ।[३३] अपनी ही समझ के लिये हृदय में सावन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा जो अनुमान किया जाता है वह स्वार्थानुमान और अन्य को समझाने के लिये अनुमानप्रयोग प्रस्तुत करके उसे अनुमान ज्ञान प्राप्त करवाना परार्थानुमान है। यहाँ कारण में कार्य का उपचार करके स्वार्थानुमान को ही परार्थानुमान कहा जाता है अतः वास्तव में तो अनुमान स्वार्थ ही है।

सावन और व्याप्ति के स्मरण द्वारा अनुमान किस प्रकार होता है? यह भी यहाँ स्पष्ट कर लें। किसी स्थल पर मनुष्य ने धुंआ देखा। इसे देखते ही उसे धुएँ और अग्नि की व्याप्ति होने का स्मरण हुआ अर्थात् जहाँ धुंआ हो वहाँ अग्नि होती है यह व्याप्ति उसे याद आई। इससे 'इस स्थल पर अग्नि होनी चाहिये' ऐसा उसने अनुमान लगाया।

सावन, लिग और हेतु तीनों एकार्थी शब्द हैं। बौद्धों ने हेतु के पक्षधर्मत्व, सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति ये तीन लक्षण माने हैं, जब कि नैयायिकों ने इनके अतिरिक्त

अबाधितविषयत्व और असत्प्रतिपक्षत्व ये दो लक्षण और माने हैं। परन्तु ये लक्षण अनावश्यक एवं दूषित होने से जैन दर्शन ने उसका एक ही लक्षण माना है, वह है अविनाभाव अथवा अन्यथानुपपन्नत्व। तात्पर्य यह है कि जिसका साध्य के साथ अविनाभाव संबंध हो, जिसका अन्वय व्यतिरेक मिलकर रहता हो वह साधन, लिंग या हेतु है।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने साधन के पांच प्रकार माने हैं: (१) स्वभाव, (२) कारण, (३) कार्य, (४) एकार्थ समवायी और (५) विरोधी।[३४]

वस्तु का स्वभाव ही जहाँ साधन बनता हो वह स्वभाव-साधन है। उदाहरणार्थ अग्नि जलाती है, क्योंकि वह उष्ण स्वभाववाली है।

कारण देखकर कार्य का अनुमान लगाना **कारणसाधन** है दूध में जॉवन डाला हुआ देखकर कहना कि अब दही बनेगा, अथवा घूमते हुए चाक पर मिट्टी का पिंड चढ़ा हुआ देखकर कहना कि अभी कोई पात्र बनेगा–यह कारण साधन का उदाहरण है। यहां इतना स्पष्ट करना आवश्यक है कि साधारण कारण देखकर कार्य का अनुमान नहीं किया जाता, जिनके द्वारा कार्य अवश्य हो–ऐसे कारणों से ही अनुमान किया जाता है। ऐसा अनुमान करते समय उसमें बाधक कारणों का अभाव और साधक कारणों की उपस्थिति अवश्य *होनी चाहिये।*

कोई कार्यविशेष देखकर कारण का अनुमान करना **कार्यसाधन** है। प्रत्येक कार्य का कोई न कोई कारण होता है। कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति नहीं होती। कारण

और कार्य के संबंध का ज्ञान होने से तत्संबंधी अनुमान किया जा सकता है। विद्यार्थी को परीक्षा में असफल हुआ देखकर अनुमान करना कि वह अध्ययन करने में अवश्य असावधान रहा होगा–कार्य से कारण का अनुमान है।

एक अर्थ में दो या अधिक कार्यों का साथ होना एकार्थ-समवाय है। एक ही फूल में रूप और रस साथ २ रहते हैं। उसमें रूप देखकर रस का अनुमान करना या रस देख कर रूप का अनुमान करना **एकार्थसमवायी साधन** है। रूप और रस में कार्य कारण भाव नहीं है और न दोनों का एक स्वभाव ही है, परन्तु इन दोनों की एकत्र स्थिति है, यही एकार्थसमवाय का कारण है।

किसी विरोधी भाव पर से वस्तु के अभाव का अनुमान करना **विरोधी साधन** है। जैसे 'यहाँ दया नहीं, क्योंकि हिंसा हो रही है' अथवा 'यहाँ हिंसा का अभाव है क्योंकि सब ही दयालु हैं'। दया और हिंसा के बीच विरोधी भाव है। विरोधी साधन पर्याप्त मात्रा में हो तो ही विरोधी साधन का प्रयोग हो सकता है। अग्नि की छोटी सी चिनगारी देखकर ठंड के अभाव का अनुमान नहीं किया जा सकता। यदि अलाव जल रहा हो तो वहाँ सर्दी के अभाव का अनुमान किया जा सकता है।

परार्थानुमान के अवयव : परार्थानुमान के अवयवों के संबंध में दार्शनिकों में मत भेद है। सांख्य परार्थानुमान के तीन अवयव मानते हैं : पक्ष, हेतु और उदाहरण। मीमांसक चार अवयव मानते हैं : पक्ष, हेतु, उदाहरण और उपनय। नैयायिक पाँच अवयव मानते हैं : पक्ष, हेतु, उदाहरण, उपनय

और निगमन। जैन दार्शनिक मानवमात्र को समझाने के लिए पक्ष और हेतु इन्हीं दो अवयवों को पर्याप्त मानते हैं (स्वार्थानुमान में ये दो अवयव होते हैं) और मंद बुद्धि वालों को समझाने के लिए वे दस अवयवों तक का प्रयोग स्वीकार करते हैं।[३३] परन्तु सामान्यतया पाँच अवयवों का प्रयोग होता है जो इस प्रकार है—

प्रतिज्ञा—जिस वस्तु को हम सिद्ध करना चाहते हैं उसका प्रथम निर्देश करना प्रतिज्ञा है। इससे अपना साध्य क्या है यह स्पष्ट हो जाता है। प्रतिज्ञा को पक्ष भी कहते हैं।

उदाहरण—इस पर्वत में अग्नि है।

हेतु—साधन को दर्शाने वाला वचन हेतु है। संस्कृत भाषा में पंचमी या तृतीया विभक्ति से, हिंदी में 'क्योंकि' 'चूंकि' शब्दों से और गुजराती में 'कारण के' जैसे शब्दों से उसका प्रतिपादन होता है।

उदाहरण—इस पर्वत में अग्नि है क्योंकि इसमें धुआं है। इस वाक्य में प्रथम प्रतिज्ञा है और फिर हेतु है।

उदाहरण—हेतु को भली प्रकार समझाने के लिये दृष्टान्त का प्रयोग करना उदाहरण है। उदाहरण का प्रयोग दो प्रकार से हो सकता है—एक साधर्म्य से दूसरा वैधर्म्य से। साधर्म्य या सादृश्य बताने वाले उदाहरण का प्रयोग करना साधर्म्योदाहरण और वैधर्म्य या विसदृशता बतानेवाले उदाहरण का प्रयोग करना वैधर्म्योदाहरण है।

साधर्म्योदाहरण—जहां जहां धुआं होता है वहां वहां अग्नि होती है जैसे पाकशाला (रसोईघर)।

वैधर्म्योदाहरण—जहां अग्नि न हो वहां धुआं नहीं होता

जैसे जलाशय । दो में से एक उदाहरण का प्रयोग होता है ।

उपनय–हेतु का धर्मी में उपसंहार करना उपनय है । जहाँ (जिसमें) साध्य रहता हो वह धर्मी कहलाता है । 'इस पर्वत में अग्नि है' यहाँ अग्नि साध्य है और पर्वत धर्मी है, क्योंकि अग्नि रूप साध्य पर्वत में रहता है । हेतु का धर्मी में उपसंहार करना अर्थात् 'यह साध्याविनाभावी हेतु इस धर्मी में रहता है' ऐसी शव्दावलि का प्रयोग करना । यहाँ अग्नि की सिद्धि अभिप्रेत है, अग्नि के साथ सम्वद्ध धुँआ हेतु है, अर्थात् 'इस पर्वत में अग्निव्याप्त धुँआ है' ऐसा कहना हेतु का उपसंहार है, उपनय है ।

निगमन--प्रतिज्ञा के समय जिस साध्य का निर्देश किया हो उसे उपसंहार के रूप में पुनः कहना निगमन है । 'इसलिये यहाँ अग्नि है' ऐसा कहना निगमन का उदाहरण है ।

इन पाँचों अवयवों को ध्यान में लेते हुए परार्थानुमान का पूर्ण रूप इस प्रकार होता है:—

(१) इस पर्वत में अग्नि है, (प्रतिज्ञा या पक्ष)
(२) क्योंकि इसमें धुंआ है, (हेतु)
(३) जहाँ जहाँ धुंआ होता है, वहाँ वहाँ अग्नि होती है, जैसे पाकशाला । (उदाहरण)
(४) इस पर्वत में अग्नि का अविनाभावी (अग्नि के विना न होने वाला) धुँआ है । (उपनय)
(५) इसलिये यहाँ अग्नि है । (निगमन)

न्याय शास्त्र का अधिक विकास तो इस अनुमानपद्धति के कारण ही हुआ है । उसके अंग प्रत्यंगों पर न्याय शास्त्र में वहुत विचार किया गया है ।

(५) **आगम**–आप्त पुरुषो के वचन से उत्पन्न होने वाले अर्थसंवेदन को आगम कहते हैं।[३५] आप्त पुरुष अर्थात् तत्त्व को यथार्थ रूप से जानने वाले तथा उसका यथार्थ निरूपण करने वाले। जिन्होंने राग द्वेषादि दोषों का सपूर्ण नाश किया हो वे ही आप्त बन सकते हैं। तीर्थंकर आप्त पुरुष हैं अतः उनके वचन से जो ज्ञान होता है वह आगम कहलाता है।

उपचार से तीर्थंकरों के वचनसग्रह को भी आगम कहते हैं। यहाँ परार्थानुमान और आगम प्रमाण के बीच क्या अन्तर है, सो जान लेना चाहिये। परार्थानुमान के लिये आप्तत्व आवश्यक नही है, आगम के लिये आप्त पुरुष की आवश्यकता है। आप्त पुरुष के वचन प्रामाण्य के लिये किसी हेतु की आवश्यकता नही होती। वह स्वय-प्रमाण है, जब कि परार्थानुमान में हेतु की आवश्यकता अवश्य रहती है।

आप्त के लौकिक एव लोकोत्तर ये दो भेद माने जाते हैं। उनमें विश्वसनीय पुरुष लौकिक आप्त हैं और तीर्थंकर आदि लोकोत्तर आप्त हैं।

टिप्पणी

१. मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलानि ज्ञानम् ।

तत्त्वार्थ सूत्र, अ० १ सू० ९

२. मतिः स्मृतिः संज्ञा चिन्ताऽभिनिवोध इत्यनर्थान्तरम् ।

अ० १ सू० १३

३. विशेपावश्यक भाष्य, गा० ३९६

४. तदिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तम् । अ० १, सू० १४

५. इंदो जीवो सव्वोवलद्धि-भोगपरमेसरत्तणओ ।
सोताइभेयमिंदियमिह तल्लिगाइ भावाओ ॥

विशेपा० गा० ११९३

इन्द्रियों का स्वरूप प्रज्ञापना सूत्र तथा विशेपावश्यक भाष्य में विस्तार पूर्वक वर्णित है। लोकप्रकाश, आर्हतदर्शन-दीपिका आदि में भी वह देखा जा सकता है।

७. मन का स्वरूप विशेपावश्यक भाष्य में सविस्तार दिया गया है। उसमें मन के अप्राप्यकारीपन के विपय में भी वहुत विवेचन है।

८. अवग्रहेहावायधारणाः ।

तत्त्वार्थ० अ० १, सू १५

९. वहुवहुविधक्षिप्रानिश्चितासंदिग्धध्रुवाणां सेतराणाम् ।

तत्त्वार्थ० अ० सू० १६

यहाँ वहु, वहुविध, क्षिप्र, अनिश्चित, असंदिग्ध, ध्रुव और उसके प्रतिपक्षी अर्थात् अल्प, अल्पविध, अक्षिप्र, निश्चित, संदिग्ध, और अध्रुव, इस तरह कुल वारह प्रकार गिनाये गये हैं।

१०. अ० १ सू० ३१

११ मू० २४

१२ १–३०

१३. १–६–३०

१४ इंदियमणोनिमित्त, जं विण्णाणं सुयाणुसारेण ।
निययत्थुत्ति-समत्थं तं भावसुयं मई इयरा ॥१००॥

१५ स्पष्टवद्धे ।

तत्त्वार्थ अ० सू० २८

१६. ये विशेषण विशेषावश्यक भाष्य में प्रयुक्त हैं ।

१७ न्यायप्रदीप पृ० ६

१८ तथा-प्रमा समारोपः । स त्रिप्रकार संशयविपर्य-
यानध्यवसाय भेदात् ।

जैनसप्तपदार्थी, प्रमाणप्ररूपणम् । पृ० १६

१९ निरपक्ष अर्थात् अपेक्षा का स्वीकार नहीं करने वाली । एकान्त दृष्टि अर्थात् मात्र वस्तु को एक ही दृष्टि से देखने वाली । इसका विशेष परिचय आगे के स्याद्वादप्रकरण में मिलेगा ।

२० तत्त्वार्थव्यवसायात्मज्ञानं मानमितीयता ।
लक्षणेन गतार्थत्वाद् व्यर्थमन्यद्विशेषणम् ॥
गृहीतमगृहीतं वा स्वार्थं यदि व्यवस्यति ।
तन्न लोके न शास्त्रे विजहाति प्रमाणताम् ॥

श्लोकवार्तिक १–१०–७७/७८

२१ न्यायप्रदीप पृ० ११

२२ प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञाननिवर्तनम् ।
केवलस्य सुखोपेक्षा, शेषस्यादानहानधी ॥श्लो २८

२३ विशदं प्रत्यक्षम् । प्र० मी० १–१–१३

विशदं प्रत्यक्षमिति । प० मु० २–३

२४ स्पष्टं प्रत्यक्षम् । २–२

२५ अविशदः परोक्षम् । प्र० मी० १–२–१

अस्पष्टं परोक्षम् । प्र० न० त० लो ३–१

२६ स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत् पञ्च प्रकारम् । प्र० न० त० लो० ३–१

तत् पञ्चविधम्-स्मृतिः, प्रत्यभिज्ञानम्, तर्कः, अनुमानम् आगमश्चेति । न्यायदीपिका ३–३

२७ प्रो० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य, जैनदर्शन, पृ ३१९

२८ यत्र त्वस्ति विसंवादस्तत्र स्मरणस्याभासत्वं प्रत्यक्षाभासवत् । न्यायदीपिका ३–७

२९ विस्मरणसंशयविपर्यासलक्षणः समारोपोऽस्ति तन्निराकरणाच्चास्याः स्मृतेः प्रामाण्यम् । प्रमेयकमलमार्तण्ड ।

३० दर्शनस्मरणसम्भवं तदेवेदं तत्सदृशं तद्विलक्षणं तत्प्रतियोगीत्यादिसंकलनं प्रत्यभिज्ञानं । प्र० मी० १–२–४

३१ आर्हतदर्शनदीपिका पृ० १८७

३२ साधनात् साध्यविज्ञानमनुमानम् ।

प्र० मी० १–२–७

न्यायदीपिका में भी यही लक्षण दिया है ।

३३ अनुमानं द्विप्रकारं स्वार्थं परार्थं च ।

प्र० न० त० ३–९

३४ स्वभावः कारणं कार्यमेकार्थसमवायि विरोधि पञ्चधा साधनम् । प्र० मी० १–२–१२

३५ श्री भद्रबाहु स्वामी ने दशवैकालिक निर्युक्ति मे दस अवयवो की गणना दो प्रकार से की है। वह इस प्रकार है –

(१) प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविशुद्धि, दृष्टान्त, दृष्टान्तविशुद्धि, उपसहार, उपसहारविशुद्धि, निगमन, निगमनविशुद्धि।

(२) प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञाविशुद्धि, हेतु, हेतुविभक्ति, विपक्ष, प्रतिषेध, दृष्टान्त, आशका, तत्प्रतिषेध और निगमन।

३६ आप्तवचनादाविर्भूतमर्थसवेदनमागम ।

प्र० न० त० ४-१

३ नयावाद

नयवाद की महत्ता :

नयवाद जैन दर्शन का–जैन न्याय का महत्त्वपूर्ण अग है। वह वस्तु को देखन की विविध दृष्टियाँ प्रस्तुत करता है, इतना ही नही, परन्तु उनका समन्वय करने की भूमिका भी प्रदान करता है और इस प्रकार मनुष्य को उदार, सहिष्णु एव सत्पथगामी बनाने मे बडा सहायक होता है। इस नयवाद का यहाँ सक्षिप्त परिचय दिया जाएगा।

नय क्या है ?

जिनागमो मे बताया है कि 'द्रव्य के सभी भाव प्रमाण और नय द्वारा उपलब्ध होते हैं।'[1] अर्थात् नय द्रव्य के सर्व भाव जानने का–पदार्थ का यथार्थ स्वरूप समझने का एक साधन है। यह बात तत्त्वार्थ सूत्र मे 'प्रमाणनयैरधिगम' सूत्र द्वारा प्रकट की गई है।[2]

यहाँ प्रश्न होने की सभावना है कि 'यदि पदार्थ का स्वरूप प्रमाण के द्वारा जाना जा सकता है तो नय की क्या आवश्यकता है ? इसका उत्तर यह है कि 'प्रमाण के द्वारा पदार्थ का समग्र रूप से वोध होता है और नय की सहायता मे पदार्थ का अश रूप से वोध होता है। ज्ञानप्राप्ति के लिये ये दोनो वस्तुएँ आवश्यक हैं। उदाहरण के लिये–गाय को देखने पर हमने यह जाना कि (१) यह गाय है। फिर उसके सबध मे विचार करने लगे कि (२) यह गाय रक्तवर्ण है, (३) शरीर से पुष्ट है, (४) दो वछडो वाली है, (५) दूध अच्छा देती है और (६) स्वभाव से भी अच्छी है। तो इसमे प्रथम विषय का ज्ञान प्रमाण से हुआ और शेष पाँच विषयो का ज्ञान नय स हुआ। 'यह गाय है,' ऐसा जाना, इसमे वस्तु

का समग्र रूप से बोध है, अतः वह प्रमाण रूप है और 'यह गाय रक्तवर्ण है' 'शरीर से पुष्ट है' आदि जो ज्ञान प्राप्त किया उसमें वस्तु का अंश रूप से बोध होता है, अतः वह नय रूप है।

जैन शास्त्रों में वस्तु के समग्र रूप से बोध को सकलादेश और अंश रूप से बोध को विकलादेश कहते हैं, अतः प्रमाण सकलादेश है और नय विकलादेश है।[३]

नय की व्याख्या :

नय शब्द 'नी' धातु से बना है। यह 'नी' धातु प्राप्त करना, ले जाना आदि अर्थ प्रकट करता है। इसके आधार पर न्यायावतार की टीका में[४] श्री सिद्धर्षिगणि ने नय की व्याख्या इस प्रकार की है : 'अनन्तधर्माध्यासितं वस्तु स्वाभिप्रेतैकधर्मविशिष्टं नयति-प्रापयति-संवेदनमारोहयतीति नयः। अनंत धर्मों के संबंध वाली वस्तु को अपने अभिमत एक विशिष्ट धर्म की ओर ले जाय अर्थात् विशिष्ट धर्म को प्राप्त करवाए—बताये वह नय कहलाता है।'

एक वस्तु में भिन्न २ अपेक्षाओं से विभिन्न धर्मों का अध्यास (सम्बन्ध) है और ऐसी अपेक्षाएं अनन्त है, अतः एक वस्तु में अनन्त धर्मों का अध्यास सुसंभवित है। एक चन्द्रमा के विषय में इस जगत में अनेक काव्य लिखे गये हैं, फिर भी अभी तक नये काव्यों की रचना होती जाती है और भविष्य में अन्य भी बहुत लिखे जाएँगे : इन काव्यों की संख्या कितनी होगी ? प्रत्येक काव्य यदि चंद्र के किसी न किसी गुण-धर्म से संबंधित वर्णन करता हो, तो चन्द्र में कितने गुण-धर्म संभव हो सकते हैं ? इसका उत्तर 'अनन्त'

से ही देना पड़ेगा।

गाय म रक्तत्व, पुष्टता आदि अनत धर्म है, परन्तु जब 'यह गाय लाल है' ऐसा जानते हैं, तब यह ज्ञान अपने अभिमत एक विशिष्ट धर्म की ओर ले जाता है अत वह नय है।

नयचक्रसार म कहा है कि 'अनन्तधर्मात्मके वस्तुन्येक-धर्मोन्नयन ज्ञान नय। अनत धर्मात्मिक पदार्थ के सम्बन्ध म एक धर्म का मुख्य रूप से ग्रहण करना नय है।' यह व्याख्या उपरोक्त व्याख्या से मिलती जुलती ही है।

प्रमाणनयतत्त्वालोकालकार मे कहा है कि 'नीयते येन श्रुताख्यप्रमाणविषयीकृतस्यार्थस्याशस्तदिराशौदासीन्यत स प्रतिपत्तुरभिप्रायविशेषो नय।' श्रुत नामक प्रमाण द्वारा विषय किये गये अर्थ के अश जिससे जाने जाते हैं ऐसा इतर अशो के प्रति उदासीनता-पूर्वक ज्ञाता का अभिप्रायविशेष नय है इसका अर्थ यह है कि वस्तु मे अनेक अश है। उनमे से किसी भी एक अश को ग्रहण करना और शेष अशो के प्रति उदासीनता रखना अर्थात् उनके सम्बन्ध मे विरोधी या अनुकूल कुछ भी अभिप्राय न देना। इस प्रकार वक्ता की ओर म जो भी अभिप्राय प्रकट हो वह नय कहलाता है। उदाहरण से यह वस्तु स्पष्ट की जाएगी।

ढाल के एक ओर चाँदी का भोल किया हुआ था और दूसरी ओर सोने का भोल था। यह ढाल गाँव के प्रवेश-स्थान मे खड़े हुए एक पुतले के हाथ म थी। अब एक बार दो विभिन्न दिशाओ से दो यात्री उधर आ निकले और ढाल का निरीक्षण करके अपना २ अभिप्राय प्रकट करने लगे। एक ने कहा कि 'यह ढाल चाँदी के भोल वाली है, अन

बहुत सुन्दर लगती है।' दूसरे ने कहा : 'यह ढाल चाँदी के नहीं परन्तु सोने के झोल वाली है, अतः सुन्दर लगती है।' प्रथम व्यक्ति ने कहा, "तू अंधा है इसीसे चाँदी के झोल वाली ढाल को सोने के झोल वाली बताता है।' दूसरे ने कहा, 'तू मूर्ख है, इसीलिये सोने और चाँदी के झोल का अन्तर नहीं जान सकता।' इस प्रकार वाद-विवाद होते होते बात बढ़ गई और वे लड़ने के लिये उद्यत हो गये। इतने में गाँव के कई समझदार व्यक्ति उधर आ पहुँचे और दोनों को शांत करते हुए बोले, "भाइयो! इस प्रकार लड़ने की क्या आवश्यकता है? तुम्हारे बीच जो मतभेद हो वह हमसे कहो।" तब दोनों ने अपनी अपनी बात कही। ग्रामवासियों ने कहा, "यदि तुम्हारे लड़ने का कारण यही हो तो एक काम करो—एक दूसरे के स्थान पर आ जाओ।" उन दोनों ने वैसा ही किया तो अपनी भूल समझ में आगई और दोनों लज्जित हो गये।[५]

इस दृष्टान्त का सार यह है कि वस्तु को हम जैसा देखते हैं मात्र वैसी ही वह नहीं है। वह अन्य स्वरूप की भी है। वह अन्य स्वरूप हमारे ध्यान में न आए, मात्र इसीलिये हम उसका निषेध नहीं कर सकते। यदि निषेध करें तो यात्रियों जैसी स्थिति हो जाती है, अर्थात् विचारों के संघर्ष में उतरना पड़ता है और ऐसा करने पर दोनों के बीच क्लेश पैदा होता है। यदि यात्रियों ने इतना ही कहा होता कि 'यह ढाल रुपहरी है' 'यह ढाल सुनहरी है' तो यह ज्ञान नय रूप होने से सच्चा होता और उससे कलह उत्पन्न होने का प्रसंग ही न

निषेध किया, अत वह ज्ञान नयाभास बन गया, मिथ्या हो गया और उपद्रव का कारण बना।

इस जगत मे अपनी स्थिति भी उक्त यात्रियो जैसी ही है। अपनी अल्प मति से हम जो कुछ भी समझें, उसे ही पूर्ण सच्चा मान लेते हैं और अन्य व्यक्ति के ज्ञान को-अन्य की मान्यता को असत्य घोषित कर देते है, परन्तु दूसरे के कथन मे भी अपेक्षा से सत्य है, यह वस्तु हम भूल जाते हैं और इसीसे झूठ विवाद, कलह अथवा युद्ध का आरभ होता है। नयवाद कहता है कि दूसरे का कथन भी सत्य हो सकता है परन्तु उसकी अपेक्षा क्या है ? यह जानना चाहिये। यदि आप उस अपेक्षा को जानेंगे तो उसे असत्य, झूठा अथवा बनावटी कहने का अवसर ही नही आएगा। जो दूसरे के दृष्टिबिन्दु को समझने का इच्छुक है, वही सत्यप्रेमी है।

नय के प्रकार :

नय किसी भी एक अपेक्षा का अवलम्बन लेता है और वैसी अपेक्षा प्रत्येक व्यक्ति के लिए अथवा प्रत्येक वचन के लिए भिन्न भिन्न होती है, इसलिये नयो के अगणित प्रकार सभव हैं। सन्मतितर्क म कहा है कि 'जावइया वयणपहा तावइया चेव हुति नयवाया।' जितने वचन पथ हैं, उतने ही नयवाद है।[१] इन सभी नयो का सपूर्ण ज्ञान तो सवज्ञ को छोडकर अन्य किसी को नही हो सकता, परन्तु उनका अल्पाधिक ज्ञान सामान्य मनुष्यो को हो सकता है।

नय मुख्य दो प्रकार के हैं द्रव्यार्थिक और दूसरा पर्यायार्थिक। इन म से द्रव्य को-मूल वस्तु को लक्ष्य मे लेने वाला द्रव्यार्थिक कहलाता है और पर्याय को रूपान्तरो को-

१२

लक्ष्य में लेने वाला पर्यायार्थिक कहलाता है। नय के अन्य प्रकार से भी वर्ग किये जा सकते हैं जैसे ज्ञाननय और क्रिया-नय, निश्चय नय और व्यवहार नय; शब्द नय और अर्थ नय आदि। ज्ञान को मुक्ति का साधन रूप माने वह ज्ञान नय और क्रिया को मुक्ति का साधन मानने वाला क्रिया नय। गहन तत्त्व को ग्रहण करे वह निश्चय नय और बाह्य व्यवहार को ग्रहण करे वह व्यवहार नय। इसी प्रकार शब्द पर ध्यान दे वह शब्द नय और अर्थ पर ध्यान दे वह अर्थ नय। इस वर्गीकरण में द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक का वर्गीकरण विशेष ध्यान देने योग्य है, क्योंकि सभी नयों का अन्त में उसी में पर्यवसान होता है।

यहाँ इतना स्पष्टीकरण कर दें कि जैन दर्शन अनेकान्त को मानने वाला होने से ज्ञानपूर्वक क्रिया और क्रियापूर्वक ज्ञान मानता है, निश्चय पूर्वक व्यवहार, और व्यवहार पूर्वक निश्चय मानता है तथा शब्दपूर्वक अर्थ और अर्थपूर्वक शब्द मानता है, परन्तु मात्र ज्ञान या मात्र क्रिया, मात्र निश्चय या मात्र व्यवहार, मात्र शब्द या मात्र अर्थ ऐसा नहीं मानता। वह प्रत्येक नय के प्रति न्यायदृष्टि रखता है और उसके समन्वय में ही श्रेय स्वीकार करता है।

जैन शास्त्रों में निश्चय और व्यवहार का उल्लेख कई बार आता है और किसी भी वस्तु का स्वरूप समझाना हो तो निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टिकोण, प्रस्तुत किये जाते हैं। 'भ्रमर का रंग कैसा'? इस प्रश्न के उत्तर में निश्चय नय कहता है कि 'भ्रमर पांचों वर्ण का है, क्यों कि उसका कोई भाग श्याम है, उसी प्रकार कोई भाग रक्त, नील,

पीत और श्वेत वर्ण का भी है'। यहाँ व्यवहार नय बताता है कि भ्रमर काले रंग का है क्योंकि उसका अधिकांश भाग काला है' अथवा उसका काला भाग व्यवहार मे आता है।

निश्चय की दृष्टि साध्य की ओर होती है, व्यवहार की दृष्टि साधन की ओर होती है। इन दोनो दृष्टियो के मेल से ही कार्यसिद्धि होती है। जो मात्र निश्चय को ही मान करके व्यवहार का लोप करते हैं अथवा व्यवहार को मान करके निश्चय का लोप करते हैं वे जैन दृष्टि से सच्चे मार्ग पर नही। निश्चय को मान करके व्यवहार का लोप करने पर सभी धार्मिक क्रियाएं धार्मिक अनुष्ठान, यावत् धर्मशासन-व्यवस्था और संघव्यवस्था निरर्थक सिद्ध होती है और व्यवहार को मान करके निश्चय का लोप करने पर परमार्थ की प्राप्ति नहीं की जा सकती, और कार्यसिद्धि असम्भव बन जाती है।

निश्चय और व्यवहार का समन्वय जैन दृष्टि है, अकेला निश्चय या अकेला व्यवहार मिथ्या दृष्टि है।°

श्री मल्लवादी कृत नयचक्र मे नय के बारह प्रकार किये गए है, और उन पर अति गहन विचारणा की गई है, परन्तु यहाँ विशेष प्रचलित सात नयो का विचार करेंगे।

नय के मुख्य दो विभाग जिनमे एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय -

द्रव्यार्थिक नय के तीन प्रकार है· (१) नैगम, (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार है (१) ऋजुसूत्र, (२) शब्द, (३) समभिरूढ और (४) एवभूत। इन दोनो प्रकारो को साथ गिनने पर नय की सख्या

सात होती है और यही विशेष प्रसिद्ध है।

इन सात नयों के विशेष प्रकार भी होते हैं। एक प्राचीन गाथा में तो ऐसा भी कहा है कि सात नय में से प्रत्येक नय शतविध अर्थात् सौ प्रकार का है, जिससे उसकी संख्या ७०० होती है।[८] परन्तु हमें तो इन सात नयों के परिचय से ही सन्तोष मानना है।

नैगम नय :

निगम अर्थात् लोक। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय-नैगम अथवा जो वस्तु को सामान्य विशेष रूप अनेक प्रमाणों से माने-ग्रहण करे वह नैगम। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' नहीं परन्तु अनेक 'गम' हैं, बोधमार्ग हैं वह नैगम। नयकर्णिका में कहा है कि सर्व वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनों धर्मों से युक्त होती हैं, उनमें जाति आदि सामान्य धर्म हैं और विशेष प्रकार से भेद करने वाले विशेष धर्म हैं। सौ घड़े पड़े हों उनमें 'ये सब घड़े हैं' ऐसी जो ऐक्यबुद्धि होती है, वह सामान्य धर्म से होती है और 'यह मेरा घड़ा है, इस प्रकार सभी लोग अपने अपने घड़े को पहिचान लें, ऐसा विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणों से युक्त मानता है; उसका कहना यह है कि 'विशेष के बिना सामान्य या सामान्य के बिना विशेष होता नहीं' फिर भी यह नय सामान्य और विशेष धर्मों को परस्पर बिल्कुल भिन्न मानता है अतः प्रमाण ज्ञान रूप नहीं बनता।

किसी मनुष्य से पूछा जाय कि तू कहाँ रहता है? तो वह कहता है कि लोक में। लोक में कहाँ? तो कहता है

पीत, और श्वेत वर्ण का भी है'। यहाँ व्यवहार नय बताता है कि भ्रमर काले रंग का है, क्योंकि उसका अधिकांश भाग काला है' अथवा उसका काला भाग व्यवहार में आता है।

निश्चय की दृष्टि साध्य की ओर होती है, व्यवहार की दृष्टि साधन की ओर होती है। इन दोनों दृष्टियों के मेल से ही कार्यसिद्धि होती है। जो मात्र निश्चय को ही आगे करके व्यवहार का लोप करते हैं अथवा व्यवहार को आगे करके निश्चय का लोप करते हैं वे जैन दृष्टि से सच्चे मार्ग पर नहीं। निश्चय को आगे करके व्यवहार का लोप करने पर सभी धार्मिक क्रियाएं, धार्मिक अनुष्ठान, यावत् धर्मशासन-व्यवस्था और संघव्यवस्था निरर्थक सिद्ध होती हैं और व्यवहार को आगे करके निश्चय का लोप करने पर परमार्थ की प्राप्ति नहीं की जा सकती, और कार्यसिद्धि असंभव बन जाती है।

निश्चय और व्यवहार का समन्वय जैन दृष्टि है, अकेला निश्चय या अकेला व्यवहार मिथ्या दृष्टि है।[७]

श्री मल्लवादी कृत नयचक्र में नय के बारह प्रकार किये गए हैं, और उन पर अति गहन विचारणा की गई है, परन्तु यहाँ विशेष प्रचलित सात नयों का विचार करेंगे।

नय के मुख्य दो विभाग जिनमें एक द्रव्यार्थिक नय और दूसरा पर्यायार्थिक नय--

द्रव्यार्थिक नय के तीन प्रकार हैं: (१) नैगम, (२) संग्रह और (३) व्यवहार। पर्यायार्थिक नय के चार प्रकार हैं (१) ऋजुसूत्र, (२) शब्द, (३) समभिरूढ और (४) एवंभूत। इन दोनों प्रकारों को साथ गिनने पर नय की संख्या

सात होती है और यही विशेष प्रसिद्ध है।

इन सात नयों के विशेष प्रकार भी होते हैं। एक प्राचीन गाथा में तो ऐसा भी कहा है कि सात नय में से प्रत्येक नय शतविध अर्थात् सौ प्रकार का है, जिससे उसकी संख्या ७०० होती है।[८] परन्तु हमें तो इन सात नयों के परिचय से ही सन्तोष मानना है।

नैगम नय :

निगम अर्थात् लोक। उसके व्यवहार का अनुसरण करने वाला नय-नैगम अथवा जो वस्तु को सामान्य विशेष रूप अनेक प्रमाणों से माने-ग्रहण करे वह नैगम। अथवा जिसके जानने का एक 'गम' नहीं परन्तु अनेक 'गम' हैं, बोधमार्ग हैं वह नैगम। नयकर्णिका में कहा है कि सर्व वस्तुएँ सामान्य और विशेष दोनों धर्मो से युक्त होती हैं, उनमें जाति आदि सामान्य धर्म हैं और विशेष प्रकार से भेद करने वाले विशेप धर्म हैं। सौ घड़े पड़े हों उनमें 'ये सब घड़े हैं' ऐसी जो ऐक्यबुद्धि होती है, वह सामान्य धर्म से होती है और 'यह मेरा घड़ा है, इस प्रकार सभी लोग अपने अपने घड़े को पहिचान लें, ऐसा विशेष धर्म से होता है। नैगमनय वस्तु को इन उभय गुणों से युक्त मानता है : उसका कहना यह है कि 'विशेष के बिना सामान्य या सामान्य के बिना विशेष होता नहीं' फिर भी वह नय सामान्य और विशेष धर्मो को परस्पर बिल्कुल भिन्न मानता है अतः प्रमाण ज्ञान रूप नही बनता।

किसी मनुष्य से पूछा जाय कि तू कहाँ रहता है? तो वह कहता है कि लोक में। लोक में कहां? तो कहता है कि

मध्य लोक मे। मध्य लोक मे कहाँ ? तो उत्तर देता है कि जबूद्वीप मे। जबूद्वीप मे कहाँ ? तो कहता है कि भरत क्षेत्र मे। भरत क्षेत्र मे कहाँ ? तो कहता है कि मगध देश मे। मगध देश मे कहाँ ? तो कहता है कि राजगृही नगरी मे। राजगृही नगरी मे कहाँ ? तो कहता है कि नालदा वास मे। नालदा वास मे कहाँ ? तो कहता है कि अपने घर मे। तुम्हारे घर मे कहाँ ? तो कहता है कि मेरी देह है इतने क्षेत्र मे।

निवास के सबध मे ये सारे उत्तर नैगम नय के हैं। उनमें पूर्व पूर्व के वाक्य सामान्य धर्म को और उत्तरवर्ती वाक्य विशेष धर्म को ग्रहण करते जाते हैं। जगत के सर्व व्यवहारो म इस नैगम नय की ही प्रधानता है।

नैगम नय के तीन प्रकार हैं (१) भूत नैगम, (२) भविष्य नैगम और (३) वर्तमान नैगम। भूतकाल के सबध मे वर्तमान काल का आरोपण करना भूतनैगम। जैसे 'आज दीपावली के दिन श्री महावीर स्वामी मोक्ष सिधारे।' अब श्री महावीर स्वामी को निर्वाण प्राप्त किये हुए तो २४८७ वर्ष व्यतीत हो गये हैं फिर भी 'आज' शब्द के प्रयोग से उसमे वर्तमान काल का आरोप किया गया है। भविष्य काल के विषय मे वर्तमान काल का आरोपण करना भविष्य नैगम। जैसे-जो अर्हन् है वे सिद्ध, जो समकितधारी हैं वे मुक्त। यहा अर्हत् देहधारी हैं, अभी तक सिद्ध हुए नही परन्तु वे देहमुक्त होने पर अवश्य सिद्ध होगे, इस निश्चय से जो होने वाला है, उसमे हुए का आरोप किया जाता है। इसी प्रकार जो समकितवन्त है वह अधिक से अधिक अर्ध पुद्गलपरावर्तन काल म अवश्य मुक्त होगा—इस निश्चय से

उसे मुक्त कहने में जो होने वाला है, उसमें हुए का आरोप होता है। अतएव ये दोनों वाक्य भविष्य नैगम के हैं। किसी वस्तु को बनाना शुरू करें और वह अमुक अंश तक हो गई हो और अमुक अंश में न हुई हो फिर भी कहना कि होती है अथवा जो होती है उसे कहना कि होगई—यह वर्तमान नैगम कहलाता है। एक व्यक्ति बम्बई जाने के लिये रवाना हुआ फिर भी कहा जाता है कि बम्बई गया। वस्त्र जलना प्रारम्भ हुआ, फिर भी कहा जाता है कि वस्त्र जला। चाँवल पकाने के लिये हाँड़ी में अभी ही डाले फिर भी कहा जाता है कि चावल पक रहे हैं। ये सब वर्तमान नैगम के वाक्य है।

संग्रहनय:—

वस्तु मात्र में सामान्य और विशेष धर्म रहे हुए हैं। उनमें विशेष को गौण करके जो सामान्य को प्रधानता दे वह संग्रह नय कहलाता है। व्याकरण में जिन्हें जातिवाचक शब्द कहते हैं वे इस प्रकार के हैं। उदाहरण के लिये भोजन शब्द से दूधपाक, पूड़ी, रोटी, दाल, भात, आदि अनेक वस्तुओं का संग्रह होता है-अतः भोजन संग्रह नय का शब्द है। वृक्ष शब्द से अनेक प्रकार के वृक्षों का संग्रह होता है अतः वह भी संग्रह नय का शब्द है।

इस नय के दो प्रकार हैं: सामान्य संग्रह और विशेष संग्रह। जो सर्व द्रव्य गुण पर्याय को ग्रहण करे वह सामान्य संग्रह उदाहरणार्थ-सत्। इसी प्रकार जो सर्व द्रव्यों को ग्रहण करे वह सामान्य संग्रह जैसे—'द्रव्य'। द्रव्य कहने से जीव अजीव सभी द्रव्यों का संग्रह होता है और जो अमुक द्रव्यों का संग्रह करे वह विशेष संग्रह जैसे जीव। जीव कहने से

सभी जीव द्रव्यो का समावेश होता है, परन्तु अजीव रह जाता है, अतः वह विशेष संग्रह है।

इस नय का अभिप्राय यह है कि सामान्य से रहित कोई वस्तु नहीं, अतः सामान्य को ही प्रधानता दी जाय।

व्यवहार नय :—

वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके जो विशेष धर्म को प्रधानता दे वह व्यवहार नय कहलाता है। जैसे व्यवहार नय द्रव्य के छः प्रकार मानता है तथा प्रत्येक के उत्तर-प्रकार बताता है और उनके भी उत्तर भेद बताता है। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर विशेषता ही बताता जाता है। वह इस प्रकार है —
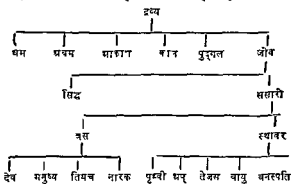
यह नय बताता है कि विशेषता के बिना किसी भी वस्तु का स्पष्ट बोध कैसे हो सकता है ? किसी से कहे कि वनस्पति लाओ तो वह क्या लाएगा ? आम लाओ, पीपल लाओ, नीम लाओ ऐसा कहे तो आम, पीपल या नीम लाएगा। इसलिये विशेष को ही प्रधानता देनी चाहिये।

ऋजुसूत्र नयः—

वर्तमान कालीन स्वकीय अर्थ को ग्रहण करे वह ऋजुसूत्र नय कहलाता है। एक मनुष्य भूतकाल में राजा रहा हो, परन्तु आज भिखारी हो तो यह नय उसे राजा न कहकर भिखारी ही कहेगा, क्योंकि वर्तमान में उसकी स्थिति भिखारी की है।

नयकर्णिका में कहा है कि 'ऋजुसूत्र' नय वस्तु के अतीत तथा अनागत स्वरूप को नहीं मानता, परन्तु वर्तमान और निज स्वरूप को ही मानता है। अतीत, अनागत या परकीय वस्तु से कोई कार्यसिद्धि नहीं होती। वह आकाशकुसुम की भांति असत् है। नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव इन चार निक्षेपों में से ऋजुसूत्र नय नाम, स्थापना और द्रव्य को न मानते हुए मात्र भाव को ही मानता है। आगे के नयों के विषय में भी ऐसा ही समझें।' निक्षेपों का परिचय गत प्रकरण में दिया गया है।

शब्द नय :

पर्याय शब्दों में एक ही वाच्यार्थ को जो माने वह शब्दनय कहलाता है जैसे अर्हत्, जिन और तीर्थंकर। इसके अतिरिक्त कालादि भेद से ध्वनि के अर्थभेद का प्रतिपादन करना हो उसे भी शब्द नय कहते हैं। यहाँ कालादि शब्द से काल, कारक, लिंग, संख्या, पुरुष और उपसर्ग समझें।

था, है और होगा, इन शब्दों में कालभेद है। 'करता है' यह कर्तरि प्रयोग है। 'किया जाता है'—यह कर्मणि प्रयोग है।

लड़का, लड़की, इनमें लिंग भेद है। ये अनुक्रम से पुलिंग और स्त्री लिंग का सूचन करते हैं। कुछ भाषाओं में मात्र दो

सभी जीव द्रव्यों का समावेश होता है, परन्तु अजीव रह जाता है, अत. वह विशेष सग्रह है।

इस नय का अभिप्राय यह है कि सामान्य से रहित कोई वस्तु नही, अत सामान्य को ही प्रधानता दी जाय।

व्यवहार नय :—

वस्तु के सामान्य धर्म को गौण करके जो विशेष धर्म को प्रधानता दे वह व्यवहार नय कहलाता है। जैसे व्यवहार नय द्रव्य के छ प्रकार मानता है तथा प्रत्येक के उत्तर-प्रकार बताता है और उनके भी उत्तर-भेद बताता है। इस प्रकार वह उत्तरोत्तर विशेषता ही बताता जाता है। वह इस प्रकार है.—

- द्रव्य
  - धर्म
  - अधर्म
  - आकाश
  - काल
  - पुद्गल
  - जीव
    - सिद्ध
    - ससारी
      - त्रस
        - देव
        - मनुष्य
        - तिर्यंच
        - नारक
      - स्थावर
        - पृथ्वी
        - अप्
        - तेजस्
        - वायु
        - वनस्पति
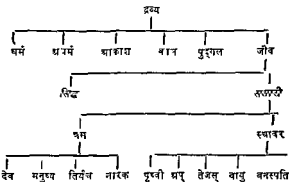
यह नय बताता है कि विशेषता के बिना किसी भी वस्तु का स्पष्ट बोध कैसे हो सकता है ? किसी से कहें कि वनस्पति लाओ तो वह क्या लाएगा ? आम लाओ, पीपल लाओ, नीम लाओ ऐसा कहे तो आम, पीपल या नीम लाएगा। इसलिये विशेष को ही प्रधानता देनी चाहिये।

वाच्यार्थ एक नहीं, परन्तु भिन्न भिन्न है। जो त्रैलोक्य की पूज्य... प्राप्त करे अथवा अष्ट महा प्रातिहार्य की शोभा के अर्ह-योग्य हो वह अर्हत्, जो राग और द्वेष को अथवा सप्तविध भय को जीते वह जिन, और जो धर्म रूपी तीर्थ करे—तीर्थ की स्थापना करे वह तीर्थंकर। तात्पर्य यह है कि समभिरूढ़ नय उसके प्रचलित अर्थ को नहीं परन्तु मूल अर्थ को ग्रहण करता है और यही इसकी विशेषता है।

एवंभूत नय :

'एवं' अर्थात् व्युत्पत्ति के अर्थानुसार, 'भूत' अर्थात् होने वाली क्रिया में जिसका परिणमन हो, उसे ग्रहण करने वाला एवंभूत नय कहलाता है। इस नय की दृष्टि से अर्हत् शब्द का प्रयोग तभी उचित माना जाये जब सुरासुरेन्द्र उनकी पूजा कर रहे हों, जिन शब्द का प्रयोग तभी उचित गिना जाए, जब वे शुक्ल ध्यान की धारा में चढ़कर रागादि रिपुओं को जीतते हों, और तीर्थंकर शब्द का प्रयोग तभी उपयुक्त माना जाय जब वे समवसरण में विराजमान होकर चतुर्विध संघ की और प्रथम गणधर की स्थापना करते हों। अभिप्राय यह है कि उनके सिवाय इन शब्दों का उपयोग करना इस नय के अनुसार उचित नहीं है। वह कहता है कि जिस वस्तु में नामानुसार क्रिया या प्रवृत्ति न हो, उसे उस प्रकार की मानें तो घट को पट मानने में क्या आपत्ति है ?

नयों की उत्तरोत्तर सूक्ष्मता :

नैगमनय लोकव्यवहार में प्रसिद्ध अर्थ को ग्रहण करता है, अर्थात् सामान्य विशेष उभय को स्वीकार करता है। संग्रहनय सामान्य को ही प्रधानता देता है और व्यवहारनय

ही लिंग हैं पुल्लिंग और स्त्रीलिंग, जैसे हिंदी। संस्कृत, गुजराती, मराठी आदि अन्य कई भाषाओं में तीसरा नपुंसक लिंग भी होता है।

लड़का और लड़के, नदी और नदियां इनमें वचन भेद है। प्रथम शब्द एक वचन के हैं, द्वितीय शब्द बहुवचन में है। संस्कृत भाषा में द्विवचन का भी प्रयोग है, अतः उसमें बालकः (एक वचन) बालकौ (द्विवचन) और बालकाः (बहुवचन) इस प्रकार तीन प्रयोग होते हैं।

मैं, तू और वह ये पुरुष भेद बताने वाले शब्द है। 'मैं' उत्तम पुरुष का, 'तू' मध्यम पुरुष का और 'वह' अन्य पुरुष का सूचन करता है।

संस्थित, अवस्थित, प्रतिष्ठित आदि में उपसर्ग का भेद है। सं+स्थित, अव+स्थित, प्रति+स्थित, इस उपसर्गभेद के कारण अर्थ में अन्तर होता है।

ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा यह नय अधिक सूक्ष्म है, क्योंकि ऋजुसूत्र मात्र काल से भेद मानता है, जब कि यह नय कारकादि से भी अर्थ में भेद मानता है।

समभिरूढ़ नय :

जो भली प्रकार अर्थ पर आरूढ हो वह समभिरूढ नय कहलाता है अथवा जो रूढ अर्थ में भिन्न भिन्न अर्थ की सम्मति दे वह समभिरूढ नय कहलाता है अथवा जो भिन्न भिन्न पर्याय शब्दों का वाच्यार्थ भिन्न भिन्न ग्रहण करे वह समभिरूढ नय कहलाता है। यह नय शब्दनय से सूक्ष्म है, क्योंकि वह पर्यायभेद से अर्थभेद ग्रहण करता है।

इस नय के अभिप्राय से अर्हन्, जिन और तीर्थंकर का

टिप्पणी

१. दव्वाण सव्वभावा, सव्वपमाणेहिं जस्स उवलद्धा ।
सव्वाहिं नयविहीहिं, वित्थाररुइ त्ति नायव्वो ॥

उत्तराध्ययन सूत्र अ० २७

'जिसे द्रव्य के सर्व भाव, सर्व प्रमाणों और सर्व नय विधियों से उपलब्ध हुए हैं, उसे विस्तार रुचि जानें ।

२. अ० १, सू० ६

३. प्रमाणनयतत्त्वालोक अ० ४, सूत्र ४३-४४-४५

४. श्लोक २६

५. यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है । भारतीय साहित्य के अतिरिक्त विदेशी साहित्य में भी इसका प्रचार है, परन्तु उसमें से जो विशद वोध-सिद्धान्त जैन दर्शन ने ग्रहण किया है, वैसा अन्य कोई ग्रहण नहीं कर सके हैं । वस्तु के दो पहलू होते हैं, इतना समझ कर ही उन्होंने संतोष कर लिया है ।

६. जावइया वयणपहा, तावइया चेव हुंति नयवाया ।
जावइया नयवाया, तावइया चेव परसमया ।

गा० १४४

'जितने वचन-मार्ग हैं, उतने नय वाद हैं—नयात्मक वचन है । इसी प्रकार जितने नयवाद हैं, उतने ही परसमय-अन्यान्य दर्शन है ।'

७. 'निश्चय और व्यवहार का स्वरूप सविस्तार समझने के लिये पं० श्री भानुविजय जी गणिवर द्वारा लिखित 'निश्चय व्यवहार और आत्मा की उन्नति-अवगति का इतिहास' नामक निबंध उपयोगी है । अहमदावाद दिव्य दर्शन कार्यालय—कालुशी की पोल से वह प्रकाशित हुआ है ।

विशेष को ही महत्ता देता है, ऋजुसूत्र नय वस्तु के वर्तमान स्वरूप को ही ग्रहण करता है, शब्द नय पर्याय शब्दों का एक अर्थ ग्रहण करता है, समभिरूढ पर्याय शब्द का भिन्न भिन्न अर्थ ग्रहण करता है और एवंभूत नय तो अर्थ के अनुसार ही प्रवृत्ति होती हो उसे ही स्वीकार करता है। इस प्रकार नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म हैं, यह बात पाठकों को समझ में आगई होगी।

४ निक्षेपवाद

निक्षेपपद्धति का महत्त्व
निक्षेप का अर्थ
निक्षेप का फल
नाम निक्षेप
स्थापना निक्षेप
द्रव्य निक्षेप
भाव निक्षेप
निक्षेपों का क्रम
निक्षेप और नय
टिप्पणी (१ से ८)

८ यह गाथा निम्नानुसार है –

एक्केक्को य सयविहो, सत्त नय सया एमेव ।
अन्नोविय आएसो, पचेव सया नयाण तु ॥

इसी गाथा का प्रतिबिम्ब नयकर्णिका की निम्न लिखित गाथा म पडा है –

यथोत्तर विशुद्धा स्युर्नया सप्ताप्यमी यथा ।
एकैक स्याच्छत भेदास्तत सप्तशताप्यमी ॥१६॥

स्थापना, द्रव्य, और भाव। इन चार अर्थविभागों को ही चार निक्षेप गिनने की शास्त्रीय परम्परा है। निक्षेप का पर्याय-शब्द न्यास है। तत्त्वार्थ सूत्र में उसका प्रयोग हुआ है।[१] राजवार्तिक में 'न्यासो निक्षेपः' इन शब्दों के द्वारा यह स्पष्टीकरण किया गया है।

निक्षेप का फल :

अनुयोगद्वार सूत्र की टीका में कहा है कि 'निक्षेपपूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमें 'स्पष्टता आती है,[२] अतः अर्थ की स्पष्टता उसका प्रकट फल है। लघीयस्त्रय की स्वोपज्ञ वृत्ति में कहा है कि अप्रस्तुत अर्थ को दूर करना और प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करना निक्षेप का फल है।'[3] जैन तर्कभाषा में शब्द की अप्रतिपत्त्यादि व्यवच्छेदक अर्थ-रचना को निक्षेप कहा है,[४] अर्थात् निक्षेप का फल अप्रतिपत्ति का व्यवच्छेद है। यहाँ अप्रतिपत्ति आदि शब्द से अज्ञान, संशय और विपर्यय ग्रहण करना है, अर्थात् निक्षेप का आश्रय लेने पर अज्ञानता दूर होती है, संशय मिटता है और विपर्यय का भय नहीं रहता।

नाम निक्षेप :

वस्तु या व्यक्ति का इच्छानुसार नाम रखना नाम निक्षेप कहलाता है अथवा लोकव्यवहार चलाने जितना किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखे विना किसी पदार्थ की संज्ञा रखना नाम निक्षेप कहलाता है।

नाम निक्षेप में वक्ता का अभिप्राय ही निमित्त होता है, उसमें गुण, जाति, द्रव्य आदि कुछ भी निमित्त नहीं होता। एक सामान्य व्यक्ति का नाम इन्द्र रक्खा। अब मूल इन्द्र का गुण

निक्षेपपद्धति का महत्त्व :

मनुष्यो का सर्व व्यवहार भाषा से चलता है। यदि भाषा न हो तो मनुष्य अपना मनोभाव यथार्थ रूप से व्यक्त नही कर सकता और इससे उसका कोई भी व्यवहार सिद्ध नही हो सकता।

भाषा की रचना शब्दो द्वारा होती है और ये शब्द सकेत-पद्धति द्वारा नियत अर्थ बताने योग्य बनते हैं। इस प्रकार शब्द का जो अर्थ निष्पन्न होता है, वह व्यवहारसिद्धि का एक महत्त्व-पूर्ण अग बनता है, परन्तु एक शब्द एक ही अर्थ बताए ऐसा नही है। वह प्रयोजन या प्रसगवशात् भिन्न २ अर्थों का द्योतक होता है, इसलिये किसी भी शब्द का प्रस्तुत अर्थ क्या है ? यह जानने की आकाक्षा रहती है। इस आकाक्षा को पूर्ण करने का कार्य निक्षेपपद्धति करती है–जो इसकी महत्त्व-पूर्ण विशेषता है।

शब्द का प्रस्तुत अर्थ जानने से वस्तु का या वस्तुस्थिति का स्वरूप समझने म सहायता मिलती है, अत उसे जैन न्याय का एक भाग माना गया है। इतना ही नही, जैन सूत्र सिद्धान्तो म इस पद्धति का व्यापक उपयोग हुआ है, अत-पाठको क लिये उसका परिचय प्राप्त करना वाछनीय है।

निक्षेप का अर्थ :

निक्षेप का व्युत्पन्न अर्थ है–शब्द मे आरोपण करना, अर्थ का रखना, स्थापना करना और रूढ अर्थ है शब्द के अर्थ-सामान्य का नामादि भेदो से निरूपण करना।

शब्द क जितने अर्थ होते हो उन्हे शब्द का अर्थ सामान्य कहते हैं। उसके कम से कम चार विभाग होते हैं : नाम,

स्थापना, द्रव्य, और भाव। इन चार अर्थविभागों को ही चार निक्षेप गिनने की शास्त्रीय परम्परा है। निक्षेप का पर्याय-शब्द न्यास है। तत्त्वार्थ सूत्र में उसका प्रयोग हुआ है।[1] राजवार्तिक में 'न्यासो निक्षेपः' इन शब्दों के द्वारा यह स्पष्टीकरण किया गया है।

निक्षेप का फल :

अनुयोगद्वार सूत्र की टीका में कहा है कि 'निक्षेपपूर्वक अर्थ का निरूपण करने से उसमें 'स्पष्टता आती है,[2] अतः अर्थ की स्पष्टता उसका प्रकट फल है। लघीयस्त्रय की स्वोपज्ञ वृत्ति में कहा है कि अप्रस्तुत अर्थ को दूर करना और प्रस्तुत अर्थ को प्रकट करना निक्षेप का फल है।'[3] जैन तर्कभाषा में शब्द की अप्रतिपत्त्यादि व्यवच्छेदक अर्थ-रचना को निक्षेप कहा है,[4] अर्थात् निक्षेप का फल अप्रतिपत्ति का व्यवच्छेद है। यहाँ अप्रतिपत्ति आदि शब्द से अज्ञान, संशय और विपर्यय ग्रहण करना है, अर्थात् निक्षेप का आश्रय लेने पर अज्ञानता दूर होती है, संशय मिटता है और विपर्यय का भय नहीं रहता।

नाम निक्षेप :

वस्तु या व्यक्ति का इच्छानुसार नाम रखना नाम निक्षेप कहलाता है अथवा लोकव्यवहार चलाने जितना किसी अन्य निमित्त की अपेक्षा रखे बिना किसी पदार्थ की संज्ञा रखना नाम निक्षेप कहलाता है।

नाम निक्षेप में वक्ता का अभिप्राय ही निमित्त होता है, उसमें गुण, जाति, द्रव्य आदि कुछ भी निमित्त नहीं होता। एक सामान्य व्यक्ति का नाम [illegible]

तो परम ऐश्वर्य है, परन्तु यहाँ उसके साथ कोई सम्बन्ध नही। लोकव्यवहार चलाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ नाम रखना चाहिये, इसीलिये उसका नाम इन्द्र रखा है। इसको हमे नाम इन्द्र अर्थात् नाम-मात्र का इन्द्र समझना है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'कोई व्यक्ति ऐश्वर्यशाली हो उसका नाम इन्द्र रक्खा जाय तो क्या वह नाम निक्षेप कहलाएगा ?' इसका उत्तर यह है कि वस्तु मे गुण भले हो परन्तु जब तक गुण की अपेक्षा से शब्द का व्यवहार न किया जाय तब तक उसे नाम निक्षेप ही कहेगे। 'इन्द्र तो सचमुच इन्द्र था' इस वाक्य मे प्रथम इन्द्र नाम निक्षेप का है, क्योकि उससे किसी व्यक्ति का बोध होता है और द्वितीय इन्द्र भाव-निक्षेप का है, क्योकि उससे गुणविशेष का बोध होता है।

नाम निक्षेप का एक लक्षण यह है कि उसका मूल वस्तु के पर्याय से कथन नही हो सकता अर्थात् जिसका नाम इन्द्र रक्खा हो वह पुरन्दर, पाकशासन, शक्र, हरि आदि शब्दो से सम्बोधित नही किया जा सकता। जो सचमुच मे इन्द्र है उसे उसके पर्याय शब्दो से बुलाया जा सकता है।

नामकरण दो प्रकार का होता है एक सार्थक, दूसरा निरर्थक। यशोदा, लक्ष्मी, आशाधर, नरेन्द्र आदि सार्थक नाम हैं और डित्थ डवित्थ आदि निरर्थक नाम है।

काल की अपेक्षा से नाम के दो भेद होते हैं (१) शाश्वत और (२) अशाश्वत। जो नाम सदा रहने वाले है, वे शाश्वत, जैसे—सूर्य, चन्द्र, मेरु, सिद्धशिला, लोक आदि। जो नाम सदा रहने वाले नही है, अर्थात् जिनमे परिवर्तन होने

जाना है, वे अशाश्वत। एक स्त्री अपने मायके में कमला कहलाती है और ससुराल जाने के बाद उसे दूसरा नाम दिया जाता है अथवा एक पदार्थ एक काल में अमुक नाम से जाना जाता है और कालान्तर में अन्य नाम से पहिचाना जाता है।

यहां इतनी स्पष्टता कर दें कि पुस्तक, पत्र या चित्र में इन्द्र ऐसी अक्षरपंक्ति लिखी हुई हो तो वह भी नाम इंद्र ही कहलाता है।[४]

स्थापना निक्षेप :

एक वस्तु में अन्य वस्तु का आरोप करना और उसका व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है। पाषाण की प्रतिमा में देव की स्थापना करना और उसका देव नाम से व्यवहार करना स्थापना निक्षेप है। शतरञ्ज के मोहरों में राजा, मंत्री, हाथी, ऊँट आदि की स्थापना की जाती है और फिर कहा जाता है कि राजा अपने स्थान पर है, मंत्री मरा, हाथी को मार दी जाने लायक स्थिति नहीं, ऊँट सुरक्षित है, तो ये सब स्थापना निक्षेप के वाक्यप्रयोग हैं। स्थापना को आकृति या रूप भी कहते हैं।

स्थापना दो प्रकार की है : (१) तदाकार या सद्भाव और (२) अतदाकार या असद्भाव। इसमें स्थाप्य (जिसकी स्थापना करनी है वह) के आकार वाली वस्तु की स्थापना करना तदाकार या सद्भाव स्थापना है, जैसे मूर्ति, चित्र, फोटो आदि और स्थाप्य के आकार से भिन्न आकार में किसी की आकृति की स्थापना करना अतदाकार या असद्भाव स्थापना है, जैसे कूप में [illegible] स्थान पर [illegible], देवी के स्थान पर किसी देवता के स्थान पर पत्थर या ढेर आदि।

तो परम ऐश्वर्य है, परन्तु यहाँ उसके साथ कोई सम्बन्ध नहीं। लोकव्यवहार चलाने के लिये प्रत्येक व्यक्ति का कुछ न कुछ नाम रखना चाहिये, इसीलिये उसका नाम इन्द्र रखा है। इसको हमें नाम इन्द्र अर्थात् नाम-मात्र का इन्द्र समझना है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि 'कोई व्यक्ति ऐश्वर्यशाली हो उसका नाम इन्द्र रक्खा जाय तो क्या वह नाम निक्षेप कहलाएगा ?' इसका उत्तर यह है कि वस्तु में गुण भले हो परन्तु जब तक गुण की अपेक्षा से शब्द का व्यवहार न किया जाय तब तक उसे नाम निक्षेप ही कहेंगे। 'इन्द्र तो सचमुच इन्द्र था' इस वाक्य में प्रथम इन्द्र नाम निक्षेप का है, क्योंकि उससे किसी व्यक्ति का बोध होता है और द्वितीय इन्द्र भावनिक्षेप का है, क्योंकि उससे गुणविशेष का बोध होता है।

नाम निक्षेप का एक लक्षण यह है कि उसका मूल वस्तु के पर्याय से कथन नहीं हो सकता अर्थात् जिसका नाम इन्द्र रक्खा हो वह पुरन्दर, पाकशासन, शक्र, हरि आदि शब्दों से सम्बोधित नहीं किया जा सकता। जो सचमुच में इन्द्र है उसे उसके पर्याय शब्दों से बुलाया जा सकता है।

नामकरण दो प्रकार का होता है एक सार्थक, दूसरा निरर्थक। यशोदा, लक्ष्मी, आशाधर, नरेन्द्र आदि सार्थक नाम हैं और डित्थ डवित्थ आदि निरर्थक नाम हैं।

काल की अपेक्षा से नाम के दो भेद होते हैं. (१) शाश्वत और (२) अशाश्वत। जो नाम सदा रहने वाले हैं, वे शाश्वत, जैसे—सूर्य, चन्द्र, मेरु, सिद्धशिला, लोक आदि। जो नाम सदा रहने वाले नहीं है, अर्थात् जिनमें परिवर्तन होने

नाम निक्षेप में नामानुसार आदर-अनादर बुद्धि नहीं होती परन्तु स्थापना निक्षेप में नामानुसार आदर अनादर बुद्धि होती है, यह उसकी विशेषता है। किसी व्यक्ति का नाम महावीर हो तो उसका महावीर की भांति आदर-सत्कार नहीं किया जाता परन्तु महावीर की स्थापना अर्थात् मूर्ति बनाई हुई हो तो वहां महावीर के जैसी आदरबुद्धि होती है। अथवा किसी को महावीर के प्रति द्वेष है तो उसकी अनादर बुद्धि होती है। भारत में अंग्रेजों का राज्य था, तब तक गवर्नरों के स्मारकों पर पुष्पहार चढ़ाये जाते थे, फिर क्रांति हुई तब से स्मारक टूटने लगे या उनके प्रति तिरस्कार होने लगा। स्थापना से होने वाली आदर-अनादर बुद्धि का यह ज्वलन्त उदाहरण है।

यदि कोई कहे कि स्थापना देखकर हमें आदर-अनादर बुद्धि नहीं होती, तो यह कथन मान्य नहीं है। क्या वे दस रुपये के नोट को दस रुपयों के जितना ही आदरणीय नहीं मानते ? जिसे दस रुपये का नोट कहते हैं वह कागज के एक टुकड़े पर दस रुपयों की स्थापना है। इसके अतिरिक्त माता-पिता की या किसी प्रेयसी की तस्वीर देखकर उसका आदर करते हैं या नहीं ? और किसी प्रतिपक्षी या वैरी की तस्वीर देखकर नाक-भौंह सिकोड़ते हैं या नहीं ? कहने का तात्पर्य यह है कि नाम की अपेक्षा स्थापना में भावसंवेदन जगाने का बल अधिक होता है।

सादी पुस्तकों की अपेक्षा सचित्र पुस्तकें देखने का मन अधिक होता है, अथवा कथा सुनने की अपेक्षा नाटक या फिल्म में उसका दृश्य देखने का मन अधिक होता है, उसमें भी यही

तदाकार या सद्भाव स्थापना पूर्ण रूप से सादृश्य रखती हो ऐसी बात नहीं है, कुछ बातों में सादृश्य होने से भी उस तदाकार स्थापना कहते हैं, जैसे–नाटक के पात्रों को तदाकार स्थापना कहते हैं, उसमें उन उन व्यक्तियों का सपूर्ण सादृश्य नहीं होता परन्तु उनके रूप, रंग, वेश भूषा हलन चलन आदि का कुछ सादृश्य होता है। मूर्ति में भी ऐसा ही समझ। श्री महावीर की मूर्ति को तदाकार स्थापना मानते है, उसमें श्री महावीर देव का पूर्ण सादृश्य नहीं होता, परन्तु उनकी अवस्था आदि का कुछ सादृश्य होता है।

अनुयोगद्वार सूत्र में स्थापना के ४० भेद बताये है जो इस प्रकार हैं–

(१) लकडी मे बनाया हुआ रूप।
(२) चित्र खींच कर बनाया हुआ रूप।
(३) वस्त्र में बनाया हुआ रूप।
(४) चूने आदि के लेप से बनाया हुआ रूप।
(५) सूत्रादि गूंथ कर बनाया हुआ रूप।
(६) शृंखलादि के वेष्टन से बनाया हुआ रूप।
(७) धातु आदि गलाकर बनाया हुआ रूप।
(८) वस्त्रखंडों को एकत्रित करके, उन्हें जोड़कर बनाया हुआ रूप।
(९) पासे आदि जमा कर बनाया हुआ रूप।
(१०) कौड़ी आदि की स्थापना करके बनाया हुआ रूप।

इन दश भेदों के एक और अनेक ऐसे दो दो भेद गिनने पर २०, और उनकी सद्भाव और असद्भाव स्थापना गिनने पर कुल भेद ४० होते हैं।"

गुण न होने के कारण उन्हें द्रव्याचार्य कहा गया है।

कभी कभी द्रव्य निक्षेप अनुपयोग के अर्थ में भी प्रवर्तित होता है, जैसे श्री जिनेश्वर देव की भक्ति विविध उपचारों से की जाती है, परन्तु उसमें उपयोग न हो, तो कहा जाता है कि 'यह द्रव्य भक्ति है।' इस प्रकार की हुई भक्ति साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं बनती, परन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण बनती है अतः उसमें द्रव्य शब्द का प्रयोग उचित है।

आत्मा, ज्ञान, देह आदि का संबध बताते हुए शास्त्रकारों ने आगमद्रव्यनिक्षेप और नो-आगमद्रव्यनिक्षेप ऐसे दो भाग किये है। यहाँ आगम शब्द से ज्ञान अभिप्रेत है। उपचार से ज्ञान को धारण करने वाले आत्मा को भी आगम ही कहते है। आत्मा के उपयोग और लब्धि नामक दो प्रकार के ज्ञान है। इनमें लब्धिवंत परन्तु उपयोगरहित हो तब उसे आत्मा कहना आगम द्रव्य निक्षेप है। आत्मा पहिले उपयोग वाला था, भविष्य में भी उपयोग वाला होनेवाला है, परन्तु वर्तमान काल में उपयोग वाला नहीं है अतः यहाँ द्रव्य निक्षेप मानना उचित है। यदि उपयोगवान् को ही आत्मा कहें तो यह भाव निक्षेप की कोटि में जाता है।

शरीर आत्मा के गुणों से रहित है, फिर भी उसे आत्मा कहना नोआगम द्रव्य निक्षेप है। 'आत्मा को कुचल दिया।' ऐसा कहते हैं जिसमें शरीर को आत्मा कहा जाता है। शरीर कुचला जाता है, आत्मा कुचला नही जाता।

नोआगम द्रव्य निक्षेप के तीन भाग किये गये है जिस पर यहाँ प्रकाश डालना आवश्यक है। वे तीन प्रकार ये हैं:—
(१) ज्ञ–शरीर (२) भव्यशरीर और (३) तद्व्यतिरिक्त।

वस्तुस्थिति है।

द्रव्य निक्षेप :—

वाणीव्यवहार विचित्र है। कभी कभी वह भूतकालीन स्थिति का वर्तमान में प्रयोग करती है तो कभी कभी भविष्य कालीन स्थिति का वर्तमान में प्रयोग करती है। जब इस प्रकार का वाणी व्यवहार शब्द प्रयोग होता है तब उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

घडे में एक बार घी भरा जाता था। आज वह खाली है फिर भी ऐसा कहना कि घी का घडा इसमें द्रव्य निक्षेप है। अथवा घी भरने के लिये एक घडा मंगवाया हो अभी तक उसमें घी भरा न हो फिर भी कहना कि घी का घडा ला वहां भी द्रव्य निक्षेप है। राजा के पुत्र को राजा कहना या राज्य जाने के पश्चात् भी राजा कहते रहना भी द्रव्य निक्षेप का ही प्रयोग है।

द्रव्य निक्षेप का क्षेत्र विस्तृत है अतः उसमें ऐसे अनेक वाणी प्रयोग संभव है। जैसे युवराज या राजा मर जाए तो उसके मृत शरीर को भी राजा कहते हैं अथवा राजा संबंधी ज्ञान को भी राजा कहते हैं। राजा तो मेरे अंतर में बसता है। ऐसा कहने वाले के अंतर में राजा नहीं बसता परन्तु राजा का ज्ञान बसता है। कभी कभी व्यक्ति और उसके कार्य का भी अभेद उपचार किया जाता है। किसी राजनीतिज्ञ के मृत शरीर को जलता हुआ देखकर कहना कि आज राजनीति जल रही है तो यह इस प्रकार का वाणी प्रयोग द्रव्यनिक्षेप है।

कभी कभी द्रव्य निक्षेप अप्राधान्य के अर्थ में भी प्रवर्तित होता है जैसे—अंगारमर्दक द्रव्याचार्य थे। यहाँ आचार्य के
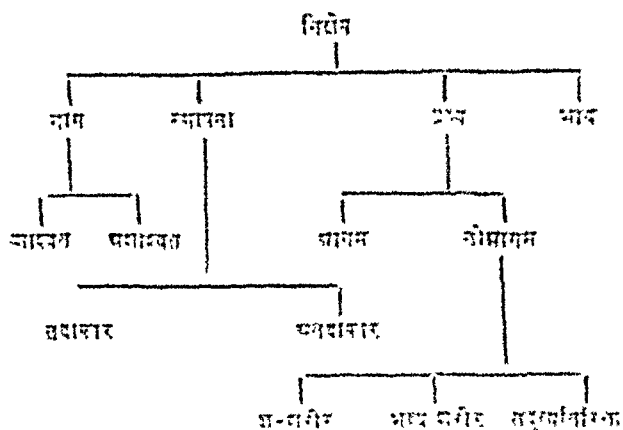
इनमें से कई भेदों के उत्तरभेद संभव हैं, परन्तु वे यहाँ प्रस्तुत नहीं हैं।[2]

निक्षेपों का क्रम :

निक्षेपों के प्रस्तुत क्रम में क्या कोई हेतु है? इस प्रश्न का उत्तर हकार में है। सामान्यतया नाम और मूल वस्तु के बीच बहुत अन्तर है। स्थापना से यह अन्तर दूर किया जाता है, अर्थात् मूल वस्तु के अधिक निकट आ सकते हैं। द्रव्य मूल वस्तु के समीप ले आता है, परन्तु उसकी पूर्व या उत्तर अवस्था की ओर विशेष ध्यान खींचता है। जबकि भाव वस्तु के मूल स्वरूप को बराबर स्पर्श करता है। इस प्रकार प्रथम शब्द और अर्थ (पदार्थ) के बीच का अन्तर बताकर, वह अन्तर किस क्रम से घटता जाता है, यह बताने के लिये यहाँ क्रम की स्थापना की गई है।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा जानता था वह ज्ञ–शरीर या ज्ञायकशरीर। एक विद्वान् का मृत शरीर देखकर कहा जाय कि 'यह आत्मा ज्ञानी था' तो यह ज्ञ–शरीर नोआगम–द्रव्य निक्षेप का प्रयोग हुआ माना जाता है।

जिस शरीर मे रहकर आत्मा भविष्य मे जानने वाला है, वह भव्य शरीर। एक बालक की देह देखकर कहे कि 'यह आत्मा तो बहुत जानेगा' तो यह भव्य शरीर नोआगम द्रव्य निक्षेप का प्रयोग हुआ।

प्रथम दो भेदो मे शरीर ग्रहण किया। तीसरे भेद मे शरीर नही परन्तु शारीरिक क्रिया ग्रहण की जाती है, अत उसे तद्व्यतिरिक्त कहते है। किसी मुनिराज की धर्मोपदेश के समय की हस्तादि की चेष्टाओ को याद करके कहना कि 'यह भी एक आत्मा था' तो यह तद्व्यतिरिक्त नोआगम द्रव्य निक्षेप का प्रयोग गिना जाता है।

भाव निक्षेप :

वर्तमान पर्याय के अनुसार शब्दप्रयोग करना भाव निक्षप है, जैसे अध्यापन करनेवाले को अध्यापक कहना, राज्य करने वाले को राजा कहना, सेवा करने वाल को सेवक कहना आदि।

एक बार निम्न तालिका पर दृष्टिपात करने से निक्षेप के भेदो का स्पष्ट ज्ञान हो सकेगा —

टिप्पणी

१ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः तत्त्वा० सू० अ० १ सू० ५

२ आवश्यकादिशब्दानामर्थो निरूपणीयः, स च निक्षेपपूर्वक एव स्पष्टतया निरूपितो भवति ।'

त० सूत्र

३ अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । त० ७-२

४ प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थान विनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निक्षेपाः ।

त० तृतीय निक्षेपपरिच्छेदः ॥ १ ॥

५ यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधान-भूतेन्द्रादिवर्णावली ।

जैनतर्कभाषा, परिच्छेद ३,२,

६ ठवणावस्सयं जण्णं कट्ठकम्मे वा चित्तकम्मे वा, पोत्थ-कम्मे वा, लेपकम्मे वा, गंथिमे वा, वेढिमे वा, पुरिमे वा, संघाइमे वा, अक्खे वा, वराडए वा, एगो वा, अणेगो वा सब्भावठवणाए वा, असब्भावठवणाए वा...... । सूत्र-१०

७ तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं : लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तर । ये आवश्यक आदि के निक्षेप में घट सकते हैं । भाव निक्षेप के भी आगम, नोआगमादि भेद किये जाते हैं ।

८ निक्षेप परिच्छेद-८ निक्षेपाणां नयेषु योजना ।

निक्षेप और नय :

प्रथम के तीन निक्षेप द्रव्यार्थिक नय के विषय हैं क्योंकि वे त्रिकालविषयी होने से उनमें द्रव्य अर्थात् अन्वय होता है। अन्तिम निक्षेप पर्यायार्थिक नय का विषय है, क्योंकि उसका सम्बन्ध वस्तु के वर्तमान पर्याय के साथ ही है। प्रत्येक निक्षेप पर कौन सा नय घटित हो सकता है यह जैनतर्कभाषा में बताया गया है।[८]

टिप्पणी

१ नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः तत्त्वा० सू० अ० १ सू० ५

२ आवश्यकादिशब्दानामर्थो निरूपणीयः, स च निक्षेपपूर्वक एव स्पष्टतया निरूपितो भवति ।'

त० सूत्र

३ अप्रस्तुतार्थापाकरणात् प्रस्तुतार्थव्याकरणाच्च निक्षेपः फलवान् । त० ७-२

४ प्रकरणादिवशेनाप्रतिपत्त्यादिव्यवच्छेदकयथास्थान विनियोगाय शब्दार्थरचनाविशेषा निक्षेपाः ।

त० तृतीय निक्षेपपरिच्छेदः ॥ १ ॥

५ यथा वा पुस्तकपत्रचित्रादिलिखिता वस्त्वभिधान-भूतेन्द्रादिवर्णावली ।

जैनतर्कभाषा, परिच्छेद ३,२,

६ ठवणावस्सयं जण्णं कट्ठकम्मे वा चित्तकम्मे वा, पोत्थ-कम्मे वा, लेपकम्मे वा, गंथिमे वा, वेढिमे वा, पुरिमे वा, संघाइमे वा, अक्खे वा, वराडए वा, एगो वा, अणेगोवा सब्भावठवणाए वा, असब्भावठवणाए वा...... । सूत्र-१०

७ तद्व्यतिरिक्त के तीन भेद हैं : लौकिक, कुप्रावचनिक और लोकोत्तर । ये आवश्यक आदि के निक्षेप में घट सकते हैं । भाव निक्षेप के भी आगम, नोआगमादि भेद किये जाते हैं ।

८ निक्षेप परिच्छेद-८ निक्षेपाणां नयेषु योजना ।

५ स्याद्वाद और सप्तभंगी

- स्याद्वाद की महत्ता
- स्याद्वाद की व्युत्पत्ति
- स्याद्वाद का परिचय
- स्याद्वाद के उदाहरण
- सप्तभंगी
- उपसंहार
- टिप्पणी (१ से १७)

स्याद्वाद की महत्ता:—

इंग्लैंड के सुप्रसिद्ध विद्वान डॉ० थोमसन ने कहा कि 'न्यायशास्त्र में जैन न्याय अति उच्च है। उसमें स्याद्वाद का स्थान अति गंभीर है। वस्तुओं की भिन्न भिन्न परिस्थितियों पर वह सुन्दर प्रकाश डालता है'।

महामहोपाध्याय स्वामी रामशास्त्री ने कहा है कि 'स्याद्वाद जैन धर्म का अभेद्य किला है। उसमें प्रतिवादियों के मायामय गोले प्रवेश नहीं कर सकते।'

पं० हंसराजजी शर्मा ने कहा है कि 'अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) अनुभवसिद्ध, स्वाभाविक और परिपूर्ण सिद्धान्त है।'

स्याद्वाद की उपयोगिता मात्र दार्शनिक क्षेत्र में ही है, ऐसी बात नहीं है। लोकव्यवहार में भी इसकी उपयोगिता है इसके लिये श्री सिद्धसेन दिवाकर ने कहा है कि —

जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा न निव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स॥

जिसके बिना लोकव्यवहार भी सर्वथा चलता नहीं, उस भुवन के श्रेष्ठ गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।'[1]

कोई भी व्यावहारिक कार्य करना हो तो उसका विचार अनेक दृष्टियों से किया जाता है, और तभी तद्विषयक कदम रक्खा जाता है, अर्थात् उसमें अनेकान्तवाद रहा हुआ है। जो कार्य का विचार अनेक दृष्टि से नहीं करते, मात्र एक ही दृष्टि से करते हैं और उस संबंध में कदम रखते हैं, वे उस कार्य में सफलता प्राप्त नहीं कर सकते, अर्थात् अनेकान्त-वाद का [illegible]

सकना।

जिसे गृह चलाना हो व्यवहार निभाना हो, उसे सबकी बातें सुननी पड़ती हैं और सब का हित लक्ष्य मे रखना पड़ता है। यदि वह अन्य की बात न सुने या अन्य का हित लक्ष्य मे न रखे तो थोड़े समय मे ही कलह का प्रारम्भ हो जाता है और आग की लपट की तरह तेजी से फैलने के कारण घर का-व्यवहार का नाश होता है।

स्याद्वाद राजनीति के क्षेत्र मे भी उपयोगी है। इसके सम्बन्ध मे गाधीजी के निम्न लिखित शब्द सुनिये :—

"अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) मुझे बहुत प्रिय है। उसमें से मैंने मुसलमानो की दृष्टि से उनका, ईसाइयो की दृष्टि से उनका (इस प्रकार अन्य सभी का) विचार करना सीखा। मेरे विचारो को कोई गलत मानता तब मुझे उसकी अज्ञानता पर पहिले क्रोध आता था। अब मैं उनका दृष्टिबिंदु उनकी आंखों से देख सकता हूँ क्योकि मैं जगत के प्रेम का भूखा हूँ। अनेकान्तवाद का मूल अहिंसा और सत्य का युगल है।"

वैज्ञानिक क्षेत्र मे भी स्याद्वाद ने अपनी उपयोगिता सिद्ध की है। वस्तु को अनेक दृष्टियो से देखना जाचना और उसके विविध गुण धर्मों से परिचित होना क्या अनेकान्तदृष्टि नही है? विज्ञान यदि पूर्वकालीन दृढ मान्यताओ को पकड़ कर बैठा रहा होता तो क्या उसकी कोई भी शोध कार्यान्वित हो सकती थी? 'लोहा बहुत भारी है और पानी मे डूब जाता है' ऐसी एकान्त रूढ मान्यता बहुत समय से चली आरही थी। परन्तु विज्ञान ने उसे अन्य दृष्टि से देखने का प्रयास किया। इस प्रयास मे उसे पता चला कि लोहा

विशिष्ट संयोगो में हल्का भी वन जाता है और इस कारण पानी में तैर सकता है। उसके इस अनेकान्त-ज्ञान ने लोहे के जलयान समुद्र में चला दिये, विजली, ध्वनि, अणुशक्ति आदि सभी खोजें भी अनेकान्तदृष्टि पर ही अवलम्बित हैं।

वैज्ञानिक जगत अनेक समस्याओं से परेशान था परन्तु सन् १९०५ में प्रो० आइन्स्टीन के सापेक्षवाद (Theory of Relativity) प्रस्तुत करने के साथ उनमें से अधिकांश समस्याओं का समाधान हो सका। यह सापेक्षवाद क्या है ? यह स्याद्वाद का ही अपर नाम है। जैन शास्त्रों में स्याद्वाद को अपेक्षावाद या सापेक्षवाद स्पष्ट रूप से कहा ही है।

इस प्रकार स्याद्वाद अनेक प्रकार से उपयोगी है, अतः सत्यप्रिय विकास के इच्छुक सुज्ञ जनों को उसका परिचय अवश्य प्राप्त करना चाहिए।

स्याद्वाद की व्युत्पत्तिः-

'स्याद्वाद' शव्द 'स्यात्' और 'वाद' इन दो पदों से वना हुआ है, अतः स्यात् पूर्वकवाद स्याद्वाद अथवा स्यात् पद की मुख्यता वाला वाद स्याद्वाद-ऐसा समझें। 'स्याद् अस्ति घट।' 'स्याद नास्ति घटः'। ये स्याद्वादशैली के वाक्य हैं। इनमें स्यात् पद की मुख्यता देखी जा सकती है।

वाद का अर्थ है कथन या प्रतिपादन। उसके सम्बन्ध में विवेचन करने की आवश्यकता नहीं है,परन्तु स्यात् पद रहस्यमय है। अतः वह कुछ विवेचना अवश्य माँग लेता है। इस स्यात् पद का रहस्य नहीं समझने से वड़े-वड़े विद्वानों ने उस का अर्थ करने में भूल की है और वे स्याद्वाद को संशयवाद या विवर्तवाद आदि कहने को प्रेरित हुए हैं। अधिक खेद की

बात तो यह है कि जैन ग्रन्थो मे इस पद का रहस्य समझाने वाले अनेक विवेचन होने हुए भी यह भ्रान्त परम्परा अभी तक चली आ रही है और जो स्याद्वाद जैसे जगत के एक महान् पवित्र वाद के साथ अन्याय कर रही है।

जो शब्द जिस अर्थ मे प्रयुक्त हुआ हो उस अर्थ मे ही उसे ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा विपरीत स्थिति पैदा हो इसमे कोई आश्चर्य नही। सैन्धव' के दो अर्थ है—सेंधा नमक और घोडा। भोजन का प्रसग हो और कोई कहे 'सैन्धवमानय-सैधव लाओ', वहा सेंधा नमक के बजाय घोडा लाया जाय तो कितनी समझदारी मानी जाय ?

भाषा के अनुसार स्यात् का अर्थ 'सम्भवत (शायद)' और 'कदाचित् भले होना हो, परन्तु यहाँ स्यात् पद इस अर्थ मे प्रयुक्त नही हुआ है। अत जो 'स्याद् अस्ति घट।' का अर्थ 'सम्भव है यहा घडा है' और 'स्याद् नास्ति घट' का अर्थ सम्भव है यहा घडा नही है'–एसा करे तो गलत है। यहाँ घडा होने की सम्भावना, अथवा असम्भावना का प्रश्न नही है। स्यात् पद तो यहाँ यह सूचन करता है कि कथचित् अर्थात् विशिष्ट अपेक्षा से यह घडा है और कथचित् अर्थात् विशिष्ट अपेक्षा से यह घडा नही है। तात्पर्य यह है कि यहा स्यात् पद सशय या सम्भावना बताने के लिए प्रयुक्त नही हुआ है परन्तु निश्चित अपेक्षा का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

स्यात् पद का अग्रजी भाषा मे It may be perhaps. per chance ऐसा अर्थ किया जाता है जो यहाँ सगत नही है। यहाँ तो Under certain circumstances यह अर्थ सगत है।

अतः जहाँ 'स्याद् अस्ति' 'स्याद् नास्ति' ऐसे पद कहे गये हों वहाँ Perhaps it is, Perhaps it is not. ऐसा अर्थ करना गलत है—वहाँ 'Under certain circumstances it is,' 'Under certain circumstances it is not' ऐसा अर्थ करना चाहिये। सर मोनियर विलियम्स की विश्वविख्यात संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी में यह अर्थ दिया हुआ है।[2] फिर भी 'Regarding certain aspects' अर्थात् 'अमुक अपेक्षा से' ऐसा स्यात् पद का अर्थ अधिक व्यावहारिक है।

स्यात् विधि लिंग में बना हुआ तिङन्त प्रतिरूपक अव्यय है। उसके प्रशंसा, अस्तित्व, विवाद, विचारणा, अनेकान्त, संशय, प्रश्न आदि अनेक अर्थ होते हैं, उनमें से अनेकान्त अर्थ यहाँ विवक्षित है। आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमञ्जरी में स्पष्ट कहा है कि 'स्यादित्यव्ययमनेकान्तद्योतकम्' स्यात् अव्यय अनेकान्त का द्योतक है।[3]

न्यायाचार्य न्यायदिवाकर प्रो. महेन्द्रकुमार जैन ने स्याद्वाद का परिचय देते हुए स्यात् पद पर बहुत विवेचन करके उसका रहस्योद्‌घाटन किया है।[4] वे कहते हैं कि 'शब्द' का स्वभाव है कि वह अवधारणात्मक होता है, इसलिए अन्य के प्रतिषेध करने में वह निरंकुश रहता है। इस अन्य के प्रतिषेध पर अंकुश लगाने का कार्य 'स्यात्' करता है। वह कहता है कि 'रूपवान घट' वाक्य घड़े के रूप का प्रतिपादन भले ही करे, पर वह 'रूपवान ही है।' यह अवधारण करके घड़े में रहने वाले रस, गन्ध आदि का प्रतिषेध नहीं कर सकता। वह अपने स्वार्थ को मुख्य रूप से कहे, यहाँ तक कोई हानि नहीं, पर यदि वह इससे आगे बढ़कर, 'अपने ही स्वार्थ को' सब कुछ

थान तो यह है कि जैन ग्रन्थों में इस पद का रहस्य समभाने वाले अनेक विवेचन होते हुए भी यह भ्रान्त परम्परा अभी तक चली आ रही है और जो स्याद्वाद जैसे जगत के एक महान् पवित्र वाद के साथ अन्याय कर रही है।

जो शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त हुआ हो उस अर्थ में ही उसे ग्रहण करना चाहिए, अन्यथा विपरीत स्थिति पैदा हो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। 'सैन्धव' के दो अर्थ हैं—सैंधा नमक और घोड़ा। भोजन का प्रसंग हो और कोई कहे 'सैन्धवमानय—सैन्धव लाओ', वहां सैंधा नमक के बजाय घोड़ा लाया जाय तो कितनी समझदारी मानी जाय ?

भाषा के अनुसार स्यात् का अर्थ 'सम्भवत (शायद)' और 'कदाचित् भले होता हो, परन्तु यहाँ स्याद् पद इस अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। अतः जो स्याद् अस्ति घटः।' का अर्थ सम्भव है यहां घड़ा है' और स्याद् नास्ति घट ' का अर्थ सम्भव है यहाँ घड़ा नहीं है'—ऐसा करे तो गलत है। यहां घड़ा होने की सम्भावना, अथवा असम्भावना का प्रश्न नहीं है। स्यात् पद तो यहां यह सूचन करता है कि कथंचित् अर्थात् विशिष्ट अपेक्षा से यह घड़ा है और कथंचित् अर्थात् विशिष्ट अपेक्षा से यह घड़ा नहीं है। तात्पर्य यह है कि यहां स्यात् पद संशय या सम्भावना बताने के लिए प्रयुक्त नहीं हुआ है परन्तु निश्चित अपेक्षा का दृष्टिकोण प्रस्तुत करने के लिए प्रयुक्त हुआ है।

स्यात् पद का अंग्रेजी भाषा में It may be perhaps, per chance, ऐसा अर्थ किया जाता है जो यहाँ संगत नहीं है। यहाँ तो Under certain circumstances यह अर्थ संगत है।

विवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिये जो
ोग 'स्यात्' का रूपवान् के साथ अन्वय करके और उसका
ायद, संभावना और कदाचित् अर्थ करके घड़े में रूप की
स्थिति को भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं, वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रम
में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में 'अस्ति' यह
अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्'
शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु
उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति
आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे
डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित
होने के कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तु को ही न हड़प
जाय और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को
समाप्त न कर दे। इसलिये वह प्रतिवाक्य में चेतावनी देता
रहता है कि 'हे भाई–अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम
अपने अन्य नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा
नहीं करना।' इस भय का कारण है कि प्राचीन काल
से 'नित्य ही है' 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृति के अंश
वाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा
की है और जगत में अनेक तरह से वितंडा और संघर्ष उत्पन्न
किये हैं। इसके फल स्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ
ही है पर इस वाद प्रतिवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि
करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से
विश्व को अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया
है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के इस जहर को निकाल देता है
जिससे अहंकार का सर्जन होता है।'

मान कर शेष का निषेध करता है तो उसका ऐसा करना अन्याय है और वस्तुस्थिति का विपर्यास करना है। 'स्यात्' शब्द इसी अन्याय को रोकता है और न्याय्य वचनपद्धति की सूचना देता है। वह प्रत्येक वाक्य के साथ अन्तर्गर्भ रहता है और गुप्त रहकर भी प्रत्येक वाक्य को मुख्य गौण भाव से अनेकान्त अर्थ का प्रतिपादक बनाता है।

× × × ×

स्याद्वाद सुनय का निरूपण करने वाली विशिष्ट भाषापद्धति है। 'स्यात्' शब्द यह सुनिश्चित रूप से बताता है कि 'वस्तु केवल इस धर्म वाली ही नही है, उसमे इसके अतिरिक्त भी अनेक धर्म विद्यमान हैं।' उसमे अविवक्षित गुण धर्मों के अस्तित्व की रक्षा 'स्यात्' शब्द करता है। 'रूपवान घट' मे 'स्यात्' शब्द रूपवान के साथ नही जुटता, क्योंकि रूप के अस्तित्व की सूचना तो 'रूपवान' शब्द स्वय ही दे रहा है, किन्तु अन्य अविवक्षित शेष धर्मों के साथ उसका अन्वय है। वह रूपवान को पूरे घडे पर अधिकार जमाने से रोकता है और साफ कह देता है कि 'घडा बहुत बडा है, उसमे अनन्त धर्म है। रूप भी उनमे से एक है।' यद्यपि रूप की विवक्षा होने से अभी रूप हमारी दृष्टि मे मुख्य है और वही शब्द के के द्वारा वाच्य बन रहा है पर इसकी विवक्षा होने पर वह गौण राशि म शामिल हो जायगा। इस तरह समस्त शब्द गौण मुख्य भाव से अनेकान्त अर्थ के प्रतिपादक हैं। इसी सत्य का उद्घाटन 'स्यात्' शब्द सदा करता रहता है।

मैंने पहिले बताया है कि 'स्यात्' शब्द एक सजग प्रहरी है। जो उच्चरित धर्म को इधर उधर नहीं जाने देता। वह

अविवक्षित धर्मों के अधिकार का संरक्षक है। इसलिये जो लोग 'स्यात्' का रूपवान् के साथ अन्वय करके और उसका शायद, संभावना और कदाचित् अर्थ करके घड़े में रूप की स्थिति को भी संदिग्ध बनाना चाहते हैं, वे वस्तुतः प्रगाढ़ भ्रम में हैं। इसी तरह 'स्यादस्ति घटः' वाक्य में 'अस्ति' यह अस्तित्व अंश घट में सुनिश्चित रूप से विद्यमान है। 'स्यात्' शब्द उस अस्तित्व की स्थिति कमजोर नहीं बनाता। किन्तु उसकी वास्तविक आंशिक स्थिति की सूचना देकर अन्य नास्ति आदि धर्मों के गौण सद्भाव का प्रतिनिधित्व करता है। उसे डर है कि कहीं अस्ति नाम का धर्म जिसे शब्द से उच्चरित होने के कारण प्रमुखता मिली है, पूरी वस्तु को ही न हड़प जाय और अपने अन्य नास्ति आदि सहयोगियों के स्थान को समाप्त न कर दे। इसलिये वह प्रतिवाक्य में चेतावनी देता रहता है कि 'हे भाई–अस्ति, तुम वस्तु के एक अंश हो, तुम अपने अन्य नास्ति आदि भाइयों के हक को हड़पने की कुचेष्टा नहीं करना।' इस भय का कारण है कि प्राचीन काल से 'नित्य ही है' 'अनित्य ही है' आदि हड़पू प्रकृति के अंश वाक्यों ने वस्तु पर पूर्ण अधिकार जमाकर अनधिकार चेष्टा की है और जगत में अनेक तरह से वितंडा और संघर्ष उत्पन्न किये हैं। इसके फल स्वरूप पदार्थ के साथ तो अन्याय हुआ ही है पर इस वाद प्रतिवाद ने अनेक कुमतवादों की सृष्टि करके अहंकार, हिंसा, संघर्ष, अनुदारता, असहिष्णुता आदि से विश्व को अशान्त और संघर्षपूर्ण हिंसा ज्वाला में पटक दिया है। 'स्यात्' शब्द वाक्य के इस जहर को निकाल देता है जिससे अहंकार का सर्जन होता है।'

स्याद्वाद का परिचयः-

जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दों का प्रयोग तुल्य अर्थ में किया है, अतः उनमें कोई भिन्नता नहीं।[१] स्याद्वाद ही अनेकान्तवाद है, अनेकान्तवाद ही स्याद्वाद है।

जिसमें वस्तु का एक अन्त अर्थात् एक छोर, एक पहलू है, एक गुण-धर्म देखकर उसके समस्त स्वरूप के विषय में अभिप्राय धारण कर लिया जाय और यह वस्तु इसी प्रकार की है ऐसी मान्यता जब बना ली जाय तो यह एकान्तवाद है और जिसमें वस्तु के अनेक अन्त अर्थात् अनेक छोर, अनेक पहलू या अनेक गुण-धर्मों का अवलोकन करके उसके संबंध में अभिप्राय बनाया जाये, अर्थात् उसमें दिखाई देते हुए परस्पर विरोधी धर्मों का स्वीकार किया जाए वह अनेकान्तवाद है। कहा भी है कि एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्म-स्वीकारो हि स्याद्वादः।' एक ही पदार्थ में सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों का स्वीकार करना, इसका नाम ही स्याद्वाद है।[२] कुछ उदाहरणों से इस वस्तु को स्पष्ट करते हैं।

एक मनुष्य अपने पुत्र का पिता है। इसके साथ ही वह अपने पिता का पुत्र भी है। इस प्रकार उसमें पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म रहे हुए हैं। वह पिता है सो पुत्र की अपेक्षा से और पुत्र है सो पिता की अपेक्षा से। इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षा से या सापेक्षत्व के कारण एक ही व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व ऐसे दो परस्पर विरोधी धर्म सम्भव है।

यहाँ सापेक्षता के सम्बन्ध में भी जरा स्पष्टीकरण कर लें। एक के आधार पर दूसरे का होना सापेक्षता है। छोटा और वड़ा, लम्वा और संक्षिप्त, हल्का और भारी, ऊँचा और नीचा, नित्य और अनित्य, एक और अनेक ये सभी शब्द सापेक्ष हैं, अर्थात् वे एक दूसरे के आधार पर ही सम्भव हैं। यदि लघु न हो तो किसी को गुरु नहीं कहा जा सकता और गुरु न हो तो किसी को लघु नहीं कहा जा सकता। एक वस्तु वड़ी कही जाती है, वह छोटी की अपेक्षा से और छोटी कही जाती है सो वड़ी की अपेक्षा से। सभी सापेक्ष शब्दों में —धर्मों में इस प्रकार समझना चाहिये।

चार इन्च की रेखा को छोटी मानें या वड़ी? इसके उत्तर में एक व्यक्ति ऐसा कहेगा कि यह रेखा छोटी है और दूसरा व्यक्ति कहेगा कि यह रेखा वड़ी है। ये दोनों उत्तर अपेक्षा से सत्य हैं। पहिला व्यक्ति इस रेखा की तुलना पाँच सात या उससे अधिक इंच की रेखा के साथ करता है अतः उसे छोटी कहता है। दूसरा व्यक्ति इस रेखा की तुलना एक, दो, तीन इन्च की रेखा के साथ करता है अतः उसे वड़ी कहता है। इनमें से छोटी कहने वाला सच्चा और वड़ी कहने वाला झूठा या वड़ी कहने वाला सच्चा और छोटी कहने वाला झूठा कहा जा सके ऐसी वात नहीं है। तात्पर्य यह है कि दोनों अपनी अपनी अपेक्षा से सच्चे हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि यह रेखा स्यात् छोटी है, स्यात् वड़ी है। इस प्रकार से वस्तु का प्रतिपादन करना ही स्याद्वाद अथवा अनेकान्तवाद है।

स्याद्वाद का परिचयः-

जैन दार्शनिकों ने स्याद्वाद और अनेकान्तवाद इन दोनों शब्दों का प्रयोग तुल्य अर्थ में किया है, अतः उनमें कोई भिन्नता नहीं।[४] स्याद्वाद ही अनेकान्तवाद है, अनेकान्तवाद ही स्याद्वाद है।

जिसमें वस्तु का एक अन्त अर्थात् एक छोर, एक पहलू है, एक गुण-धर्म देखकर उसके समग्र स्वरूप के विषय में अभिप्राय धारण कर लिया जाय और यह वस्तु इसी प्रकार की है ऐसी मान्यता जब बना ली जाय तो यह एकान्तवाद है और जिसमें वस्तु के अनेक अन्त अर्थात् अनेक छोर, अनेक पहलू या अनेक गुण-धर्मों का अवलोकन करके उसके संबंध में अभिप्राय बनाया जाये, अर्थात् उसमें दिखाई देते हुए परस्पर विरोधी धर्मों को स्वीकार किया जाए वह अनेकान्तवाद है। कहा भी है कि 'एकस्मिन् वस्तुनि सापेक्षरीत्या विरुद्धनानाधर्मस्वीकारो हि स्याद्वाद।' एक ही पदार्थ में सापेक्ष रीति से नाना प्रकार के विरोधी धर्मों का स्वीकार करना, इसका नाम ही स्याद्वाद है।[५] कुछ उदाहरणों से इस वस्तु को स्पष्ट करते हैं।

एक मनुष्य अपने पुत्र का पिता है। इसके साथ ही वह अपने पिता का पुत्र भी है। इस प्रकार उसमें पितृत्व और पुत्रत्व दोनों धर्म रहे हुए हैं। वह पिता है सो पुत्र की अपेक्षा से और पुत्र है सो पिता की अपेक्षा से। इस प्रकार भिन्न भिन्न अपेक्षा से या सापेक्षत्व के कारण एक ही व्यक्ति में पितृत्व और पुत्रत्व ऐसे दो परस्पर विरोधी धर्म सम्भव है।

धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना अच्छा क्योंकि बलवान् होने से बहुत जीवों को सुख देते हैं।[७]

× × × ×

श्री गौतम–हे भगवन् ! जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

श्री महावीर–हे गौतम ! जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है।

श्री गौतम–हे भगवन् ! यह किस तरह ?

श्री महावीर–हे गौतम ! जीव दो प्रकार के हैं: संसारी और मुक्त। उनमें मुक्त अवीर्य हैं और संसारी जीव दो प्रकार के हैं: शैलेशीप्रतिपन्न (शैलेशी अवस्था को प्राप्त किए हुए) और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं। अशैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करता है, वह करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और जो जीव पराक्रम नहीं करता, वह करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य है।[८]

ऐसे संवाद सैकड़ों की संख्या में हैं और वे लोक, द्रव्य जीव आदि के स्वरूप पर स्याद्वाद शैली से सुन्दर प्रकाश डालते हैं।

एकान्तवाद में दुराग्रह है, मिथ्यात्व है, वस्तुस्थिति का विपर्यय है, इसलिये प्राज्ञ पुरुष एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करते। मज्झिमनिकाय में माणवक और बुद्ध का एक संवाद दिया गया है।[९] उसमें माणवक पूछता है कि–हे भगवन् ! मैंने सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं

स्याद्वाद के उदाहरण

जिनागमो मे वर्णित श्री महावीर और अन्य व्यक्तियो के बीच के कई सवाद इस स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के उद्दाम उदाहरण प्रस्तुत करते है ।

जयन्ती नामकी श्राविका श्री महावीर स्वामी से पूछती है 'हे भगवन् ! सोना अच्छा या जागना अच्छा ।'

श्री महावीर–जयन्ति ! कई जीवो का सोना अच्छा, कई जीवो का जागना अच्छा ।

जयन्ती–हे भगवन् ! ऐसा कैसे ?

श्री महावीर–'जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं अधर्मिष्ठ हैं, अधर्माख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्म प्ररञ्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्ति युक्त हैं, वे सोए रहें यही अच्छा है क्योकि वे सोए रहें तो अनेक जीवों को पीड़ा न हो । इसी प्रकार वे स्व-पर और उभय को अधार्मिक क्रिया मे रत नही बनाएँ । जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं यावत् धार्मिक वृत्ति से युक्त है, उनका जागना अच्छा है, क्योकि वे अनेक जीवो को सुख देते हैं और स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य मे लगाते है ।

जयन्ती–हे भगवन् ! बलवान् होना अच्छा या निर्बल ?

श्री महावीर–जयन्ति ! कई जीवो का बलवान् होना अच्छा, कई जीवो का निर्बल होना अच्छा ।

जयन्ती–हे भगवन् ! यह कैसे ?

श्री महावीर–जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका निर्बल होना अच्छा क्योकि वे बलवान हो तो अनेक जीवो को कष्ट दे । जो जीव धार्मिक हैं यावत्

धार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका बलवान् होना अच्छा क्योंकि बलवान् होने से बहुत जीवों को सुख देते हैं।[७]

× × × ×

श्री गौतम–हे भगवन् ! जीव सवीर्य है या अवीर्य ?

श्री महावीर–हे गौतम ! जीव सवीर्य भी है और अवीर्य भी है।

श्री गौतम–हे भगवन् ! यह किस तरह ?

श्री महावीर–हे गौतम ! जीव दो प्रकार के हैं: संसारी और मुक्त। उनमें मुक्त अवीर्य हैं और संसारी जीव दो प्रकार के हैं: शैलेशीप्रतिपन्न (शैलेशी अवस्था को प्राप्त किए हुए) और अशैलेशीप्रतिपन्न। शैलशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से अवीर्य हैं। अशैलेशीप्रतिपन्न जीव लब्धिवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य हैं और करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं। जो जीव पराक्रम करता है, वह करणवीर्य की अपेक्षा से सवीर्य है और जो जीव पराक्रम नहीं करता, वह करणवीर्य को अपेक्षा से अवीर्य है।[८]

ऐसे संवाद सैकड़ों की संख्या में हैं और वे लोक, द्रव्य जीव आदि के स्वरूप पर स्याद्वाद शैली से सुन्दर प्रकाश डालते हैं।

एकान्तवाद में दुराग्रह है, मिथ्यात्व है, वस्तुस्थिति का विपर्यय है, इसलिये प्राज्ञ पुरुष एकान्तवाद को स्वीकार नहीं करते। मज्झिमनिकाय में माणवक और बुद्ध का एक संवाद दिया गया है।[९] उसमें माणवक पूछता है कि–हे भगवन् ! मैने सुना है कि गृहस्थ ही आराधक होता है, प्रव्रजित नहीं

स्याद्वाद के उदाहरण

जिनागमों में वर्णित श्री महावीर और अन्य व्यक्तियों के बीच के कई संवाद इस स्याद्वाद या अनेकान्तवाद के उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

जयन्ती नामकी श्राविका श्री महावीर स्वामी से पूछती है 'हे भगवन् ! सोना अच्छा या जागना अच्छा।'

श्री महावीर-जयन्ति ! कई जीवों का सोना अच्छा, कई जीवों का जागना अच्छा।

जयन्ती-हे भगवन् ! ऐसा कैसे ?

श्री महावीर-'जो जीव अधर्मी हैं, अधर्मानुग हैं अधर्मिष्ट हैं, अधर्मख्यायी हैं, अधर्मप्रलोकी हैं, अधर्म प्ररञ्जन हैं, अधर्मसमाचार हैं, अधार्मिक वृत्ति युक्त हैं, वे सोए रहें यही अच्छा है क्योंकि वे सोए रहें तो अनेक जीवों को पीड़ा न हो। इसी प्रकार वे स्व-पर और उभय को अधार्मिक क्रिया में रत नहीं बनाएँ। जो जीव धार्मिक हैं, धर्मानुग हैं यावत् धार्मिक वृत्ति से युक्त हैं, उनका जागना अच्छा है, क्योंकि वे अनेक जीवों को सुख देते हैं और स्व, पर और उभय को धार्मिक कार्य में लगाते हैं।

जयन्ती-हे भगवन् ! बलवान् होना अच्छा या निर्बल ?

श्री महावीर-जयन्ति ! कई जीवों का बलवान् होना अच्छा कई जीवों का निर्बल होना अच्छा।

जयन्ती-हे भगवन् ! यह कैसे ?

श्री महावीर-जो जीव अधार्मिक हैं यावत् अधार्मिक वृत्ति वाले हैं उनका निर्बल होना अच्छा क्योंकि वे बलवान् हों तो अनेक जीवों को कष्ट दें। जो जीव धार्मिक हैं यावत्

में दृष्टिगोचर होता है। सप्तभङ्गी अर्थात् सात प्रकार के भंग, सात प्रकार के वाक्य-विन्यास, सात प्रकार की वाक्य-रचनायें। जैन दृष्टि से वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उनमें से किसी भी एक धर्म का विधि-निषेध पूर्वक अविरोधमय कथन करना हो तब जैन दार्शनिक सात प्रकार की वाक्य-रचना का उपयोग करते हैं, क्योंकि उस धर्मविशेष के सम्बन्ध में सात प्रकार की जिज्ञासा होती है, जिसकी तुष्टि के लिए सात उत्तर-वाक्य बनते हैं जो सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध है।[१५]

कुछ विद्वान अंग्रेजी भाषा में उनका रूपान्तर Seven probabilities में करते है, परन्तु वह उचित नहीं है। यह कोई Probability सम्भावनाएँ नहीं, वस्तु के स्वरूप का निश्चित प्रतिपादन है, अतः उनका रूपान्तर Seven Formulas होना चाहिये जैसा सर मोनियर मोनियर-विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में हुआ है।

सात जिज्ञासाएँ और समाधान में सात भंग इस प्रकार हैं:—

(१) घड़ा स्वचतुष्टय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादस्त्येव (स्याद् अस्ति एव।)

(२) घड़ा पर चतुष्टय की अपेक्षा से कैसा है? स्यान्नास्त्येव (स्याद् नास्ति एव।)

(३) घड़ा क्रमशः स्वचतु० परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव।

(४) घड़ा युगपत् स्वचतु० परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादवक्तव्यमेव (स्याद् अवक्तव्यं एव।)

(५) घड़ा युगपत् स्वचतु० और स्व-परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव।

इस विषय मे आप क्या कहते हैं ? बुद्ध ने कहा 'हे माणवक' मैं विभज्यवादी हूँ, एकांशवादी नही। गृहस्थ भी यदि मिथ्यावादी हो तो निर्वाणमार्ग का आराधक नही हो सकता और त्यागी (प्रव्रजित) भी मिथ्यावादी हो तो निर्वाण-मार्ग का अधिकारी नही हो सकता। दोनो यदि सम्यक् प्रतिपत्तिसम्पन्न हो तो आराधक हो सकते हैं।' इस प्रकार बुद्ध ने गृहस्थ और त्यागी की आराधना से सबधित अनेक प्रश्नो के उत्तर विभाजन पूर्वक दिये हैं, एकान्त रूप से नही, इसीलिये अपने आप को विभज्यवादी कहते हैं, एकांशवादी नही।

वैदिक परम्परा मे भी अनेक वाक्य अनेकान्त शैली वाले उपलब्ध होते है। ऋग्वेद मे कहा है कि 'उस समय सत् भी नही था और असत् भी नही था'[१०] ईशावस्य, कठ, प्रश्न, श्वेताश्वतर आदि प्राचीनतम उपनिषदो में भी 'वह हिलता है और नही हिलता,'[११] 'वह अणु से भी छोटा है और बडे से भी बडा है,'[१२] 'वह सत भी है, असत भी है,'[१३] आदि प्रकार से विरोधी नाना गुणो की अपेक्षा से ब्रह्म का वर्णन किया गया है। भगवद्गीता मे भी 'संन्यास कर्मयोगश्च नि श्रेयसकरावुभौ' आदि वाक्यो मे अनेकान्त की झलक स्पष्ट दिखाई पडती है।

इसी प्रकार पूर्व और पश्चिम के अन्य दर्शनो मे भी अनेकान्तवाद का समर्थन करनेवाले प्रमाण मिल जाते हैं,[१४] परन्तु हम विस्तार के भय से यहाँ उनका निर्देश नही करते।

सप्तभङ्गी:—

स्याद्वाद या अनेकान्तवाद का विकसित रूप सप्तभगी

में दृष्टिगोचर होता है। सप्तभङ्गी अर्थात् सात प्रकार के भंग, सात प्रकार के वाक्य-विन्यास, सात प्रकार की वाक्य-रचनायें। जैन दृष्टि से वस्तु अनेक धर्मात्मक है। उनमें से किसी भी एक धर्म का विधि-निषेध पूर्वक अविरोधमय कथन करना हो तब जैन दार्शनिक सात प्रकार की वाक्य-रचना का उपयोग करते हैं, क्योंकि उस धर्मविशेष के सम्बन्ध में सात प्रकार की जिज्ञासा होती है, जिसकी तुष्टि के लिए सात उत्तर-वाक्य बनते हैं जो सप्तभंगी के नाम से प्रसिद्ध हैं।[१५]

कुछ विद्वान अंग्रेजी भाषा में उनका रूपान्तर Seven probabilities में करते हैं, परन्तु वह उचित नहीं है। यह कोई Probability सम्भावनाएँ नहीं, वस्तु के स्वरूप का निश्चित प्रतिपादन है, अतः उनका रूपान्तर Seven Formulas होना चाहिये जैसा सर मोनियर मोनियर-विलियम्स के संस्कृत-अंग्रेजी कोष में हुआ है।

सात जिज्ञासाएँ और समाधान में सात भंग इस प्रकार हैं:—

(१) घड़ा स्वचतुष्टय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादस्त्येव (स्याद् अस्ति एव।)

(२) घड़ा पर चतुष्टय की अपेक्षा से कैसा है? स्यान्नास्त्येव (स्याद् नास्ति एव।)

(३) घड़ा क्रमशः स्वचतु० परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है। स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव।

(४) घड़ा युगपत् स्वचतु० परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादवक्तव्यमेव (स्याद् अवक्तव्यं एव।)

(५) घड़ा युगपत् स्वचतु० और स्व-परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है? स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव।

(६) घडा परचतु० और स्व परचतु० की अपेक्षा से कैसा है ? स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव।

(७) घडा क्रमश तथा युगपत् स्वचतु० और परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है ? स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव"

इन साता भगा का स्वरूप क्रमश समझें। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से कथचित् अस्तित्व रूप ही है, अत विधिकल्पना से प्रथम भग 'स्यादस्त्येव' माना गया है।

पर चतुष्टय अर्थात् दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपक्षा स वस्तु कथचित् नास्तित्व रूप ही है, अत निषध कल्पना से द्वितीय भग 'स्यान्नास्त्येव' माना गया है। उदाहरण से यह वस्तु अधिक स्पष्ट होगी। घडा द्रव्य की अपेक्षा पार्थिव रूप म विद्यमान है, जल रूप मे नही। क्षेत्र की अपेक्षा से राजनगर मे विद्यमान है, सूरत मे नही। काल की अपेक्षा स शिशिर ऋतु मे विद्यमान ह, बसन्त ऋतु मे नहीं और भाव की अपक्षा से काले रग मे विद्यामान है, लाल रग मे नही।

इन्जिनियरिंग का अभ्यास करनेवाला एक विद्यार्थी होशियार कहलाता है, इसका अथ यह है कि वह अपनी इन्जिनीयरिंग की विद्या ग्रहण करने मे होशियार है न कि प्राणीशास्त्र मे।

यहा एव का प्रयोग अनिष्ट अथ के निवारण क लिये किया जाता है। इस विषय मे दिगम्बर ग्रन्थ श्लोकवार्तिक मे कहा है कि—

वाक्येऽवधारण तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।

कर्तव्यमन्यथानुक्तसमत्वात् तस्य कुत्रचित् ॥

'किसी वाक्य में 'एव' का प्रयोग अनिष्ट अभिप्राय के निवारणार्थ ही किया जाता है, अन्यथा अनिष्ट की भांति अन्य अविवक्षित अर्थ तो बहुत हैं, अतः उनकी भांति इस अनिष्ट का भी स्वीकार करना पड़ता है।'[१७]

आचार्य मल्लिषेण ने स्याद्वादमंजरी में यह अवतरण दिया है, अतः उनकी मान्यता भी इसी प्रकार की है।

यहाँ ऐसा प्रश्न हो सकता है कि 'अस्त्येव घटः' घट अस्तित्व रूप है ही, ऐसा कहने से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है, फिर 'स्यात्' पद लगाने की आवश्यकता क्या है ? इसका समाधान यह है कि 'घट अस्तित्व रूप है ही,' ऐसा कहने से सर्वथा घट के अस्तित्व का ज्ञान होता है, परन्तु उसके साथ स्यात् पद लगाने से ऐसा समझ में आता है कि घट में प्रधान भाव में अस्तित्व गुण विवसित है और गौण भाव में नास्तित्वादि अन्य भी अनेक धर्म हैं। 'स्यात्' पद अपूर्व रहस्य से भरा हुआ है, यह बात पहिले बता दी जा चुकी है।

प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय और द्वितीय क्षण में परचतुष्टय की क्रमिक विवक्षा करने पर तथा दोनों क्षणों पर सामूहिक दृष्टि रखने पर वस्तु का स्वरूप 'कथंचित् उभयात्मक बनता है, अतः क्रमशः विधि निषेध से तीसरा भंग स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव माना गया है।

किसी ने अध्यापक से पूछा—'यह विद्यार्थी पढ़ने में कैसा है?'

अध्यापक ने कहा—'मातृभाषा और गणित में अच्छा अंग्रेजी और विज्ञान में कमजोर।'

(६) घडा परचतु० और स्व-परचतु० की अपेक्षा से कैसा है ? स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव।

(७) घडा क्रमश तथा युगपत् स्वचतु० और परचतु० उभय की अपेक्षा से कैसा है ? स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव, स्यादवक्तव्यमेव[1]

इन सातों भगो का स्वरूप क्रमश. समझें। प्रत्येक वस्तु स्वचतुष्टय अर्थात् अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव की अपेक्षा से कथचित् अस्तित्व रूप ही है, अत विधिकल्पना से प्रथम भग 'स्यादस्त्येव' माना गया है।

पर चतुष्टय अर्थात् दूसरे के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा से वस्तु कथचित् नास्तित्व रूप ही है, अत' निषेध कल्पना से द्वितीय भग 'स्यान्नास्त्येव' माना गया है। उदाहरण से यह वस्तु अधिक स्पष्ट होगी। घड़ा द्रव्य की अपेक्षा पार्थिव रूप म विद्यमान है, जल रूप मे नही। क्षेत्र की अपेक्षा स राजनगर मे विद्यमान हैं, सूरत मे नहीं। काल की अपेक्षा स शिशिर ऋतु मे विद्यमान है, वसन्त ऋतु मे नहीं और भाव की अपेक्षा से काले रग मे विद्यमान है, लाल रग म नही।

इञ्जिनियरिंग का अभ्यास करनेवाला एक विद्यार्थी होशियार कहलाता है, इसका अर्थ यह है कि वह अपनी इञ्जिनीयरिंग की विद्या ग्रहण करने मे होशियार है न कि प्राणीशास्त्र म।

यहा एव' का प्रयोग अनिष्ट अर्थ के निवारण के लिये किया जाता है। इस विषय मे दिगम्बर ग्रन्थ श्लोकवार्तिक मे कहा है कि —

वाक्येऽवधारण तावदनिष्टार्थनिवृत्तये।

[1]

दूसरों में से प्रविष्ट हुआ नहीं माना जा सकता। अब शेष तीन भंगों का स्वरूप भी ठीक ढंग से समझ लें।

प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय और दूसरे ही क्षण में स्व-पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो तथा दोनों क्षणों में सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथंचित् अस्ति रूप और कथंचित् अवक्तव्य रूप बनता है, इसलिये पाँचवें भंग को 'स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

प्रथम क्षण में पर चतुष्टय और द्वितीय क्षण में स्व पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो, तथा दोनों ही क्षणों में सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथंचित् नास्ति रूप और कथंचित् अवक्तव्य बनता है, अतः छठा भंग 'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय, द्वितीय क्षण में पर चतुष्टय तथा तृतीय क्षण में स्व-पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो तथा इन तीनों क्षणों पर सामूहिक दृष्टि हो, तब वस्तु का स्वरूप कथंचित् अस्तिरूप, कथंचित् नास्तिरूप, तथा कथंचित् अवक्तव्य रूप बनता है। इसीलिये सातवाँ भंग 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

किसी को ऐसा लगता हो कि यह तो अति सूक्ष्म बात हुई, ऐसे वाक्यप्रयोग तो शायद ही कहीं होते हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसे प्रयोग कई बार होते हैं जैसे—'कुछ कहने जैसा नहीं, परन्तु व्यक्ति भला है।' 'कुछ कहने जैसा नहीं, यह व्यक्ति ही नालायक है।' 'कुछ कहने जैसा नहीं, यह व्यक्ति भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा है।' तात्पर्य यह हुआ कि एक वस्तु न कहने जैसी हो, अवक्तव्य हो, फिर भी

इस प्रकार एक ही साथ उसे अच्छा और कमजोर कहा, इसे इस प्रकार का भग जानें।

जब वस्तु के स्वचतुष्टय और परचतुष्टय इन दोनो अपेक्षाओ से स्वरूप युगपत् (एक साथ) विवक्षित हो, अर्थात् एक ही समय उसका वर्णन करना हो तो कोई शब्द या सकेत ऐसा नही, जिससे इस प्रकार का वर्णन हो सके। अतएव ऐसे सयोगा मे वस्तु का स्वरूप अवक्तव्य बनता है।

तैत्तिरीय उपनिषद् मे कहा है कि 'यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह–जिसके स्वरूप की प्राप्ति वचन तथा मन कर नही सकते, वह भी उनसे निवृत्त हो जाता है।' तात्पर्य यह है कि वस्तु का मूल स्वरूप वचनातीत है, अवक्तव्य है। उसका वचन द्वारा यथार्थ वर्णन नही हो सकता।

कई विद्वानो की मान्यता है कि 'स्व, पर, उभय और अनुभय ऐसे चार विकल्प भारतीय दर्शन मे बहुत समय से प्रचलित थे। वे ही सप्तभगी के प्रथम चार भगो मे सम्मिलित हुए है, परन्तु बाद के तीन भग जैन महर्षिओ की विशिष्ट प्रतिभा के सूचक हैं। वे वस्तु के स्वरूपकथन मे चरम रेखा अकित करते है, परन्तु यह मान्यता भ्रान्तिपूर्ण है क्योकि मुख्य बात यह है कि जैन दर्शन के सिद्धान्त दूसरो से उधार लेकर नही बने हैं, परन्तु प्राचीन स्वतत्र सिद्धान्त है। इसमे अनेकान्तवाद की मौलिक नीव पर सप्त भगी की योजना है, उसमे चौथा भग 'अनुभय' नही, परन्तु 'अवक्तव्य है।' इसके अतिरिक्त एक ही वस्तु मे भिन्न भिन्न अपेक्षा से परस्पर विरोधी दिखाई देते हुए धर्म का यह प्रतिपादन करता है। [illegible] है। अतः

दूसरों में से प्रविष्ट हुआ नहीं माना जा सकता। अब शेष तीन भंगों का स्वरूप भी ठीक ढंग से समझ लें।

प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय और दूसरे ही क्षण में स्व-पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो तथा दोनों क्षणों में सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथंचित् अस्ति रूप और कथंचित् अवक्तव्य रूप बनता है, इसलिये पाँचवें भंग को 'स्यादस्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

प्रथम क्षण में पर चतुष्टय और द्वितीय क्षण में स्व पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो, तथा दोनों ही क्षणों में सामूहिक दृष्टि हो तब वस्तु का स्वरूप कथंचित् नास्ति रूप और कथंचित् अवक्तव्य बनता है, अतः छठा भंग 'स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

प्रथम क्षण में स्वचतुष्टय, द्वितीय क्षण में पर चतुष्टय तथा तृतीय क्षण में स्व-पर चतुष्टय की क्रमिक विवक्षा हो तथा इन तीनों क्षणों पर सामूहिक दृष्टि हो, तव वस्तु का स्वरूप कथंचित् अस्तिरूप, कथंचित् नास्तिरूप, तथा कथंचित् अवक्तव्य रूप बनता है। इसीलिये सातवाँ भंग 'स्यादस्त्येव स्यान्नास्त्येव स्यादवक्तव्यमेव' माना गया है।

किसी को ऐसा लगता हो कि यह तो अति सूक्ष्म वात हुई, ऐसे वाक्यप्रयोग तो शायद ही कहीं होते हैं, परन्तु व्यवहार में ऐसे प्रयोग कई वार होते हैं जैसे—'कुछ कहने जैसा नहीं, परन्तु व्यक्ति भला है।' 'कुछ कहने जैसा नहीं, यह व्यक्ति ही नालायक है।' 'कुछ कहने जैसा नहीं, यह व्यक्ति भले के साथ भला और बुरे के साथ बुरा है।' तात्पर्य यह हुआ कि एक वस्तु न कहने जैसी हो, अवक्तव्य हो, फिर भी

लोग उसके विषय में अपना भला या बुरा, अथवा भला और बुरा, ऐसे तीनों प्रकार के अभिप्राय प्रकट करते हैं और इससे वस्तु स्थिति का चित्र सामने आ जाता है।

यह सप्तभंगी सकलादेश के रूप में हो तब प्रमाण सप्तभंगी और विकलादेश के रूप में हो तब नय सप्तभंगी कहलाती है। इसका विवेचन प्रमाणनयतत्त्वालोक स्याद्वाद-मंजरी आदि में विस्तार पूर्वक हुआ है।

उपसंहार :

जैन न्याय प्रमाण, नय, निक्षेप, स्याद्वाद और सप्तभंगी द्वारा बहुत समृद्ध बना हुआ है। उसमें मनुष्य के मनोव्यापार का तथा वाणीव्यवहार का जो सूक्ष्म अध्ययन तथा सुंदर पृथक्करण पाया जाता है वह अन्य न्यायशास्त्रों में शायद ही पाया जाए। इसी लिये भारतीय न्यायशास्त्र में उसका स्थान अत्यन्त ऊँचा है।

जैन न्याय का साहित्य बहुत विशाल है, उसका बहुत कुछ निर्देश 'जैन न्याय का उद्गम और विकास' प्रकरण में किया गया है। इस साहित्य का समुचित अध्ययन किया जाए तो ही जैन दर्शन की सच्ची शैली समझी जा सकती है और उसके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का यथार्थ बोध हो सकता है।*

---

* अनेकान्तवाद, नयवाद, निक्षेपवाद और स्याद्वाद पद्धति आदि विषय अधिक विस्तार से जानने के लिये हमारी ओर से प्रकाशित चदूलाल शाह द्वारा लिखित 'अनेकान्त स्याद्वाद' नामक ग्रंथ अवश्य

—प्रकाशक

टिप्पणी

१. सन्मति तर्क ३-६८

२. पृ० १२७३

३. पाँचवें श्लोक की व्याख्या

४. जैन दर्शन, पृ० ५१८

५. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः ।

लघीयस्त्रय टीका—६२

६. स्याद्वादोऽनेकान्तवादः ।

स्याद्वादमंजरी, पाँचवें श्लोक की व्याख्या

७. भगवती सूत्र, शतक १२, उ० २, सू ४४३

८. भगवती सूत्र श० २५, उ० ४

९. सुत्त ६६

१०. नासदासीन्नसदासीत्तदानीम् । १०-१२६-१

११. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके । ईश० ५

१२. अणोरणीयान् महतो महीयान् । क० २-२०

१३. सदसच्चामृतं च यत् प्रश्न २-५

१४. देखो स्याद्वाद मंजरी (रायचन्द्र जैन शास्त्र माला), जैन दर्शन में स्याद्वाद का स्थान—पृ० २१-३२

१५. एकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिषेधकल्पना सप्त भंगी । न्याय प्रदीप—१२२

१६. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २३, पृ० २७८

१७. १-६-५३

लोग उसके विषय में अपना भला या बुरा, अथवा भला और बुरा, ऐसे तीनों प्रकार के अभिप्राय प्रकट करते हैं और इससे वस्तु स्थिति का चित्र सामने आ जाता है।

यह सप्तभंगी सकलादेश के रूप में हो तब प्रमाण सप्तभंगी और विकलादेश के रूप में हो तब नय सप्तभंगी कहलाती है। इसका विवेचन प्रमाणनयतत्त्वालोक स्याद्वादमंजरी आदि में विस्तार पूर्वक हुआ है।

उपसंहार :

जैन न्याय प्रमाण, नय, निक्षेप, स्याद्वाद और सप्तभंगी द्वारा बहुत समृद्ध बना हुआ है। उसमें मनुष्य के मनोव्यापार का तथा वाणीव्यवहार का जो सूक्ष्म अध्ययन तथा सुंदर पृथक्करण पाया जाता है वह अन्य न्यायशास्त्रों में शायद ही पाया जाए। इसी लिये भारतीय न्यायशास्त्र में उसका स्थान अत्यन्त ऊँचा है।

जैन न्याय का साहित्य बहुत विशाल है, उसका बहुत कुछ निर्देश 'जैन न्याय का उद्‌गम और विकास' प्रकरण में किया गया है। इस साहित्य का समुचित अध्ययन किया जाए तो ही जैन दर्शन की सच्ची शैली समझी जा सकती है और उसके द्वारा प्ररूपित तत्त्वों का यथार्थ बोध हो सकता है।*

---

* अनेकान्तवाद, नयवाद निक्षेपवाद और स्याद्वाद पद्धति आदि विषय अधिक विस्तार से जानने के लिये हमारी ओर से प्रकाशित श्री धीरजलाल शाह द्वारा लिखित 'अनेकान्त स्याद्वाद' नामक ग्रंथ अवश्य देखें।

—प्रकाशक

टिप्पणी

१. सन्मति तर्क ३-६८

२. पृ० १२७३

३. पाँचवें श्लोक की व्याख्या

४. जैन दर्शन, पृ० ५१८

५. अनेकान्तात्मकार्थकथनं स्याद्वादः ।

लघीयस्त्रय टीका—६२

६. स्याद्वादोऽनेकान्तवादः ।

स्याद्वादमंजरी, पाँचवें श्लोक की व्याख्या

७. भगवती सूत्र, शतक १२, उ० २, सू ४४३

८. भगवती सूत्र श० २५, उ० ४

९. सुत्त ९९

१०. नासदासीन्नसदासीत्तदानीम् । १०-१२९-१

११. तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके । ईश० ५

१२. अणोरणीयान् महतो महीयान् । क० २-२०

१३. सदसच्चामृतं च यत् प्रश्न २-५

१४. देखो स्याद्वाद मंजरी (रायचन्द्र जैन शास्त्र माला), जैन दर्शन में स्याद्वाद का स्थान—पृ० २१-३२

१५. एकस्मिन्वस्तुन्यविरोधेन विधि प्रतिपेधकल्पना सप्त भंगी । न्याय प्रदीप—१२२

१६. स्याद्वाद मंजरी, श्लोक २३, पृ० २७८

१७. १-६-५३

खंड तीसरा

धर्माचरण

(१)
धर्ममीमांसा

(२)
धर्मप्रवर्तक
(श्री अर्हद् देव)

(३)
मार्गानुसरण

(४)
श्रावकधर्म

(५)
साधुधर्म

धर्म-मीमांसा

* धर्म किसे कहते हैं ?
* धर्म की आवश्यकता ।
* धर्म की शक्ति ।
* धर्म के स्वरूपों की विविधता
* धर्म के मुख्य आलंवन
* टिप्पणी (१ से १६)

धर्म किसे कहते हैं ?

धर्म शब्द धृ धातु को मन् प्रत्यय लगने से बना है, अतः 'धारणाद्धर्म' यह उसकी व्युत्पत्ति है। यह व्युत्पत्ति लक्ष्य में रखकर श्री हरिभद्र सूरि ने धर्मसंग्रहणी में कहा है कि 'धारेइ दुग्गतीए पडतमप्पाण जतो तेण धम्मोत्ति-दुर्गति में पडती हुई आत्मा को धारण कर रखना है, पकडे रखना है, इस कारण से वह धर्म कहलाता है।'[1] श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र म कहा है कि 'दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म-उच्यते-दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म कहलाता है।'[2] श्री शाति सूरि ने धर्मरत्नप्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति म कहा है कि 'दुर्गतौ प्रपतत प्राणिनो धारयतीति धर्म-दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारे वह धर्म'[3] और उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने धर्मपरीक्षा में कहा है कि 'सो धम्मो जो जीव धारेइ भवण्णवे निवडमाण-उसे धर्म कहते हैं जो जीव को भव समुद्र में डूबने से धारण कर रखता है, पकड कर रखता है अर्थात् बचा लेता है।'[4]

तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति प्रवृत्ति से ससार घटे और मोक्ष प्राप्ति सम्बन्धी योग्यता बढे उसे धर्म कहते हैं।

ऐसे धर्म का यथार्थ कथन वीतराग महापुरुष करते हैं, अत उनके वचनो का अनुसरण करना भी धर्म कहलाता है अथवा ऐसे धर्म का योग्य प्रकाश सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रो द्वारा होता है, अत उनमे बताए हुए विधि-निषेध का अनुसरण करना भी धर्म कहलाता है, अथवा मैत्र्यादि भाव जाग्रत रखकर कोई भी सुविहित सत्प्रवृत्ति करने से ससार घटता है और

मोक्ष–प्राप्ति के लिये योग्यता बढ़ती है, अतः उसे भी धर्म कहते हैं।

मैत्र्यादि भाव अर्थात् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार प्रकार के भाव। मैत्री अर्थात् मित्र भाव, प्रमोद अर्थात् दूसरों के गुण पर हर्ष, कारुण्य अर्थात् दुःखी के प्रति दया–आर्द्रता, और माध्यस्थ्य अर्थात् परदोष की उपेक्षा। इन भावों का पोषण करने को चार भावनाएं कहते है।[५] बौद्ध शास्त्रों में उनकी प्रसिद्धि ब्रह्म विहार के रूप में हुई है।[६] और श्री पतंजलि ऋषि कृत योगशास्त्र में वे चित्तप्रसादन के साधन मानी गई हैं।[७]

विश्व के समस्त प्राणियों को मित्र, सखा या बंधु मानना, अर्थात् उनके प्रति द्रोह, वैर आदि न रखना, मैत्री भाव कहलाता है। इसका विकास होने पर आत्मा जब जीव मात्र की हिंसा से निवृत्त होता है तब यह मैत्री सक्रिय मानी जाती है और इसे आत्मसमदर्शित्व भी कहते हैं। साम्य, समता, समत्व, विश्वबंधुत्व, विश्ववात्सल्य विश्वप्रेम आदि उसके पर्याय शब्द हैं। हृदय में यह भावना करे कि 'जीवों का हित हो,' यह मैत्री भावना है। ऐसा करने वाला किसी का भी बुरा नहीं चाहता और वैर-जहर, क्लेश कलह का वातावरण कम हो ऐसे प्रयत्न करता है। ऐसे कल्याण मैत्री वाले वचनानुसारी अनुष्ठान को धर्म नहीं तो और क्या कहें ?

जो आत्मा पुण्यप्रकर्ष के कारण अनेक औदार्य आदि गुणों से युक्त हैं तथा अल्पाधिकतया ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के आचारों की जिनके जीवन में आराधना है, उन्हें देखकर आनन्द का अनुभव करना, वह प्रमोद भावना कहलाती है।

धर्म किसे कहते हैं ?

धर्म शब्द धृ धातु को मन् प्रत्यय लगने से बना है, अत 'धारणाद्धर्म' यह उसकी व्युत्पत्ति है। यह व्युत्पत्ति लक्ष्य में रखकर श्री हरिभद्र सूरि ने धर्मसग्रहणी में कहा है कि 'धारेइ दुग्गईए पडतमप्पाण जनो तेण धम्मोत्ति-दुर्गति में पडती हुई आत्मा को धारण कर रखता है, पकड़े रखता है, इस कारण से वह धर्म कहलाता है।'[1] श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र म कहा है कि 'दुर्गतिप्रपतत्प्राणिधारणाद्धर्म-उच्यते-दुर्गति में गिरते हुए प्राणी को धारण करने से धर्म कहलाता है।'[2] श्री शाति सूरि ने धर्मरत्नप्रकरण की स्वोपज्ञ वृत्ति म कहा है कि 'दुर्गतौ प्रपतन्त प्राणिनो धारयतीति धर्म–दुर्गति म गिरत हुए प्राणी को धारे वह धर्म'[3] और उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने धर्मपरीक्षा में कहा है कि सो धम्मो जो जीव धारेइ भवण्णवे निवडमाण–उसे धर्म कहते हैं जो जीव को भव समुद्र में डूबने स धारण कर रखता है पकड़ कर रखता है अर्थात् बचा लेता है।[4]

तात्पर्य यह है कि जिस वृत्ति प्रवृत्ति से ससार घटे और मोक्ष प्राप्ति सम्बन्धी योग्यता बढ़ उसे धर्म कहते हैं।

ऐसे धम का यथार्थ कथन वीतराग महापुरुष करते हैं, अत उनके वचनो का अनुसरण करना भी धम कहलाता है अथवा ऐसे धर्म का योग्य प्रकार सर्वज्ञप्रणीत शास्त्रों द्वारा होता है, अत उनमें बताए हुए विधि–निषेध का अनुसरण करना भी धम कहलाता है, अथवा मैत्र्यादि भाव जाग्रत रखकर कोई भी सुविहित सत्प्रवृत्ति करने से ससार घटता है और

मोक्ष–प्राप्ति के लिये योग्यता बढ़ती है, अतः उसे भी धर्म कहते हैं।

मैत्र्यादि भाव अर्थात् मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार प्रकार के भाव। मैत्री अर्थात् मित्र भाव, प्रमोद अर्थात् दूसरों के गुण पर हर्ष, कारुण्य अर्थात् दुःखी के प्रति दया–आर्द्रता, और माध्यस्थ्य अर्थात् परदोष की उपेक्षा। इन भावों का पोषण करने को चार भावनाएं कहते है।[५] बौद्ध शास्त्रों में इनकी प्रसिद्धि ब्रह्म विहार के रूप में हुई है।[६] और श्री पतंजलि ऋषि कृत योगशास्त्र में वे चित्तप्रसादन के साधन मानी गई हैं।[७]

विश्व के समस्त प्राणियों को मित्र, सखा या बंधु मानना, अर्थात् उनके प्रति द्रोह, वैर आदि न रखना, मैत्री भाव कहलाता है। इसका विकास होने पर आत्मा जब जीव मात्र की हिंसा से निवृत्त होता है तब यह मैत्री सक्रिय मानी जाती है और इसे आत्मसमदर्शित्व भी कहते हैं। साम्य, समता, समत्व, विश्वबंधुत्व, विश्ववात्सल्य विश्वप्रेम आदि उसके पर्याय शब्द हैं। हृदय में यह भावना करे कि 'जीवों का हित हो,' यह मैत्री भावना है। ऐसा करने वाला किसी का भी बुरा नहीं चाहता और वैर-जहर, क्लेश कलह का वातावरण कम हो ऐसे प्रयत्न करता है। एसे कल्याण मैत्री वाले वचनानुसारी अनुष्ठान को धर्म नहीं तो और क्या कहें ?

जो आत्मा पुण्यप्रकर्ष के कारण अनेक औदार्य आदि गुणों से युक्त हैं तथा अल्पाधिकतया ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तप के आचारों की जिनके जीवन में आराधना है, उन्हें देखकर आनन्द का अनुभव करना वह प्रमोद भावना कहलाती है।

गुणग्राहकता, गुणानुराग, गुणबहुमान आदि उसके पर्याय शब्द हैं। जिसके हृदय में यह भावना प्रकट होती है वह प्रत्येक वस्तु में से गुण ग्रहण करता है और गुणवानों में से अधिकतम गुण ग्रहण करता है। इससे उसमें गुण का सग्रह होता जाता है और आखिरकार वह गुण का भण्डार बन जाता है। जिसमे प्रमोद भावना नही–गुणग्राहकता नहीं, वह ईर्ष्यादि दोष वश ईश्वरभक्ति, प्रभुप्रार्थना, गुरु सेवा आदि यथार्थ रीति से नही कर सकता, क्योकि इन सभी वस्तुओं का मुख्य आधार ही गुणानुराग है।

जो आत्मा पाप के उदय के कारण विविध प्रकार के कष्ट–दुख भोग रहे हैं, उन्हे देखकर उनका दुख दूर करने की वृत्ति कारुण्य भावना कहलाती है। दया, दीनानुग्रह, अनुकम्पा आदि उसके पर्याय शब्द हैं। जिसके हृदय में यह भावना प्रकट होती है, उससे किसी का दुख देखा नही जा सकता। परिणाम स्वरूप उसमें ये दुख दूर करने की वृत्ति जागृत होती है और उसके लिये वह चाहे जैसा त्याग करने में भी आनन्द मानता है। 'जहाँ दया नही, वहाँ धर्म नही। यह सूत्र आर्य महर्षियों ने पुकारा है और उनमें जैन महर्षि सबसे आगे रहे हैं। उन्होने धर्म का मुख्य लक्षण ही अहिंसा या जीवदया माना है।

जो आत्मा अधम हैं, निरन्तर पापकर्म करने वाले हैं और उद्धत बन कर हितैषियो की हितशिक्षा को ठोकर मारने वाले हैं उनके प्रति न तो राग रखना और न द्वेष रखना अर्थात् उपेक्षावृत्ति धारण करना माध्यस्थ्य भावना कहलाती

है। शान्ति, उदासीनता, तटस्थता आदि उसके पर्याय शब्द हैं। जिसके हृदय में यह भावना प्रकट होती है वे दुष्टजनों के प्रति द्वेष या व्यर्थ चिन्ता से बच सकते हैं और उनके प्रति सद्भावना रख सकते हैं। 'अधम आत्माओं का कब उद्धार हो ? वे भी अन्य जनों की भांति आत्मविकास या आत्म-'प्रगति कैसे साध सकें ?' यह चिन्ता मैत्री भावना रूप होते हुए भी अति दुष्ट की उपेक्षा इस भावना का सेवन करने वाले के हृदय में अवश्य होती है, परन्तु 'यह कैसे सुधरे नही' ऐसी गलत चिन्ता या 'मैं उसे अवश्य सुधार दूंगा' ऐसा मानकर वे प्रवृत्ति नहीं करते। वहाँ तो वे जीवों को कर्माधीन दशा का विचार करके मौन धारण कर लेते हैं और योग्य समय की प्रतीक्षा करते हैं। जो इस भावना का रहस्य समझे नहीं, वे अधम आत्माओं को बलात्कार पूर्वक सुधारने की प्रवृत्ति करते हैं और उसमें निष्फलता मिलने पर खेद, विषाद का अनुभव करते हैं और उन आत्माओं पर क्रुद्ध होते हैं। इससे वे तो सुधरते नहीं, बल्कि अपना पतन तो अवश्य हो जाता है।

एक अनुष्ठान उसके बाह्य रूप रंग से कितना ही सुंदर हो, परन्तु उसमें मैत्र्यादि भावों का अभाव हो तो वहाँ द्वेष, मात्सर्य, ईर्ष्या, निर्दयता आदि रहने से वह सफल नहीं होता।[८]

धर्म की आवश्यकता :

सभी आर्य पुरुषों का यह निश्चय है कि 'इस जगत् में सभी प्राणियों की सारी प्रवृत्तियाँ सुख के लिये ही होती हैं और वह सुख धर्म के बिना प्राप्त नहीं होता, अतः प्रत्येक प्राणी को धर्माराधन अवश्य करना चाहिये।'

'धर्मेण हीना' पशुभिः समाना.' ये वचन भी धर्म की आवश्यकता सिद्ध करने वाले हैं। इनमें ऐसा बताया है कि 'जो मनुष्य धर्म से रहित हैं, उन्हें पशु तुल्य ही समझना', क्योंकि वे पशु की भांति आहार, निद्रा, भय और मैथुन के सेवन में ही अपना समस्त जीवन व्यतीत कर देते हैं। दूसरी ओर जो मनुष्य धर्म का यथाविधि आराधन करते हैं, वे सभ्य सस्कारवान् बनते हैं, अपने कर्तव्य के ज्ञाता एव पालन-कर्ता होते हैं और उत्तरोत्तर उन्नत भूमिकाओ का स्पर्श करके मोक्ष-महालय के द्वार म प्रविष्ट होने की योग्यता प्राप्त करते हैं। अत जो मनुष्य अच्छा, सुन्दर, आदर्श-उत्तम जीवन जीने के इच्छुक हो उनका काम धर्माराधन विना चल ही नही सकता।

यहां यह भी सोचना चाहिए कि यदि मानव समाज को धर्म की आवश्यकता न होती तो उसका प्रवर्तन ही क्यो होता? और उसकी परम्परा ही क्यो चलती? आज भी करोडो मनुष्य ईश्वरभक्ति आदि धर्म का आराधन कर रहे हैं, क्योकि उसमें मनुष्य को सुख, शान्ति और सामर्थ्य देने की प्रचण्ड शक्ति रही हुई है।

आज कई देशों म धर्मविरोधी आन्दोलन चल रहे हैं। वहाँ ऐसा बताया जाता है कि धर्म तो रूढि और शका का पोपक है तथा वह मानव मानव के बीच के मधुर सम्बन्ध में एक प्रकार का अन्तराय खडा करता है, अत उसकी आवश्यकता नही है। परन्तु उनका यह आन्दोलन धर्म के नाम पर जो बहुत सी विरोधी वस्तुएँ चल रही है, उनके विरुद्ध है, न कि समस्त धर्मो के विरुद्ध। यदि उनका

आन्दोलन धर्म मात्र के विरुद्ध हो तो वहाँ नगरधर्म, गणधर्म, राष्ट्रधर्म आदि का पालन हो ही क्यों? हम निःसंकोच पूर्वक यह कहना चाहते हैं कि यदि वहाँ से ये सभी धर्म विदा हों तो उनका तंत्र एक दिन भी न चले। अतः धर्म मानव-समाज के लिये एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है इसमें कोई सन्देह नहीं।

धर्म की शक्ति :

धर्म की शक्ति अचिन्त्य है, अपरिमित है। वह साधारण व्यक्ति को महापुरुष बना सकती है और घातक-पातकी को सन्त महात्मा के पद पर आसीन कर सकती है।

दीपक जैसे अन्धकार के समूह का नाश करता है, रसायन जैसे रोगपुञ्ज का नाश करता है और अमृतबिन्दु जैसे विष के वेग का नाश करता है, वैसे ही धर्म पाप के समूह का नाश करता है। उसकी इस शक्ति की महापुरुषों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है।

धर्म की शक्ति दो प्रकार से प्रकट होती है। एक तो वह आपद्ग्रस्त का रक्षण करता है और दूसरा वह सुख की शोध में पड़े हुओं को बहुमूल्य सहायता देता है। निम्न श्लोक उसकी इस द्विविध शक्ति पर सुन्दर प्रकाश डालत है।

> व्यसनशतगतानां क्लेशरोगातुराणां,
> मरणभयहतानां दुःखशोकार्दितानाम्।
> जगति बहुविधानां व्याकुलानां जनानां,
> शरणमशरणानां नित्यमेको हि धर्मः॥

'सैकड़ों कष्टों में फँसे हुए, क्लेश और रोग से पीड़ित, मरण के भय से हताश हुए, दुःख और शोक से व्यथित, इस प्रकार नाना प्रकार से व्याकुल इस जगत् के असहाय मनुष्यों के लिये एक धर्म ही नित्य शरणभूत है।'

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थसम्पत्तयः।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः॥

धर्म के योग्य आराधन से उच्च कुल में जन्म होता है, पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता प्राप्त होती है, सौभाग्य, आयुष्य और बल की प्राप्ति होती है। धर्म की आराधना से ही निर्मल यश तथा विद्या और अर्थ सम्पत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार धर्म का आराधन घोर जंगल में और महान् भय उपस्थित होने पर भी उसके आराधकों का रक्षण करता है। वस्तुतः ऐसे धर्म की आराधना यदि सम्यक् प्रकार से की जाए तो वह स्वर्ग और मोक्ष का सुख दे सकता है।

धर्म की इस शक्ति का परिचय देने के लिये जैन शास्त्रों में सैकड़ों कथाएं लिखी हुई हैं।

धर्म के स्वरूप की विविधता :

'यदि धर्म सत्य हो तो उसके स्वरूप इतने विविध क्यों?' इस प्रश्न का यहाँ उत्तर देना उपयुक्त समझा जायगा। सत्य का प्रकाश एक ही रीति से होना चाहिये, ऐसा कोई नियम नहीं अर्थात् वह विविध प्रकार से होता है और इसीलिये कहा गया है कि 'एकं हि सद् विप्रा बहुधा वदन्ति एक ही सत्य को विद्वान् भिन्न भिन्न रीति से कहते हैं।' इसी वस्तु को अन्य

शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि 'सिद्धान्त वदलते नहीं परन्तु उनसे संबंधित क्रियाएँ वदलती हैं' (Principles are not changed but practice is changed) और इससे धर्म के वाह्य स्वरूप में भिन्नता या विविधता आती है।

जैन शास्त्र धर्म का वाह्य स्वरूप निर्माण होने में द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव को मुख्य कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि सभी जीव द्रव्य एक से नहीं होते, क्योंकि उनके विकास की भूमिकाएँ भिन्न भिन्न होती हैं और उसके अनुसार वृत्ति-प्रवृत्ति में भी भारी अन्तर पाया जाता है। इन सभी जीवों के लिये आचरणीय धर्म का स्वरूप एक-सा कैसे हो सकता है? जैसे रोगी को उसकी स्थिति देखकर औषधि दी जाती है और तभी उसके रोग का निवारण होता है, उसी प्रकार जीवों को भी उनकी स्थिति देखकर आचरणीय धर्म दिया जाना चाहिये अर्थात् उसका स्वरूप निर्माण होना चाहिये जिससे उनकी उन्नति हो और वे क्रमशः आगे बढ़ सकें। आज तो शिक्षणशास्त्र और मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, अतः उसके विषय में कोई विवाद नहीं रहता।

धर्म का स्वरूप निर्माण करने में क्षेत्र अर्थात् देश की परिस्थिति भी ध्यान में रखनी पड़ती है और यह परिस्थिति सर्वत्र एक सी नहीं होती। इसलिये भी उसमें भिन्नता या विविधता आती है। अन्य शब्दों में कहें तो एक धर्म जिस स्वरूप में भारत में पाला जाता हो उसी स्वरूप में तिब्बत में पाला नहीं जा सकता और जिस स्वरूप में तिब्बत में पाला जाता हो उसी स्वरूप में चीन या जापान में नहीं पाला जाता।

'सैकडो कष्टो मे फँसे हुए, क्लेश और रोग से पीडित, मरण के भय से हताश हुए, दुःख और शोक से व्यथित, इस प्रकार नाना प्रकार से व्याकुल इस जगत् के असहाय मनुष्यो के लिये एक धर्म ही नित्य शरणभूत है।'

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थ सपत्तय ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सनत धर्म परित्रायते,
धम सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रद ॥

धर्म के योग्य आराधन से उच्च कुल मे जन्म होता है, पाँचो इन्द्रियो की पूर्णता प्राप्त होती है, सौभाग्य, आयुष्य और बल की प्राप्ति होती है। धम की आराधना से ही निर्मल यश तथा विद्या और अर्थ सपत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार धर्म का आराधन घोर जगल मे और महान् भय उपस्थित होने पर भी उसके आराधको का रक्षण करता है। वस्तुत ऐसे धर्म की आराधना यदि सम्यक् प्रकार से की जाए तो वह स्वर्ग और मोक्ष का सुख दे सकता है।

धम की इस शक्ति का परिचय देने के लिये जैन शास्त्रों मे सकडो कथाए लिखी हुई हैं।

धर्म के स्वरूप की विविधता :

'यदि धर्म सत्य हो तो उसके स्वरूप इतने विविध क्या ?' इस प्रश्न का यहाँ उत्तर देना उपयुक्त समझा जायगा। सत्य का प्रकाश एक ही रीति मे होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही अर्थात् वह विविध प्रकार मे होना है और इसीलिये कहा गया है कि 'एक हि सत् विप्रा बहुधा वदन्ति एक ही सत्य को विद्वान् भिन्न भिन्न रीति से कहते है।' इसी वस्तु को जन्य

शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि 'सिद्धान्त बदलते नहीं परन्तु उनसे संबंधित क्रियाएँ बदलती हैं' (Principles are not changed but practice is changed) और इससे धर्म के बाह्य स्वरूप में भिन्नता या विविधता आती है।

जैन शास्त्र धर्म का बाह्य स्वरूप निर्माण होने में द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव को मुख्य कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि सभी जीव द्रव्य एक से नहीं होते, क्योंकि उनके विकास की भूमिकाएँ भिन्न भिन्न होती हैं और उसके अनुसार वृत्ति-प्रवृत्ति में भी भारी अन्तर पाया जाता है। इन सभी जीवों के लिये आचरणीय धर्म का स्वरूप एक-सा कैसे हो सकता है? जैसे रोगी को उसकी स्थिति देखकर औषधि दी जाती है और तभी उनके रोग का निवारण होता है, उसी प्रकार जीवों को भी उनकी स्थिति देखकर आचरणीय धर्म दिया जाना चाहिये अर्थात् उसका स्वरूप निर्माण होना चाहिये जिससे उनकी उन्नति हो और वे क्रमशः आगे बढ़ सकें। आज तो शिक्षणशास्त्र और मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, अतः उसके विषय में कोई विवाद नहीं रहता।

धर्म का स्वरूप निर्माण करने में क्षेत्र अर्थात् देश की परिस्थिति भी ध्यान में रखनी पड़ती है और यह परिस्थिति सर्वत्र एक सी नहीं होती। इसलिये भी उसमें भिन्नता या विविधता आती है। अन्य शब्दों में कहें तो एक धर्म जिस स्वरूप में भारत में पाला जाता हो उसी स्वरूप में तिब्बत में पाला नहीं जा सकता और जिस स्वरूप में तिब्बत में पाला जाता हो उसी स्वरूप में चीन या जापान में नहीं पाला जाता

'सैंकडो कष्टों मे फँसे हुए, क्लेश और रोग से पीडित, मरण के भय से डराते हुए, दुःख और शोक से व्यथित, इस प्रकार नाना प्रकार से व्याकुल इस जगत् के असहाय मनुष्यों के लिये एक धर्म ही नित्य शरणभूत है।'

धर्माज्जन्म कुले शरीरपटुता सौभाग्यमायुर्बलं,
धर्मेणैव भवन्ति निर्मलयशो विद्यार्थ संपत्तयः ।
कान्ताराच्च महाभयाच्च सततं धर्मः परित्रायते,
धर्मः सम्यगुपासितो भवति हि स्वर्गापवर्गप्रदः ॥

धर्म के योग्य आराधन से उच्च कुल मे जन्म होता है, पाँचो इन्द्रियो की पूर्णता प्राप्त होती है, सौभाग्य, आयुष्य और बल की प्राप्ति होती है। धर्म की आराधना से ही निर्मल यश तथा विद्या और अर्थ सपत्ति प्राप्त होती है। इसी प्रकार धर्म का आराधन घोर जगल मे और महान् भय उपस्थित होने पर भी उसके आराधक की रक्षा करता है। वस्तुत ऐसे धर्म की आराधना यदि सम्यक् प्रकार से की जाए तो वह स्वर्ग और मोक्ष का सुख दे सकता है।

धर्म की इस शक्ति का परिचय देने के लिये जैन शास्त्रो मे सैकडो कथाए लिखी हुई हैं।

धर्म के स्वरूप की विविधता :

'यदि धर्म सत्य हो तो उसके स्वरूप इतने विविध क्यों?' इस प्रश्न का यहाँ उत्तर देना उपयुक्त समझा जायगा। सत्य का प्रकाश एक ही रीति से होना चाहिए, ऐसा कोई नियम नही अर्थात् वह विविध प्रकार से होता है और इसीलिये कहा गया है कि 'एक हि सत् विप्रा बहुधा वदन्ति एक ही सत्य को विद्वान् भिन्न भिन्न रीति से कहते हैं।' इसी वस्तु को अन्य

शब्दों में कहना हो तो कह सकते हैं कि 'सिद्धान्त बदलते नहीं परन्तु उनसे संबंधित क्रियाएँ बदलती हैं' (Principles are not changed but practice is changed) और इससे धर्म के वाह्य स्वरूप में भिन्नता या विविधता आती है।

जैन शास्त्र धर्म का वाह्य स्वरूप निर्माण होने में द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव को मुख्य कारण मानते हैं। वे कहते हैं कि सभी जीव द्रव्य एक से नहीं होते, क्योंकि उनके विकास की भूमिकाएँ भिन्न भिन्न होती हैं और उसके अनुसार वृत्ति-प्रवृत्ति में भी भारी अन्तर पाया जाता है। इन सभी जीवों के लिये आचरणीय धर्म का स्वरूप एक-सा कैसे हो सकता है? जैसे रोगी को उसकी स्थिति देखकर औषधि दी जाती है और तभी उसके रोग का निवारण होता है, उसी प्रकार जीवों को भी उनकी स्थिति देखकर आचरणीय धर्म दिया जाना चाहिये अर्थात् उसका स्वरूप निर्माण होना चाहिये जिससे उनकी उन्नति हो और वे क्रमशः आगे बढ़ सकें। आज तो शिक्षणशास्त्र और मनोविज्ञान भी इस सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं, अतः उसके विषय में कोई विवाद नहीं रहता।

धर्म का स्वरूप निर्माण करने में क्षेत्र अर्थात् देश की परिस्थिति भी ध्यान में रखनी पड़ती है और यह परिस्थिति सर्वत्र एक सी नहीं होती। इसलिये भी उसमें भिन्नता या विविधता आती है। अन्य शब्दों में कहें तो एक धर्म जिस स्वरूप में भारत में पाला जाता हो उसी स्वरूप में तिव्वत मे पाला नहीं जा सकता और जिस स्वरूप में तिव्वत में पाल जाता हो उसी स्वरूप में चीन या जापान में नहीं पाला जाता

भौगोलिक परिस्थिति आदि के कारण उसमें अवश्य कुछ अन्तर दृष्टिगोचर होगा। प्रणाम, प्रार्थना और पूजा ये तीनों धर्म के अंग है, परन्तु उन सब का स्वरूप देश देश के अनुसार कितना भिन्न होता है। मात्र प्रणाम करने की रीतियाँ ही इस जगत् में इतनी अधिक है कि उनके सबध में एक बृहत्काय ग्रंथ लिखा जा सकता है।

धर्म के स्वरूप निर्माण में काल भी भारी महत्त्व रखता है और उसकी स्थिति हर समय एक सी नहीं होती, इसलिए भी आचरणीय धर्म के स्वरूप में भिन्नता या विविधता आती है। आचरणीय धर्म का जो स्वरूप सत्ययुग में था वह त्रेता युग में नहीं था। त्रेता युग में था वह द्वापर युग में नहीं था और द्वापर युग में था वह आज कलियुग में नहीं, उसके स्वरूप में फरफार अवश्य है।

भाव अर्थात् आतर बाह्य साधन सामग्री के विषय में भी ऐसी ही स्थिति है। वह सभी मनुष्यों के पास सभी काल में *सर्वत्र एक सी नहीं होती, इस कारण भी आचरणीय धर्म के* स्वरूप में भिन्नता आती है। उदाहरणार्थ एक सम्पन्न मनुष्य दान धर्म का पालन करने के लिये लाखों रुपयों का दान देता है अन्य उससे कम हैसियत वाला है वह हजारों का दान देता है, सामान्य कोटि का मनुष्य दो चार रुपयों का दान देता है और जिसकी स्थिति बहुत सामान्य हो वह क्षुधातुर को रोटी का टुकड़ा देकर या तृषातुर को शीतल जल पिलाकर भी दान धर्म का पालन करता है। इसी प्रकार एक बालक बहुत छोटा तपस्या करता है, जब कि बड़ी उम्र का युवक या प्रौढ बड़ी तपस्या करता है, फिर भी बालक कोई कम तपस्वी नहीं।

धर्म के मुख्य आलंबन :

धर्म के लिये तीन वस्तुएँ आलंबन रूप हैं : देव, गुरु और सिद्धान्त।

देव का अर्थ स्वर्ग में रहने वाले (देवी-देवता) मेघ, ब्राह्मण, राजा आदि होता है, परन्तु यहां पर वह अभिप्रेत नहीं। यहाँ तो देव शब्द से उस परम तत्त्व का निर्देश है जिसकी आराधना उपासना करने से मनुष्य में धर्म का तेज प्रकट होता है और वह उत्तरोत्तर विकास प्राप्त करता जाता है। यदि मनुष्य की दृष्टि के सामने परम तत्त्व न हो तो वह धर्म-पालन की चरम सीमा तक पहुँच नहीं सकता और इसलिए अपना अभीष्ट साधन भी नहीं कर सकता।

इस परम तत्त्व का व्यवहार अनेक नामों से होता है, परन्तु जैन धर्म उसके लिए 'परमात्मा' शब्द का प्रयोग करता है। जैन दृष्टि से अर्हत् और सिद्ध दोनों परमात्मा हैं। इनमें अर्हत् साकार परमात्मा हैं और सिद्ध निराकार परमात्मा हैं।

अर्हत् परमात्माओं के चार घाती कर्मों का नाश किया हुआ होता है, अर्थात् वे अनंतज्ञान, अनंत दर्शन, वीतराग अवस्था (अक्षय चारित्र) और अनंत वीर्य से युक्त होते हैं। इसके अतिरिक्त उनके कई विशिष्ट अतिशय भी होते हैं। इन अर्हत् का परिचय हमने आगामी प्रकरण में विशेष रूप से दिया है अतः यहाँ उसका विस्तार नहीं करेंगे परन्तु इतना कहेंगे कि इस जगत को मंगलमय, कल्याणकारी, श्रेयस्साधक धर्म का पवित्र प्रकाश उनके द्वारा ही प्राप्त होता रहता है,[१०] अतः इस जगत् पर उनका उपकार सबसे महान् है और इस-लिये पर[illegible] के रूप में प्रथम स्मरण उनका [illegible]ा

है[11] और आराधना उपासना भी उनकी ही विशेष होती है।[12]

सिद्ध परमात्मा घाती और अघाती सभी कर्मों का नाश किए हुए होते हैं, इससे वे आत्मा के शुद्ध स्वरूप में स्थिर होते हैं। इससे अधिक शुद्ध या पवित्र अवस्था इस जगत् में अन्य कोई नहीं है।

मनुष्य जिस देव या तत्त्व की साधना आराधना उपासना करता है उसके जैसे ही गुण उसमें आते हैं और अन्त में वह उसके जैसा ही बनता है। यह वस्तु योगविशारदों ने बहुत अनुभव के पश्चात कही है[13] अतः उसमें कोई विवाद नहीं। आज शैक्षणिक क्षेत्र में महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ने का अनुरोध हो रहा है, उसमें भी यही सिद्धान्त है। यदि विद्यार्थी महापुरुषों के जीवन चरित्र पढ़ें, मनन करें तो उन्हें महापुरुष बनने की इच्छा हो और वे एक दिन महापुरुष भी बनें अतः मनुष्य जिस देव या तत्त्व की उपासना करता हो उसका स्वरूप अति शुद्ध होना चाहिए।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में बताया है कि —
वीतरागो विमुच्येत वीतरागं विचिन्तयन्।
रागिणं तु समालम्ब्य रागी स्यात् क्षोभणादिकृत् ॥

'रागरहित का ध्यान करने से मनुष्य स्वयं रागरहित होकर कर्मों से मुक्त बन जाता है और रागियों का आलंबन लेने वाला काम, क्रोध, हर्ष, शोक, राग द्वेषादि विक्षेप करने वाली सरागता को प्राप्त करता है।[14]

तात्पर्य यह कि जो सर्व दुःखों का अंत लाने वाली मुक्ति की अभिलाषा रखते हो, उन्हें तो वीतराग और सर्वज्ञ अर्हत्

परमात्मा को ही इष्ट देव या उपास्य देव के रूप में स्वीकार करना चाहिए और उनकी आराधना-उपासना में तल्लीन बन जाना चाहिए।

जैन धर्म का यह स्पष्ट मन्तव्य है कि जो परम तत्त्व का-परमात्मा का आलंबन नहीं लेता वह धर्माचरण में कभी भी प्रगति नहीं कर सकता।

गुरु का अर्थ बड़ा, शिक्षक, स्वामी आदि होता है, परन्तु यहां उसका अर्थ धर्मोपदेशक समझें। यदि धर्मोपदेशक न हों तो धर्म-प्रचार न हो और वह सामान्य मनुष्य तक पहुँचे नहीं।

गुरु धर्म का स्वरूप समझाते हैं, धर्माचरण की प्रेरणा देते हैं और मार्ग में जो भी विघ्न अंतराय, या कठिनाइयां आती हैं, उन्हें दूर करने के उपाय भी बताते हैं। इसके अतिरिक्त शंकाओं का समाधान करने में और निराशा की पलों में सहायता देने में उनके जैसा सुन्दर कार्य अन्य कोई नहीं करता। इसीलिये उन्हें धर्म का एक पुष्ट आलंबन माना गया है।

'गुरु कैसे होने चाहिये ?' इस सम्बन्ध में प्रत्येक धर्म ने कुछ न कुछ विचार अवश्य किया है, परन्तु जैन धर्म ने उनका मानदण्ड बहुत ऊँचा निश्चित किया है। उसके अनुसार जो पाँच महाव्रतों के धारणकर्ता हों, अनेक प्रकार के क्षुधा तृषादि परीषह सहन करने में तत्पर हों, भिक्षा-गोचरी पर ही जीने वाले हों, सदा सामायिक में (समभाव में) रहने वाले हों अर्थात् निरवद्य (निर्दोष) परिचर्या वाले हों और धर्म का

यथार्थ उपदेश देने वाले हों वे ही गुरुपद के योग्य माने जाते हैं।[१५]

साथ ही उसने यह भी बताया है कि जिसे सर्व प्रकार की अभिलाषा हो, जो मांस-मदिरा-अनंतकाय-अभक्ष्यादि सभी वस्तुओं का भक्षक हो, जो पुन कलत्र, धन, धान्य, सुवर्ण-चांदी, हीरा, मोती, हाट, हवेली, क्षेत्र तथा पशुओं का परिग्रह रखने वाला हो, और जो मंत्र-तंत्र ज्योतिष या निमित्त आदि का उपदेशकर्ता हो तथा मिथ्या धर्म का प्रचारक हो वह गुरु पद के लिये योग्य नहीं, अर्थात् वह सद्‌गुरु नहीं, परन्तु कुगुरु है।[१६]

कुगुरु पत्थर की नौका के समान है जो स्वयं भी डूबता है और जो उसका आश्रय लेने वाले दूसरे व्यक्ति को भी डुबोता है। अत मुमुक्षु को सद्‌गुरु की खोज करके उसकी शरण स्वीकार करनी चाहिये। जो सद्‌गुरु की खोज करके उसकी शरण लेता है वही धर्म का वास्तविक रहस्य समझ कर भव सागर को पार करने में समर्थ होता है।

सिद्धान्त अर्थात् तत्त्व और धर्माचरण से संबंधित नियम। वे मनुष्य के कर्तव्यपथ का स्पष्ट रेखांकन कर देते हैं। अन्य शब्दों में कहें तो तत्त्व क्या? अतत्त्व क्या? धर्म क्या? अधर्म क्या? कर्तव्य क्या? अकर्तव्य क्या? इसका बोध मनुष्य को इन नियमों द्वारा होता है और इससे उसे किस प्रकार बर्ताव करना चाहिए, इसका स्पष्ट मार्गदर्शन मिलता है। जैसे लोहे की पटरी के बिना रेलगाडी नहीं चल सकती, वैसे ही नियमों के बिना मनुष्य धर्म का आचरण नहीं कर सकता।

धर्म का वास्तविक मूल्याँकन इन नियमों के आधार पर होता है अतः वे उत्तम कोटि के होने चाहिये ।

धर्माचरण के नियमों को ही सामान्य रीति से धर्म कहा जाता है और इसीलिये जैन शास्त्रों में स्थान स्थान पर 'देव-गुरु-धर्म' इन शब्दों का प्रयोग हुआ है ।

टिप्पणी

१ गाथा २०
२ द्वितीय प्रकाश, श्लोक ११
३ गाथा १
४ गाथा २
५ चतस्रो भावना धन्या पुराणपुरुषाश्रिता ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये।

ज्ञानार्णव प २७, श्लो ४

श्री तीर्थंकरादि महापुरुषो द्वारा भी आश्रय बनाई गई मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये चार भावनायें धन्य हैं। धर्मध्यान की सिद्धि के लिये उनका चित्त मे दीर्घ काल तक चिन्तन करना चाहिये।

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तु तद्धि तस्य रसायनम् ॥

योगशास्त्र प्र ४ गा ११०

टूटे हुए ध्यान को ध्यानान्तर के साथ पुन जोडने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनायें प्रयुक्त करनी चाहिए क्योकि ये ही उसकी रसायन हैं।

६ मेत्ता करुणा, मुदिता, उपेक्खा ति इमे चत्तारो ब्रह्म विहारा। विसुद्धिमग्ग निर्देश ३

७ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा

वचनाद्यदनुष्ठानमविरुद्धाद्यथोदितम् ।
मैत्र्यादिभावसंयुक्तं तद्धर्म इति कीर्त्यते ॥३॥

'अविरुद्ध वचन से प्रवर्तित, शास्त्रानुसारी और मैत्र्यादि भाव से संयुक्त अनुष्ठान धर्म कहलाता है।'

महोपाध्याय श्रीमानविजयजी गणिवर ने यही श्लोक शब्द के स्थानपरिवर्तन के साथ धर्मसंग्रह के प्रारम्भ में लिया है।

९ स्थानांग सूत्र के दसवें स्थान में दस प्रकार के धर्म इस प्रकार बताए हुए हैं: गामधम्मे, नगरधम्मे, रट्ठधम्मे, पाखंडधम्मे, कुलधम्मे, गणधम्मे, संघधम्मे, सुयधम्मे, चरित्तधम्मे, अत्थिकायधम्मे (१) ग्राम धर्म, (२) नगर धर्म, (३) राष्ट्रधर्म, (४) संप्रदाय धर्म (५) कुल धर्म, (६) गणधर्म, (७) संघ धर्म, (८) श्रुत धर्म, (९) चरित्र धर्म, और (१०) अस्तिकाय धर्म। (यह धर्म शब्द की समानता के कारण ही यहां बताया गया है। वह जीवन-स्पर्शी नहीं है।)

१० शक्रस्तव में आते हुए धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्म-नायगाणं, धम्मसारहीणं, धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं ये शब्द उसके प्रमाण रूप हैं।

११ नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं।

—नमस्कार महामंत्र

१२ जैन मंदिरों में मूलनायक के तौर पर तथा आसपास अर्हत् की ही प्रतिमा होती है।

टिप्पणी

१ गाथा २०

२ द्वितीय प्रकाश, श्लोक ११

३ गाथा १

४ गाथा २

५ चतस्रो भावना धन्या. पुराणपुरुषाश्रिता ।
मैत्र्यादयश्चिरं चित्ते ध्येया धर्मस्य सिद्धये।

ज्ञानार्णव प २७, श्लो ४

श्री तीर्थङ्करादि महापुरुषो द्वारा भी आश्रय बनाई गई मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ ये चार भावनायें धन्य हैं। धर्मध्यान की सिद्धि के लिये उनका चित्त मे दीर्घ काल तक चिन्तन करना चाहिये ।

मैत्री-प्रमोद-कारुण्य-माध्यस्थ्यानि नियोजयेत् ।
धर्मध्यानमुपस्कर्तुं तद्धि तस्य रसायनम् ॥

योगशास्त्र प्र ४ गा. ११०

टूटे हुए ध्यान को ध्यानान्तर के साथ पुन जोडने के लिये मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ्य ये चार भावनायें प्रयुक्त करनी चाहिए क्योकि ये ही उसकी रसायन हैं ।

६ मेत्ता, करुणा, मुदिता, उपेक्खा ति इमे चत्तारो ब्रह्मविहारा । विसुद्धिमग्ग निर्देश ३

७ मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणा सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्तप्रसादनम् । पाद, १ सू, ३३

८ इस सम्बन्ध मे श्री हरिभद्रसूरि कृत धर्मबिन्दु प्रथम प्रकरण के निम्नलिखित श्लोक मनन करें –

२ धर्मप्रवर्तक

(श्री अर्हद् देव)

* अर्हत् की पहिचान
* भगवान् कहने का कारण
* जिन शब्द का रहस्य
* तीर्थकर का अर्थ
* अर्हत् अर्थात् महामानव–पुरुषोत्तम
* अर्हतों की कुछ विशेषताएँ ।
* पंच कल्याणक
* कौनसा आत्मा अर्हत् बन सकता है
* वर्तमान चौबीसी
* अर्हद् देव के अनेक नाम
* टिप्पणी (१ से ३२)

अर्हन् की पहिचान :

आत्मविकास या आत्मशुद्धि के लिए जैन धर्म उपासना की महत्ता स्वीकार करता है परन्तु वह ऐसी स्पष्ट समझ के साथ कि जो इस जगत में उत्तमोत्तम हो उनकी उपासना की जाय जिससे सर्वोच्च आदर्श से सर्वोच्च उद्देश्य सफल हो। उत्तमोत्तम अर्थात् जिसमें सद्गुणों का पूर्ण विकास हुआ हो और दूषण एक भी न हो। जैन दृष्टि से विश्व में ऐसी विभूति अर्हन् हैं और इसीलिये जैन धर्म में उपास्य देव के रूप में उन्हें स्वीकार किया गया है।[1] अरिहंतो महदेवो,[2] अर्हन्नमुपास्महे[3] देवोऽर्हन् परमेश्वरः[4] आदि वचन इसके प्रमाणरूप हैं।

अर्धमागधी जैन सूत्रों में अर्हन् के लिए अरिहा अरहन्त अरिहन्त और अरुहन्त शब्द प्रयुक्त हुए हैं पाठकों को यह स्मरण रखना चाहिये।

अर्हन् का स्वरूप समझने के लिए प्रथम उसके धात्वर्थ की ओर दृष्टि डालें। अर्हन् शब्द अर्ह धातु से बना हुआ है जो योग्य होने (To deserve) का अर्थ बताता है अतः जो सम्मान या पूजा के योग्य हो उसे अर्हन् कहते हैं। संस्कृत भाषा के लगभग सभी प्रसिद्ध कोषों ने अर्हत् का अर्थ ऐसा ही किया है।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि इस जगत् में माता पिता बड़े लोग विद्यागुरु सामाजिक नेता तथा राजा आदि सम्मान या पूजा के योग्य माने जाते हैं तो क्या उन सभी को अर्हन् समझा जाए?' इसका स्पष्टीकरण धर्मशास्त्रों ने पूर्व परम्पराओं का अनुसरण करके इस प्रकार किया है

जो मनुष्य देव और दानव इन तीनों के द्वारा पूजा के

योग्य हो अर्थात् त्रैलोक्यपूजित होते है, उन्हें ही अर्हत् समझें।'[५] विशेष में उन्होंने बताया है कि 'मनुष्य, देव, और दानव युक्त इस समग्र जगत् में जो अष्ट महाप्रातिहार्य आदि के पूजातिशय से उपलक्षित, अनन्यसदृश, अचित्य माहात्म्य-युक्त, केवलाधिष्ठित प्रवर उत्तमता के योग्य हों उन्हें ही अर्हत् समझें।[६] तात्पर्य यह है कि परम पूज्यता और पूर्ण शुद्धि युक्त पूर्ण ज्ञान ये दो अर्हत् को पहिचानने के मुख्य चिह्न है।

यहाँ अष्ट महाप्रातिहार्य के संबंध में जरा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। पूज्यता प्रकट करने वाली जो सामग्री प्रतिहारी की भाँति साथ रहे वह प्रातिहार्य। वह अद्भुतता या दिव्यता से युक्त होने के कारण महाप्रातिहार्य और आठ प्रकार की होने से अष्ट महाप्रातिहार्य। उसकी गणना इस प्रकार होती है: (१) अशोक वृक्ष, (२) सुर पुष्पवृष्टि, (३) दिव्य ध्वनि, (४) चामर, (५) आसन (६) भामंडल, (७) दुंदुभि और (८) छत्र।

भूमंडल को पावन करते हुए अर्हत् जहां जहां विचरण करते है और लोगों को धर्मोपदेश देने के लिये ठहरते है, वहां एक अति सुन्दर ऊँचे अशोक वृक्ष की रचना होती है, आकाश में से विविध रंग के पुष्पों की वर्षा होने लगती है, दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ती है और बैठने के लिए उपर्युक्त अशोक वृक्ष के नीचे पादपीठ सहित सिंहासन रखा जाता है। वहाँ दोनों ओर श्वेत चामर डुलाये जाते है, मुख के पीछे भामंडल अर्थात् तेज के वर्तुल का विस्तार करे ऐसी एक विशिष्ट वस्तु की योजना होती है. दुंदुभिनाद सुनाई देता है और सिर पर तीन छत्र धरे जाते है। अर्हत् चलते हों तब आकाश

मस्तक पर छत्र, सिंहासन, इन्द्रध्वज और धर्मचक्र पार्श्व में चलते य पीछे साथ चलते हैं (प्रवचनसारोद्धार) तथा देव प्रभु के चरणों के नीचे सुवर्णकमल की रचना करते हैं जिन पग पर रखकर वे चलते हैं।

यह प्रातिहार्य चमत्कृत होता है और यह लोगों के मन को अद्भुत आकर्षण करता है। इससे लोगों को अर्हत् के आगमन की सूचना मिलती है और वे उनके दर्शन करने तथा देशना का लाभ लेने के लिए चल पड़ते हैं। जो कोई भी अर्हत् की देशना सुनता है उसे अति आनन्द होता है।

अर्हत् की वाणी मालिनीया अथवा अद्भुत गुणवाली होती है। वह सुधा के समान मधुर, त्रिभुवन-उपकारी और हृदय के सभी दुर्गुण अहंकार को ध्वस्त करने वाली होती है।[10] इसके साथ ही उनमें वैराग्य रस इतना उत्कट होता है कि वह विषयलालसा के चाहे जैसे कठिन स्तरों को भेद डालती है और उसके स्थान पर शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा और आस्तिक्य का वातावरण उपस्थित कर देती है।[11] मलिन वृत्तियों को निर्मल बना देना अर्हत् की वाणी की उल्लेखनीय विशेषता होती है और इसीलिए उसे जलशोधक कतक फूल के चूर्ण की उपमा दी जाती है।[12] सूर्य से जैसे कमल विकसित होता है उसी तरह अर्हतों की वाणी से मनुष्य का हृदय विकसित होता है[13] और पानी की नाली जैसे बगीचे की सारी वनस्पति को पुष्ट करती है उसी तरह अर्हत् की वाणी भव्य जनों में रहे हुए सुसंस्कारों को पुष्ट बनाती है।[14] अर्हतों की वाणी अतिशय शक्तियुक्त अर्थात् सातिशय होती है

तथा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का अनुसरण करने वाली होती है, अत: वह कल्याणकारी सिद्ध होती है।[१५]

अर्हतों का आगमन अपायों का अपगम अर्थात् संकटों का निवारण करनेवाला होता है। जहाँ वे विराजमान होते हैं, वहाँ से सवा सौ योजन पर्यन्त ज्वरादि रोग नहीं होते, पारस्परिक वैर का शमन होता है, धान्यादि को हानि पहुँचाने वाले चूहे, टिड्डी, तोते, आदि की उत्पत्ति नहीं होती, मारी अर्थात् प्लेग का उपद्रव नहीं होता, अतिवृष्टि बंद हो जाती है, अनावृष्टि हो तो वर्षा शुरु हो जाती है, भिक्षा काअ भाव नहीं होता, राज्य में विद्रोह नहीं होता, अथवा शत्रु-सैन्य का आक्रमण नहीं होता[१६] तात्पर्य यह है कि जहाँ उनके पुनीत चरण पड़ते हैं वहाँ आनन्द-मंगल प्रवर्तित होता है।

भगवान कहने का कारण

अर्हत् को भगवान कहते हैं क्योंकि वे 'भग' वाले होते है। 'भग' अर्थात् ऐश्वर्य, रूप, यश, श्री, धर्म और प्रयत्न की पूर्णता[१७]

(१) देवेन्द्र भक्तिभाव से अर्हत् के चरणों का स्पर्श करते हैं और शुभानुबन्धि अष्ट महाप्रातिहार्यों द्वारा पूजन करते हैं, इसे ऐश्वर्य की पूर्णता समझें। (२) अर्हत् का रूप अतिशय सुन्दर होता है। यदि सभी देव मिलकर अपना रूप अंगुष्ठ जितने प्रमाण में संगृहीत करें तो भी वह अर्हत् के चरण के अँगूठे को समानता नहीं कर सकता। इसे रूप की पूर्णता समझें। (३) राग द्वेष, परीषह तथा उपसर्गों को हटाने के कारण अर्हत् का यश सर्वत्र फैलता है—इसे यश की पूर्णता समझें। (४) श्री अर्थात् शोभा—ज्ञान की शोभा।

अर्हंत् केवलज्ञान तथा केवलदर्शन से युक्त होने के कारण अत्यन्त शोभायमान होते हैं। इसे ज्ञान की पूर्णता समझें। (५) अर्हंत् के सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप धर्म साश्रव-अनाश्रव धर्म, अध्यात्मादि मनोयोगात्मक धर्म अथवा दान-शील-तप-भाव रूप धर्म सर्वोत्कृष्ट रूप में होता हैं–इसे धर्म की पूर्णता समझें। और (६) अर्हंत् चाहे जैसे घोर कर्मों का उसी भव में पूर्णत नाश करके मोक्ष के अधिकारी बनते है, इसे प्रयत्न की पूर्णता समझें।

जिन शब्द का रहस्य

अर्हंतों के लिए जिन शब्द प्रयुक्त होता है, और इसीलिये उनके द्वारा उपदिष्ट धर्म जैन धर्म कहलाता है। इस जिन शब्द का वास्तविक रहस्य क्या है? यह हमें जानना चाहिये।

जिन शब्द जि (जीतना) धातु से बना हुआ है, अत उसका अर्थ जीतनेवाला (Victorious) होता है। क्या जीतनेवाला? यह यहाँ गुप्त अध्याहृत है, परन्तु जैन शास्त्रों के अवलोकन से उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। प्रसिद्ध जिनागम उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि 'आत्मा ही दमन करने के योग्य है। आत्मा ही वास्तव में दुर्दम्य है। जो आत्मा का दमन करता है वह इस लोक और परलोक में सुखी होता है।'[१८]

यहाँ आत्मा से अपने अतर का सूचन है जिसमें अनत प्रकार की दुष्ट वृत्तियाँ छिपी हुई हैं। इन दुष्ट वृत्तियों का दमन करना, आत्मदमन कहलाता है।

इसी सूत्र में अन्यत्र कहा है कि जो दुर्जय संग्राम में सहस्र सहस्र योद्धाओं को–शत्रुओं को जीतता है, (उसे हम

वास्तविक जय नहीं मानते) एक आत्मा को जीतना ही परम जय है। हे पुरुष! तू अपने आत्मा के साथ ही युद्ध कर। तू बाह्य शत्रुओं के साथ युद्ध क्यों करता है? जो आत्मा द्वारा आत्मा को जीतता है, वह सुख प्राप्त करता है।''[१६]

इस पर से इतना निश्चित होता है कि यहाँ बाह्य शत्रुओं के साथ लड़कर उन्हें जीतने की बात नहीं, परन्तु आन्तरिक शत्रुओं के साथ लड़कर उन्हें जीतने की बात है। यह युद्ध कैसे करना? यह भी यहाँ बताया गया है। आत्मा के द्वारा आत्मा को जीतना अर्थात् अपना आत्मबल बढ़ाकर-संकल्प-शक्ति और वीर्योल्लास बढ़ाकर अंतःकरण में रही हुई दुष्ट वृत्तियों पर नियंत्रण करना।

तात्पर्य यह है कि जो अपने अंतर-शत्रुओं को जीत लेते हैं वे जिन कहलाते हैं।

अभी जरा अधिक स्पष्टीकरण करने की आवश्यकता है। उसके बिना जिन शब्द के वास्तविक रहस्य तक पहुँच नहीं सकेंगे।

आंतरिक शत्रुओं की गणना अनेक प्रकार से होती है परन्तु जैन धर्म के मतानुसार अंतःकरण का महानतम शत्रु मोह है, क्योंकि राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया (कपट) लोभ, (तृष्णा) आदि दुष्ट वृत्तियों का उसके कारण ही उद्भव होता है। अतः मोह का सर्वथा नाश करके निर्मोही या वीतराग अवस्था प्राप्त करना और आत्मभाव में स्थिर रहकर परम शांत दशा का अनुभव करना—जिन अवस्था का सच्चा रहस्य है। यह अवस्था जिसे प्राप्त होती है, वह परमात्मा है।

भगवद्गीता में भी इस वस्तु का समर्थन हुआ है। उसके
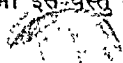
छठे अध्याय मे वहा है कि 'स्वय ही अपना उद्धार करना (परन्तु) स्वयं को अधोगति मे नही लेजाना; क्योंकि स्वय ही अपना बन्धु है और स्वय ही अपना शत्रु है। जिसने अपने आत्मा (मन आदि इन्द्रियसमुदाय) को जीता है, उसका आत्मा बन्धु है; परन्तु जिसने आत्मा को जीता नही, उसका आत्मा ही शत्रु के रूप मे शत्रुता का बर्ताव करता है। सर्दी गर्मी, सुख दुःख तथा मान-अपमान मे जिसने आत्मा को जीत है, ऐसे अति शान्त पुरुष का आत्मा परमात्मा बनता है।[२०]

भगवद्गीता सभी उपनिषदो के दोहन रूप मानी जाती है. यह बात 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दन' इन शब्दो से प्रकट है, अत इस अवस्था का उपनिषद भी अभिनन्दन करते हैं—ऐसा मानना अनुचित नही है।

योगवासिष्ठकार ने तो प्रकट शब्दो मे जिन अवस्था का बहुमान किया है। वैराग्यप्रकरण मे वे श्रीराम के मुख मे निम्नलिखित शब्द रखते है

नाह रामो न मे वाछा भावेषु च न मे मन.।
शान्त आसीतुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा॥

'मैं राम नही, मुझे किसी वस्तु की इच्छा नही। अब पदार्थों मे मेरा मन नही रमता। जैसे जिन अपने आत्मा मे शान्त भाव स रहत है, वैस ही मैं भी शान्त भाव से रहना चाहता हूँ।

वास्तविक बात तो यह है कि प्राचीन काल में, भारत की अध्यात्म और योगप्रिय प्रजा म जिन पद का भारी आकर्षण था और इसलिय जो कोई अध्यात्म या योग मे आगे बढ जाते वे अपने आप को जिन कहलवाने मे भारी गौरव समझते

र। आजीविक सिद्धान्तों के प्रचारक गोशालक ने इन्हीं कारणों से १६ वर्षों तक 'जिन' विरुद धारण किया था।[21]

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अनेकार्थसंग्रह में 'जिनोऽर्हद् बुद्ध विष्णुपु' इस सूत्र द्वारा ऐसा सूचन किया है, कि जैन अपने उपास्य देव अर्हत् के लिये, बौद्ध अपने उपास्य देव बुद्ध के लिये और हिन्दू ईश्वरी अवतार विष्णु के लिये इस शब्द का प्रयोग करते हैं। जिन पद का गौरव प्रकाशित करने के लिए क्या इससे अधिक वक्तव्य की अपेक्षा रहती है? अर्हत् जिन पद को सूक्ष्म अर्थ में धारण करते हैं। यहाँ एक स्पष्टीकरण आवश्यक है। जैन धर्म मानता है कि अन्य आत्मा भी जिन बनकर ही मोक्ष प्राप्त करते हैं परन्तु उनके प्रेरक अर्हद् देव हैं इसलिए अर्हत् को जिनेश्वर कहते हैं। अतः विशेष अर्हत् 'जिन' के रूप में जब पहिचाने जाते हैं तब उन्हें जिनेश्वर समझ कर; जिससे अन्य जिन लक्ष्य से बाहर न रह जाएँ या इस कोटि में न गिने जाएँ।

तीर्थंकर का अर्थ :

अर्हतों का उद्बोधन तीर्थकर के रूप में भी होता है अतः उसका अर्थ भी जान लेना चाहिए। जो तीर्थ को बनाएँ, तीर्थ की स्थापना करें वे तीर्थंकर कहलाते हैं। तीर्थ शब्द पवित्र स्थान, पवित्र क्षेत्र, अथवा पवित्र भूमि के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जैसे सिद्ध क्षेत्र, सम्मेत शिखर, पावापुरी आदि; परन्तु तीर्थ शब्द का मूल अर्थ नदी का तट अथवा समुद्र में ठहरने का स्थान होता है। इसकी व्युत्पत्ति 'तीर्यतेऽनेनेति तीर्थम्-जिसके द्वारा तैरा जा सके वह 'तीर्थ' इस प्रकार की जाती है। तैरने की क्रिया दो प्रकार से होती है। एक तो

जलाशय मे रहे हुए पानी को तैरने की और दूसरी ससार रूपी सागर को तैरने की। इन दो क्रियाओं मे से प्रथम क्रिया जिस स्थान मे जिससे अथवा जिसके द्वारा होती है उसे लौकिक तीर्थ कहते हैं और द्वितीय क्रिया जिसके आश्रय से, जिससे अथवा जिस साधन द्वारा होती है, उसे लोकोत्तर तीर्थ कहते हैं। यहाँ तीर्थ का सबन्ध ऐसे लोकोत्तर तीर्थ के साथ है। चतुर्विध श्रमणसघ या प्रथम गणधर ऐसे लोकोत्तर तीर्थ है जिसका ज्ञान 'तित्थ पुण चाउवण्णे समणसघे पढमगणहरे वा' इन शास्त्र वचनों से हो सकता है। तात्पर्य यह है कि अर्हत् केवलज्ञान-- केवलदर्शन की प्राप्ति होने के बाद धर्म की परम्परा चलाने के लिये श्रमण प्रधान चतुर्विध सघ अर्थात् साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका का एक धर्मसघ स्थापित करते है अथवा प्रथम गणधर की स्थापना करते है, इसलिए वे तीर्थकर कहलाते हैं।

इस तीर्थकरत्व मे अर्हतो की विशिष्ट महत्ता रही हुई है। इस जगत् मे स्वोपकार करनेवाले तो बहुत मिलेंगे, परन्तु स्वोपकार के साथ परोपकार करने वाले विरले ही है। परोपकारकर्ताओं मे भी अन्न पानादि के दान देनेवाले बहुत होते हैं, परन्तु सम्यग् दर्शन, सम्यग् ज्ञान और सम्यग् चारित्र के दानकर्ता तो विरलातिविरल होते है। अर्हत् तीर्थ स्थापना द्वारा इस विरलातिविरल कार्य का सम्पादन करते हैं और जगत के सभी जीवो पर उपकार की महा वर्षा करते है। जिन शासन मे आज तीर्थकर शब्द बहुत मानाई गिना जाता है उसका एक विशिष्ट कारण यही है। **अर्हत् अर्थात् महामानव**

--पुरुषोत्तम :--

अर्हत् मानव रूप में जन्म तो अवश्य लेते हैं, परन्तु वे सामान्य कोटि के मानव नहीं होते, एक महामानव या असाधारण मानव होते हैं और इसीलिए वे अतुल बल, वीर्य, ऐश्वर्य, सत्त्व तथा पराक्रम के धारक होते हैं [२२] जैन शास्त्र कहते हैं कि जो पुरुष समस्त भूमंडल को जीतकर चक्रवर्ती पद धारण करते हैं उनमें जितना बल, जितना वीर्य, जितना ऐश्वर्य, जितना सत्त्व और जितना पराक्रम होता है उससे अर्हतों का बल-वीर्य-ऐश्वर्य-सत्त्व पराक्रम अनन्तगुना होता है। इसके अतिरिक्त आत्मशुद्धि का अपूर्व उत्साह होने से वे अति कठोर साधना कर सकते हैं, अनेक प्रकार के परिषद् और उपसर्ग समभाव पूर्वक सहन कर सकते हैं तथा कुटिल कर्म-समूह के साथ युद्ध में ज्वलंत विजय प्राप्त करने में शक्तिमान् होते हैं।

जर्मनी के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिंतक प्रो० नित्शे ने तथा भारत के प्रसिद्ध योगाभ्यासी श्री अरविंद घोष ने ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है कि 'इस जगत में असाधारण कार्य करने के लिए आत्मबल के साथ शरीर भी असाधारण कोटि का होना चाहिए'। नित्शे ने ऐसे पुरुष को 'सुपरमेन' (Superman) का नाम दिया है, जो अर्हतों के लिये प्रयुक्त पुरुषोत्तम पद के भावों के एक अंश का बोधक कहा जा सकता है।

अर्हतों के शरीर की आकृति समानुपाती और अति सुन्दर (समचतुरस्र संस्थानवाली) होती है और शरीर का गठन उत्तम कोटि का (वज्रऋषभनाराच संघयण) होता है। [२३] इसके साथ ही वे अनादिकाल से परोपकार करने के व्यसन-वाले स्वार्थ को गौण करने वाले, सर्वत्र उचित क्रिया का

आचरण करनेवाले दीनताविहीन, सफल कर्म का ही आरम्भ करने वाले, अपकारी जन पर भी इखनेवाला क्रोध न करने वाले, कृतज्ञता गुण के स्वामी, दुष्ट वृत्तियो से अनाहत चित्तवाले, देव-गुरु का बहुमान करने वाले और गभीर आशय को चित्त मे धारण करने वाले होते हैं।[२४] ये गुण उत्तरोत्तर विकसित होते जाते हैं, अत अर्हत् रूप के चरम भव मे वे पराकाष्ठा पर पहुँच जाते हैं और इसी से वे इस विश्व के सर्वश्रेष्ठ पुरुषो की कोटि मे विराजते हैं।

अर्हतों की कुछ विशेषताएँ:

देव अथवा नरक का आयुष्य पूर्ण करके अर्हत् का आत्मा माता के गर्भ मे आता है तब माता को चौदह सुन्दर स्वप्न आते हैं। गर्भावस्था मे अर्हत् मति और श्रुतज्ञान के अतिरिक्त तीसरे अवधिज्ञान से भी युक्त होते हैं और इसमे प्रसग आने पर इस ज्ञान का उपयोग करके वस्तु स्थिति का निरीक्षण कर सकते है।

अर्हत् कर्मभूमि मे, उच्च क्षत्रिय कुल मे, पुरुष रूप मे पैदा होते है। इस विश्व मे मानव निवासवाली भूमि दो प्रकार की है एक सास्कृतिक जीवनवाली और दूसरी सहज जीवनवाली। इनमे सास्कृतिक जीवनवाली भूमि को कर्मभूमि कहते हैं, क्योकि उसमे कृषि, व्यापार, वाणिज्य, हुन्नर, उद्योग तथा तप, सयम आदि कर्मों की प्रधानता होती है। सहज जीवनवाली भूमि मे कृषि आदि उपरोक्त कर्म नही होते। वहाँ तो स्वाभाविक रूप से दस प्रकार के कल्प वृक्षो द्वारा प्राप्त होनेवाले भोगोपभोग के साधनो आदि पर जीना होता है इसलिए इस भूमि को भोगभूमि या अकर्मभूमि कहते हैं।

इन दो प्रकार की भूमियों में से अर्हत् का जन्म कर्मभूमि में होता है, क्योंकि तप, संयम, साधुता आदि वहीं होते हैं।

अर्हंतों को अपने जीवन में जो महान् कार्य करने होते हैं, उनमें असाधारण शूरवीरता और पराक्रम की आवश्यकता तो होती ही है, परन्तु साथ ही उच्च कुल का यश हो तो जनता को विशेष आकर्षण होता है। इसलिए इनका पुण्यबल इन्हें क्षत्रिय कुल में जन्म देता है।

अर्हत् पुरुष रूप में जन्म लेते हैं, फिर भी अनन्त काल में क्वचित् आश्चर्य स्वरूप वे स्त्री स्वरूप में भी जन्म लेते है। इसमें मुख्य कारण तदनुकूल पूर्वबद्ध कर्म है। वर्तमान चौबीसी के उन्नीसवें तीर्थंकर श्री मल्लिनाथ स्त्री रूप में पैदा हुए थे।

अर्हत् के जन्म के समय प्रकाश की रेखा समस्त विश्व में व्याप्त हो जाती है और प्रकृति की प्रसन्नता बढ़ती है। जहाँ सतत दुःख का अनुभव हो रहा है, ऐसे नरकस्थानों में भी उस समय क्षणभर सुख का अनुभव होता है।

अर्हंतों के चार विशेषताएं जन्म से ही होती हैं। उनमें से प्रथम विशेषता यह है कि उनकी देह लोकोत्तर अद्भुत स्वरूप वाली होती है और उसमें प्रस्वेद, मैल या रोग नहीं होता है। दूसरी विशेषता यह है कि उनका श्वासोच्छ्वास सुगंधमय होता है। तीसरी विशेषता यह है कि उनके रुधिर और मांस का रंग दूध जैसा श्वेत होता है, और चौथी विशेषता यह है कि उनका आहार तथा निहार (मलविर्सजन की क्रिया) चर्मचक्षुओं द्वारा देखा नहीं जा सकता, अर्थात् वह सामान्य मानव की दृष्टि में नहीं आ पाता।[२५]

अर्हत् मनुष्य के पाँचों ही इन्द्रियजन्य पाँच प्रकार के

भोग उदयमान भाव में भोगते हैं अर्थात् उनमें उन्हें मूर्छा नहीं होती।[२६]

अर्हत् स्वयं सम्बुद्ध होते हैं[२७] अर्थात् स्वयं बोध पाकर संसार का त्याग करने वाले होते हैं। उनके कोई गुरु नहीं होता।[२८] संसार त्याग के कुछ काल पूर्व लोकान्तिक देव सदैव नित्य पवसह—हे भगवन्! तीर्थप्रवर्तन कीजिए ऐसे शब्द बोलते हैं, सो उनका कथन होने से उपचार वचन रूप होते हैं परन्तु उपदेश रूप नहीं होते। अर्हत पूर्व जन्म की योग साधना प्राप्ति कारणों से वर्तमान भव में अन्य के उपदेश बिना जीवादि रूप तत्त्व को अविपरीत यथार्थ रूप में जानते हैं।

अर्हत् एक वर्ष तक प्रभूत दान देने के पश्चात् संसार का त्याग करते हैं[२] और महान् योग साधना का आरम्भ करते हैं। इसी समय उन्हें चतुर्थ मनःपर्यव (मन के स्थूल तथा सूक्ष्म भाव प्रत्यक्ष जान जा सके ऐसा) ज्ञान प्राप्त होता है।

अर्हत योगसाधना की सफलता के लिए अन्य किसी पर नहीं परन्तु मात्र अपने पुरुषार्थ पर ही आधार रखते हैं।[३०]

अर्हत योगसाधना के समय एकाकी रूप से निःसंग भाव से वायु की भाँति अप्रतिबद्धता पूर्वक विचरण करते रहते हैं। इस समय वे किसी को धर्म का उपदेश नहीं देते और न शिष्य ही बनाते हैं। जब उन्हें अहिंसा संयम-तप और ध्यान की योग साधना के प्रभाव से केवल ज्ञान केवल दर्शन प्राप्त होते हैं उसके बाद ही वे धर्मोपदेश देते हैं और त्यागी तथा गृहस्थ शिष्य बनाते हैं।[३१]

पंच कल्याणक

तीर्थंकरों के जीवन में पाँच प्रसंग अति महत्त्व के अर्थात्

कल्याणकारी गिने जाते हैं, अतः वे पंच कल्याणक के नाम से प्रसिद्ध हैं। देवलोक या नरक में से च्यवन कर माता के गर्भ में आना प्रथम च्यवन कल्याणक, जन्म होना-द्वितीय जन्म कल्याणक, संसार का त्याग करके संयमी जीवन की दीक्षा लेना-तृतीय दीक्षा कल्याणक, संयम-तप-ध्यान के योग से केवल ज्ञान की प्राप्ति करना चतुर्थ केवलज्ञान कल्याणक और शरीर का त्याग करके निर्वाण की प्राप्ति करना पंचम निर्वाण कल्याणक। इन पाँच कल्याणकों को पर्व मानकर जैन उन दिन अर्हत् की विशेष भक्ति करते हैं तथा तप-संयमादि गुणों की वृद्धि करके आत्मकल्याण में प्रगति साधते हैं।

कौनसा आत्मा अर्हत् बन सकता है ?

कौनसा आत्मा अर्हत् बन सकता है ? इसका उत्तर यह है कि जो भी भव्य आत्मा विश्व को तारने की महा करुणा भावना वाला बने[31] तथा निम्नलिखित बीस स्थानकों में से किसी भी एक-दो, या अधिक यावत् बीस स्थानकों की अपूर्व आराधना करके तीर्थंकर नाम कर्म निकाचित करे, वह आत्मा उस भव की अपेक्षा से आगामी तृतीय भव में तीर्थंकर-अर्हत् हो सकता है:-

बीस स्थानकों के नाम इस प्रकार हैं:-

१	अरिहंत भक्ति	६	उपाध्याय भक्ति
२	सिद्ध ,,	७	साधु ,,
३	प्रवचन (संघ वात्सल्य)	८	ज्ञान
४	आचार्य ,,	९	दर्शन
५	स्थविर ,,	१०	विनय

भोग उदासीन भाव से भोगते हैं, अर्थात् उसमें उन्हें मूर्छा नहीं होती।[२६]

अर्हत् स्वयं संबुद्ध होते है[२७] अर्थात् स्वयं बोध पाकर संसार का त्याग करने वाले होते हैं। उनके कोई गुरु नहीं होता।[२८] संसारत्याग के कुछ काल पूर्व लोकान्तिक देव 'भयवं तित्थ पवत्तह–हे भगवन्! तीर्थप्रवर्तन कीजिए' ऐसे शब्द बोलते है सो उनका कल्प होने से उपचार वचन रूप होते हैं, परन्तु उपदेश रूप नहीं होते। अर्हन् पूर्व जन्म की योग साधना आदि कारणो से वर्तमान भव मे अन्य के उपदेश बिना जीवादि रूप तत्त्व को अविपरीत यथार्थ रूप मे जानते हैं।

अर्हन् एक वर्ष तक प्रभूत दान देने के पश्चात् संसार का त्याग करते हैं[२९] और महान् योग साधना का आरंभ करते है। इसी समय उन्हें चतुर्थ मनःपर्यव (मन के स्थूल तथा सूक्ष्म भाव प्रत्यक्ष जान जा सके ऐसा) ज्ञान प्राप्त होता है।

अर्हन् योगसाधना की सफलता के लिये अन्य किसी पर नहीं, परन्तु मात्र अपने पुरुषार्थ पर ही आधार रखते हैं।[३०]

अर्हत् योगसाधना के समय एकाकी रूप से निःसंग भाव से वायु की भाँति अप्रतिबद्धता पूर्वक विचरण करते रहते है। इस समय वे किसी को धर्म का उपदेश नहीं देते और न शिष्य ही बनाते हैं। जब उन्हें अहिंसा संयम-तप और ध्यान की योग साधना के प्रभाव से केवल ज्ञान-केवल दर्शन प्राप्त होते हैं, उसके बाद ही वे धर्मोपदेश देते है और त्यागी तथा गृहस्थ शिष्य बनाते हैं।[३१]

पंच कल्याणक :

तीर्थंकरो के जीवन मे पाँच प्रसंग अति महत्त्व के अर्थात्

प्रकार से चौवीस अर्हत् जिन-तीर्थंकर हो चुके हैं, जिसे वर्तमान चौवोसी कहते हैं।

१ श्री ऋषभदेव	१३ श्री विमलनाथ
२ ,, अजितनाथ	१४ ,, अनन्तनाथ
३ ,, सभवनाथ	१५ ,, धर्मनाथ
४ ,, अभिनन्दन स्वामी	१६ ,, शांतिनाथ
५ ,, सुमतिनाथ	१७ ,, कुंथुनाथ
६ ,, पद्मप्रभ स्वामी	१८ ,, अरनाथ
७ ,, सुपार्श्वनाथ	१९ ,, मल्लिनाथ
८ ,, चन्द्रप्रभ स्वामी	२० ,, मुनिसुव्रत स्वामी
९ ,, सुविधिनाथ	२१ ,, नमिनाथ
१० ,, शीतलनाथ	२२ ,, नेमिनाथ स्वामी (अरिष्टनेमि)
११ ,, श्रेयांसनाथ	२३ ,, पार्श्वनाथ
१२ ,, वासुपूज्य	२४ ,, महावीर स्वामी

अर्हद् देव के अनेक विशेषण :

शक्रस्तव के नाम से प्रसिद्ध नमोत्थुणं सूत्र में अर्हत् को नीचे दिये गए विशेषणों से संबोधन किया गया है :

आदिकर—अपने अपने शासन की अपेक्षा से धर्म की आदि करने वाले।

तीर्थंकर—धर्म तीर्थ और चतुर्विध श्रमणसंघ की स्थापना करने वाले।

स्वयंसंबुद्ध—स्वयं बोध पाने वाले

पुरुषोत्तम—सर्व पुरुषों में उत्तम

पुरुषसिंह—पुरुषों में सिंह सदृश

११ चारित्र	१६ वैयावृत्य
१२ ब्रह्मचर्य	१७ समाधि
१३ शुभ ध्यान	१८ अभिनव ज्ञान ग्रहण
१४ तप	१९ श्रुत
१५ दान	२० तीर्थ

बौद्ध ग्रन्थों में ऐसा बताया है कि जो बोधिसत्व (भविष्य में बुद्ध होने वाले) दान, शील, नैष्कर्म्य (वैराग्य), प्रज्ञा, वीर्य क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान (अडिगता), मैत्री और उपेक्षा इन दस पारमिताओं का आराधन करते हैं वे ही आगामी काल में बुद्ध होते हैं।

इसका अर्थ यह समझना कि जिन्होंने अनेक जन्मों में सद्गुणों की आराधना करके शुभ संस्कारों का संचय किया हो तथा समस्त जीवों को मोक्ष मार्ग के यात्री बनाऊँ ऐसी भावना द्वारा प्राणि मात्र का कल्याण करने की अति उच्च भावना प्रकट की हो, वे ही आत्मा भविष्य में समस्त गुणों के भंडार सदृश अर्हत् पद को प्राप्त कर सकते हैं।

जिसमें आप और हम रहते हैं, वह भरत क्षेत्र कहलाता है। यह जंबू द्वीप के दक्षिण भाग में है, और उत्तर भाग में ऐरवत क्षेत्र है तथा मध्य भाग में महाविदेह क्षेत्र है। महाविदेह क्षेत्र में तीर्थंकर लगातार प्रकट होते रहते हैं, जबकि भरत एरवत में प्रत्येक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल में चौबीस-चौबीस तीर्थंकर होते हैं।

वर्तमान चौबीसी

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे आरे के अंत भाग से लगाकर चौथे आरे के अन्तिम भाग तक भरत क्षेत्र में निम्न

तीर्ण–जो संसार समुद्र को पार कर चुके हैं।
तारक–अन्यजनों को संसार समुद्र में से तारने वाले।
बुद्ध–तत्त्व के ज्ञाता।
बोधक–दूसरों को तत्त्व का ज्ञान देने वाले।
मुक्त–कर्म जंजाल से मुक्त।
मोचक–कर्म जंजाल में से मुक्त करवाने वाले।
सर्वज्ञ–सर्व वस्तुओं के, सर्व भावों को जाननेवाले।
सर्वदर्शी–सर्व वस्तुओं को देखने में समर्थ।
सिद्धिगतिसंप्राप्त–सिद्धि गति को प्राप्त किये हुए।
जितभय–सर्व भयों को जीतने वाले।

श्री हेमचन्द्राचार्य ने अभिधान चिंतामणि-देवाधिदेव कांड में अर्हत् के निम्नलिखित अतिरिक्त नाम दिये हैं:–

पारगत–संसार का पार प्राप्त किए हुए।
त्रिकालवित्–तीनों कालों के ज्ञाता।
क्षीणाष्टकर्म–जिनके आठों कर्म क्षीण हो चुके हैं ऐसे।
परमेष्ठी–जो परम स्थान में स्थित हैं।
अधीश्वर–महान् ईश्वर।
शंभु–सुखदायक।
स्वयंभू– अपने आप होने वाले।
जगत् प्रभु–जगत् के स्वामी।
तीर्थंकर–तीर्थ के बनानेवाले।
जिनेश्वर–जिन समूह में श्रेष्ठ।
स्याद्वादी–स्याद्वाद के उपदेशक।
सार्व–सर्व प्राणियों के हितकर्ता।
केवली–केवल ज्ञान को धारण करने वाले

पुरुषवरपुण्डरीक–पुरुषों में उत्तम कमल तुल्य
पुरुषवरगन्धहस्ति–पुरुषों में उत्तम गन्धहस्ती के समान
लोकोत्तम–लोक में उत्तम
लोकनाथ–लोक के नाथ (कल्याण का योग क्षेम करते हुए होने से)
लोकहित–लोक के हितकर्ता
लोकप्रदीप–लोक में दीपक समान
लोकप्रद्योतकर लोक में ज्ञान का प्रकाश करने वाले।
अभयदाता–सब जीवों को अभयदान देने वाले।
चक्षुदाता जीवों को धर्मरुचि रूपी नेत्र का दान देने वाले।
मार्गदाता–लोगों को सन्मार्ग दिखाने वाले।
शरणदाता लोगों को शरण देने वाले।
बोधिदाता लोगों को बोधिबीज देने वाले।
धर्मदाता–श्रुत धर्म के देने वाले।
धर्मदेशक–चारित्र धर्म का उपदेश देने वाले।
धर्मनायक–धर्म के विषय में अगुआ।
धर्मसारथि–धर्म रूपी रथ को चलाने वाले।
धर्मवरचातुरन्तचक्रवर्ती–धर्म द्वारा चार गतियों का नाश करने वाले उत्तम चक्रवर्ती।
अप्रतिहतवरज्ञान दर्शनधर न हरण हो सके ऐसे श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले।
व्यावृत्तछद्म जिनका छद्मस्थपना व्यावृत्त हुआ है चला गया है–ऐसे।
जिन–अंतरंग शत्रुओं को जीतने वाले।
जापक–अन्यजनों को जिताने वाले।

दक्षिणत्व–सरसता, उपनीतरागता–मालकोशादि रागों की युक्तता (ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से समझें। शेप अतिशय अर्थ की अपेक्षा से कहे गए हैं) महार्थता–बड़े अर्थ वाली, अव्याहत–पूर्वापर वाक्य के विरोध से रहित, वक्ता की शिष्टता सूचक, अभिमत सिद्धान्त को कहने वाली, असंदिग्ध–जिसमें संदेह उत्पन्न न हो ऐसी।

निराकृतान्योत्तरत्वं, हृदयङ्गमतापि च।
मिथ: साकांक्षता प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥३॥

निराकृतान्योत्तरत्वं–पर के दूपणों से रहित, हृदयग्राही, परस्पर पद और वाक्य को सापेक्षतावाली, प्रसंगोचित, देश काल का उल्लघन न करने वाली, तत्त्वनिष्ठ–विवक्षित वस्तु-स्वरूप का अनुसरण करने वाली।

अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशस्यता ॥४॥

अप्रकीर्णप्रसृतत्व–असंवद्ध अधिकार और अतिविस्तार से विहीन अर्थात् सुसंवद्ध, आत्मश्लाघा और परनिन्दा से रहित आभिजात्य–वक्ता अथवा प्रतिपाद्य विपय की भूमिका का अनुसरण करने वाली, अति स्निग्ध–मधुर घी और गुड़ आदि की तरह वहुत सुखकारी, प्रशस्य–प्रशंसा के योग्य।

अमर्मवेधितौदार्य-धर्मार्थप्रतिवद्धता।
कारकाद्यविपर्यासो, विभ्रमादिवियुक्तता ॥५॥

अमर्मवेधिता–दूसरे के मर्म का उद्घाटन नहीं करनेवाली, उदार–महान् विपय को कहने वाली, धर्म और अर्थ से प्रतिवद्ध–युक्त, कारकादि दोपों से रहित, कारक, काल, वचन लिंगादि के विपर्यास से रहित, विभ्रमादि रहित–विभ्रम,

४ सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वरः ॥
योगशास्त्र, प्र २, श्लोक ४

५ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा ।
आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ९२२.

६ सनरामरासुरस्स ण सव्वसेव जगस्स अट्ठमहा पाडिहेराइ दुआइस ओवलक्खिअ अणण्णसरिसमचिंनमाहप्प केवलाहिट्ठिय पवरत्ताम अरहति त्ति अरहता ।

महा निशीथ सूत्र

७ अष्ट महाप्रातिहार्य का वर्णन समवायाग सूत्र तथा श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित वीतरागमहादेवस्तोत्र मे प्राप्त होता है।

८ अमरवरनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपा पूजा महेन्तीत्यर्हन्त ।

भगवती सूत्र—श्री अभयदेव सूरि विरचिता वृत्ति का मगलाचरण विभाग ।

९ श्री हेमचन्द्राचार्य कृत अभिधानचिन्तामणि के देवाधिदेव काड मे अर्हत् की वाणी के पैंतीस अतिशय निम्न प्रकार से वर्णित है

सस्कारवत्त्वमौदात्यमुपचारपरीतता ।
मेघगम्भीरघोषत्व प्रतिनादविधायिता ॥१॥

सस्कारवत्व—व्याकरणशास्त्र के नियमो से युक्त, [illegible] से उच्चरित, उपचारपरीतता-अग्राम्य, घोषवाली, प्रतिध्वनित होनेवाली ।

॥।

सुभव ॥२॥

टिप्पणियाँ

१ 'सा य परमथुई केसिं कायव्वा ?'

'सव्वजगुत्तमाणं, सव्वजगुत्तमुत्तमे य जे केइ भूए जे केइ भविस्संति ते सव्वे चेव अरहंतादओ चेव, णो णमन्नेति ।

'यह परम स्तुति किसकी करनी चाहिए ?'

'सर्व जगत् में जो उत्तम हों उनकी परमस्तुति करनी चाहिए। सर्व जगत् में जो कोई उत्तमोत्तम हो गए और जो कोई होंगे वे सब अरिहंतादि ही हैं। उनके सिवाय अन्य नहीं हो हैं। श्री महानिशीथसूत्र

यहाँ श्री हरिभद्रसूरि के 'लोकतत्त्वनिर्णय' में कहे हुए निम्नलिखित श्लोक पर भी विचार करें:–

यस्य निखिलाश्च दोषा न सन्ति सर्वे गुणाश्च विद्यन्ते ।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥

२ अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो ।
जिण-पन्नत्तं तत्तं, इअ सम्मत्तं मएगहिअं ॥

सम्यक्त्व की धारणा के प्रसंग में यह श्लोक बोला जाता है।

संस्तारक पौरुषी (संथारा पोरिसी) सूत्र में उसे देख सकते हैं।

३ नामाऽऽकृतिद्रव्यभावैः, पुनतस्त्रिजगज्जनम् ।
क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्नर्हतः समुपास्महे ॥

श्री हेमचन्द्राचार्यकृत चतुर्विंशतिजिननमस्कार अपर नाम सकलार्हत्स्तोत्र, श्लोक, २।

देवाधिदेव–देवों के भी देव ।
आप्त–हितोपदेश देने वाले (विश्वसनीय पुरुष) ।

श्रीमानतुंगसूरिजी ने भक्तामर स्तोत्र में उन को नीचे दिये नव नामों द्वारा स्तुति की है –

अव्यय–चयापचय को नहीं प्राप्त होनेवाले और सर्वकाल में स्थिर रहनेवाले ।
विभु–परमैश्वर्यशोभित, अथवा इन्द्रों के स्वामी ।
अचिन्त्य–अति अद्भुत गुणयुक्त । आध्यात्मिक पुरुषों द्वारा भी जिनका चिन्तवन न हो सके ।
आद्य–पंच परमेष्ठी में प्रथम अथवा सामान्य केवली वर्गों में मुख्य ।
ब्रह्म–ब्रह्म-केवलज्ञान अथवा निर्वाण को पाने वाले ।
ईश्वर–सकल सुरासुरनरनायक का शासन करने में समर्थ, कृतार्थ ।
अनन्त–मृत्यु का क्षय करनेवाले अथवा अनंत चतुष्टय को धारण करने वाले ।
अनंगकेतु–कामदेव के लिए धूम्रकेतु समान
योगीश्वर–योगियों के नायक ।
विदितयोग–योग को अनेक प्रकार जानने वाले ।
अनेक–गुण पर्याय की अपेक्षा से अनेक ।
एक–अद्वितीय, आत्मद्रव्य की अपेक्षा से एक ।
ज्ञानस्वरूप–साक्षात् ज्ञान हो ऐसे अर्थात् संपूर्ण ज्ञान से पूर्ण
अमल–मल से रहित, दूषणों से रहित ।

इनके अतिरिक्त अन्य भी अनेक नामों से उनकी स्तुति स्मरणा की जाती है और विष्णु, शिव गणपति तथा सूर्य की भांति ही विशिष्ट १००८ नामों से उनका सम्बोधन किया जाता है । [३२]

दक्षिणत्व–सरसता, उपनीतरागता–मालकोशादि रागों की युक्तता (ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से समझें। शेष अतिशय अर्थ की अपेक्षा से कहे गए हैं) महार्थता–बड़े अर्थ वाली, अव्याहत–पूर्वापर वाक्य के विरोध से रहित, वक्ता की शिष्टता सूचक, अभिमत सिद्धान्त को कहने वाली, असंदिग्ध–जिसमें संदेह उत्पन्न न हो ऐसी।

निराकृतान्योत्तरत्वं, हृदयङ्गमतापि च।
मिथः साकांक्षता प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥३॥

निराकृतान्योत्तरत्वं–पर के दूषणों से रहित, हृदयग्राही, परस्पर पद और वाक्य का सापेक्षतावाली, प्रसंगोचित, देश काल का उल्लंघन न करने वाली, तत्त्वनिष्ठ–विवक्षित वस्तु-स्वरूप का अनुसरण करने वाली।

अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशस्यता ॥४॥

अप्रकीर्णप्रसृतत्व–असंबद्ध अधिकार और अतिविस्तार से विहीन अर्थात् सुसंबद्ध, आत्मश्लाघा और परनिन्दा से रहित आभिजात्य–वक्ता अथवा प्रतिपाद्य विषय की भूमिका का अनुसरण करने वाली, अति स्निग्ध–मधुर घी और गुड़ आदि की तरह बहुत सुखकारी, प्रशस्य–प्रशंसा के योग्य।

अमर्मवेधितौदार्यं-धर्मार्थप्रतिबद्धता।
कारकाद्यविपर्यासो, विभ्रमादिवियुक्तता ॥५॥

अमर्मवेधिता–दूसरे के मर्म का उद्घाटन नहीं करनेवाली, उदार–महान् विषय को कहने वाली, धर्म और अर्थ से प्रतिबद्ध–युक्त, कारकादि दोषों से रहित, कारक, काल, वचन लिंगादि के विपर्यास से रहित, विभ्रमादि रहित–विभ्रम,

४ सर्वज्ञो जिनरागादिदोपस्त्रैलोक्यपूजित. ।
यथास्थितार्थवादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥
योगशास्त्र, प्र २, श्लोक ४.

५ देवासुरमणुएसु अरिहा पूजा सुरुत्तमा जम्हा ।
आवश्यकनियुक्ति, गाथा ९२२.

६ सनरामरासुरस्स ण सव्वसेव जगस्स अट्ठमहा पाडिहेराइ दुआइस ओवलक्खिय अणण्णसरिसमचिनमाहप्प केवलाहिट्ठिय पवरत्तम अरहति त्ति अरहता ।
महा निशीथ सूत्र

७ अष्ट महाप्रातिहार्य का वर्णन समवायाग सूत्र तथा श्री हेमचन्द्राचार्यविरचित वीतरागमहादेवस्तोत्र मे प्राप्त होता है।

८ 'अमरवरनिर्मिताशोकादिमहाप्रातिहार्यरूपा पूजा मर्हन्तीत्यर्हन्त ।

भगवती सूत्र—श्री अभयदेव सूरि विरचिता वृत्ति का मगलाचरण विभाग ।

९ 'श्री हेमचन्द्राचार्य कृत अभिधानचिन्तामणि के देवाधिदेव काड मे अर्हत् की वाणी के पैंतीस अतिशय निम्न प्रकार से वर्णित है

मस्कारवत्वमौदात्यमुपचारपरीतता ।
मेघगम्भीरघोषत्व प्रतिनादविधायिता ॥१॥

सस्कारवत्व—व्याकरणशास्त्र के नियमो से युक्त, औदात्य-उच्च स्वर से उच्चरित, उपचारपरीतता-अग्राम्य, मेघ के समान गम्भीर घोषवाली, प्रतिध्वनित होनेवाली ।

दक्षिणत्वमुपनीतरागत्व च महार्थता ।
अव्याहतत्व शिष्टत्व सशयानामसंभव. ॥२॥

दक्षिणत्व–सरसता, उपनीतरागता–मालकोशादि रागों की युक्तता (ये सात अतिशय शब्द की अपेक्षा से समझें। शेष अतिशय अर्थ की अपेक्षा से कहे गए हैं) महार्थता–बड़े अर्थ वाली, अव्याहत–पूर्वापर वाक्य के विरोध से रहित, वक्ता की शिष्टता सूचक, अभिमत सिद्धान्त को कहने वाली, असंदिग्ध–जिसमें संदेह उत्पन्न न हो ऐसी।

निराकृतान्योत्तरत्वं, हृदयङ्गमतापि च।
मिथः साकांक्षता प्रस्तावौचित्यं तत्त्वनिष्ठता ॥३॥

निराकृतान्योत्तरत्वं–पर के दूषणों से रहित, हृदयग्राही, परस्पर पद और वाक्य का सापेक्षतावाली, प्रसंगोचित, देश काल का उल्लंघन न करने वाली, तत्त्वनिष्ठ–विवक्षित वस्तु-स्वरूप का अनुसरण करने वाली।

अप्रकीर्णप्रसृतत्वमस्वश्लाघान्यनिन्दिता।
आभिजात्यमतिस्निग्धमधुरत्वं प्रशस्यता ॥४॥

अप्रकीर्णप्रसृतत्व–असंबद्ध अधिकार और अतिविस्तार से विहीन अर्थात् सुसंबद्ध, आत्मश्लाघा और परनिन्दा से रहित आभिजात्य–वक्ता अथवा प्रतिपाद्य विषय की भूमिका का अनुसरण करने वाली, अति स्निग्ध–मधुर घी और गुड़ आदि की तरह बहुत सुखकारी, प्रशस्य–प्रशंसा के योग्य।

अमर्मवेधितौदार्य-धर्मार्थप्रतिबद्धता।
कारकाद्यविपर्यासो, विभ्रमादिवियुक्तता ॥५॥

अमर्मवेधिता–दूसरे के मर्म का उद्‌घाटन नहीं करनेवाली, उदार–महान् विषय को कहने वाली, धर्म और अर्थ से प्रतिबद्ध–युक्त, कारकादि दोषों से रहित, कारक, काल, वचन लिंगादि के विपर्यास से रहित, विभ्रमादि रहित–विभ्रम,

विक्षेप आदि वक्ता के दोषों से रहित।

चित्रकृत्त्वमद्भुतत्वं तथानतिविलम्बिता।
अनेक जातिवैचित्र्यमारोपितविशेषता ॥६॥

चित्रकृत्—श्रोताओं के चित्त में अविच्छिन्न रूप से आश्चर्य उत्पन्न करने वाली, अद्भुत, अत्यन्त विलम्ब रहित, अनेक वस्तुओं का विविध रीति से वर्णन करने वाली, अन्य मनुष्यों के वचनों की अपेक्षा से विशेषता युक्त।

सत्त्वप्रधानता वर्णपदवाक्यविविक्तता।
अव्युच्छित्तिरखेदित्वं, पञ्चत्रिंशच्च वाग्गुणा ॥७॥

सत्त्वप्रधानता—साहसपूर्ण, वर्ण, पद और वाक्य की पृथक्ता वाली, विवक्षित अर्थ की सम्यक् सिद्धि न हो वहाँ तक अविच्छिन्न धारा युक्त, अखेदित्व युक्त—बिना परिश्रम के बोली जाने वाली, इस प्रकार श्री जिनेश्वर देव की वाणी में पैंतीस गुण होते हैं।

१० सुधा-सोदर वाग् ज्योत्स्ना-निर्मलीकृतदिङ्मुख।
मृगलक्ष्मा तमः शान्त्यै शान्तिनाथजिनोऽस्तु वः ॥
सकलार्हत्स्तोत्र—श्लोक १८

११ जगन्महामोह निद्रा-प्रत्यूष-समयोपमम्।
मुनिसुव्रतनाथस्य देशनावचनं स्तुमः ॥
वही—श्लोक २२

१२ विमलस्वामिनो वाचः कतकक्षोद-सोदरा।
जयन्ति त्रिजगच्चेतो-जलनैर्मल्यहेतवः ॥
वही, श्लोक १५

१३ अर्हन्तमजितं विश्वकमलाकर-भास्करम् ॥
वही श्लोक ४

१४ विश्वभव्यजनाराम-कुल्या-तुल्या जयन्ति ताः ।
देशना-समये वाचः, श्री संभवजगत्पतेः ॥
वही, श्लोक ५

१५ अनेकान्तमताम्भोधिसमुल्लासनचन्द्रमाः ।
दद्यादमन्दमानन्दं भगवानभिनन्दनः ॥
वही, श्लोक ६

१६ साग्रे च गव्यूतिशतद्वये रुजा,
वैरेतयो मार्यतिवृष्ट्यवृष्टयः ।
दुर्भिक्षमन्यस्वचक्रतो भयं,
स्यान्नैत एकादश कर्मघातजाः ॥

अभिधानचिन्तामणि, देवाधिदेव कांड

(१)समवसरण को रचना, (२) अर्थगम्भीर वाणी, (३) भाषा की सर्वदेशीयता तथा (४) सवा सौ योजन में से ज्वरादि रोगों का नाश, (५) परस्पर के वैर की शान्ति, (६) कृषि-विनाशकारी ईतियों का अभाव, (७) महामारी आदि उपद्रवों का बन्द होना, (८) अतिवृष्टि का अभाव, (९) अनावृष्टि का अभाव, (१०) स्वचक्र भय और (११) परचक्र भय का अभाव, ये ग्यारह अतिशय घाती कर्म का नाश होनेके बाद उत्पन्न होते हैं ।

१७ ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, रूपस्य यशसः श्रियः ।
धर्म्मस्याथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥
ललितविस्तरा चैत्यवन्दन वृत्ति-भगवंताणं पद पर का विवेचन

१८ अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा दन्तो सुही होई, अस्सिं लोए परत्थ य ॥

अ. १ गा. १५
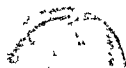
१९ जो सहस्स सहस्साण, संगामे दुज्जए जए ।
एग जिणेज्ज अप्पाण, एस से परमो जओ ॥
अप्पाणमेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण वज्झओ ।
अप्पाणमेव अप्पाण, जइत्ता सुहमेहए ॥
अ ९ गा ३४-३५

२० उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित ।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥
जितात्मन प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित ।
शीतोष्णसुखदु खेषु तथा मानापमानयो ॥७॥

२१ श्रीमहावीरकथा पृ. ३८०

२२ अणगजम्मतरसचिढत्तगुरुयपुन्न पब्भाराइसयबलेण ।
सम्मज्जिया उलबलवीरिएसरियसत्तपरक्कमाहिट्ठियतणू ।
श्री महानिशीथसूत्र नमस्कार स्वाध्याय
प्रा दि. पृ ४५

२३ अमेसकसिणपावकम्ममलकलकविप्पमुक्कसमचउरस
पवरपढमवज्जरिसह नारायसघयणाहिट्ठिय परमपवित्तुत्तम
मुत्तिधरो श्री महानिशीथ सूत्र
नमस्कार स्वाध्याय, प्रा० दि० पृ० ४९

२४ आकालमेते परार्थव्यसनिन उपसर्जनीकृतस्वार्था,
उचितक्रियावन्त, अदीनभावा, सफलारम्भिण,
अदृढानुशया, कृतज्ञतापतय, अनुपहतचित्ता, देवगुरु-
बहुमानिन तथा गम्भीराशया इति ।'
ललितविस्तरा चैत्यवन्दन वृत्ति पुरिसुत्तमाण पद पर
विवेचन

२५ यह वर्णन समवायांग सूत्र में आता है।

२६ नमो पंचविहेसु माणुसभोगेसु अमुच्छिआणं अरिहंताणं

मनुष्य के पाँच प्रकार के भोगों में मूर्च्छा न पाने वाले अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो।

अर्हन्नमस्कारावलिका, सूत्र ३२

२७ नमो–सयंसंवुद्धाण।–शक्रस्तव।

२८ यद्यपि भवान्तरेषु तथाविधगुरुसन्निधानायत्तबुद्धास्तेऽभूवन तथापि तीर्थंकरजन्मनि परोपदेशनिरपेक्षा एव बुद्धाः

यद्यपि पूर्वभव की अपेक्षा से गुरु आदि का संयोग उन्हें भी निमित्तभूत होता है, परन्तु तीर्थंकर के भव में उन्हें अन्य के उपदेश की आवश्यकता नहीं होती।'

योगशास्त्र स्वोपज्ञवृत्ति, पृ० ३१८

२९ नमो वरवरिआघोसपुव्वं संवच्छरिअदाणदायगाणं अरिहंताणं। वरवटिका अर्थात् इच्छित वस्तु का दान लेने के लिए की जाने वाली घोषणा, उस घोपणापूर्वक सांवत्सरिक अर्थात् वार्षिक दान देते हुए अरिहंत भगवंतों को नमस्कार हो।

अर्हन्नमस्कारावलिका, सूत्र ३७

३० श्री महावीरचरित्र में संसार त्याग के पश्चात् इन्द्र ने प्रभु की सहायता करने की इच्छा प्रकट की और प्रभु ने उसका जिन शब्दों में स्पष्टीकरण किया वह इस सम्बन्ध में प्रमाण स्वरूप है। अर्हन्नमस्कारावली में भी दीक्षा के प्रसंग के वाद आते 'नमो आयासु व्व निरासयगुणसंसोहिआणं अरिहंताणं—आकाश की भांति निरालंवनता गुण से शोभायमान अरिहंतों को नमस्कार हो।' ये शब्द भी इस

परिस्थिति को स्पष्ट करते हैं।

३१ इस विषय म तीर्थंकरो के चरित्र प्रमाण रूप हैं।

-१ (अ) देखो हारिभद्रीय 'योगबिन्दु'।

३२ देखो मुनि कल्याणविजय गणि शिष्य मुनिदेवगणि विरचित अर्हन्नामसहस्र समुच्चय।

जिनरत्न कोप-पृ १६

श्री सिद्धसेन दिवाकर, श्री जिनसेन, श्री कल्याणविजय शिष्य देवविजयगणि उपाध्याय विनयविजयजी आदि ने जिन सहस्र नाम स्तोत्र की रचना की है।

३ मार्गानुसरण

* धर्माचरण की तीन भूमिकाएँ ।
* मार्गानुसरण का महत्त्व ।
* मार्गानुसारी के पैंतीस नियम
* उपसंहार
* टिप्पणी

धर्माचरण की तीन भूमिकाएँ :

शिक्षण की भाँति धर्माचरण की भी तीन भूमिकाएँ हैं, प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च। प्राथमिक भूमिका उसे प्राप्त होती है जो अन्याय, अनीति तथा अशिष्ट व्यवहार का त्याग करके सत्पुरुषों द्वारा प्रदर्शित मार्ग का अनुसरण करता है, अर्थात् मार्गानुसारी बनता है। माध्यमिक भूमिका उसे प्राप्त होती है जो प्राणातिपातादि पाँच महापापों में से अमुक अंश तक निवृत्त होता है और श्रद्धा, विवेक तथा आत्मोन्नति कारक क्रियाएँ करके अपना जीवन बिताता है, अर्थात् श्रावक बनता है और उच्च भूमिका उसे प्राप्त होती है जो प्राणातिपातादि पाँच महापापों से सर्वथा निवृत्त होता है और शान्त दान्त बनकर निर्वाणसाधना में सतत प्रयत्नशील रहता है, अर्थात् साधु बनता है। इस प्रकार 'मार्गानुसारी,' 'श्रावक' और 'साधु' ये तीन धर्माचरण की क्रमशः उन्नत अवस्था बताने वाले संकेत हैं और उनके रहस्य से पाठकों को परिचित होना है।

मार्गानुसरण का महत्त्व :

प्राथमिक भूमिका का सेवन करनेवाले को माध्यमिक भूमिका प्राप्त होती है और माध्यमिक भूमिका का सेवन करने वाले को उच्च भूमिका प्राप्त होती है, यह स्वाभाविक है, इसलिए मनुष्य को प्रथम मार्गानुसारी बनना चाहिए। जो मनुष्य मार्गानुसारी बनता है, वह भविष्य में सम्यक्त्वधारी शुद्ध श्रावकत्व प्राप्त करके अन्त में साधुता से विभूषित होता है और अपना कल्याण साधने में समर्थ सिद्ध होता है। जो मनुष्य मार्गानुसरण के प्रति उपेक्षा रखता है वह श्रावक धर्म

का अधिकारी नहीं, ऐसा जैन शास्त्रों में स्पष्ट कथन है और श्री हरिभद्रसूरि जैसे कई आचार्यों ने तो उसका श्रावक के सामान्य धर्म में ही समावेश किया है, अतः प्रत्येक श्रावक को चाहिए कि वह उसे अवश्य धारण करे।

मार्गानुसारी के पैंतीस नियम :

मार्गानुसारी की जीवनचर्या कैसी होनी चाहिए? इसका शास्त्रकारों ने सुन्दर मार्गदर्शन किया है। इस मार्ग-दर्शन को सामान्य रीति से 'मार्गानुसारी के पैंतीस बोल' कहते हैं, क्यों कि उसमें मार्गानुसारी के लिए अपने जीवन में उतारने योग्य पैंतीस नियमों का निरूपण किया गया है।

आज जिसे नैतिकता कहते हैं, उसका इसमें समावेश है; आज जिसका व्यवहारशुद्धि के रूप में संकेत किया जाता है उसका इसमें अंतर्भाव है, और आज जिसकी मानवता के नाम से पुकार हो रही है, वह इसमें ओतप्रोत है। इसपर से इसका महत्त्व समझा जा सकता है।

१. न्यायपूर्वक धनोपार्जन करना :

गृहस्थ को अपने तथा परिवार के सदस्यों का भरण-पोषण करने के लिए धन की आवश्यकता होती है। यह धन उसे न्याय का रक्षण करके, न्याय पूर्वक कमाना चाहिये परन्तु अन्यायपूर्वक नहीं। धनोपार्जन के लिए व्यापार, नौकरी आदि कुछ भी करे परन्तु उसमें नीति को न भूले और अनीति को घुसने न दे।

स्वामी का द्रोह करके, विश्वासी को ठगकर, चोरी करके, रिश्वत लेकर, छल प्रपंच करके या धोखा देकर प्राप्त किया हुआ धन अन्या[illegible]पार्जित धन है।

राजा या सेठ की नौकरी करनेवाले मनुष्य, अपने को सौंपा हुआ काम बराबर करते न हों, सौंपे हुए कार्य में से अनुचित रीति से पैसे का गबन करते हों, मालिक का काम बिगड़े ऐसी रीति से सिफारिश से काम करते हों तो वह अन्याय है।

मालिक के पैसों से अपना निजी व्यापार चलाना अथवा मालिक द्वारा सौंपे गए लोगों के पास अपना निजी घर का काम करवाना अन्याय है।

भागीदारों का एक दूसरे से छिपाकर व्यापार करना और लाभ अलग रखना, अथवा हिस्सेदारी के भाग में से माल अथवा रकम का गबन करना अन्याय है।

कोई मनुष्य विश्वास रखकर वस्तु मोल लेने आया हो उसके पास से अधिक पैसे लेना अन्याय है। दलाली करने वालों का सौदे में गोलमाल करना या अपनी दलाली की अपेक्षा अधिक पैसे उठा लेना अन्याय है। कोई गृहस्थ धर्मात्मा समझकर किसी को भी साक्षी के बिना कोई रकम या माल रखकर गया हो और वह लेने आए तब मुकर जाना और उसे न लौटाना विश्वासघात है, अन्याय है। वह व्यक्ति मर गया हो और धन लेने न आया हो और उसके वारिसों को पता न हो फिर भी वह धन या माल अपने उपयोग में लेना अन्याय है।

किसी की चोरी करके, डाका डालकर, रास्ते में लूटकर, गठरी या जेब काट कर कुछ भी धनोपार्जन करना अन्याय है और राजकीय चुंगी चोरी अथवा कर चोरी करना भी अन्याय है।

अपने को पूरा वेतन अथवा प्रतिफल मिलता हो फिर भी

ामने वाले का काम बराबर न करना यह भी अन्याय है॥
त्पुरुषों की यह वाणी है कि:–

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम् ।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः ।

'व्यवहारकुशल पुरुष निन्दा करें या स्तुति करें, लक्ष्मी आवे या स्वेच्छा से चली जाय, मृत्यु आज ही आए अथवा युगों के बाद आए, परन्तु धीर पुरुष न्याय के मार्ग से डग भर भी पीछे नहीं हटते ।'

भारत के आज के सुप्रसिद्ध तत्त्वचिन्तक डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन ने भी कहा है कि 'Religion is the pursuit of justice and abdication of violence. धर्म न्याय का अनुसरण और हिंसा का त्याग है ।'

यहाँ प्रश्न उपस्थित हो सकता है कि 'न्याय से ही धनोपार्जन क्यों करना?' इसका उत्तर यह है कि 'न्याय से उपार्जित धन ही इस लोक और परलोक में हितकारी होता है । न्याय से उपार्जित द्रव्य का उपभोग निःशंक रूप से हो सकता है, जो इस लोक के लिए हितकारी है और उससे तीर्थगमन, दान आदि विधिपूर्वक हो सकते हैं, जो परलोक के लिए हितकारी है ।

जो अन्यायपूर्वक धनोपार्जन करते हैं, वे उसका उपयोग निःशंक रूप से नहीं कर सकते और वह धन थोड़े ही समय में चला जाता है, कभी पास रह भी जाय तो आरोग्य तथा

खो कर प्रतिष्ठा को धूल मे मिलाता है ।

कई लोग ऐसा मानते है कि न्याय से तो धनोपार्जन हो ही नही सकता, परन्तु यह एक भारी भ्रम है। प्रथम तो लक्ष्मी पुण्य के आधीन है और वह अकेले पुरुषार्थ से नही मिलती, अत धन के लिए हर कहीं व्यर्थ खोज करना बेकार है। दूसरा न्याय से धनोपार्जन करने वाले की प्रतिष्ठा बढती है और उससे उसके व्यापार धन्ध बहुत अच्छ चलते है, इसलिए उससे धन पैदा किया जा सकता है और पेट तथा पिटारा दोनो भरे जा सकते हैं। एक ही भाव की दुकान अथवा सभी माल भरोसे से अच्छा बेचने वाले की दुकान अन्य सभी दुकानों की अपेक्षा अच्छी चलने के उदाहरण आज भी मौजूद हैं तो फिर न्याय और नीति से क्यो चूकना?

२–शिष्टाचार की प्रशसा करना

साधु पुरुषो की श्लाघा करने वाला, अपने कार्यों की प्रशसा न चाहने वाला, किसी की निंदा न करने वाला, अपनी होती हुई निंदा से सत्कृत्य मे क्षुब्ध न होनेवाला, आपत्ति के प्रसग मे दीनता न धारण करने वाला, सपत्ति के समय मे नम्रता धारण करने वाला प्रसग आने पर योग्य सलाह देने वाला किसी के साथ उग्र विरोध न करने वाला, अगीकार किए हुए योग्य काय को निभाने वाला, अपने कुलाचार का पालनकर्ता सन्मार्ग से द्रव्य कमानेवाला, सन्मार्ग मे द्रव्य खर्चने वाला, उत्तम काय मे आग्रह रखने वाला, दुष्काय से दूर रहने वाला सब स्थलो मे औचित्य की रक्षा करने वाला, नि स्वाथ भाव से गरीबो की सहायता करने वाला, उपकार का बदला न भूलने वाला, प्रत्युपकार करने की भावना रखने

वाला और नित्य परोपकार करने में आदर रखने वाला शिष्ट पुरुष कहलाता है। उसके इस आचरण की प्रशंसा करना। इससे दो लाभ होते हैं। एक तो अपने अंदर शिष्टता आती है और दूसरा यह कि जो लोग परोपकार प्रवृत्ति से दूर रहते हों वे भी इस प्रवृत्ति की ओर आकर्षित होते हैं।

३–समान कुल शीलवाले परन्तु अन्य गोत्रीय से व्याह करना

शादी-व्याह गृहस्थी जीवन में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। यदि वे योग्य रीति से न किए जाएँ तो वर और वधू दोनों का जीवन बिगड़ता है, इसलिये यहाँ किसके साथ व्याह करना इसका सूचन है। जिसके साथ व्याह किया जाए, उसका कुल और शील (आचार) समान होना चाहिए।

कुल अर्थात्-पूर्व पुरुषों से चला आता हुआ वंश। यदि कन्या उच्च कुल की हो और वर नीच कुल का हो या कन्या उच्च कुल की हो और वर नीच कुल का हो, तो एक दूसरे का अनादर होने का प्रसंग आता है, जिससे प्रीति भंग होती है और विवाहित जीवन निष्फल सिद्ध होता है।

यदि आचार भिन्न हो तो भी भिन्न रुचि के कारण क्लेश होने का बहुत संभव रहता है। उदाहरणार्थ, एक पक्ष शुद्ध वनस्पत्याहारी हो और दूसरा पक्ष माँस मदिरा का सेवन करने वाला हो, अथवा एक पक्ष मूर्ति पूजा में श्रद्धा रखने वाला हो और दूसरा पक्ष मूर्ति पूजा का विरोधी हो तो दोनों में मेल नहीं होता, घर में कलह होता है और आखिरकार अलग होने का प्रसंग आ जाता है।

कुल, शील आदि समान हो परन्तु वर कन्या स्वगोत्रीय अर्थात् एक ही [illegible] के हों तो विवाह करना उचित नहीं है

क्योंकि उससे सतति कमजोर होती है और समस्त प्रजा का स्तर नीचे गिर जाता है। Cross breeding का सिद्धान्त (अन्य पशुओ से सन्तानोत्पत्ति करवाना) पशुओं के लिये जितना सत्य है, उतना ही मनुष्यो के लिये भी सत्य है, इसलिये इस नियम का पालन करना आवश्यक है।

शास्त्रकारो ने कहा है विवाह का फल कुलीन स्त्री का लाभ है, कुलीन स्त्री से सुन्दर धर्माराधन हो सकता है, सतति उत्तम होती है, चित्त स्वस्थ रहता है, गृह कार्य मे स्वच्छता रक्खी जा सकती है, आचार की रक्षा होती है और अतिथि तथा स्नेही जनो का योग्य सत्कार हो सकता है। रखैल अथवा मुक्त सञ्चार म इनमे से कोई भी लाभ नही मिलता, अत गृहस्थ को विवाह करके अपना जीवन निर्वाह करना चाहिए—इसी म हित है। जिसे जीवन पर्यन्त नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का पालन करना हो उसे तो गृहस्थाश्रम मे न रहकर साधु जीवन स्वीकार करना ही इष्ट है, परन्तु जिसका मन इतना सयमी न हो उस महानुभाव को अपने आत्मा को दुराचार के मार्ग पर न घसीट कर मर्यादित सयमी जीवन का गृहस्थाश्रम म पालन कर सके इस हेतु से इस नियम को सुरक्षित रखकर पाणिग्रहण करना ही उचित है।

४ पापभीरु होना—

जो मनुष्य पाप से डरता है, पाप से भय रखता है, वह पापभीरु कहलाता है। उसमे डरपोकपन अथवा कायरता नहीं परन्तु पाप से बचने की दूरदर्शिता है। जो पाप का भय नहीं रखता वह पाप के समीप जाता है, उसम लिप्त होता है, और अनेक विध दुखो का भाजन बनता है।

(जू) जूआ खेलना, (२) मांस भक्षण करना (३)शराब पीना (४) वेश्यागमन करना, (५) शिकार करना, (६) चोरी करना तथा (७) परस्त्रीगमन करना से सात महान् पाप हैं : इनसे तो मनुष्य को बहुत ही डरते रहना चाहिए।

जिन्होंने पाई पैसे से जूआ खेलना सीखा वे अन्त में बड़े जुआरी बने और घरबार तथा स्त्री तक को भी खो बैठे। यदि वे जूए से डरकर दूर रहे होते तो ऐसा प्रसंग न आता।

जो दुष्ट जनों की संगति से मांस, मछली, अण्डे आदि खाना सीखते हैं और मदिरा का स्वाद चखते हैं, वे उसमें अधिकाधिक आकर्षित होते जाते हैं और आखिरकार धर्म तथा धन दोनों से सर्वथा हाथ धो बैठते हैं। जैन शास्त्रों ने तो इन्हें स्पष्टतया नरक के द्वार कहा है, अर्थात् परभव में उन्हें नरक में उत्पन्न होना पड़ता है और अकल्पित दुःख सहन करने पड़ते हैं।

वेश्या का व्यसन भी इतना ही बुरा है। एक बार दूर से वेश्या का नृत्य देखा, दूसरी बार उसके यहाँ समारोह में भाग लिया, तीसरी बार उसके घर जाने की वृत्ति होती है, और इस प्रकार मनुष्य पाप पंक में पूरा डूब जाता है। वेश्यागमन से शरीर की दुर्दशा होती है, अनेक प्रकार के रोग लग जाते हैं, पास जो धन होता है वह भी खर्च हो जाता है और समाज में इज्जत खो देने का अवसर आता है।

शिकार की आदत भी बहुत ही बुरी है। एक निर्दोष प्राणी का प्राण हरने में वीरता मानना, आनन्द का अनुभव करना अज्ञानता की पराकाष्ठा है। इसके अतिरिक्त शिकार के व्यसन में फँसे हुए व्यक्ति की मृत्यु भी अधिकांशतः

शिकारी पशुओं द्वारा ही हानी है। उस समय यातना-असमाधि की सीमा नहीं रहती और मृत्यु बिगडती है।

चोरी करने की वृत्ति हो तो उसे दबाना चाहिए। एक पैसे में क्या है ? एक आने मे क्या है ? ऐसा मानकर उसके समीप गए तो यह बला गाढ आलिंगन कर लेती है और फिर तो चोरी किये बिना चैन ही नही पडता। चोरी करने वाले का समाज मे तिरस्कार होता है, राजा की ओर से भारी दंड मिलता है, जेल जाना पडता है, डण्डे-चाबुक आदि की मार सहन करनी पडती है और कई बार मारामारी मे उतरने पर प्राण तक चले जाते हैं। चोरी करने वाले की गति बिगडती है अर्थात् परभव में भी उसे बहुत दुख भोगना पडता है।

परस्त्रीगमन मनुष्य की भयंकर अधोगति करने वाला है इसलिए सुज्ञ मनुष्य को उससे सदा बचकर रहना चाहिए। रावण ने इस भय को तिलांजलि दी, सीता का हरण किया और उसे लंका लगया, उसका परिणाम क्या हुआ ? आखिर-कार युद्ध मे उतरना पडा और भयंकर बरबादी उठानी पडी, जिससे उसका भी नाश हुआ। इसलिए इससे और पापो से डरते रहना चाहिए।

जो मनुष्य पाप में न फसने का प्रतिक्षण ध्यान रखता है, वह पाप से बच सकता है और धर्मवीर पुरुषों के मार्ग पर चलने का अधिकारी बनता है।

मनुष्य को जीवन के अन्य क्षेत्र मे वीर बनना चाहिये परन्तु पाप के क्षत्र मे सदा डरते ही रहना चाहिये।

५. प्रसिद्ध देशाचार के अनुसार आचरण करना :

देश में जो आचार शिष्ट पुरुषों की संमति पूर्वक प्रवर्तित

हों और लम्बे काल से रूढ़ होने के परिणाम स्वरूप व्यवहार रूप बन गए हों उन्हें प्रसिद्ध देशाचार मानकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिये।

अनिच्छापूर्वक भी लोकाचार के अनुसार आचरण करने से प्राय: अपने यश और शोभा में वृद्धि होती है। लोग अनु-कूल होने से अथवा खुद लोगों के अनुकूल होने से निर्णीत धर्म-कार्य बड़ी सरलता पूर्वक सिद्ध होते हैं।

अकबर बादशाह सर्व धर्म के लोकाचार की इज्जत करता था, जिससे भारत की शाहंशाही बहुत अच्छी तरह प्राप्त कर टिका सका था। श्रीमान् हीरविजयसूरि तथा श्री विजय-सेन सूरि भी अपने सिद्धान्त और संयम में बाधा न आए यह बात ध्यान में रखकर अकबर बादशाह से तथा उसके कई लोकाचारों से सहमत रहने के कारण अनेक तीर्थों के रक्षण की सनदें प्राप्त कर सके तथा नियमित अमारी-पडह आदि दया के उत्तम कार्य कर सके थे।

देशाचार में भाग न लेने से लोगों से संबंध टूट जाता है और देशाचार का उल्लंघन करने से देश के लोगों के साथ विरोध होने का प्रसंग आ जाता है, जिससे बड़ी हानियाँ उठानी पड़ती हैं और शांति के अभाव में धर्मप्राप्ति होना भी दुर्लभ हो जाता है। देशाचार को मान न देने वाला मनुष्य या उसका धर्म टिक नहीं सकता, उसका अल्प समय में ही नाश हो जाता है।

९ किसी की निन्दा न करना—

दूसरे की निन्दा तभी की जाती है जब अपने अन्दर गुण देखने और अन्य जन में [illegible] देखने का लक्ष्य सामने रहता

है । ज्ञानी पुरुष हमे इससे भिन्न रीति से बरतने की सलाह देते हैं। वे कहते है कि यदि तुम्हे दोष ही देखने है तो अपने स्वय के देखो जिससे उन्हे दूर करने का अवसर प्राप्त होगा और गुण देखने हो तो दूसरो के देखो जिससे उन गुणो को प्राप्त करने की तुम्हारी इच्छा होगी ।

किसी की निन्दा करने से उसे हानि हो या न हो परन्तु अपना मुंह तो वदबू मारता है सज्जनता का लोप होता है और भारी कर्मबधन होता है इस प्रकार स्वय को तो हानि अवश्य पहुँचती है। इसलिये किसी की निन्दा न करना वाछनीय है ।

७ योग्य घर मे निवास करना—

शिल्प शास्त्र के अभिप्राय के अनुसार जिस जमीन मे हड्डियाँ कोयले आदि शल्य न हो, जिस जमीन मे अधिक परिमाण मे दूब आदि उगती हो, जिस जमीन की मिट्टी अच्छे वण गध वाली हो जिस जमीन में स्वादिष्ट पानी हो, उस जमीन पर गुणदोषादि सूचक शकुनादि देखकर मकान बनवाना उचित है ।

जो मकान अति प्रकट स्थान म अति गुप्त स्थान में, अथवा अयोग्य पडौस म स्थित हो वह रहने के लिये अयोग्य है । जो मकान अति प्रकट स्थान म अर्थात् खुले मार्ग पर हो वहाँ चोर आदि का भय विशेष रहता है और शोर गुल अधिक होने स यथोचित शाति नही मिलती । जो मकान अति गुप्त स्थान म अथात गली कूचे म आया हुआ हो वहाँ रहने पर घर की शोभा नही बढाई जा सकती और अग्नि आदि का भय उपस्थित होने पर उसम स रक्षण नहीं हो

सकता। पास पड़ौस बुरा हो तो उसका प्रभाव परिवार के सदस्यों पर बुरा होता है और जीवन बिगड़ता है। अधिक खिड़कियों और दरवाजों वाला मकान भी रहने के लिये अयोग्य माना गया है, क्योंकि उससे धन-स्त्री आदि का योग्य रीति से रक्षण नहीं हो सकता। मकान की योग्यता-अयोग्यता का निर्णय देश काल के आधार पर होता है, यह बात भी लक्ष्य में रखनी चाहिए।

८ संग सदाचारी का करना :

'जैसा संग, वैसा रंग' यह उक्ति प्रसिद्ध है। यदि मनुष्य सदाचारी का संग करे तो उसमें सदाचार का रंग आता है और दुराचारी का संग करे तो उसमें दुराचार का रंग आता है। जो मनुष्य संगति के विषय में सम्हाल या सावधानी नहीं रखता, वह हर किसी के साथ मेल-जोल बढ़ा लेता है और अन्त में दुर्गुण का शिकार होकर संपत्ति तथा प्रतिष्ठा को खो बैठता है।

९ माता-पिता की सेवा करना :

माता-पिता अनेक प्रकार के कष्ट झेलकर पुत्र परिवार को बड़ा करते हैं और उनके लिये भारी त्याग करते हैं इस लिये उनका उपकार इस जगत् में सबसे महान् है। उनके प्रति पुत्र-पुत्रियों का व्यवहार विनययुक्त होना ही चाहिए। उनकी सेवा करना, अर्थात् उन्हें त्रिकाल प्रणाम करना, उन्हें धार्मिक प्रवृत्ति में लगाना, उन्हें तीर्थयात्रा करवाना, प्रत्येक विषय में उनका मान रखना, फल-फूल-मेवा-मिठाई आदि जो कुछ भी नया आए उसे पहिले उनके सामने रखने के बाद ही उपयोग में लेना; उन्हें भोजन करवा कर स्वयं करना;

बुलाकर सोना उनका स्वास्थ्य ठीक न हो, तो स्वयं सेवा-सुश्रूषा करना और आवश्यकतानुसार वैद्य आदि को बुलाकर उनसे उपचार करवाना, संक्षेप में उन्हें जैसे भी सुख मिले वैसे करना। माता-पिता की सेवा आर्य कुलो के ताने बाने में बुनी हुई थी। माता-पिता की उत्तम भक्ति करने के लिये श्रवणकुमार, श्री राम, आदि के दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं। श्रवण कुमार ने वृद्ध माता-पिता को कावड़ में बिठाकर, उस कावड़ को कन्धो पर उठाकर पैदल चलकर अनेक तीर्थों की यात्रा करवाई थी। श्री राम ने भरत को राज्य सौंपने के *पिता दशरथ के वचनो को अखड रखने के लिये चौदह वर्ष* का वनवास स्वीकार किया था।

१० उपद्रव के स्थान का त्याग करना :

जहाँ शत्रु हो, विरोधी हो, प्लेग-मारी-हैजा आदि विविध प्रकार के सक्रामक रोगों का उपद्रव हो, अग्निभय हो, पर राज्य के आक्रमण का भय हो, उस स्थान में धर्म-अर्थ-काम में बाधा पहुँचती है, इसलिये ऐसे स्थान उपद्रव वाले गिने जाते हैं। ऐसे स्थानो का अवश्य त्याग करना चाहिए।

भिल्लादि की पल्ली के नजदीक के गाव जहाँ सदा डाकों और चोरी का भय हो, जहाँ चोरो का उपद्रव अधिक हो, जहाँ पर स्त्रीलपट पुरुष कुलीन स्त्रियो की लज्जा लूटते हों, जहाँ का राजा अन्यायी, अधर्मी व दुराचारी हो, ऐसे स्थानो को छोडकर निरुपद्रव स्थान मे बसना चाहिये। इसके अतिरिक्त जहाँ गुरु आदि का आगमन न होता हो, जहाँ साधर्मिक बधुओ की सगति न हो, ऐसे स्थान पर रहने से नवीन धर्मोपार्जन करना असभव रहता है।

जिस देश में निराधार बाल राजा का शासन हो, जहाँ एक राज्य के लिए दो राजा लड़ते हों जहाँ अयोग्य स्त्रियों का राज्य हो, और जहाँ का राजा मूर्ख हो, वहाँ भी रहना नहीं चाहिए।

११ निन्दित कार्य में प्रवृत्त न होना।

देश, जाति और कुल की दृष्टि से जो कार्य निन्दित गिने जाते हों, उनमें प्रवृत्त नहीं होना चाहिये। यदि उनमें प्रवृत्ति करते हैं तो अन्यजनों की दृष्टि में गिर जाते हैं, जिससे व्यवहार बिगड़ता है और अनेक रीति से सहन करना पड़ता है तथा उससे उसका व्यसन हो जाने से जीवन बिगड़ता है।

१२ खर्च आय के अनुसार करना।

स्त्री, पुत्र, पुत्री, माता, पिता, भाई, बहिन और पारिवारिक जनों के खर्च में, स्वोपयोगी साधनों में, देव-अतिथि आदि के पूजन में, और दीन-दुःखी आदि के उद्धार में जो कुछ भी खर्च किया जाय वह सब अपनी आय के अनुसार करना चाहिए, न कि उससे अधिक।

कुल आय के चार भाग करने चाहिए। उनमें से एक भाग निधान अथवा कोष रूप में रखना चाहिये। यह भाग वास्तविक आवश्यकता के समय या आपत्तिकाल में काम आ सकता है। एक भाग व्याज आदि में रोकना चाहिये, जिससे आय जारी रहे तथा व्यापारादि कार्य में हानि पहुंची हो या किसी समय आमदनी न हुई हो तो उसमें से घाटा पूरा किया जा सकता है। एक भाग भरण पोषण करने लायक कुटुम्बी जनों तथा अपने उपभोग-साधन के लिए रखना और एक भाग धार्मिक कार्यों के लिए रखना

आय की अपेक्षा व्यय अधिक हो तो थोड़े ही समय मे सिर पर ऋण चढ जाता है, व्यवहार बिगडता है, सम्बन्धी स्वजनो के साथ का सम्बन्ध बिगडने लगता है और अंत मे अति दु खी होने का प्रसग आता है। शास्त्रों मे कहा है कि 'जो मनुष्य अपनी आय व्यय का अर्थात् आमद और खर्च का विचार रक्खे बिना वैश्रमण (कुबेर) की भांति दान देता है, वह थोडे ही दिनों म निश्चित रूप से भिक्षुक जैसी अवस्था को प्राप्त करता है, अर्थात् भिक्षा मांगने का समय आता है।

यहाँ यह भी लक्ष्य मे रखना चाहिए कि जो मनुष्य अपनी अच्छी आय होते हुए भी कुछ भी दान नही देता अथवा धर्म कार्यों म धन नही लगाता, वह अपने कर्त्तव्य से च्युत होता है और धन की आसक्ति के कारण भावी कर्म बन्धन करके दुर्गति का भाजन बनता है।

१३ वैभव, जाति, देश और काल के अनुसार वेश रखना।

गृहस्थ की जैसी आर्थिक स्थिति हो, जैसा दर्जा हो तदनुकूल अपना वेश रखना चाहिये। यदि थोड़े द्रव्य वाला व्यक्ति धनाढ्य के जैसे वस्त्र या अलकार धारण करता है तो लोगो के मन म भांति २ की शकाएँ उत्पन्न होती हैं और उसे अपव्ययी, दिवालिया अथवा नालायक गिनते हैं। इसी प्रकार धनी व्यक्ति दीन के योग्य वस्त्र धारण करता है तो उसे लोग कृपण मानते हैं अथवा उसने अभी अभी पैसे खोए हैं ऐसी शका करते है और इससे उसके व्यवहार को हानि पहुँचती है। इसी प्रकार कोई अधिकारी अपने योग्य वेश धारण नही करता है तो उसका प्रभाव दूसरो पर नही पडता

यदि साधारण स्थिति का व्यक्ति किसी अधिकारी जैसे वस्त्र पहिनता है तो उसे छल-कपट करने वाला मानते हैं और पुलिस आदि द्वारा वह गिरफ्तार किया जाता है। अपनी जाति के लिए जैसा वेश निर्धारित हो वैसा ही पहिनना चाहिये। उससे विरुद्ध पोशाक पहिनने पर जाति वालों के विरोध का सामना करना पड़ता है जिसका फल हानिकारक ही होता है।

कोई देश ठण्डा होता है, कोई देश अति ठण्डा होता है, तो कोई देश गर्म होता है और कोई देश अत्यंत गर्म होता है, अतः वहाँ की जलवायु के अनुकूल वस्त्र पहिनने चाहिये। ठण्डे देश में उष्ण देश की पोशाक पहिनने का आग्रह रखने से शरीर को हानि पहुँचती है।

वस्त्रों की पसंदगी में काल तथा ऋतु का ध्यान भी रखना चाहिये। शीतकाल में गर्म कपड़े शोभा देते हैं, ग्रीष्म काल में सादे सूती कपड़े शोभा बढ़ाते हैं और वर्षाकाल में प्रसंगानुसार दोनों शोभा की वृद्धि करते हैं। इससे विरुद्ध आचरण करने पर स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है और लोगों में हास्य का पात्र बनना पड़ता है।

१४. बुद्धि के आठ गुणों का सेवन करना :

विद्वान् पुरुषों ने बुद्धि के आठ गुण इस प्रकार माने हैं : (१) सुश्रूषा–तत्त्व सुनने की इच्छा, (२) श्रवण–तत्त्व श्रवण करना, (३) ग्रहण–सुना हुआ ग्रहण करना, (४) धारण–ग्रहण किये हुए को भूलना नहीं, (५) ऊह–जो ग्रहण किया हो उसपर अन्वय से सोचना अर्थात् वह किस प्रकार संगत बनता है, इस पर उदाहरण व तर्क से विचार करना, (६) अपोह–उसी अर्थ को व्यतिरेक से सोचना, अर्थात् उसके अभाव

मे कैसी विरुद्ध स्थिति हो–यह युक्ति दृष्टान्त से देखना। (७) अर्थ विज्ञान–भ्रमादि दोषों से रहित अर्थ का ज्ञान और (८) तत्व ज्ञान–अर्थ में से प्रकट होने वाले सिद्धान्त का निश्चित बोध। बुद्धि के इन आठ गुणों का सेवन करने मे मनुष्य को तत्व-ज्ञान की प्राप्ति होती है और वह जीवन में सुन्दर प्रगति कर सकता है।

१५. नित्य धर्मकथा का श्रवण करना :

गृहस्थजीवन जजालमय होता है, फिर भी गृहस्थ को थोड़ा समय निकालकर नित्य धर्मकथा का श्रवण करना चाहिये। इसके लाभ बहुत है। जैसे चित्त थका हो तो थकावट दूर हो जाती है, कषाय केउद्वेग से तप गया हो तो शान्त होता है। सकट प्रसग से दिग्मूढ जैसा बन गया हो तो विवेकी बन जाता है और अस्थिर व्याकुल बन गया हो तो स्थिर हो जाता है। नित्य धर्मकथा का श्रवण करने से मनुष्यभव का कर्तव्य समझ मे आता है, धर्ममार्ग और तत्व का बोध होता है, धर्म की प्रेरणा मिलती है और उत्तरोत्तर गुणो की वृद्धि होती है। धर्मकथा का श्रवण गुरमुख से हो तो उत्तम, अन्यथा किसी आत्मार्थी बहुश्रुत अथवा श्रद्धासपन्न विद्वान् के मुख से भी सुननी चाहिए।

१६. अजीर्ण होने पर भोजन नहीं करना :

वैद्यक शास्त्र का सिद्धान्त है कि 'अजीर्णप्रभवा रोगा' सभी रोग अजीर्ण के कारण ही होते है, अतः अजीर्ण मालूम हो तो भोजन नहीं करना चाहिये। अजीर्ण का पता लगाने के कुछ चिह्न निम्न लिखित हैं

(१) पीछे से दुर्गन्धयुक्त वायु निकलती है। (२) दस्तों में दुर्गन्ध आती है। (३) मल बंधे विना थोड़ा-थोड़ा निकलता है। (४) शरीर को भारीपन महसूस होता है। (५) अन्न पर रुचि नहीं होती। (६) बुरी डकारें आती हैं।

१७. समय पर प्रकृति के अनुकूल बिना लालसा के भोजन करना :

गृहस्थ को कैसा भोजन करना चाहिये ? इस सम्बन्ध में यहाँ स्पष्ट निर्देश है। प्रथम तो भोजन करने के समय पर भोजन करना, उससे बहुत पहिले अथवा बहुत देर से नहीं करना। यदि समय से अधिक पूर्व भोजन किया जाय तो उस समय भोजनानुकूल रुचि नहीं होती और यदि बहुत विलंब से भोजन किया जाय तो उस समय भूख मर गई होती है, अर्थात् जठराग्नि शांत हो जाती है। दूसरी बात यह है जो भोजन अपनी प्रकृति के अनुकूल हो वही करना, उससे विरुद्ध भोजन नहीं करना। प्रकृति से विरुद्ध जो भोजन किया जाता है वह विषतुल्य हो जाता है। जैसे पित्त प्रकृति वाले का अधिक तेल, मिर्ची आदि से, वायु प्रकृति वाले का द्विदल, ठण्डी वस्तु आदि से, कफ प्रकृति वाले का अधिक शक्कर घी-दूध आदि से शरीर बिगड़ता है। प्रकृति का आधार वय, बल, देश, काल आदि अनेक बातों पर है, अतः उसका उचित विचार करना चाहिये। तीसरी बात है लालसा रहित भोजन करना अर्थात् कोई वस्तु अधिक स्वादिष्ट लगे तो भी पेटू बनकर भोजन नहीं करना, बल्कि परिमाण से ही करना।

१८. परस्पर बाधा न आए इस प्रकार त्रिवर्ग का साधन करना :

त्रिवर्ग अर्थात् धर्म अर्थ और काम। जिससे आत्मकल्याण साधा जा सके वह धर्म। जिससे व्यवहार के सर्व प्रयोजनों की सिद्धि हो सके और आत्मकल्याण की भी अनुकूलता रहे वह अर्थ और जिससे इन्द्रियों की तृप्ति हो अथवा इन्द्रियों को प्रीति उत्पन्न हो और इन्द्रियाँ असमर्थ न बने वह काम। गृहस्थ को इन तीनों की आवश्यकता है अतः इनकी साधना इस प्रकार की जाय कि जिसमें अन्य वर्ग को क्षति न पहुँचे।

गृहस्थ को धर्म का सेवन अवश्य करना चाहिये, परन्तु उसकी मर्यादा रखनी चाहिए। यदि वह मात्र धर्म सेवन ही करता रहे और अर्थ तथा काम के प्रति उपेक्षा वृत्ति रखे तो उसका व्यवहार टिक नहीं सकता। पास का धन थोड़े समय में ही खर्च होजाय और उसे ऋण में फँसना पड़े, या भीख मांगने फिरना पड़े तो धर्म की हँसी होती है। दूसरी ओर स्त्री आदि का भी विरोध होता है और गृह में क्लेश-कलह का वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

गृहस्थ को अर्थोत्पादन अवश्य करना होता है परन्तु वह धर्म और काम का बलि चढ़ाकर नहीं। यदि अर्जित पुण्य भोग लिया जाय और नया पुण्योपार्जन न किया जाय तो पुण्य की सारी पूंजी समाप्त होजाय और फलस्वरूप अनेक प्रकार के दुःख झेलने का प्रसंग आता है। यदि शरीर को मात्र कष्ट दिया जाए और उसके सुख व आराम की परवाह न की जाय तो वह दीर्घकाल तक काम नहीं दे सकता और बारबार रोगग्रस्त होना पड़ता है जिससे तंग आजाते हैं। इसी प्रकार

जिस स्त्री का उसने पाणिग्रहण किया है, उसके प्रति भी उसका कुछ उत्तरदायित्व है। यदि उसमें उपेक्षा की जाय तो परिणाम बहुत बुरा होता है। स्त्री का स्नेह टूट जाय और शायद वह उन्मार्ग पर भी चली जाय। मात्र धन कमाना परन्तु उसका उपभोग न करना एक प्रकार की कृपणता है और उसका फल आखिरकार भयंकर निराशा में ही आता है, क्योंकि उस धन को चोर लूट लेते हैं, राजा छीन लेता है, पुत्र परिवार उड़ा देता है अथवा अग्नि आदि उसे नष्ट करते हैं अतः धन का उचित रीति से उपभोग करना चाहिये और उसका उपयोग दीन दुखियों के उद्धार के लिए भी करना चाहिए।

गृहस्थ को कामसेवन करना होता है परन्तु वह मर्यादित रीति से। जो मर्यादा का त्याग करते हैं और कामासक्त बनते हैं, उनके धन और धर्म दोनों का नाश होता है। कामासक्त मनुष्य का लक्ष्य धन में कम रहता है अथवा रहता ही नहीं, परिणामस्वरूप अर्थोत्पादन को भारी धक्का पहुँचता है। कभी पास में अधिक धन हो तो भी उसे खर्च होते देर नहीं लगती क्योंकि उसमें नित्य कमी होती जाती है। कामासक्त मनुष्यों ने लाखों की सम्पत्ति अल्प काल में समाप्त करदी ऐसा कई उदाहरणों में हुआ है और आज भी हो रहा है। कामासक्त मनुष्य धर्म का संचय भी क्या करे? उसके मनमें तो एक ही रटन होती है—केवल नया नया काम-सुख भोगने की। अतः वह धर्म से वंचित रहता है और पूर्व का पुण्य भोग कर उसकी पूंजी को समाप्त कर देता है।

इस प्रकार गृहस्थ को धर्म अर्थ और काम [illegible]

सेवा म एक के मूल्य पर दूसरा नहीं करता है परन्तु प्रत्येक की मर्यादा को सम्हालता है।

१९. अतिथि, साधु तथा दीन जनों की सेवा करना :

जो महात्मा निरन्तर पापारम्भ से दूर ही रहते हैं, निर्मल हृदय से सदा धर्मानुष्ठान करते ही रहते हैं, इन्द्रियदमन और मनोनिग्रह करते ही रहते हैं, यथायोग्य तपश्चर्या नियमित रूप से जारी रखते हैं, इच्छाओं का निरोध किये हो जाते हैं, जिनकी निरन्तर ज्ञान, ध्यान और आत्मभाव में रमणता होती है, जो क्षण २ परभाव-विभाव दशा से दूर रहते हैं, जो किसी भी प्राणी को दुःख नहीं देते, जो अन्य के अन्तःकरण को अपनी ओर से तनिक आघात न पहुँचे इस बात की सतत सावधानी रखते हैं, ऐसे महात्माओं के लिए सब पर्व और तिथि समान ही हैं। तात्पर्य यह है कि वे तिथि, पर्व और महोत्सव के विभाग को छोड़े हुए होते हैं अतः वे अतिथि कहलाते हैं।

साधक लोगों में प्रसिद्धि प्राप्त स्वच्छ आचार-विचार रखने वाले, राजा आदि द्वारा पूज्य पुरुष साधु पुरुष कहलाते हैं।

जिनकी आर्थिक एवं शारीरिक शक्ति क्षीण हो चुकी हो उन्हें दीन कहते हैं।

गृहस्थ को ऐसे अतिथि, साधु पुरुषों और दीनजनों की शक्ति के अनुसार भक्ति करनी चाहिये। यदि इस प्रकार भक्ति न करे तो वह कर्तव्यच्युत माना जाता है।

२१–कदाग्रह नहीं रखना

अपना माना हुआ, बोला हुआ अथवा ग्रहण किया हुआ

मिथ्या है, ऐसा जानने के वाद भी उसे न छोड़ना, और हठपूर्वक उससे चिपके रहना कदाग्रह कहलाता है। ऐसा कदाग्रह गृहस्थ को नहीं रखना चाहिये, क्योंकि उससे समाज में मान घटता है, और समझदार लोग हितशिक्षा देने में हिचकिचाते हैं। कदाग्रह से मनुष्य धर्म प्राप्ति के लिये अयोग्य वनता है जिससे मनुष्य को सरल स्वभाव वाला वनना चाहिये, और कभी कदाग्रही नहीं होना चाहिये।

२१–गुण का समर्थन करना

गुण का समर्थन करना अर्थात् अन्य जनों के दोष न देख कर गुण ग्रहण करना। किसी के गुण की वान चलनी हो तो उस में दिलचस्पी लेना तथा गुणवान् पुरुषों का आदर करना, उनकी प्रशंसा करना, उनके सद्भूत गुणों से अनेक लोग परिचित हों, इस तरह फैलाना, उनकी सहायता करना, उनके अनुकूल होना और उनको यथाशक्ति सुविधा पहुँचाना। गुण-वान् पुरुषों का पक्षपात करने से अपने अन्दर अनेक प्रकार के गुण आते हैं, हम स्वयं गुणवान् वनते है–इसे भूलें नही। प्रमोद भावना का मूल गुणानुराग में रहा हुआ है जैसा कि पहिले कह चुके हैं।

२२–अयोग्य देश काल में नहीं फिरना

जूआ खेलने के स्थल, शराव के गोदाम, वेश्याओं के निवास स्थान, चंडालों के घर, मछली-मार के घर तथा कसाईखाने आदि स्थान तत्त्वज्ञ धर्माचार्यो ने अयोग्य गिने है, अतः अपना भला चाहने वाले गृहस्थों को जहाँ तक हो सके ऐसे स्थानों पर जाने का प्रतिवन्ध रखना चाहिये।

ऐसे स्थानों पर पुनः पुनः जाने आने से पाप के प्रति

घृणा घटती जाती है हृदयगत कोमलता का स्थान कठोरता लेती है और वहा के मलीन वातावरण के प्रभाव के कारण अपने पवित्र विचार भी पापी विचारा म परिणत हो जाते हैं। ऐसे स्थाना पर गमनागमन करने स लोगो को कुशका करने का अवसर मिलता है और उसका प्रभाव प्रतिष्ठा पर बहुत बुरा होता है।

मध्यरात्रि का समय फिरने के लिये अनुपयुक्त है। ऐसे समय मे घूमने फिरने निकलने पर चोर-बदमाशो से सामना होता है, पास जो कुछ भी होता है वह लुट जाता है और कभी कभी मार भी खानी पडती है तथा ऐसे समय म घूमने निकलने पर लोगो को चोर या परस्त्रीलपट आदि होने की शका होती है कभी कभी पुलिस द्वारा पकड भी जाते हैं और शस्त्र आदि से भी उपद्रव होने का भय रहता है। इस लिये अयोग्य दश काल म घमना उचित नही।

२३—बलाबल का विचार करना

जो मनुष्य बलाबल का विचार किये बिना मात्र उत्साह के आवेश म आकर काय को प्रारभ करता है, उसे वह काय बीच म ही छोडना पडता है और इससे वह अपयश का भागी बनता है। यदि ऐसी घटनाएँ एक दो बार और हो जायें तो लोगो को उसकी काय शक्ति म विश्वास नही रहता, परिणाम स्वरूप उसे कोई महत्त्वपूण काय नही सौंपा जाता और उस हल्के दज का गिना जाता है इसलिय आवश्यक यह ह कि मनुष्य को कोई भी काय आरम्भ करन से पूव अपन बलाबल का विचार कर लेना चाहिय।

[illegible] है,

यह कार्य पूरा करने के लिये मेरा शारीरिक वल, मनोवल, धन वल, सहायक सामग्री का वल, तथा पक्ष-वल कितना है ? इस वल से क्या यह कार्य सांगोपांग पूरा होगा ? इस कार्य में जिसकी ओर से मैं आर्थिक सहायता की आशा रखता हूँ क्या वह मुझे योग्य रीति से योग्य समय पर मिलेगी ? क्या इस कार्य में कोई विरोध होगा ? यदि होगा तो किसकी ओर से ? क्या इस विरोध का मैं सामना कर सकूंगा ? आदि आदि ।

२४–वृत्तस्थ और ज्ञानवृद्धों की सेवा करना

वृत्तस्थ अर्थात् सदाचारी, ज्ञानवृद्ध अर्थात् हेय उपादेय का निर्णय करने में कुशल । ऐसे पुरुषों का सत्कार करना, सम्मान करना और उनका पूजन भी करना जिससे सुन्दर हित-शिक्षा की प्राप्ति होती है और वह हमारा कल्याण करने वाली सिद्ध होती है ।

२५–भरण-पोषण करने योग्य का भरण-पोषण करना :

माता-पिता, दादा, दादी, पत्नी, पुत्रादि परिवार तथा आश्रित सगे सम्बन्धी और नौकर चाकर भरण-पोषण करने के योग्य हैं । उनमें माता, पिता, सती स्त्री और अपने आप के निर्वाह में असमर्थ पुत्र-पुत्रियों का भरण-पोषण तो नौकरी चाकरी, मजदूरी अथवा सामान्य धंधा करके भी करना और स्थिति अच्छी हो या धंधा अच्छा चलता हो तो अन्य सगे-संबंधियों का भी भरण-पोषण करना चाहिए ।

यहाँ शास्त्रकार और भी कई सूचनाएँ देते हैं । प्रथम सूचना यह है कि सवको उचित कार्य में लगाना, अर्थात् जिसके योग्य जो कार्य हो उसे वह सौंपना । यदि ऐसी

व्यवस्था न की जाय तो कुछ के ऊपर कार्य का भार अधिक पड़ता है और कई बेकार बैठे रहते हैं। एक व्यक्ति बिल्कुल बेकार बैठा रहे तो ठीक नहीं, क्योंकि ऐसी अवस्था में वह अकरणीय विचार करता है जिससे हानि होती है। दूसरी सूचना यह है कि उनके धर्म, अर्थ और काम सम्बन्धी प्रयोजनों में सदा लक्ष्य रखना अर्थात् उन्हें धर्माराधन सम्बन्धी जो कुछ साधन-सुविधा की आवश्यकता हो, वह जुटा देना, चार पैसे खर्च करने का चाहिये तो देना और उन्हें आनन्द-विनोद भी करवाना। तीसरी सूचना यह है कि उनमें से कोई अनुचित मार्ग पर न चढ़ जाय इस बात का ध्यान रखना और चौथी सूचना यह है कि यदि वह पोष्य वर्ग निन्दा करने योग्य बने तो गृहस्थ अपने ज्ञान और गौरव की रक्षा करे, अर्थात् उन्हें उस मार्ग पर जाने में प्रोत्साहन न देते हुए अपनी प्रतिष्ठा बनी रहे इस प्रकार व्यवहार करे।

२६-३३ दीर्घ-दृष्टि, विशेषज्ञ, कृतज्ञ, लोकप्रिय, लज्जावान, दयालु, सौम्य-दृष्टि, और परोपकारी होना :

जो दृष्टि को भावी परिणाम तक पहुँचाता है वह दीर्घ-दृष्टि। योग्यायोग्य का अन्तर समझे वह विशेषज्ञ। कृत उपकार को न भूले और उसका बदला चुकाए वह कृतज्ञ। जिसका व्यवहार लोगों को अच्छा लगे वह लोकप्रिय। धृष्टता के त्याग का नाम लज्जा, उसको धारण करनेवाला लज्जावान। लज्जावान अकार्य नहीं करता, इसी प्रकार स्वीकृत कार्य को अवश्य पूरा करता है। जिसके अंतर में कोमलता-दया हो वह दयालु। जो अपने चेहरे को शांत-हँसमुख रक्खे वह सौम्य दृष्टि। किसी का भी भला करना परोपकार है, और

ऐसे गुण को धारण करने वाला सो परोपकारी।

३४–अंतरंग शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना :

काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष ये छः अंतरंग शत्रु माने जाते हैं। इन पर विजय प्राप्त करना अर्थात् इन्हें वश में करना। काम अर्थात् स्त्री के साथ गमन करने की वृत्ति, गृहस्थ उसका सर्वथा त्याग नहीं कर सकता, परन्तु काम के आवेश को वश में अवश्य रख सकता है। उसके लिये परस्त्री, कुमारिका और वेश्या का त्याग करना यहाँ काम-जय का मुख्य अर्थ है। क्रोध अर्थात् स्वयं को तथा अन्य को हानि पहुँचाए ऐसा हृदय का रोष-गुस्सा। लोभ अर्थात् शक्ति होते हुए भी दान न देना अथवा विना कारण अन्य के पास से धन लेने की इच्छा रखना। मान अर्थात् अपने को ऊँचा मानने की वृत्ति। उससे विनय गुण नष्ट होता है, दुराग्रह पैदा होता है और दूसरे के उचित वचन को स्वीकार करने की वृत्ति नहीं होती। मद अर्थात् कुल, बल, जाति, धन, विद्या, रूप आदि का गर्व। हर्ष अर्थात् अल्प लाभ प्राप्त होने पर फूले न समाने की वृत्ति। इन वृत्तियों को वश में रखने से मनुष्य में सुसंस्कारों की वृद्धि होती है और उसके जीवन का निर्माण उत्तम प्रकार से होता है।

३५–इन्द्रियों को वश में रखना।

न जीती हुई इन्द्रियाँ शत्रु का काम करती हैं और मनुष्य को अनेक प्रकार की आपत्तियों में डाल देती हैं। इससे कई बार प्राण खोने के प्रसंग भी उपस्थित हो जाते हैं। स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, और श्रोत्रेन्द्रिय की लालसा पर जैन शास्त्रों में हाथी, मत्स्य, भ्रमर, पतंग और

सांप के दृष्टान्त दिये गये हैं जो विचारणीय हैं।

हाथी स्पर्शसुख की अधिक कामना वाला है, अतः हथिनी का देखकर उसका स्पर्श करने के लिये दौडता है। उसका यह स्वभाव जानकर हाथी पकडने वाले जगल में एक बडा खड्डा खोदते है, उस पर बांस आदि रखकर उसे पत्ता स ढंक देते हैं और उसके एक ओर कृत्रिम हथिनी खडी कर देते हैं। इस हथिनी को देखकर हाथी दौडा आता है और उस खड्डे में गिरने से हाथी पकडने वालो के हाथ आ जाता है। शेष सारा जीवन वह परतत्रता मे बिताता है।

मत्स्य रसलालसा के कारण मछुओ द्वारा फेंके गए कांटे पर लगे हुए मांस के टुकडे को खाने के लिये दौडता है, ऐसा करने म कांटा गले में अटक जाता है और पकड जाने पर उसके प्राण जाते हैं।

भ्रमर सुगध की आसक्ति के कारण कमल में पडा रहता है और हाथिया द्वारा कमल को चुनकर मुख में डाल जाने के साथ ही भ्रमर अपने प्राणो से हाथ धोता है।

पतगा रूपलोलुपता म दीपक की ज्योति में कूद पडता है और जलकर भस्म हो जाता है।

सर्प शब्दश्रवण को लोलुपता में मुरली के नाद स डोलने लगता है और मदारी के हाथा पड जाता है। फिर सारा जीवन टोकरे म पराधीन रहकर व्यतीत करना पडता है।

एक-एक इन्द्रिय की लोलुपता से प्राणिया की गति ऐसी बुरी होती है, तो पांचो इन्द्रिया की लोलुपता रखने वालो की क्या स्थिति होगी होगी ?

इन्द्रियों पर सम्पूर्ण संयम करने का कार्य तो साधुजीवन में ही संभव है, परन्तु गृहस्थ उनके विषयों की आसक्ति कम करें और शनैः २ उनका निग्रह करना सीखें, ऐसा इस नियम का आशय है।

टिप्पणियाँ

श्री हरिभद्रसूरिजी ने धर्मबिन्दु में और श्रीमानविजय जी उपाध्याय ने धर्मसंग्रह में गृहस्थ के सामान्य धर्म के रूप में मार्गानुसारी का वर्णन किया है, जबकि श्री हेमचंद्राचार्य ने योग शास्त्र के प्रथम प्रकाश में गृहस्थ धर्म का वर्णन करने से पूर्व इन गुणों को धारण करना आवश्यक माना है। इन गुणों के क्रम में कुछ अन्तर है तथा दो तीन गुणों में भी अन्तर है उनमें से श्री हेमचन्द्राचार्य के योगशास्त्र में प्रदर्शित क्रम का यहाँ अनुसरण किया गया है। उसके मूल श्लोक नीचे दिये जाते है –

न्यायसम्पन्नविभवः शिष्टाचारप्रशंसकः ।
कुलशीलसमैः सार्द्धं कृतोद्वाहोऽन्यगोत्रजैः ॥४७॥
पापभीरुः प्रसिद्धं च, देशाचारं समाचरन् ।
अवर्णवादी न क्वापि, राजादिषु विशेषतः ॥४८॥
अनतिव्यक्तगुप्ते च,स्थाने सुप्रातिवेश्मिके ।
अनेकनिर्गमद्वारविवर्जित निकेतनः ॥४९॥
कृतसंगः सदाचारैर्मातापित्रोश्च पूजकः ।
त्यजन्नुपप्लुतं स्थानमप्रवृत्तश्च गर्हिते ॥५०॥
व्ययमायोचितं कुर्वन् वेषं वित्तानुसारतः ।
अष्टभिर्धीगुणैर्युक्तः शृण्वानो धर्ममन्वहम् ॥५१॥
अजीर्णे भोजनत्यागी काले भोक्ता च सात्म्यतः ।
अन्योऽन्याप्रतिबन्धेन त्रिवर्गमपि साधयन् ॥५२॥
यथावदतिथौ साधौ दीने च प्रतिपत्तिकृत् ।
सदानभिनिविष्टश्च पक्षपाती गुणेषु च ॥५३॥
अदेशाकालयोश्चर्यां त्यजन् जानन् बलाबलम् ।

वृत्तस्थज्ञानवृद्धानां, पूजकः पोष्यपोषकः ॥५४॥
दीर्घदर्शी विशेषज्ञः, कृतज्ञो लोकवल्लभः ।
सलज्जः सदयः सौम्यः परोपकृतिकर्मठः ॥५५॥
अंतरंगारिषड्वर्ग - परिहारपरायणः ।
वशीकृतेन्द्रियग्रामो गृहिधर्माय कल्पते ॥५६॥

४–श्रावक धर्म

* श्रावक का अर्थ।
* श्रावक धर्म की योग्यता।
* श्रावक के व्रत सम्यक्त्व-मूलक हैं।
* सम्यक्त्व की धारणा।
* सम्यक्त्व के पाँच अतिचार।
* श्रावक के बारह व्रतों के नाम।
* (१) स्थूल-प्राणातिपात विरमण व्रत।
* (२) स्थूल मृषावाद विरमण व्रत।
* (३) स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत।
* (४) स्थूल मैथुनविरमण व्रत-परदारागमनविरमण-स्वदारा संतोष व्रत।
* (५) परिग्रह परिमाण व्रत।
* (६) दिक् परिमण व्रत।
* (७) भोगोपभोग परिमाण व्रत।
* (८) अनर्थदंड विरमण व्रत।
* (९) सामायिक व्रत।
* (१०) देशावकाशिक व्रत।
* (११) पोषध व्रत।
* (१२) अतिथिसंविभाग व्रत
* श्रावक की दिनचर्या।
* पर्व तथा वार्षिक कृत्य।

श्रावक का अर्थ :

श्रावक का सामान्य अर्थ है सुनने वाला (श्रृणोतीति श्रावकः) और विशेष अर्थ है जिन-वचनों को सुनने वाला। तात्पर्य यह है कि जो गृहस्थ भक्तिभाव से प्रेरित होकर श्री जिनेश्वरदेव के समीप जाता है अथवा श्री जिनेश्वरदेव की परम्परा में अवतरित हुए आचार्य, उपाध्याय अथवा साधु महात्मा के समीप जाता है और उनके मुख से निकलते हुए धर्मोपदेश का श्रवण करता है, वह श्रावक कहलाता है। जैन शास्त्रों का निम्न श्लोक श्रावक शब्द के अर्थ पर सुन्दर प्रकाश डालता है:—

> श्रद्धालुतां श्राति पदार्थचिन्तना—
> द्धनानि पात्रेपु वपत्यनारतम्।
> कृन्तप्यपुण्यानि सुसाधुसेवना-
> दतोऽपि तं श्रावकमाहुरुत्तमाः॥

'जो पदार्थों के अर्थात् नव तत्त्व के चिन्तन से श्रद्धा को पक्की करता है, पात्र में निरंतर धन का उपयोग करता है, सुसाधुओं की सेवा करके पाप को काट देता है इसलिए भी उत्तम पुरुषों में उसे श्रावक कहा है।'

श्रावक को श्राद्ध भी कहते है, क्योंकि जिन-प्रवचन, जिन-वाणी सुनकर उसमें श्रद्धान्वित होना उसका मुख्य लक्षण है।

जो नित्य विधिपूर्वक धर्मोपदेश का श्रवण करते हैं, उनके मन में से मिथ्यात्व का मल दूर होजाता है और सम्यक्त्व का सूर्य प्रकाशित होने लगता है। परिणामस्वरूप उनमें जीवा-जीवादि तत्त्वों पर श्रद्धा दृढ़ होती है, देव-गुरु धर्म पर दृढ़ अनुराग होता है और धर्माचरण द्वारा जीवन को [illegible] बनाने

का उत्साह जाग्रत होता है। ऐसे पुरुष दीर्घ विचार करके अपनी शक्ति के अनुसार श्रावक के व्रत ग्रहण करते हैं और इस प्रकार धर्माचरण की मध्यम भूमिका प्राप्त करके आत्मविकास में आगे बढ़ते हैं।

श्रावक धर्म की योग्यता :

जो गृहस्थ मार्गानुसारी होते हैं वे सामान्य रीति से श्रावक धर्म के योग्य गिने जाते हैं, फिर भी शास्त्रकारों ने उसके लिये कई विशिष्ट गुणों का प्रतिपादन भी किया है। इस सम्बन्ध में धर्मज्ञानप्रकरण में कहा है कि जो गृहस्थ–

(१) अक्षुद्र अर्थात् तुच्छ प्रकृतिवाला उतावला या छिछला न हो (परन्तु उदार, धीर और गंभीर हो)

(२) रूपवान् अर्थात् पाँचों इन्द्रियों की पूर्णता वाला हो। (तुतलाने वाला- लूला लंगड़ा न हो)

(३) प्रकृतिसौम्य अर्थात् स्वभाव से पापकर्म करने वाला न हो।

(४) लोकप्रिय अर्थात् लोकविरुद्ध कार्य न करने वाला हो।

(५) अक्रूर अर्थात् प्रशस्त चित्त वाला हो।

(६) भीरु अर्थात् इस लोक और परलोक के दुःख, अपयश, कलंक आदि से डरने वाला हो।

(७) अशठ अर्थात् किसी को न ठगनेवाला हो, विश्वासपात्र हो।

(८) सुदाक्षिण्य–अर्थात् अन्य जनों की उचित प्रार्थना का भंग करने वाला न हो।

(९) लज्जालु–अयोग्य कार्य करने में लज्जित होने वाला

हो, तथा हाथ में लिए कार्यों को पूर्ण करने वाला हो।

(१०) दयालु हो।

(११) मध्यस्थ अर्थात् किसी भी वस्तु का तटस्थ रूप से विचार करने वाला हो।

(१२) गुणानुरागी हो।

(१३) सत्कथक अर्थात् धर्मकथा में रुचिवाला और विकथा में अरुचि वाला हो।

(१४) सुपक्षयुक्त अर्थात् आज्ञाकारी, सदाचारी और धर्मकार्यों में सहायक परिवार वाला हो।

(१५) सुदीर्घदर्शी अर्थात् अच्छी दीर्घ दृष्टि वाला हो।

(१६) विशेषज्ञ हो।

(१७) वृद्धानुग अर्थात् ज्ञानवृद्ध आदि की सेवा करने वाला और उनकी शिक्षा का अनुसरण करनेवाला हो।

(१८) विनीत हो।

(१९) कृतज्ञ हो।

(२०) परहितार्थकारी हो।

(२१) लब्धलक्ष्य अर्थात् अपने लक्ष्य पर बराबर चित्त रखने वाला हो, धर्मकार्य में सावधान हो।

वह (श्रावक) धर्म रूपी रत्न ग्रहण करने के योग्य है।[२]

यहाँ यह भी स्पष्टीकरण किया गया है कि जिसमें ये इक्कीसों गुण हों, वह धर्मरत्न की प्राप्ति के लिये उत्तम पात्र है, उनमें से चौथाई भाग के गुण कम रखता हो वह मध्यम पात्र है और आधे भाग के गुणों की कमी जिसमें हो वह जघन्य पात्र है। जिसमें आधे से कम गुण हों वह धर्मरत्न प्राप्त करने के योग्य नहीं है।

श्राद्धविधिप्रकरण में इन गुणों को संक्षिप्त करके ऐसा कहा गया है कि जो भद्रप्रकृति, विशेष निपुणमति, न्यायमार्गप्रेमी और निज प्रतिज्ञा मे दृढ हो वह श्रावक धर्म के योग्य है।[3]

यहाँ इतना स्पष्टीकरण आवश्यक है कि अपेक्षा विशेष से इन गुणों का संक्षेप और विस्तार हो सकता है, इसलिए इसमें कोई तात्त्विक भेद न समझें। वास्तविकता यह है कि श्रावक धर्म ग्रहण करने वाले में अच्छे संस्कार होने चाहिये और उसके मन तथा हृदय का अमुक विकास हुआ होना चाहिये। जिसके मन में से जडता तमोगुण या मिथ्यात्व का नाश नहीं हुआ और जिसकी हृदय-पँखुडियों में से भावना की सुगन्ध प्रकट नहीं होती, वह श्रावकधर्म अर्थात् देशविरति चारित्र का अधिकारी नहीं।

श्रावक के व्रत सम्यक्त्वमूलक हैं।

यदि मूल हो तो स्कन्ध टिक सकता है और शाखा प्रशाखा का विस्तार होता है। इसी प्रकार सम्यक्त्व हो तो ही व्रत टिक सकते हैं और विशेष गृहस्थधर्म का विस्तार होता है इसलिए श्रावक के व्रत सम्यक्त्वमूलक अर्थात् सम्यक्त्वयुक्त माने गए हैं। श्री हेमचन्द्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि—

सम्यक्त्व मूलानि पञ्चाणुव्रतानि गुणास्त्रयः।
शिक्षापदानि चत्वारि व्रतानि गृहमेधिनाम्॥

'सम्यक्त्व पूर्वक पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत इस प्रकार गृहस्थ धर्म के बारह व्रत हैं।'[4]

आत्मा का विकासक्रम देखें तो उसमें से भी यही तत्त्व

निकलता है कि प्रथम आत्मा के साथ सम्यक्त्व का स्पर्श होता है, तब वह चौथे गुणस्थान को स्पर्श करता है और उसके बाद ही वह देशविरति के परिणाम वाला होने पर पाँचवे गुण-स्थान में आता है।

सम्यक्त्व की धारणा :

सम्यक्त्व की धारणा मे निम्नलिखित प्रतिज्ञा मुख्य होती है–

अरिहंतो मह देवो, जावज्जीवं सुसाहुणो गुरुणो।
जिणपण्णत्त तत्तं, इअ सम्मत्त मए गहिअ॥

'जीवन पर्यन्त अरिहत मेरे देव है, सुसाधु मेरे गुरु हैं और जिनेश्वरों द्वारा कथित तत्त्व ही मेरे लिये मान्य है। ऐसा सम्यक्त्व मैंने ग्रहण किया है।'

व्यवहार से सम्यक्त्व-पालन करने के लिये ६७ बोल आवश्यक माने गये है, जो इस प्रकार है : ४ सद्दहणाएँ, ३ लिंग, १० प्रकार का विनय, ३ शुद्धियाँ, ५ दूषणों का त्याग ८ प्रकार की प्रभावना, ५ भूषण, ५ लक्षण, ६ जयणाएँ, ६ आगार, ६ भावनाएँ और ६ स्थान।

४ सद्दहणाएँ–(१) परमार्थ संस्तव अर्थात् परमार्थ भूत जीवाजीवादि तत्त्वों का परिचय, (२) परमार्थ ज्ञातृसेवन अर्थात् जीवाजीवादि तत्त्वों के ज्ञाता, सवेग रंग में रमण करते हुए शुद्ध धर्म के उपदेशक गीतार्थ मुनियों की सेवा। (३) व्यापन्नवर्जन अर्थात् सम्यक्त्व से भ्रष्ट जनों का त्याग और (४) कुदृष्टिवर्जन अर्थात् मिथ्यात्वियों का त्याग।

३ लिंग (१) परमागम की शुश्रूषा–व्याख्यान श्रवणादि (२) धर्म साधन मे परम अनुराग और (३) देव गुरु का नियमपूर्वक वैयावृत्त्य

१० विनय–(१) अर्हंत, (२) सिद्ध, (३) चैत्य, (४) श्रुत, (५) धर्म, (६) साधु, (७) आचार्य, (८) उपाध्याय, (९) प्रवचन और (१०) दर्शन का।

३ शुद्धि–(१) मन शुद्धि (२) वचन शुद्धि और काय-शुद्धि।

५ दूषणों का त्याग–(१) शंका, (२) कांक्षा, (३) विचिकित्सा, (४) मिथ्यादृष्टिप्रशंसा और (५) मिथ्यादृष्टि-संस्तव (परिचय) का त्याग।

८ प्रभावना–(१) प्रावचनिक, (२) धर्म कथी, (३) वादी, (४) नैमित्तिक, (५) तपस्वी, (६) विद्यावान् (७) सिद्ध और (८) कवि होकर शासन की प्रभावना करना।

५ भूषण–(१) धर्म पालन में स्थिरता, (२) शासन की प्रभावना, (३) भक्ति, (४) क्रियाकुशलता और (५) तीर्थ-सेवन।

५ लक्षण–(१) शम, (२) संवेग, (३) निर्वेद, (४) अनुकंपा और (५) आस्तिक्य। ये लक्षण प्राधान्य गुण के अनुसार समझे जाएँ। उत्पत्ति के क्रम से सोचें तो यह क्रम उल्टा है अर्थात् प्रथम आस्तिक्य फिर अनुकंपा आदि।

६ यतना–(१-२) परतीर्थिक उनके देव और उनके द्वारा ग्रहण किए चैत्य का वन्दन न करना, तथा उनकी पूजा न करना। (३-४) परतीर्थिक को उनके देवों को, उनके द्वारा ग्रहण किये हुए चैत्यों को सुपात्र बुद्धि से दान न देना, तथा अनुप्रदान नहीं करना, अर्थात् भेंट आदि न चढाना। (५-६) परतीर्थिक के बिना बुलाए पहिले से उसके साथ बोलना नहीं अथवा उसके साथ लंबा वार्तालाप नहीं करना।

६ आगार-(१) राजाभियोग, (२) गुणाभियोग, (३) बलाभियोग, (४) देवाभियोग, (५) गुरुनिग्रह और (६) वृत्तिकांतार। तात्पर्य यह है कि राजा, लोकसमूह, अधिक बलवान्, देव या गुरु के कहने से तथा असाधारण कठिन प्रसंग में जीवन यापन करने के लिए इच्छा विरुद्ध कार्य करना पड़े तो दोष नहीं लगता।

६ भावनाएँ-(१) सम्यक्त्व चारित्ररूपी धर्मवृक्ष का मूल है। (२) सम्यक्त्व धर्मनगर में प्रवेश करने का द्वार है। (३) सम्यक्त्व धर्मरूपी महल की नींव है। (४) सम्यक्त्व ज्ञानदर्शन चारित्रादि गुणों की निधि है।(५)सम्यक्त्व चारित्र रूपी जीवन का आधार है और (६) सम्यक्त्व चारित्र रूपी रस का पात्र है, इस प्रकार बार बार सोचना।

६. स्थान-(१) जीव है, (२) वह नित्य है, (३) वह शुभाशुभ कर्म का कर्ता है, (४) वह शुभाशुभ कर्म फल का भोक्ता है, (५) वह सर्व कर्मों का क्षय करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है और (६) मोक्ष का उपाय सुधर्म है, इस प्रकार दृढ़तापूर्वक मानना।

सम्यक्त्व के पाँच अतिचार :

प्रतिज्ञापूर्वक निश्चित की हुई मर्यादा के उल्लंघन को अतिचार कहते हैं। व्रतधारी के लिए इन अतिचारों का ज्ञान होना भी आवश्यक है क्योंकि उसके बिना उससे मर्यादा का उल्लंघन कहाँ होता है, इसका स्पष्ट पता नहीं चल सकता, इसीलिए जैन शास्त्रों में व्रत के साथ अतिचारों का वर्णन भी किया गया है।

सम्यक्त्व के अतिचार पाँच हैं : शंका, कांक्षा, विचिकित्सा

कुदृष्टिप्रशसा और कुदृष्टिपरिचय ।

जिन वाणी की सत्यता के विषय मे सशय रखना सो शका'। जिनमत को छोडकर अन्य मत की इच्छा रखना (आकर्षित होना) सो 'काक्षा'। धार्मिक प्रवृत्ति का फल मिलगा या नही? ऐसा सोचना विचिकित्सा'है। जिसकी दृष्टि कुत्सित है वह कुत्सित अर्थात् मिथ्यामति। उसकी प्रशसा करना कुदृष्टिप्रशसा और कुगुरुओ से परिचय रखना कुलिंगीपरिचय। ये पाँचो वस्तुएँ सम्यक्त्व मे दूषण लगाने वाली होती है, अत इनकी गणना अतिचारो मे की गई है। श्रावक को इन अतिचारो से बचना चाहिए।

सम्यक्त्व की करनी :

सामान्यत सम्यक्त्व की प्राप्ति और प्राप्त सम्यक्त्व की अधिक निर्मलता के लिए प्रतिदिन देवदर्शन, पूजा, जिनवाणी-श्रवण सद्गुरु उपासना साधर्मिकभक्ति और सात क्षेत्र (जिनबिंब जिनचैत्य जिनागम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) की सेवा आदि सत्कृत्य आचरणीय होते है।

श्रावक के बारह व्रतों के नाम :

जैसा कि ऊपर बताया गया है—पाँच अणुव्रत तीन गुण व्रत और चार शिक्षा व्रत, ये गृहस्थ क अथवा श्रावक के बारह व्रत हैं जिनके नाम निम्नानुसार है

पाँच अणुव्रत :

१ स्थूल प्राणातिपात विरमण व्रत,
२ स्थूल मृषावाद विरमण व्रत,
३ स्थूल अदत्तादान विरमण व्रत,
४ स्थूल मैथुन विरमण व्रत,

५. परिग्रहपरिमाण व्रत।

तीन गुणव्रत :

६. दिक्परिमाण व्रत,
७. भोगोपभोगपरिमाण व्रत
८. अनर्थदंडविरमण व्रत।

चार शिक्षाव्रत :

९. सामायिक व्रत,
१०. देशावकाशिक व्रत,
११. पोषध व्रत,
१२. अतिथिसंविभाग व्रत।

प्रथम पाँच को अणुव्रत कहने का कारण यह है कि वे महाव्रतों की अपेक्षा बहुत छोटे हैं। बाद के तीन को गुणव्रत कहने का कारण यह है कि वे अणुव्रतों के लिए गुणकारी हैं, उपकारी हैं। शेष चार को शिक्षाव्रत कहने का कारण यह है कि वे मन वचन और काया को नियमित रखने की शिक्षा (तालीम) स्वरूप हैं।

(१) स्थूल प्राणातिपातविरमण व्रत :

हिंसा घोर पाप है। उससे यथाशक्ति बचने के लिये यह प्रथम व्रत धारण किया जाता है।

पाँच इन्द्रियाँ, कायबल, वचन बल, मनोबल, श्वासोच्छ्वास और आयुष्य ये दस प्राण कहलाते हैं। इनमें से जितने प्राण जिस जीव को प्राप्त हुए हों, उन प्राणों का अतिपात अर्थात् नाश करना प्राणातिपात कहलाता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी प्राणी को जान से मारा जाय, उसके अंगोपांग छेदे जाएँ, अथवा उसे कष्ट या पीड़ा, पहुँचाई जाए तो वह प्राणातिपात कहलाता है। हिंसा, हत्या, घात, विराधना, आदि उसके

पर्याय शब्द है। इस प्राणातिपात मेसे बचने की-दूर रहने की क्रिया प्राणातिपातविरमण और तत्सबधी व्रत धारण प्राणातिपातविरमण व्रत कहलाता है। इस व्रत का साधु सर्वांश मे पालन करते हैं इसलिये वह सर्वथा प्राणातिपातविरमण है। उसकी तुलना मे गृहस्थ का यह व्रत अमुक अश रूप अर्थात् बहुत अपवाद वाला होता है अत इसके साथ स्थूल विशेषण प्रयुक्त होता है।

गृहस्थ द्वारा इस व्रत के सबध मे 'निरपराधी त्रस जीवो की सकल्पत तथा निरपेक्ष रूप से हिंसा न करना' ऐसी प्रतिज्ञा ग्रहण की जाती है। इसका वास्तविक अर्थ क्या होता है सो दखे।

जीव दो प्रकार के हैं . त्रस और स्थावर। उनमे गृहस्थ त्रस जीवो की हिंसा छोड सकते हैं, परन्तु स्थावर जीवो की हिंसा सर्वांश रूप म नही छोड सकते, उसके लिये यथाशक्ति प्रयत्न अवश्य कर सकते हैं। इस प्रकार पापत्याग का भरसक प्रयत्न करने को यतना (जयणा) कहते है।

त्रस जीवो मे कई निरपराधी और कई सापराध हो सकते है। जिसन किसी भी प्रकार का अपराध न किया हो वह निरपराधी और जिसने किसी भी प्रकार का अपराध किया हो वह सापराध। कोई अपने ऊपर अथवा परिवार पर आक्रमण करे, गाँव मे डाका डाले, धर्मस्थान लूटे अथवा नष्ट करे, देश पर चढाई करे अन्य प्रकार से धन सम्पत्ति आदि को हानि पहुँचाए तो वह सापराधी गिना जाता है। ऐसे सापराधो को गृहस्थ बिल्कुल नही छोड सकता, अर्थात् रक्षार्थ उसके साथ सघर्ष करता है और उसे उचित दड भी या सजा भी देता है। इसलिये गृहस्थ के लिये निरपराधी त्रस जीवों

की हिंसा का त्याग और सापराधी की यतना होती है।

निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा दो प्रकार से होती है: एक तो संकल्पपूर्वक अर्थात् निश्चय पूर्वक और दूसरी आरंभ से अर्थात् जीवन की आवश्यकता के लिये की जानेवाली प्रवृत्ति से। इन दो प्रकार की हिंसा में से गृहस्थों को संकल्पपूर्वक निरपराधी त्रस जीवों की हिंसा करने का त्याग और आरंभ की यतना होती है।

निरपराधी त्रस जीवों की संकल्प से हिंसा दो प्रकार से होती है: एक तो निरपेक्ष रूप से और दूसरी सापेक्ष रूप से। इनमें विना विशेष कारण के निर्दयता पूर्वक ताड़न करना अथवा अन्य प्रकार से दुःख पहुँचाना निरपेक्षतया हिंसा है और कारणवशात् बंधन, ताड़न आदि करना पड़े तो सापेक्ष हिंसा है। गृहस्थ अपनी आजीविका के लिये हाथी, घोड़े, ऊंट, बैल, गाय, भैंस आदि का पालन करते है, जिन्हें कई वार कारणवश पीटना पड़ता है। इसी प्रकार पुत्र पुत्रियों को सुशिक्षा देने के लिये भी ताड़न-तर्जन करना पड़ता है। इसलिये गृहस्थों के लिये निरपराधी त्रस जीवों की संकल्पपूर्वक निरपेक्ष रूप से होने वाली हिंसा का त्याग होता है और सापेक्षतया होने वाली हिंसा की यतना होती है।

साधुओं और गृहस्थों के अहिंसा-पालन का स्पष्ट भेद समझने के लिये उन्हें बीस विस्वा और सवा विस्वा कहते हैं। साधु त्रस और स्थावर दोनों की हिंसा के त्यागी होते हैं अतः वे बीस विस्वा। गृहस्थ उनमें से त्रस की हिंसा का त्याग करते हैं, अतः वे दस विस्वा रहे। इन त्रस जीवों में भी निरपराधी की ही हिंसा छोड़[illegible] हैं और सापराधी की यतना रखते हैं।

अत शेष रहे पांच विस्वा। निरपराधी में भी संकल्पपूर्वक हिंसा का त्याग और आरंभ की यतना होने से शेष रहे ढाई विस्वा। उसमें भी निरपेक्ष का त्याग और सापेक्ष की यतना होती है, अत. शेष रहा सवा विस्वा। परन्तु इतना पालन भी गृहस्थों के लिये कल्याणकारी है, इससे हृदय में अहिंसा, दया, करुणा या अनुकम्पा का स्रोत बहने लगता है और उसका उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है।

निम्न लिखित कार्य प्रथम व्रत में अतिचार रूप माने जाते हैं –

(१) वध–कोई भी प्राणी मर जाएगा इस बात की परवाह किये बिना उस पर प्रहार करना। (२) वध–मनुष्य पशु, आदि को गाढे बंधन से बांधना। (३) छविच्छेद–मनुष्य, पशु आदि की चमडी अथवा उसके अंगोपांगों को छेदना आदि। रोग के शमन के लिये अंगोपांग छेदने पड़े अथवा दागना पड़े उसका समावेश इसमें नहीं होता। (४) अति भार–मनुष्य अथवा पशु से उसकी शक्ति से परे बोझ उठवाना और (५) भक्त पान विच्छेद–आश्रित नौकर तथा पशु आदि को समय पर आहार पानी न देना।

२. स्थूल मृषावाद-विरमण व्रत

कुपथ्य से जैसे रोग की वृद्धि होती है, वैसे ही मृषावाद से वैर, विरोध और अविश्वास की वृद्धि होती है तथा प्रतिष्ठा का नाश होता है इसलिये जैन महर्षियों ने उसका त्याग करने का शुभ उपदेश दिया है। इस उपदेश का यथाशक्ति पालन करने के लिये द्वितीय व्रत की योजना है।

मृषा बोलना = मृषावाद। मृषा अर्थात् अप्रिय, अपथ्य

तथा अतथ्य । जो शब्द सुनने में कठोर हों वे अप्रिय, परिणाम जिनका लाभकारी न हो वे अपथ्य, और सत्य वस्तु से रहित हों वे अतथ्य । ऐसे मृषावाद से बचने का जो स्थूल व्रत है यह स्थूल मृषावादविरमण व्रत कहलाता है ।

इस व्रत से पांच बड़े झूठों-मिथ्या वचनों (अलीकों) का त्याग किया जाता है और शेष की यतना होती है ।

पांच बड़े झूठों (अलीकों) की गणना निम्न प्रकार से होती है:-(१) कन्यालीक—कन्या, दास-दासी आदि मनुष्यों के विषय में अलीक बोलना जैसे—कन्या सुन्दर हो फिर भी कुरूप बताना, अथवा कुरूप हो तो सुन्दर कहना आदि । (२) गवालीक-गाय आदि पशु के संबंध में अलीक बोलना जैसे—गाय कम दूध देनेवाली हो फिर भी अधिक दूध देनेवाली कहना, अधिक बछड़े हुए हों, फिर भी कम बछड़ों वाली कहना, आदि । (३) भूम्यलीक—भूमि, मकान आदि के संबंध में अलीक बोलना । (४) न्यासापहार—किसी ने धरोहर रक्खी हो उसे झूठ बोलकर हड़प जाना (५) कूट साक्षी—न्यायालय, कचहरी, पंचादि के समक्ष झूठी गवाही देना ।

निम्नलिखित पांच वस्तुएं इस व्रत में अतिचार रूप गिनी जाती हैं:-(१) सहसाभ्याख्यान—बिना सोचे किसी पर आरोप लगाकर उसे दोषी ठहराना । (२) रहस्याभ्याख्यान—किसी के गुप्त रहस्य अन्य के सामने कह देना । (३) स्वदार मंत्र-भेद—अपनी स्त्री की गुप्त बातें प्रकट करना । व्रत लेने वाली स्त्री हो तो इससे विपरीत समझें । (४) मृषोपदेश—किसी को गलत सलाह-शिक्षा देना या झूठ बोलने के लिये कहना ।

(५) कूटलेख–झूठे चोपडे, झूठे दस्तावेज अथवा झूठे कागज बनाना।

३ स्थूल-अदत्तादानविरमण-व्रत :

जैन महर्षियो ने कहा कि 'अग्नि-शिखाओ का पान करना अच्छा, सांप के मुख का चुवन करना अच्छा, अथवा हलाहल विष को चाटना अच्छा है परन्तु दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना अच्छा नही।' इस सिद्धान्त का जीवन मे यथाशक्ति पालन हो इसके लिये तृतीय व्रत की योजना है।

अदत्त अर्थात् स्वामी द्वारा सहर्ष न दिया हुआ, उसका आदान अर्थात् ग्रहण करना सो अदत्तादान। उससे बचने का जो स्थूल व्रत होता है उसे स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत कहते हैं।

इस व्रत मे छोटी बडी सब तरह की चोरी का त्याग किया जाता है।

निम्नलिखित पाँच वस्तुएँ इस व्रत मे अतिचार रूप मानी जाती है (१) स्तेनाहृतग्रहण–चोर द्वारा लाया हुआ माल रखना। (२) स्तेनोत्तेजक–वचन प्रयोग–चोर को चोरी करने मे उत्साह मिले ऐसे वचन बोलना, जैसे–आजकल बेकार क्यों बैठे हो ? तुम्हारा माल न बिकता हो तो हम बेच देंगे आदि। (३) तत्प्रतिरूपक्रिया–एक वस्तु मे उसी के जैसी दूसरी वस्तु मिला देना। जैसे घी म वेजिटेबल, आटे मे चॉक, दूध मे पानी आदि (४) राज्यविरुद्ध गमन–राज्य के जिन नियमों का उल्लघन करने से दडनीय बनना पड ऐसा आचरण करना जैसे चुगी की चोरी, कर की चोरी आदि। (५) कूट तुला-कूटमान-व्यवहार झूठे तोल और झूठे माप का उपयोग करना।

४ स्थूल-मैथुन-विरमणव्रत अर्थात् परदारागमन-विरमण-स्वदारासंतोष व्रत।

जैन महर्षियों ने कहा है कि 'ब्रह्मचर्य धर्म रूपी पद्मसरोवर की मेंड है, गुणरूपी महा रथ का जुंआ है, व्रत नियम रूपी धर्म-वृक्ष का तना है और शील रूपी महानगर के द्वार की अर्गला है, जिसने ब्रह्मचर्य की आराधना की, उसने सभी व्रत शील, तप, संयम, गुप्ति और मुक्ति की भी आराधना की समझें।' इस उपदेश का यथाशक्ति पालन करने के लिये चतुर्थ व्रत की योजना है।

परदारा अर्थात् दूसरे की स्त्री। उसके साथ गमन करने से बचने का व्रत परदारागमनविरमण व्रत; और स्वदारा अर्थात् अपनी स्त्री। उससे संतुष्ट होने का व्रत स्वदारासंतोष व्रत कहलाता है। परदारा गमन में विधवा, कुमारी कन्या, तथा वेश्या आदि के साथ गमन करने का स्पष्ट निषेध अपने मन को नहीं लगता, जब कि स्वदारासंतोष व्रत में अपनी पत्नी को छोड़कर सभी स्त्रियों का त्याग होता है, अतः प्रथम की अपेक्षा यह दूसरा व्रत अधिक ऊँचा है।

निम्न लिखित पाँच वस्तुएँ परदारागमन विरमण व्रत में अतिचार रूप मानी जाती हैं: (१) अपरिगृहीतागमन-जिस स्त्री का लग्न हो चुका हो वह परिगृहीता और न हुआ हो वह अपरिगृहीता। उसके साथ गमन करना अपरिगृहीतागमन। (२) इत्वरगृहीतागमन-इत्वर अर्थात् अल्प काल। अल्प काल के लिये ग्रहण की हुई इत्वरगृहीता; तात्पर्य यह है कि जो स्त्री अल्पकाल के लिए किसी की रखेली रही हो वह किसी की नियमानुसार दारा नहीं होती ऐसा मानकर उसके साथ

(५) कूटलेख–झूठे चोपड़े, झूठे दस्तावेज अथवा झूठे कागज बनाना।

२ स्थूल-अदत्तादानविरमण-व्रत :

जैन महर्षियों ने कहा कि 'अग्नि-शिखाओं का पान करना अच्छा, सर्प के मुख का चुंबन करना अच्छा, अथवा हलाहल विष को चाटना अच्छा है परन्तु दूसरे के द्रव्य का अपहरण करना अच्छा नहीं।' इस सिद्धान्त का जीवन में यथाशक्ति पालन हो इसके लिये तृतीय व्रत की योजना है।

अदत्त अर्थात् स्वामी द्वारा सहर्ष न दिया हुआ, उसका आदान अर्थात् ग्रहण करना सो अदत्तादान। उससे बचने का जो स्थूल व्रत होता है उसे स्थूल अदत्तादानविरमण व्रत कहते हैं।

इस व्रत से छोटी बड़ी सब तरह की चोरी का त्याग किया जाता है।

निम्नलिखित पाँच वस्तुएँ इस व्रत में अतिचार रूप मानी जाती है (१) स्तेनाहृतग्रहण–चोर द्वारा लाया हुआ माल रखना। (२) स्तेनोत्तेजक–वचन प्रयोग–चोर को चोरी करने में उत्साह मिले ऐसे वचन बोलना, जैसे–आजकल बेकार क्या बैठे हो? तुम्हारा माल न बिकता हो तो हम बेच देंगे आदि। (३) तत्प्रतिरूपक्रिया–एक वस्तु में उसी के जैसी दूसरी वस्तु मिला देना। जैसे घी में वेजिटेबल, आटे में चॉक, दूध में पानी आदि (४) राज्यविरुद्ध गमन–राज्य के जिन नियमों का उल्लंघन करने से दंडनीय बनना पड़े ऐसा आचरण करना जैसे चुंगी की चोरी, कर की चोरी आदि। (५) कूट तुला-कूटमान-व्यवहार-झूठे तोल और झूठे माप का उपयोग करना।

रखना परिग्रह है। गृहस्थ इस परिग्रह का सर्वथा त्याग नहीं कर सकते, क्योंकि जीवन-निर्वाह के लिये उसे धनादि की आवश्यकता रहती है और वह भीख नहीं माँग सकता। परन्तु वह अपनी आवश्यकताओं को कम करके तथा धनादि का ममत्व घटा कर परिग्रह का परिमाण कर सकता है, अर्थात् उसकी मर्यादा बाँध कर संतोषमय-सुखी जीवन यापन कर सकता है।

सामाजिक दृष्टि से भी यह व्रत बड़ा महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इससे एक ही स्थान पर धन का संग्रह होने से रुकता है और उसका सर्वत्र संतुलित रूप से वितरण होता है। आज पूँजीपति और श्रमिक ऐसे जो दो वर्ग बने हुए हैं, उनका निवारण करने की सच्ची कुंजी इस व्रत में है, अतः समाज के सूत्रधारों को यथाशक्ति इसका अधिक से अधिक प्रचार करना चाहिए।

यदि परिमाण की अपेक्षा धनादि की वृद्धि हो तो उसको सन्मार्ग में व्यय कर देना चाहिए। यदि ऐसा न करके एक या अन्य बहाने से उसके परिमाण का अतिक्रमण किया जाए तो अतिचार लगता है। इस व्रत में निम्नलिखित पाँच वस्तुएँ अतिचार रूप मानी गई हैं:-(१) धन धान्य परिमाणातिक्रमण (२) क्षेत्र वास्तु (खेत, बाग, मकान आदि) परिमाणातिक्रमण। (३) रौप्य-सुवर्ण-परिमाणातिक्रमण (४) कुप्य (अन्य धातु का) परिमाणातिक्रमण और (५) द्विपद-चतुष्पद परिमाणातिक्रमण।

पाँच अणुव्रतों से मनुष्य के जीवन में अहिंसा, सत्य, अचौर्य ब्रह्मचर्य और ममत्व त्याग ये पाँच उत्तम गुण विकसित होते हैं और ये उसके जीवन को उत्तरोत्तर उज्ज्वल बनाते हैं।

गमन करने से दूसरा अतिचार लगता है। (३) अनगक्रीडा कामवासना को जागृत करने वाली क्रियाओं का आश्रय लेना। (४) परविवाहकरण–अपने पुत्र पुत्री जिनका उत्तरदायित्व अपने सिर पर ही हो उनके अतिरिक्त अन्य जना के विवाह करना और (५) तीव्र अनुराग–विषय भोग करने की तीव्र अभिलाषा।

स्वदारासतोष व्रत लेने वाले के लिये इनमे से प्रथम दो वस्तुए अनाचार रूप है और शेष तीन वस्तुएँ अतिचार रूप हैं। अनाचार से व्रत खंडित होता है अतिचार से व्रत मे दोष लगता है।

इस चौथे व्रत को धारण करने वाले के लिए पर्व दिनो म स्त्री का गर्भावस्था के दिनो मे प्रसूति के पश्चात् तीन मास तक तथा दिन के भाग म स्वस्त्री के साथ भी मैथुन-सेवन का त्याग करना आवश्यक है।

५ परिग्रह परिमाणव्रत–

जैन महर्षियो के वचन हैं कि जैसे अधिक भार से भरा हुआ भारी जहाज समुद्र मे डूब जाता है, वैसे ही परिग्रह के ममत्व रूपी भार स प्राणी ससार रूपी समुद्र मे डूब जाते है, अत परिग्रह का त्याग करना चाहिए। अधिक परिग्रह रखने वाले मनुष्य को विषय रूपी चोर लूट लेते हैं काम रूपी अग्नि जला देता है और वनिता रूपी शिकारी उसके मार्ग मे अवरोध डालते हैं। सक्षेप मे कि परिग्रह पाप का मूल है अत उसका अवश्य त्याग करना चाहिये।

अपने लिए धन धान्य, क्षेत्र, वास्तु (मकान), चाँदी, सोना गृह सामग्री द्विपद (नौकर चाकर) और चतुष्पद

करता आया है, फिर भी उसे तृप्ति नहीं हुई, आज भी वह भोगोपभोग के पीछे भूला हुआ भटकता है और उसके कारण हिंसा, असत्य, चोरी, परिग्रह आदि पाप करता है तथा भोगोपभोग की अतिशयता के कारण वह अनेक रागादि दोषों की वृद्धि और अनेक प्रकार की व्याधियों का भोग बनता है और चित्त की स्वस्थता खो बैठता है, उसके कर्मसंचय में वृद्धि होती है। इन सब कारणों से भोगोपभोग की लोलुपता पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है और आरम्भ समारम्भ से बचकर विषय कषाय की वासनाएँ कम करके दर्शन-ज्ञान-चारित्र के अधिकारी बनने की आवश्यकता है। इसलिए इस विशिष्ट व्रत की योजना की गई है।

भोग की वस्तुओं में आहार पानी मुख्य है। उसमें बाईस अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग अवश्य करना चाहिये और शेष की मर्यादा बांधनी चाहिये। अवश्य त्याज्य बाईस अभक्ष्यों के नाम निम्न प्रकार से है :

(१) बड़ के फल,
(२) पीपल के फल,
(३) ऊंबर (गूलर),
(४) अन्जीर,
(५) काकोदुंबर,

इन फलों में सूक्ष्म त्रस जीव बहुत होते है, तथा बीजों की संख्या अधिक होती है इसलिए अभक्ष्य गिने गये है।

(६) प्रत्येक प्र[illegible] की मदिरा—उसमें तद्वर्ण के असंख्य [illegible] है, यह [illegible] को बढ़ाती है तथा महाव्यसन रूप

इन गुणो को पुष्टि के लिए तीन गुणव्रतो की योजना है, अब उनका परिचय प्राप्त कर।

(६) दिक्‌परिमाण व्रत :

दिक् अर्थात् दिशा, उसका परिमाण अर्थात् सीमा निर्धारण करना। यह दिक्‌परिमाण नामक प्रथम गुण व्रत है। इस व्रत से ऊपर, नीचे, उत्तर, दक्षिण, पूर्व, पश्चिम तथा चारो कोना म कितनी दूर जाया जा सकता है और आगे नहीं जाना इसकी मर्यादा निर्धारित की जाती है। यदि ऐसी मर्यादा न हो तो मनुष्य धन्धे के लिए कितना ही दूर चला जाय और अनेक प्रकार के आरम्भ समारम्भ कर ले अत इस व्रत मे हिंसा और परिग्रह दोनो पर नियन्त्रण रहता है।

इस व्रत मे पाच अतिचार—(१) ऊर्ध्व परिमाणातिक्रम, (२) अध परिमाणातिक्रम (३) तिर्यक् परिमाणातिक्रम, (४) क्षेत्रवृद्धि—एक दिशा की सीमा कम करके दूसरी दिशा की सीमा वृद्धि करना। (५) स्मृत्यन्तर्धान—गमन प्रारम्भ करने के बाद म कितनी दूर आया हूँ अथवा इस दिशा मे मुझसे कितना दूरी स आग नहीं जाया जा सकता यह भूल जाना।

(७) भोगोपभोगपरिमाण व्रत :

जो वस्तु एक बार भोगी जाय वह भोग जैसे—आहार, पानी स्नान उबटन विलेपन पुष्प माला आदि, और जो वस्तु अनेक बार भोगी जाय वह उपभोग जैसे—वस्त्र, आभूषण, शयन आसन वाहन आदि। इन भोगोपभोग की वस्तुओ का परिमाण करना—नियमन करना भोगोपभोगपरिमाण नामक द्वितीय गुण व्रत है।

यह जीव अनादि काल स अनेक प्रकार के भोगोपभोग

अन्तर न हो, अर्थात् उनके रहने के स्थान अलग अलग न हों उसे बहुबीज कहते है। बेंगन, चिभड़िये, टींबरू, करौंदे, खसखस, राजगिरि, पंपोटे, (रसभरी) आदि इस प्रकार की वस्तुएं हैं। दाडिम, सीताफल, आल, ककड़ी करेले, तुरई बहुबीज नहीं, क्योकि उनमें बीजों के बीच अन्तर होता है। बहु बीज वाली वस्तु विशेष जीवहिंसा के कारण तथा चित्त का प्रकोप बढाने वाली होने से अभक्ष्य है।

(१६) **अनंतकाय**–एक-एक शरीर में अनन्त जीव होते हैं ऐसी साधारण वनस्पति को अनंतकाय कहते हैं। विशेष जीव-हिंसा के कारण वह अभक्ष्य है। सूरण, वज्रकंद, कच्ची हल्दी, अदरक, कच्चा कचूर, आलू आदि इसीलिए अभक्ष्य हैं।

(१७) **बोल अचार**–कच्ची केरी, नींबू, मिर्च, गूदे आदि वस्तुओं का पक्की चाशनी अथवा तीन दिन बराबर धूप मे रक्खे विना किया हुआ अचार बोल अचार कहलाता है। इसमें जीवोत्पत्ति होती है। इसलिए अभक्ष्य है।

(१८) **विदल**–कच्चे गोरस के साथ द्विदल का संयोग होते ही जीवों की उत्पत्ति होती है अतः अभक्ष्य है।

(१९) **बैंगन**–बहुबीज होने से बेंगन का निषेध होता है, फिर भी उसमें और भी अधिक दोष होने से उसकी गणना अलग विशेष अभक्ष्य वस्तु में की गई है। इसकी टोपी में सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं, उसे खाने से निद्रा में वृद्धि होती है, पित्त बढ़ता है, मन में विकारोत्पत्ति होती है और परिणाम निष्ठुर बनते हैं।

(२०) **अज्ञात फल-फूल**–इन्हें खाने से रोग होता है और कभी-कभी प्राण हानि भी होती है, अतः ये अभक्ष्य हैं।

(७) **मास**–इसमे भी तद्वर्ण के असख्य जन्तु होते हैं, यह तमोगुणवर्धक होता है और घोर हिंसा के विना इसकी उत्पत्ति हो नही सकती, अत अभक्ष्य है।

(८) **मधु** (शहद)–शुचि अशुचि पुद्गलो से बनता है, और महा हिंसा से इक्ट्ठा किया जाता है।

(९) **मक्खन**–इन दोनो मे भी तद्वर्ण के असख्य जन्तु होते है अत अभक्ष्य है। घी की गणना भक्ष्य मे होती है क्योकि मक्खन को गर्म करने पर उसका स्वरूप परिवर्तित होता है।

(१०) **हिम** (बर्फ)

(११) **ओल**–ये दोनो वस्तुए अनावश्यक और विकारी होने से अभक्ष्य है।

(१२) **विष** प्राण नाश करता है और अफीम, सोमल आदि थोड़ थोड़ लेने की आदत बनने से उनका व्यसन हो जाता है और जीवन की बरबादी होती है अत अभक्ष्य है।

(१३) **सब प्रकार की मिट्टी**–मिट्टी मानव का भोजन नही है। इसका भक्षण करने से पाडु आदि रोग होजाते हैं अत अभक्ष्य है।

(१४) **रात्रिभोजन**–सूर्यास्त होने के बाद और दूसरे दिन सूर्योदय होने से पूर्व भोजन करना रात्रिभोजन कहलाता है। उसमे जीवहिंसादि अनेक दोष होने के कारण अभक्ष्य है। (प्रकृति के नियमानुसार कई सूक्ष्म जन्तु सूर्यास्त के पश्चात् वातावरण मे फिरने लग जाते हैं। इनके भोजन मे गिरने से हिंसा होती है)।

(१५) **बहुबीज**–जिसमे बीज अधिक हो और बीच मे

८ ९ १० ११ १२ १३ १४
वाहण सयण विलेवण बंभ दिसि एहाण भत्तेसु ॥

(१) सचित्तनियम–भोजन में सचित्त द्रव्य निश्चित परिमाण से अधिक उपयोग में नहीं लेना।

(२) द्रव्यनियम–भोजन में कुल द्रव्य अमुक संख्या से अधिक नहीं लेना।

(३) विकृतिनियम–भोजन में छः विकृतियों–विगइयों में से अमुक विगइ का त्याग करना।

(४) उपानहनियम–अमुक संख्या से अधिक जूतों का उपयोग न करना।

(५) तम्बोलनियम–सारे दिन में अमुक परिमाण से अधिक तांबूल-पान मुखवास का उपयोग न करना।

(६) वस्त्रनियम–अमुक संख्या से अधिक वस्त्र काम में न लेना।

(७) पुष्पादिभोगनियम–भिन्न-भिन्न हेतुओं से प्रयोग में लिए जाते पुष्पों का परिमाण नियत करना। सुगंधित वस्तुओं को सूंघने का भी परिमाण नियत करना।

(८) वाहननियम–रथ, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, मोटर रेल, विमान आदि की संख्या नियत करना।

(९) शयननियम–शय्यादि की संख्या नियत करना।

(१०) विलेपननियम–विलेपन तथा उद्वर्तन के द्रव्यों की संख्या व मात्रा नियत करना।

(११) ब्रह्मचर्यनियम–दिन में अब्रह्म सेवन करना श्रावक के लिये वर्ज्य है। रात्रि की यतना आवश्यक है। तत्संबंधी नियम धारण करना।

(२१) तुच्छ फल–जिसमे खाने योग्य कम हो और फेंकने योग्य अधिक हो उसे तुच्छ फल कहते हैं अथवा तुच्छौषधि कहते हैं। बेर, पीलू, कटेड के फल आदि इसमे आते हैं। उनके भक्षण से उदरपूर्ति होती नही और दोष तो चढ़ना ही है अत अभक्ष्य है।

(२२) चलित रस–जिसका रस अर्थात् स्वाद या परिणाम बदल जाए उसे चलित रस कहते हैं। सडी गली और बासी वस्तुओ का समावेश इसमे होता है।

श्रावक को मुख्य रूप से भोजन मे सचित्त वस्तु अर्थात् जिसमे चेतनता या अश हो उसका त्याग करना चाहिये और अचित्त वस्तु का ही उपयोग करना चाहिये। यदि सचित्त का सम्पूर्ण त्याग न हो सके तो उसका परिमाण निश्चित करना चाहिये।

इस व्रत के धारणकर्त्ता को जीवन भर दैनिक उपयोग के लिए सचित्त द्रव्य विगई, वस्त्र, दन्तकाष्ठ, अभ्यगन (शरीर पर तेल मालिश का किया), उद्वतन (उबटन), स्नान, विलेपन आदि के लिए चन्दनादि आभरण, पुष्प, पुष्पमाला, फल, धूप आसन (सज, बैंच, कुर्सी) शयन (पलग बिस्तर) आदि का परिमाण नियत करना चाहिये तथा अशन पान-खादिम, और स्वादिम की संख्या भी नाम सहित निश्चित करनी चाहिये। शेष सभी वस्तुओ का त्याग करना चाहिये। इसके लिये नीचे दी गई गाथा के अनुसार चौदह नियम धारण किये जाते।

सचित्त[१] दव्व[२] विगइ[३] वाणह[४] तबोल[५] वत्थ[६] कुसुमेसु[७]।

८   ९   १०   ११   १२   १३   १४
वाहण सयण विलेवण बंभ दिसि ण्हाण भत्तेसु ॥

(१) सचित्तनियम—भोजन में सचित्त द्रव्य निर्दिष्ट परिमाण से अधिक उपयोग में नहीं लेना ।

(२) द्रव्यनियम—भोजन में कुल द्रव्य अमुक संख्या से अधिक नहीं लेना ।

(३) विकृतिनियम—भोजन में छः विकृतियों–विगइयों में से अमुक विगइ का त्याग करना ।

(४) उपानहनियम—अमुक संख्या से अधिक जूतों का उपयोग न करना ।

(५) तम्बोलनियम—सारे दिन में अमुक परिमाण से अधिक तांबूल-पान मुखवास का उपयोग न करना ।

(६) वस्त्रनियम—अमुक संख्या से अधिक वस्त्र काम में न लेना ।

(७) पुष्पादिभोगनियम—भिन्न-भिन्न हेतुओं से प्रयोग में लिए जाते पुष्पों का परिमाण नियत करना । सुगंधित वस्तुओं को सूंघने का भी परिमाण नियत करना ।

(८) वाहननियम—रथ, हाथी, घोड़ा, ऊँट, गाड़ी, मोटर रेल, विमान आदि की संख्या नियत करना ।

(९) शयननियम—शय्यादि की संख्या नियत करना ।

(१०) विलेपननियम—विलेपन तथा उद्वर्तन के द्रव्यों की संख्या व मात्रा नियत करना ।

(११) ब्रह्मचर्यनियम—दिन में अब्रह्म सेवन करना श्रावक केलिये वर्ज्य है । रात्रि की यतना आवश्यक है । तत्संबंधी नियम धारण करन

(१२) दिग्नियम–दिशा सबंधी जो सीमा आगे निर्धारित की हो, उसे व्रत के समय कम करना।

(१३) स्नाननियम–स्नान का परिमाण नियत करना।

(१४) भक्तनियम–आहार-परिमाण भी नियत करना। इसके अतिरिक्त पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, असि, मसि और कृषि सबधी परिमाण तथा त्रस काय की रक्षा का नियम ग्रहण किया जाता है।

जीवन भर के लिए कुछ विस्तार से ये नियम धारण किये हुए होते हैं, उनसे नित्य दिन-रात के लिये इन नियमों का सकोच करके धारण करते है और प्रातः के साय तथा साय के प्रात सम्हाल लिये जाते हैं।

इस व्रत में भागोपभोग के पदार्थ प्राप्त करने के उपाय रूप कर्म (व्यापार-धन्धे) का भी विवेक करना होता है, अर्थात् अधिक हिंसा होती हो ऐसे निम्नलिखित पन्द्रह कर्मादान छोड़ देने होते हैं –

(१) अगारकर्म–अग्नि का विशेष प्रयोग हो ऐसे धधे जैसे भट्टी, होटल, टावा आदि।

(२) वनकर्म–वनस्पति को काटकर बेचने का बाग आदि का धधा।

(३) शकटकर्म–बैलगाडियाँ बनाकर बेचने का धधा।

(४) भाटककर्म–गाड़ी, पशु आदि किराये पर देने का धन्धा।

(५) स्फोटक कर्म–पृथ्वी तथा पत्थर की खान आदि खादन का धधा।

(६) दन्तवाणिज्य–हाथीदाँत आदि का व्यापार।

(७) लाक्षावाणिज्य—लाख, चंपक आदि का व्यापार।

(८) रसवाणिज्य—तेल आदि का व्यापार।

(९) केशवाणिज्य—मनुष्य तथा पशु का या पशु के केश, ऊन आदि का व्यापार।

(१०) विषवाणिज्य—जहर और जहरीले पदार्थों का व्यापार।

(११) यंत्रपीलनकर्म—अनाज, बीज तथा फल-फूल कुचलने-पेरने का काम, यंत्र चलाकर किया जाता धंधा।

(१२) निर्लाछनकर्म—पशुओं के अंगों को छेदना, दाग देना आदि काम, बालक के नाक, कान बींधने आदि का धंधा।

(१३) दवदानकर्म—वन, खेत, आदि को आग लगाने का काम।

(१४) जलशोषणकर्म—सरोवर, तालाब, तथा कुंए आदि सुखाने का काम।

(१५) असतीपोषण—कुलटा या व्यभिचारिणी स्त्रियों के पोषण अथवा हिंसक प्राणियों को बड़े करके बेचने का काम।

निम्न लिखित पांच वस्तुएँ इस व्रत में अतिचार रूप मानी जाती हैं:—(१) सचित्त आहारभक्षण—परिमाण से अधिक सचित्त आहार का ध्यान न रहने से उपयोग करना। (२) सचित्तप्रतिबद्धाहारभक्षण—सचित्त से संबंधित वस्तुएँ मुख में रखना। (३) संमिश्र आहारभक्षण—सचित्त और अचित्त मिश्रित वस्तु मुख में रखना। (४) अभिषवाहार-भक्षण—अधिक मादक द्रव्यों से बनी हुई वस्तु का उपयोग करना अथवा (५) अपक्वाहारभक्षण, दुष्पक्वाहार-

प्रमाण–जो पूरी तरह राधा न गया हो ऐसा आधा कच्चा-पक्का भोजन करना।

(८) अनर्थदंड विरमण व्रत

जो हिंसा जीवननिर्वाह के विशिष्ट प्रयोजन अथवा अनिवार्य कारण से की जाय उसे अर्थदंड कहते हैं और जो हिंसा विशिष्ट प्रयोजन अथवा अनिवार्य कारण के बिना की जाती है उसे अनर्थदंड कहते हैं। उस से बचने का व्रत अनर्थदंडविरमण व्रत कहलाता है।

अनर्थ दंड चार प्रकार का है (१) अपध्यान, (२) पापोपदेश (३) हिंस्रप्रदान और (४) प्रमादाचरण।

अपध्यान अर्थात् आर्त और रौद्र ध्यान। ये दोनों अशुभ कोटि के ध्यान हैं और वे जीव को दुर्गति में ले जाने वाले हैं।

जिस सूचना सलाह से दूसरे को आरंभ समारंभ करने की प्रेरणा मिले उसे पापोपदेश कहते है। जैसे–शत्रुओं का निकन्दन करो, शस्त्र से सज्जित ना जाल साफ करो, इस ढोर के चार बांधो आदि।

हिंसाकारी साधन दूसरे को देना हिंस्रप्रदान कहलाता है, उसमें हिंसा को प्रोत्साहन मिलता है अतः उसका भी त्याग आवश्यक है।

जो आचरण प्रमाद से हो वह प्रमादाचरण। श्री हेमचंद्राचार्य ने योगशास्त्र में कहा है कि 'कुतूहल से गीत, नृत्य नाटक आदि देखना, काम शास्त्र में आसक्ति, जुए मदिरादि का सेवन, जल क्रीडा, झूले झूलना, दूसरे जीवों को परस्पर लड़ाना, शत्रु के पुत्र के साथ वैर रखना, भोजन-स्त्री जनपद तथा राजवृद्धि आदि संबंधी बातें करना, रोग अथवा चलने

की थकावट के विना सारी रात नींद लेना, इत्यादि प्रमाद के आचरणों का सद्बुद्धि वाले को परिहार करना चाहिए।'

यह व्रतधारी (१) यदि कामविकार को उत्पन्न करने वाली वाणी का प्रयोग करे या मजाक करे तो कंदर्प नामक अतिचार लगता है, (२) नेत्रादि की विकृत चेष्टा करे तो कौत्कुच्य नामक अतिचार लगता है; (३) अधिक वाचाल हो तो मौखर्य नामक अतिचार लगता है; (४) यदि विना आवश्यकता के हिंसक शस्त्र साधन तैयार रक्खे तो संयुक्ताधिकरण नामक अतिचार लगता है; और (५) भोग के साधन अधिक रक्खे तो भोगातिरिक्तता नामक अतिचार लगता है।

(९) सामायिक व्रत :

सर्व पापमय प्रवृत्ति का तथा दुर्ध्यान का त्याग करके प्रतिज्ञापूर्वक दो घड़ी तक स्वाध्यायादि द्वारा समभाव अथवा शुभ भाव में रहना सामायिक कहलाता है। सामायिक दो घड़ी का चारित्र है। विशुद्ध भाव से की हुई सामायिक आत्मा को इस भव में अथवा अन्य भव में सर्वविरति का भी अधिकारी वनाती है। यदि गुरु विद्यमान हों तो उनके समीप, अन्यथा उपाश्रय अथवा अपने मकान के एकांत भाग में वैठ कर भी यह क्रिया की जा सकती है। नित्य सामायिक करने से समत्व की वृद्धि होती है और मन, वचन, तथा काया की दुष्ट प्रवृत्तियों का नियन्त्रण होता जाता है।

सामायिक के पाँच अतिचार निम्न प्रकार से हैं:–

(१) मनोदुष्प्रणिधान–सामायिक ग्रहण करने के पश्चात् घर, दुकान, जमीन परिवार आदि संबंधी चिन्ता करना। (२) वचनदुष्प्रणिधान–सामायिक करते समय कर्कश अथवा अन्य

दोषयुक्त वचनों का उच्चारण करना (३) कायदुष्प्रणिधान-सामायिक लेने समय भूमि का प्रमार्जन किये विना बैठना अथवा बैठने के बाद हाथ पैर बारबार पसारते-समेटते रहना अथवा काया द्वारा अन्य चेष्टा करना। (४) अनवस्थान-सामायिक का दो घड़ी का काल पूरा न होने देना अथवा सामायिक जैसे तैसे पूरी करना, और (५) स्मृतिविहीनता-सामायिक कब ली थी अथवा कब समाप्त होगी-यह भूल जाना।

१० देशावकाशिक व्रत :

दिक्परिमाण व्रत द्वारा निर्धारित मर्यादा में से या किसी भी व्रत संबंधी किये हुए संक्षेप में से एक भाग को देश कहते है। उसमें अवकाश करना, अर्थात् अनवस्थान करना-व्रत की मर्यादा का ही विशेष संक्षेप करने का नियम रखना देशावकाशिक व्रत कहलाता है। उसका पालन अमुक स्थान में एक मुहूर्त से लगाकर संपूर्ण अहोरात्रि दो चार दिन या उससे भी अधिक समय के लिये रहने का नियम करके हो सकता है।

प्रचलित प्रणाली में दिन को (प्रातः सायं के दो प्रतिक्रमण और अन्य आठ सामायिक) दस सामायिक और कम से कम एकासन तप से यह व्रत किया जाता है।

इस व्रत को धारण करने वाले के लिये निम्न लिखित पांच वर्जनीय अतिचार है — (१) आनयनप्रयोग-क्षेत्र मर्यादा के बाहर से कोई भी वस्तु अन्य के द्वारा मंगवाना (२) प्रेष्य-प्रयोग-मजदूर या नौकर को भेज मर्यादा के बाहर भेजकर काम करवाना। (३) शब्दानुपात-शब्द द्वारा अपनी उपस्थिति बताना। (४) रूपानुपात-रूपद्वारा(शरीर दिखाकर)

अपनी उपस्थिति बताना और (५) पुद्गलक्षेप–कंकड़ या अन्य कोई वस्तु फेंककर अपनी उपस्थिति प्रकट करना।

११ पौषध व्रत :

श्रावक को अष्टमी, चतुर्दशी आदि पर्व दिनों में पोषध अवश्य करना चाहिये। जो चारित्रधर्म का पोषण करे वह पोषध। इस व्रत में उपवास, आयंबिल, निव्वी, अथवा एकाशन का तप होता है। स्नान, उद्वर्तन विलेपन, पुष्प, गंध, विशिष्ट वस्त्र तथा आभरणादि से शरीरसत्कार का त्याग होता है; सांसारिक सर्व व्यापार (प्रवृत्ति) का त्याग होता है। ब्रह्मचर्य का पालन पोषधकाल के चार प्रहर और आठ प्रहर की मर्यादा से ग्रहण किया जाता है। इस व्रत में देववंदन, गुरुवंदन, षड् आवश्यक आदि क्रियाएँ करणीय होती हैं, जिससे साधु जीवन की शिक्षा मिलती है।

यह व्रत करने वाला शय्या, संस्तारक (संथारा) लघु शंका, दीर्घ शंका के स्थल की प्रतिलेखना-प्रमार्जना बराबर न करे तो उसे अतिचार लगता है; इसी प्रकार पोषध विधिपूर्वक बराबर न करे तो भी अतिचार लगता है।

१२ अतिथि संविभाग व्रत :

साधु मुनिराज अतिथि कहलाते है। गृहस्थ श्रावक द्वारा स्वयं के लिये तैयार किये हुए खान पान उच्च भक्ति द्वारा साधु भगवंत को देने का व्रत अतिथि संविभाग व्रत कहलाता है। साधु महात्माओं को आहार पानी अर्पित करके फिर ही पोपध का पारणा करना तथा साधु मुनिराज का योग न मिले तो व्रतधारी श्रावक को भोजन करवाने के पश्चात् पारणा करना [illegible] हार पानी

सेवा-पूजा करके लौकिक और लोकोत्तर दृष्टि से अनिंदित व्यवहार की साधना करता है। सायंकाल देवदर्शन, प्रतिक्रमण सद्गुरु-संग, परिवार को बोधदायक कथाओं तथा सुन्दर सुभाषितों द्वारा धर्म कथन करने के पश्चात् अरिहंत, सिद्ध, साधु तथा जिनप्रणीत धर्म की शरण लेकर शयन करता है।

पर्व और वार्षिक कृत्य :

श्रावक के लिये पर्व के दिनों में धर्माराधन विशेष प्रकार से करना होता है, अर्थात् उन दिनों में हो सके जितनी तपश्चर्या उसे करनी चाहिए। आरम्भ (हिंसक प्रवृत्ति) का त्याग करना होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करना होता है और पोषध करके अपना सारा समय धर्मध्यान में व्यतीत करना होता है।

श्रावक को प्रतिवर्ष चतुर्विध श्रीसंघ की पूजा, सार्धमिक-वात्सल्य, तीर्थयात्रा, रथयात्रा, अट्ठाई यात्रा (अष्टाह्निका महोत्सव) ये तीन यात्राएँ, जिन मन्दिर में स्नात्र महोत्सव, माला आदि पहिन कर देवद्रव्य की वृद्धि, महापूजा, रात्रि के समय धर्मजागरण, श्रुत ज्ञान की विशेष पूजा, उद्यापन, जिन-शासन की प्रभावना और वर्ष भर के पाप की आलोचना, इतने धर्म कृत्य भी अपनी शक्ति के अनुसार करने चाहिये।

चातुर्मासिक कृत्य :

श्रावक को चातुर्मास में ज्ञानाचार, दर्शनाचार चारित्राचार तपाचार और वीर्याचार की शुद्धि-वृद्धि के लिये अनेक प्रकार के नियम ग्रहण करने होते हैं। उनमें आरम्भ समारंभ का त्याग, प्रवास का त्याग तथा परिग्रहपरिमाण की कमी आदि मुख्य होते हैं।

टिप्पणी

१. बौद्ध धर्म में भी श्रावक शब्द प्रयुक्त हुआ है। जिन्होंने बुद्ध के मुख से धर्मोपदेश श्रवण किया, वे श्रावक कहलाए। बाद में हीनयान शाखा के गृहस्थों को पहिचानने के लिये उसका विशेष उपयोग होने लगा और कालान्तर में उसका उपयोग मंद होते-होते आज नहीं जैसा रहा है।

सारिपुत्र और मोग्गलायन बुद्ध के अग्र श्रावक गिने जाते हैं और उपालि, आनंद आदि अस्सी महाश्रावक गिने जाते हैं।

२. धम्मरयणस्स जुग्गो अखुद्दो रूववं पगइसोमो।
लोगप्पिओ अकूरो, भीरू असढो सुदक्खिन्नो ॥५॥
लज्जालुओ दयालू, मज्झत्थो सोमदिट्ठि-गुणरागी।
सक्कह सुपक्खजुत्तो, सुदीहदंसी विसेसन्नू ॥६॥
वुड्ढाणुगो विणीओ, कयण्णुओ परहिअत्थकारी य।
तह चेव लद्धलक्खो इगवीसगुणेहि संपन्नो ॥७॥
पायद्धगुणविहीणा, एएसि मज्झिमाऽवरा नेया।
इत्तो परेण हीणा, दरिद्दपाया मुणेयव्वा ॥३०॥
—धमरत्नप्रकरणे

३. सड्ढत्तणस्स जुग्गो भद्दगपगई विसेसनिउणमई।
नयमग्गरई तह दढनिअवयणठिई विणिद्दिट्ठो ॥३॥

इन चार गुणों में इक्कीस गुणों का समावेश निम्न प्रकार से प्राय: हो सकता है:—

भद्रक प्रकृति:—(१) अक्षुद्रत्व, (२) प्रकृति सौम्य, (३) अक्रूरत्व, (४) सुदाक्षिण्य, (५) दयालुत्व, (६) मध्यस्थ सौम्य दृष्टित्व, (७) [illegible]दानगत्व, (८) विनीतत्व।

विशेषनिपुणमति—(९) स्नवठपन (१०) सुदीर्घदर्शित्व, (११) विशेषज्ञत्व, (१२) कृतज्ञत्व, (१३) परहितार्थ कर्तृत्व, (१४) लब्धलक्ष्यत्व।

न्यायमार्ग रति—(१५) भीरुत्व, (१६) अशठत्व, (१७) लज्जालुत्व (१८) गुणरागित्व, (१९) सत्कथत्व।

दृढ़निजवचनस्थिति—(२०) लोक प्रियत्व और (२१) सुपक्षयुक्तत्व।

४ प्रकाश २, श्लोक १

विशेष

उपासक दशांगसूत्र, धर्मबिंदु, धर्मसंग्रह, श्राद्धप्रतिक्रमण सूत्र पर की अर्थदीपिका टीका, श्रीश्राद्धविधिप्रकरण तथा योगशास्त्र के आधार पर यहाँ श्रावक धर्म का परिचय दिया गया है।

५ साधुधर्म

* साधु का अर्थ और उसके पर्यायवाची शब्द ।
* साधु धर्म की योग्यता ।
* साधु धर्म के लिये अयोग्य कौन ?
* अनुज्ञा ।
* परीक्षाविधि ।
* सर्वविरति सामायिक ।

पाँच महाव्रत :–

(१) प्राणातिपातविरमण व्रत ।
(२) मृषावादविरमण व्रत ।
(३) अदत्तादानविरमण व्रत ।
(४) मैथुनविरमण व्रत ।
(५) परिग्रहविरमण व्रत ।

* रात्रि भोजनविरमण व्रत ।
* मूल गुण और उनकी शुद्धि ।
* रत्नत्रय की उपासना ।
* सेवामूर्ति ।
* टिप्पणी ।

साधु का अर्थ और उसके पर्यायवाची शब्द :

जो स्वपर हित की साधना करे वह साधु कहलाता है अथवा जो मोक्ष की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है वह साधु कहलाता है अथवा जिसका चरित्र सुन्दर हो वह साधु कहलाता है। उसके लिये जैन शास्त्रों में यति, मुनि, ऋषि अनगार संयत विरत निर्ग्रन्थ भिक्षु श्रमण आदि अनेक शब्द प्रयुक्त हैं।[1]

साधुधर्म की योग्यता–

श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में[2] साधुधर्म का अर्थात् श्रामण्य का अधिकारी कौन ? इसकी विशद चर्चा करके बताया है कि जो आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो, विशिष्ट अनिंद्य जाति कुल सम्पन्न हो, हत्या-चोरी करने वाला न हो, संसार की असारता समझ चुका हो, वैराग्यवान् हो, शान्त प्रकृतिवाला हो, भगड़ालू न हो प्रामाणिक हो नम्र हो राज्यविरोधी न हो, राष्ट्र और समाज के विशाल हितों में बाधक न हो, शरीर में किसी प्रकार का कसर कमी वाला न हो त्याग धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धावाला हो प्रतिज्ञापालन में अडिग हो और समुपसम्पन्न अर्थात् आत्मकल्याण की अभिलाषा से दीक्षा लेकर गुरु को समर्पित होने के लिये तैयार हो चुका हो वह साधु धर्म की दीक्षा के योग्य है।

साधु धर्म के लिये अयोग्य कौन ?

जैन शास्त्रों ने निम्न लिखित व्यक्तियों को साधु धर्म की दीक्षा के लिये अयोग्य माना है : जो आठ वर्ष से कम आयु का हो, वृद्ध हो, नपुंसक हो, क्लीव हो, व्याधिग्रस्त हो, चोर हो, राजा का अपकारी हो, उन्मत्त अथवा पागल हो, अंधा हो, गुलाम या दास रूप में खरीदा हुआ हो, अधिक कषाय करने वाला हो, बार-बार विषयभोग की इच्छा रखने वाला हो, मूढ़ हो, ऋणी हो, जाति, कर्म, तथा शरीर से दूषित हो और पैसों के लालच से आया हो आदि।

यदि दीक्षा लेने वाला १६ वर्ष से कम आयु वाला हो, तो उसके माता-पिता, घर में बड़े लोग या संरक्षक की अनुमति बिना दीक्षा नहीं दी जा सकती। स्त्री सगर्भा हो अथवा बालक उसका स्तनपान करता हो तो उसे भी दीक्षा नहीं दी जा सकती।[३]

अनुज्ञा

दीक्षा लेने के लिए दीक्षार्थी का अपने माता पिता तथा गुरुजनों से अनुमति मांगना आवश्यक है।[४] यदि मोहग्रस्त माता पिता, गुरुजन अथवा संरक्षक विधिपूर्वक अनुमति मांगने पर भी न दें तो वयस्क दीक्षार्थी अपने आत्मकल्याण के लिये सद्गुरु की शरण शोधकर उनके पास दीक्षा ले सकता है।[५]

परीक्षाविधि :

दीक्षार्थी को दीक्षित करने से पूर्व उसकी परीक्षा लेने की विधि है। यह परीक्षा प्रश्न पूछकर तथा उसके संबंध में आवश्यक अन्य जांच करके की जाती है।[६] वह कौन है ? कहां से आता है ? उसके माता पिता का नाम क्या है ?

साधु का अर्थ और उसके पर्यायवाची शब्द :

जो स्वपर हित की साधना करे वह साधु कहलाता है अथवा जो मोक्ष की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है वह साधु कहलाता है अथवा जिसका चरित्र सुन्दर हो वह साधु कहलाता है। उसके लिए जैन शास्त्रों में यति, मुनि, ऋषि अनगार भयत विरत, निर्ग्रंथ, भिक्षु, श्रमण आदि अनेक शब्द प्रयुक्त है।[1]

साधुधर्म की योग्यता--

श्री हरिभद्रसूरि ने धर्मबिन्दु में[2] साधुधर्म का अधिकारी श्रामण्य का अधिकारी कौन ? इसकी विशद चर्चा करके बताया है कि जो आर्य देश में उत्पन्न हुआ हो विशिष्ट जाति कुल सपन्न हो हत्या-चोरी करने वाला न हो, ससार की असारता समझ चुका हो, वैराग्यवान् हो, शान्त प्रकृतिवाला हो, झगड़ालू न हो प्रामाणिक हो नम्र हो राज्यविरोधी न हो, राष्ट्र और समाज के विशाल हितों में बाधक न हो, शरीर में किसी प्रकार की कसर कमी वाला न हो, त्याग धर्म के प्रति दृढ़ श्रद्धावाला हो, प्रतिज्ञापालन मे पक्का हो और समुप-सपन्न अर्थात् आत्मकल्याण की अभिलाषा से दीक्षा लेकर गुरु को समर्पित होने के लिये तैयार हो चुका हो वह साधु धर्म की दीक्षा के योग्य है।

यह मानदण्ड उत्कृष्ट योग्यता का है। यदि उससे चौथे भाग के गुण कम हो तो योग्यता मध्यम प्रकार की और आधे गुण कम हो तो योग्यता जघन्य प्रकार की समझें। इनमें अन्तिम दो गुण अवश्य होने चाहिये। इनसे कम गुणवाला दीक्षा का अधिकारी नहीं।

को मुक्त करता हूँ।'

यह प्रतिज्ञा जितनी भव्य है, उतनी ही कठिन भी है। सर्व पापव्यापारों को छोड़ना सरल नहीं है। उसमें भी मन को पापी विचारों से मुक्त रखना तो अत्यन्त दुष्कर कार्य है परन्तु संवेग और वैराग्य के रंग में रंगा हुआ आत्मा इतना बलवान् बन जाता है कि वह इतनी कठिन प्रतिज्ञा ग्रहण करता है और उसका निर्वाह करने में समर्थ भी होता है।

इसके बाद साधु-धर्म-पालन में अभ्यस्त होने पर उपस्थापना-बड़ी दीक्षा के समय पाँच महाव्रत और छठा रात्रिभोजन विरमण व्रत ग्रहण कराया जाता है। जिस समय कोई भी मुमुक्षु आत्मा चारित्र ग्रहण करता है, उस समय साधु संप्रदाय के योग्य उसका नया नामकरण किया जाता है, तब से उसे उस नाम से पहिचाना जाता है और उसे साधु-समुदाय का एक सदस्य माना जाता है।

पाँच महाव्रत—

प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान मैथुन और परिग्रह का प्रतिज्ञा पूर्वक सर्वांश रूप से त्याग करना पाँच महाव्रत कहलाते हैं। अणुव्रतों की अपेक्षा ये व्रत बहुत बड़े हैं और उनका पालन अति कठिन है, इसलिए उनके लिए महाव्रत शब्द का प्रयोग यथार्थ है। उनमें सूक्ष्मता से अहिंसादि का पालन करना होता है। इस अहिंसादि पालन को पतंजलि ऋषि आदि योग-विशारदों ने योग का महत्त्व पूर्ण अंग माना है अर्थात् इनके विना योग की साधना संभव नहीं ऐसा कहा है। वहाँ उन्होंने अहिंसादि पांच को पंच यम का नाम दिया है।

उसकी बुद्धि कमी है ? धार्मिक ज्ञान कितना है ? देव गुरु धर्म विषयक श्रद्धा कमी है ? वह कम आचार का है ? क्या वह साधु धर्म का पालन कर सकेगा ? उसमे कोई महान् दोष तो नहीं यादि बात अवश्य जान लेनी चाहिये। यदि उचित समझा जाए तो कुछ समय अपने पास रखकर उसे आवश्यकादि क्रियाए सिखाना चाहिये तथा धार्मिक ज्ञान देना चाहिये। तत्पश्चात् उसे तीर्थयात्रा करवानी चाहिये और जब वैराग्य भावना पूरी तरह दृढ मालूम पडे तभी प्रशस्त स्थान मे प्रशस्त मुहूर्त मे दीक्षा देनी चाहिये।

सर्वविरति सामायिक

तीर्थो को सर्वप्रथम सर्वविरति चारित्र ग्रहण करना होता है इस सम्बन्ध मे वह देव तथा गुरु के समक्ष निम्न लिखित प्रतिज्ञा धारण करता है

करेमि भंते सामाइय। सव्वं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव जीवाए तिविहं तिविहेण मणेण वायाए काएण न करेमि न कारवेमि करंतपि अन्नं न समणुजाणामि तस्स भंते। पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि।

हे भगवन मै सामायिक करता हू अर्थात् सब पाप व्यापार त्यागने की प्रतिज्ञा करता हूँ। जब तक जीऊँ तब तक तीन तीन प्रकार से अर्थात् मन से वचन से और काया से पाप व्यापार न करूंगा न करवाऊंगा करते हुए दूसरे व्यक्ति को अच्छा नही मानूंगा हे भगवन! भूतकाल मे मुझ से जो पाप व्यापार हुआ हो उससे मै पीछे हटता हूँ उसकी निंदा करता हूं उसकी गर्हा करता हूँ और वैसे मेरे आत्मा का त्याग करता हू अर्थात् उन मलीन वृत्तियो मे से अपने आत्मा

स्वामी के दिये विना ग्रहण नहीं करते, जैसे दाँत कुचरने के लिए सींक की आवश्यकता हो तो वह भी माँग कर लेते हैं। ग्रामानुग्राम विहार करते किसी स्थल पर विश्राम करना हो तो स्थान के मालिक की अनुमति लेकर ही विश्राम लेते हैं।

४ मैथुनविरमण व्रत :

इस महाव्रत से सर्व प्रकार के मैथुन का त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधु स्त्री का स्पर्श नहीं करते और न अपने आप का स्पर्श स्त्रियों से होने देते है; तथा एकांत में सहवास भी नहीं करते। वे आजीवन शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और उसकी रक्षा के लिए निम्नलिखित ६ नियमों का पालन करते हैं:—

(१) स्त्री, पशु और नपुंसक के वास से रहित एकांत विशुद्ध स्थान में निवास करना।

(२) स्त्री सम्वन्धी वातें न करना।

(३) जिस पाट, चौकी, शयन, आसन आदि पर स्त्री वैठी हो उसका उपयोग दो घड़ी तक न करना।

(४) स्त्रियों के अंगोपांग न देखना।

(५) दीवार के पीछे स्त्री पुरुष का युगल रहता हो ऐसे स्थान का त्याग करना।

(६) स्त्री के साथ की हुई पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण न करना।

(७) मादक आहार का त्याग करना।

(८) परिमाण से अधिक आहार न करना।

(९) शृंगार–लक्षण वाली 'शरीर–शोभा का त्याग करना, अर्थात् स्नान, विलेपन, उद्वर्तन, उत्तम वस्त्र, तेल,

१ प्राणातिपात विरमण व्रत :

इस महाव्रत से सूक्ष्म बादर, त्रस स्थावर सर्व जीवो की हिंसा का यावज्जीव त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधु स्थावर जीवो म पृथ्वी का खोदते नही, ठण्डे जल का उपयोग नही करते, अग्नि नही सुलगाते, यावत् कच्ची मिट्टी आदि पृथ्वी कच्चे पानी अथवा अग्नि को छूते तक नही, पख अथवा इलेक्ट्रिक फैन का उपयोग नही करते और फल फूल या पत्ते नही तोडते और न उनका स्पर्श ही करते है तथा त्रस जीवो मे सूक्ष्म जन्तु भी अपने स न मर इस बात का ध्यान रखते है। उनकी दया भावना इस विश्व के सभी प्राणियो तक विस्तृत बनता है और उसी म वे आनन्द मानते ह।

इस व्रत को धारण करने वाले साधु हाथी, घोड़े, ऊँट तथा अन्य किसी प्राणी या वाहन पर सवारी नही करते, इसम अहिंसा तथा अपरिग्रह की भावना मुख्य है।

२ मृषावाद विरमण व्रत :

इस महाव्रत म सब प्रकार के मृषावाद का त्याग किया जाता है। इस व्रत व कारण साधु क्रोध से, लोभ स, भय स अथवा हास्य म मृषा अर्थात् असत्य नही बोलते। इतना ही नही परन्तु जो वचन प्रिय पथ्य और तथ्य होता है वही बोलत हैं।

३ अदत्तादान विरमण व्रत :

इस महाव्रत म सब प्रकार के अदत्तादान का त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधु सचित्त अथवा अचित्त [illegible] अधिक कीमत वाली अथवा अल्प कीमत वाली कोई भी वस्तु गाँव म नगर म अथवा अरण्य म उसके

स्वामी के दिये बिना ग्रहण नहीं करते, जैसे दाँत कुचरने के लिए सींक की आवश्यकता हो तो वह भी माँग कर लेते हैं। ग्रामानुग्राम विहार करते किसी स्थल पर विश्राम करना हो तो स्थान के मालिक की अनुमति लेकर ही विश्राम लेते हैं।

४ मैथुनविरमण व्रत :

इस महाव्रत से सर्व प्रकार के मैथुन का त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधु स्त्री का स्पर्श नहीं करते और न अपने आप का स्पर्श स्त्रियों से होने देते हैं; तथा एकांत में सहवास भी नहीं करते। वे आजीवन शुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं और उसकी रक्षा के लिए निम्नलिखित ९ नियमों का पालन करते हैं:—

(१) स्त्री, पशु और नपुंसक के वास से रहित एकांत विशुद्ध स्थान में निवास करना।

(२) स्त्री सम्बन्धी बातें न करना।

(३) जिस पाट, चौकी, शयन, आसन आदि पर स्त्री बैठी हो उसका उपयोग दो घड़ी तक न करना।

(४) स्त्रियों के अंगोपांग न देखना।

(५) दीवार के पीछे स्त्री पुरुष का युगल रहता हो ऐसे स्थान का त्याग करना।

(६) स्त्री के साथ की हुई पूर्व क्रीड़ाओं का स्मरण न करना।

(७) मादक आहार का त्याग करना।

(८) परिमाण से अधिक आहार न करना।

(९) शृंगार-लक्षण वाली शरीर-शोभा का त्याग करना, अर्थात् स्नान, विलेपन, उद्वर्तन, उत्तम वस्त्र, तेल,

गेंद, मखेगर, ताम्बूल आदि का उपयोग न करना।

साध्वियों के लिये इन नियमों में से दूसरे, तीसरे, चौथे और छठे नियम में स्त्री के स्थान पर पुरुष शब्द समझें।

५ परिग्रहविरमण व्रत :

इस महाव्रत में सर्व प्रकार के परिग्रह का त्याग किया जाता है। इस व्रत के कारण साधु अपने पास धन अर्थात् रुपये, स्वर्ण मुहरें, या नोट नहीं रखते, धान्य अर्थात् विविध अनाज का संग्रह नहीं करते; क्षेत्र अर्थात् जोती हुई तथा बिना जोती हुई जमीन और वास्तु अर्थात् मठ, मन्दिर, हाट या हवेली पर स्वामित्व नहीं रखते। हिरण्य अर्थात् सोना, रौप्य अर्थात् रूपा और कुप्य अर्थात् अन्य धातु, या फरनीचर नहीं रखते, इसी प्रकार द्विपद अर्थात् नौकर चाकर, दास दासी और चतुष्पद अर्थात् हाथी, घोड़ा, ऊँट, बैल, गाय, भैंस, बकर, भेड आदि पशुओं पर स्वामित्व नहीं रखते।

वे अपने साधु-जीवन के निर्वाह के लिए साधारण वस्त्र, थोड़े पात्र और कुछ धार्मिक उपकरण रखते हैं, परन्तु उनमें भी उनकी ममत्व बुद्धि नहीं होती इसलिए वे उनके लिए परिग्रह रूप नहीं होते।

रात्रिभोजनविरमण व्रत :

इस व्रत के कारण साधु सूर्यास्त के बाद किसी भी प्रकार का अशन या पान ग्रहण नहीं करते और न खादिम या स्वादिम वस्तुओं का उपयोग ही करते हैं।

दूसरे दिन का सूर्योदय होने के पश्चात् कम से कम दो घड़ी के बाद उन्हें यदि कुछ उपयोग में लेना हो तो लेते हैं।[1]

दशवैकालिक सूत्र में कहा है कि 'धरती पर कितने ही

त्रस और स्थावर सूक्ष्म जीव निश्चित रूप से होते हैं। उन जीवों का शरीर रात के समय देखा नहीं जा सकता इसलिए रात को ईर्या समिति पूर्वक एषणा किस प्रकार हो सकती है ? अर्थात् गोचरी के लिए जाया नहीं जा सकता। पानी के कारण पृथ्वी भीगी रहती है और उस पर बीज पड़े हुए होते हैं। चींटें-चींटी आदि जीव पड़े हुए हैं। इन जीवों की हिंसा से दिन में भी बचना कठिन है तो रात्रि में कैसे बचा जा सकता है ? अर्थात् रात्रि में कैसे चला जाय ? ये सब दोष देखकर ज्ञातपुत्र अर्थात् श्रमण भगवान महावीर ने कहा है कि 'निर्ग्रन्थ सर्व प्रकार के आहार का रात्रि में भोग न करें।'

साधु दूसरे दिन के लिए किसी भी प्रकार का संग्रह नहीं रख सकते अर्थात् लाई हुई भिक्षा उसी दिन काम में ली जाने से उसके सभी पात्र खाली और स्वच्छ हो जाते हैं।

मूल गुण और उनकी शुद्धि :

ये पांच व्रत और छठा रात्रिभोजनविरमण व्रत साधु के मूल गुण गिने जाते हैं। इसलिए वे उनका मन वचन काया से अच्छी तरह पालन करते हैं। फिर भी प्रमादवश उनमें कोई भूल हो जाय:—अतिचार का सेवन हो जाय तो प्रातः और सायंकाल प्रतिक्रमण की क्रिया के समय उसकी आलोचना करके तथा योग्य प्रायश्चित्त लेकर शुद्ध होते हैं।

रत्नत्रयी की उपासना :

साधु को मोक्ष की साधना में निरन्तर प्रयत्नशील रहना होता है अतः सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र—इस रत्नत्रयी की उपासना उसका मुख्य धर्म होता है।

सम्यग्दर्शन की उपासना के लिए वह जिनेश्वर देव का सतत स्मरण करता है उनके दर्शन स्तवन से आनन्द अनुभव करता है और उनके ध्यान में मस्त बनता है। तथा सम्मति-तर्क अनेकान्तवादादि दर्शन शास्त्र तथा धार्मिक उत्सव महोत्सव भी दर्शन शुद्धि के कारण होने से इनके द्वारा सम्यग्दर्शन को अधिकाधिक निर्मल बनाता है। अन्य आत्माओं का सम्यक्त्व के विषय में उपबृंहण वात्सल्य तथा स्थिरीकरण करके और शासन की विविध प्रकार से प्रभावना करके अपनी इस उपासना को उज्ज्वल बनाता है।

सम्यग्ज्ञान की उपासना के लिए वह आचार्य अथवा उपाध्याय के पास से शास्त्रों का अध्ययन करता है और दिन-रात के अधिकांश भाग में उनके परावर्तन चिन्तन मनन से आनंद का अनुभव करता है। साधु को किस क्रम से शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये इसका वर्गीकरण नियत किया हुआ है और उस वर्गीकरण के अनुसार ही वह शास्त्राभ्यास में आगे बढ़ता है। जब वह शास्त्राभ्यास में अमुक प्रगति करता है तब उस गणि पंन्यास उपाध्याय आदि की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

सम्यक्चारित्र की उपासना के लिए वह संवर और निर्जरा का सतत सेवन करता है जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में प्रथम खण्ड में नवतत्त्व के प्रसंग में सविस्तार किया गया है। पांच समिति तीन गुप्ति का पालन, बाईस परिषह का विजय, पांच महाव्रत का यमनियम का आचरण, बारह भावना का परिभावन दस विध साधुसमाचारी का पालन और पांच प्रकार के चारित्र तथा अतिचारशुद्धि

की आराधना सच्ची योगसाधना है और वह साधक को मोक्ष प्राप्ति के बहुत निकट ले जाती है। बारह प्रकार का तप करने से चाहे जैसे कठिन कर्मो का क्षय होने लगता है और इससे आत्मगुणों का प्रकाश बढ़ता जाता है और इस प्रकार एक समय ऐसा आता है जब चारों घाती कर्मो का सर्वांशतः नाश हो जाता है; तब वह केवलज्ञान और केवलदर्शन से विभूषित होकर निश्चित रूप से मोक्ष का अधिकारी बनता है।

साधु रत्नत्रयी की उपासना से स्वहित साधन करता है और दूसरों को उसका उपदेश देकर परहित साधन भी करता है। इस प्रकार स्व और परहित साधना से वह साधु नाम को सार्थक बनाता है।

सेवामूर्ति :

साधु सेवा की मूर्ति है ऐसा कहने में तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। वह पतित जीवों का उद्धार करता है, विषय कषाय में डूबे हुए जीवों को बाहर निकालता है और जिनके अन्तरचक्षु मोह तथा अज्ञानता से बन्द हो गए हों, उन्हें वाणी का अमृत सींचकर बराबर खोल देता है। इस जगत में दान की सरिताएँ साधु पुरुषों के उपदेश से ही बहती हैं। शक्ति की सुगंध साधु पुरुषों के उपदेश से ही प्रकट होती है, तप का प्रकाश भी साधु पुरुषों के उपदेश से ही उत्पन्न होता है और भाव की भव्यता का भी साधु पुरुषों के उपदेश से ही निर्माण होता है। यदि साधु पुरुष न हों तो इनमें से कुछ भी न हो, ऐसा किसी को भी स्वीकार करना

सम्यग्दर्शन की उपासना के लिए वह जिनेश्वर देव का सतत स्मरण करता है उनके दर्शन स्तवन से आनन्द अनुभव करता है और उनके ध्यान में मस्त बनता है। तथा सन्मति-तर्क अनेकान्तवादादि दर्शन शास्त्र तथा धार्मिक उत्सव महोत्सव भी दर्शन शुद्धि के कारण होने से इनके द्वारा सम्यग्दर्शन को अधिकाधिक निर्मल बनाता है। अन्य आत्माओं का सम्यक्त्व के विषय में उपबृंहण वात्सल्य तथा स्थिरीकरण करके और शासन की विविध प्रकार से प्रभावना करके अपनी इस उपासना को उज्ज्वल बनाता है।

सम्यग्ज्ञान की उपासना के लिए वह आचार्य अथवा उपाध्याय के पास से शास्त्रों का अध्ययन करता है और दिन-रात के अधिकांश भाग में उनके परावर्तन चिन्तन मनन से आनंद का अनुभव करता है। साधु को किस क्रम से शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिये इसका वर्गीकरण नियत किया हुआ है और उस वर्गीकरण के अनुसार ही वह शास्त्राभ्यास में आगे बढ़ता है। जब वह शास्त्राभ्यास में अमुक प्रगति करता है तब उस गणि पन्यास उपाध्याय आदि की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

सम्यक्चारित्र की उपासना के लिए वह संवर और निर्जरा की सारी क्रियाएं करता है जिनका वर्णन इस ग्रन्थ में प्रथम खण्ड में नवतत्त्व के वर्णनप्रसंग में सविस्तार किया गया है। पांच समिति और तीन गुप्ति का पालन बाईस परिषह पर विजय दस प्रकार के यतिधर्म का आचरण, बारह भावनाओं का परिशीलन दस विध साधुसमाचारी का पालन और पांच प्रकार के चारित्र की तथा अतिचारशुद्धि

टिप्पणी

१. यह शब्द-संग्रह दशवैकालिक-निर्युक्ति में दिया हुआ है।
२. अध्याय चौथा।
३. इस विषय में प्रवचनसारोद्धार में निम्नलिखित गाथाएँ पाई जाती हैं:—

वाले वुड्ढे नपुंसे अ कीवे जड्डे अ वाहिए।
तेणे रायावगारी अ, उम्मत्ते य अदंसणे ॥७६०॥
दासे दुट्ठे अ मूढे अ अणत्ते जुंगिए इअ।
ओवद्धए अ भयए, सेहनिप्फेडिआ इअ ॥७६१॥
इअ अट्ठारस भेआ पुरिसस्स तहित्थिआए ते चेव।
गुव्विणी सवालवच्छा दुन्नि इमे हुंति अन्नेवि ॥७६२॥

४. तथा गुरुजनाद्यनुज्ञेति।
गुरुजन की संमति मांगना धर्मबिन्दु, अ. ४
५. धर्म-बिन्दु, धर्म-संग्रह, पंचसूत्र आदि में इस विषय की अच्छी चर्चा हुई है।
६. उपस्थितस्य प्रश्नाचारकथनपरीक्षादिर्विधिरिति। तथा निमित्तपरीक्षेति।

धर्म बिन्दु अ० ४.

अब्भुवगयंपि संतं पुणो परिक्खेज्ज पवयणविहीए।
छम्मासं जाऽऽसज्ज व, पत्तं अद्धाए अप्पवहुं॥

प्रश्न और साधुधर्म के कथन द्वारा दीक्षार्थी का स्वीकार करने के पश्चात् भी प्रवचनविधि के अनुसार उसकी परीक्षा करनी चाहिए। इस परीक्षा का काल छः माह तक का है। यदि दीक्षार्थी विशेष योग्यता वाला हो तो उसका काल

पड़ेगा। तात्पर्य यह है कि साधु धर्ममूर्ति हैं, सर्वामूर्ति भी हैं और इसलिये समाज के सभी वर्गों को उनका विनय और बहुमान पूर्वक वंदन करना चाहिये।

जिस देश में सुसाधुओं की पूजा होती है, वहाँ सदा आनन्द मंगल प्रवर्तित होता है और उसका किसी भी प्रकार से अहित नहीं होता।

प्रत्येक गृहस्थ को अपने जीवन में साधु होने की भावना रखनी चाहिये और उसके लिये संयोग अनुकूल हो तो अपने आप को धन्य मानना चाहिये।

●

खण्ड चौथा

इतिहासादि

(१)

जैन इतिहास

(२)

जैन साहित्य

(३)

जैनाश्रित कला

घटाया भी जा सकता है और इससे विपरीत हो तो यह काल बढाया भी जा सकता है।

७ ईख और धान का खेत, पद्म सरोवर का तट, पुष्प सहित वन खण्ड अर्थात बाग बगीचे, दाहिनी ओर बहती हुई सरिता का किनारा जिनगृह और जिनचैत्य ये दीक्षा के लिए प्रशस्त स्थान हैं।

८ तीन उत्तरा अर्थात् उत्तराषाढा उत्तरा भाद्रपदा और उत्तरा फाल्गुनी तथा रोहिणी नक्षत्र दीक्षा के लिए उत्तम काल माने गये हैं। उनमें से किसी भी दिन शुभ मुहूर्त में दीक्षा देना इसे प्रशस्त काल कहते हैं।

९ पांच महाव्रत तथा रात्रि भोजन विरमण व्रत उच्चारने के (बोलकर ग्रहण करने के) पाठ दशवैकालिक सूत्र में दिये हुए हैं।

ऐतिहासिक और प्राग् ऐतिहासिक काल :

प्राचीन अवशेषों, शिलालेखों, सिक्कों, पट्टावलियों तथा शास्त्र और साहित्य में प्राप्त प्रामाणिक उल्लेखों पर आधार रखते हुए आज के इतिहासकार श्री अरिष्टनेमि तक के काल को ऐतिहासिक मानते हैं और उससे पूर्व के काल को प्राग् ऐतिहासिक काल बताते हैं। हम इसी वर्गीकरण का अनुसरण करके यहाँ प्राग् ऐतिहासिक तथा ऐतिहासिक काल का वर्णन करेंगे :

प्राग् ऐतिहासिक काल के तीन विभाग :

प्राग् ऐतिहासिक काल बहुत लम्बा है, अधिक स्पष्ट कहें तो करोड़ों अथवा असंख्य वर्षों तक विस्तृत है परन्तु उसकी मुख्य मुख्य घटनाएँ जैन अनुश्रुतियों में संग्रहीत हैं[1] और वे भूतकाल विषयक मानव जिज्ञासा को संतृप्त करती हैं। इन अनुश्रुतियों के अनुसार प्रथम युगलिकों का काल था, उसमें कुलकरों का शासन हुआ और उसमें से सांस्कृतिक युग का जन्म हुआ। इस सांस्कृतिक युग में तिरसठ शलाका पुरुष (जिनके मोक्ष गमन का निर्णय हो चुका है ऐसे महापुरुष) हुए और उनके पराक्रम से पृथ्वी गौरवशालिनी बनी।[2] इन तीनों विभागों का सुन्दर चित्रण यहाँ प्रस्तुत किया जायगा।

युगलिकों का काल :

इस अवसर्पिणी काल के तीसरे सुषमदुषम नामक आरे का बहुत बड़ा भाग समाप्त हुआ, तब तक युगलिकों का काल था अर्थात् मनुष्य नर-नारी के युगल रूप में जन्म लेते थे और प्रकृति की गोद में निरंकुश विहार करते थे। उनके

१ जैन इतिहास

* ऐतिहासिक और प्राग् ऐतिहासिक काल
* प्राग् ऐतिहासिक काल के तीन विभाग
* युगलिको का काल
* कुलकरो का शासन
* सास्कृतिक युग के पिता ऋषभदेव
* धर्मतीर्थ का प्रवर्तन
* आर्य जाति के सम्माननीय पुरुष
* तिरसठ शलाका पुरुष
* ऐतिहासिक काल के दो विभाग
* तीन तीर्थंकर (श्री अरिष्टनेमि, श्री पार्श्वनाथ, श्री महावीर स्वामी)
* उत्तरवर्ती शिष्यपरम्परा
* निर्ग्रंथ गच्छ
* कलिंग मे जैन धर्म
* कोटिक गच्छ
* दिगम्बर सम्प्रदाय का प्रादुर्भाव
* चन्द्र और वनवासी गच्छ
* वडगच्छ
* तपगच्छ
* स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति
* तेरापथ की उत्पत्ति
* टिप्पणी (१ से २०)

●

ने 'हाकार' नीति का प्रयोग किया, अर्थात् यदि कोई युगलिक मर्यादा का उल्लंघन करता दिखाई देता तो 'हा ! हा ! तूने यह क्या किया ? ऐसे शब्दों से उसे उपालम्भ दिया जाता था। इस उपालम्भ का उस पर बहुत प्रभाव पड़ता और पुनः वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता था।

तत्पश्चात् **चक्षुष्मत्** नामक दूसरा कुलकर हुआ। उसके समय में भी यही हाकार नीति जारी रही, परन्तु तीसरे **यशस्वी** नामक कुलकर के समय मे मनुष्य अधिक स्वार्थ-परायण बने और वे हाकार नीति का उल्लघन करने लगे। इससे सामान्य अपराध में उन्होंने 'हाकार' और विशेष अपराध मे 'माकार' नीति प्रारम्भ की। माकार नीति अर्थात् 'तुम यह काम मत करो' ऐसी स्पष्ट आज्ञा थी।

चौथे कुलकर **अभिचंद्र** के समय मे इसी नीति ने काम दिया, परन्तु पांचवें **प्रसेनजित** कुलकर के समय में यह नीति पूर्णतः प्रभावशाली मालूम नही हुई, क्योंकि मनुष्य पहिले की अपेक्षा अधिक स्वार्थपरायण, ईर्ष्यालु और लोभी वन गए थे। इसलिये उसने जघन्य अपराध मे 'हाकार' मध्यम अपराध में 'माकार' और उत्कृष्ट अपराध में 'धिक्कार' नीति प्रारंभ की। धिक्कार नीति अर्थात् किसी भी व्यक्ति ने मर्यादा का उल्लंघन किया हो तो 'धिक् तुझे' इन शब्दों से उसे फटकारा। यह नीति प्रथम दो नीतियों की अपेक्षा अधिक उग्र थी और युगलिक ये शब्द सुनते हो भारी क्षोभ का अनुभव करते और फिर कभी भी मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस नहीं करते थे।

जीवन की आवश्कताएँ अत्यल्प थीं और वे भी कल्पवृक्ष द्वारा पूर्ण होती थी अर्थात् कृषि, धधा, नौकरी जैसा कोई व्यवसाय उन्हे नही करना पडता था। देवकुमार की भाँति वे आनन्द मगल मे जीवन यापन करते थे। वे स्वभाव से अत्यन्त सरल थ। स्वाथ और लोभ किसे कहते है, यह भी उन्हे मालूम न था। अत वे क्लेश फिसाद झगडे टटे, ईर्ष्या-असूया आदि स अलिप्त थ।

युगलिक स्त्री पुरुष के साथ के प्राकृत व्यवहार से पुत्र-पुत्री क युगल को जन्म देती और उसके बाद छ माह मे ही वह स्त्री और उसक साथ का पुरुष मर जाते।

कुलकरों का शासन :

अवसर्पिणी काल म पृथ्वी के रस-कस का अवसर्पण होता है अर्थात् वे प्रतिदिन घटने जाते हैं। इस प्रकार जब पृथ्वी के रस कस घट गये और फल फूलो का अभाव प्रतीत होने लगा तब यह वृक्ष मेरा' यह प्रदेश मेरा,' ऐसा स्वार्थ उत्पन्न हुआ। उसमे स ईर्ष्या प्रकट हुई और उसने कलह को जन्म दिया। फिर तो बार बार सघर्ष होने लगा। इस सघर्ष का निवारण करने के लिये एक शक्तिशाली पुरुष को मुखिया-नायक-अग्रजन नियुक्त किया गया और वह कुल-कर कहलाने लगा। जिसने मनुष्यो के कुलो की रचना की, भिन्न भिन्न दल बनाये और उन्हे भिन्न भिन्न प्रदेशो मे रहने का आदेश देकर उनके बीच होने वाले सघर्ष का निवारण करने का प्रयत्न किया वह कुलकर। इस प्रकार युगलिको के युग मे कुलकर का शासन प्रारम्भ हुआ।

प्रथम कुलकर का नाम **विमलवाहन** था। इस कुलकर

ने 'हाकार' नीति का प्रयोग किया, अर्थात् यदि कोई युगलिक मर्यादा का उल्लंघन करता दिखाई देता तो 'हा ! हा ! तूने यह क्या किया ? ऐसे शब्दों से उसे उपालम्भ दिया जाता था। इस उपालम्भ का उस पर बहुत प्रभाव पड़ता और पुनः वह मर्यादा का उल्लंघन नहीं करता था।

तत्पश्चात् **चक्षुष्मत्** नामक दूसरा कुलकर हुआ। उसके समय में भी यही हाकार नीति जारी रही, परन्तु तीसरे **यशस्वी** नामक कुलकर के समय मे मनुष्य अधिक स्वार्थ-परायण बने और वे हाकार नीति का उल्लघन करने लगे। इससे सामान्य अपराध में उन्होंने 'हाकार' और विशेष अपराध मे 'माकार' नीति प्रारम्भ की। माकार नीति अर्थात् 'तुम यह काम मत करो' ऐसी स्पष्ट आज्ञा थी।

चौथे कुलकर **अभिचंद्र** के समय मे इसी नीति ने काम दिया, परन्तु पाँचवें **प्रसेनजित** कुलकर के समय में यह नीति पूर्णतः प्रभावशाली मालूम नहीं हुई, क्योंकि मनुष्य पहिले की अपेक्षा अधिक स्वार्थपरायण, ईर्ष्यालु और लोभी बन गए थे। इसलिये उसने जघन्य अपराध मे 'हाकार' मध्यम अपराध में 'माकार' और उत्कृष्ट अपराध में 'धिक्कार' नीति प्रारंभ की। धिक्कार नीति अर्थात् किसी भी व्यक्ति ने मर्यादा का उल्लंघन किया हो तो 'धिक् तुझे' इन शब्दों से उसे फटकारा। यह नीति प्रथम दो नीतियों की अपेक्षा अधिक उग्र थी और युगलिक ये शब्द सुनते ही भारी क्षोभ का अनुभव करते और फिर कभी भी मर्यादा का उल्लंघन करने का साहस नहीं करते थे।

छठे कुलकर मरुदेव और सातवें कुलकर नाभि के समय में भी यही नीति प्रचलित रही।

नाभि कुलकर के साथ उत्पन्न स्त्री का नाम मरुदेवा था। उसने ऋषभ और सुमंगला नामक पुत्र-पुत्री के युगल को जन्म दिया।

नाभि अन्तिम कुलकर थे अर्थात् उनके समय के पश्चात् कुलकरों के शासन का अन्त हुआ और उसी के साथ युगलियों के काल की भी इति हुई। मानव समाज में बहुत बड़ा परिवर्तन हुआ और जिसे हम संस्कृति (Civ lization culture) कहते हैं उसकी रचना हुई।

सांस्कृतिक युग के पिता श्री ऋषभदेव

सांस्कृतिक युग के पिता श्री ऋषभदेव थे इसीलिए वे आदिनाथ पुरुषाद्य आदि नामों से जाने गए हैं।[१] उन्होंने जीवों के कल्याणार्थ अपनी असाधारण प्रतिभा का उपयोग करके गृहस्थाश्रम काल में मनुष्यों को अग्नि का उपयोग करना, मिट्टी के बर्तन बनाना, खेत जोतकर धान्य पैदा करना, पशुओं का पालन करके उनसे काम लेना, वस्त्र बुनना, गृह निर्माण करना आदि अनेक प्रकार के जीवन-व्यवहार के काम सिखाए।

इस समय में एक दुर्घटना हुई। एक नवजात युगल ताड़ के वन में अभी अपरिपक्व अवस्था में आनन्द कल्लोल करता था कि अचानक ताड़ का फल पुरुष के मस्तक पर गिरा और उसका आघात असह्य होने से वह पुरुष मृत्यु की गोद में गया। युगल में से स्त्री तो बच रही और पुरुष का मरण हो गया। ऐसी विचित्र घटना यह प्रथम ही थी अतः युगलिकों में सनसनी

१

फैलना स्वाभाविक था।

यह स्त्री, जिसका नाम सुनंदा था, अकेली वन में परिभ्रमण करने लगी। उसे देखकर युगलिक सोच में पड़े। अकेली स्त्री का क्या किया जाय यह उनके लिए एक बड़ी समस्या बन गई, आखिरकार वे उस स्त्री को नाभि कुलकर के पास ले गए और उन्हें सौंप दी। वे उसका सुमंगला की भांति लालन-पालन करने लगे।

समय बीतने पर पिताजी की इच्छानुसार श्री ऋषभदेव ने उत्सव पूर्वक सुमंगला और सुनन्दा का पाणिग्रहण किया अर्थात् श्री ऋषभदेव पति बने और सुमंगला तथा सुनन्दा पत्नियां बनी। इस प्रकार मानव समाज में लग्नप्रथा प्रचलित हुई।

सुमंगला ने पुत्र-पुत्री के एक युगल को जन्म दिया। उसमें पुत्र का नाम भरत और पुत्री का नाम ब्राह्मी रक्खा गया। सुनन्दा ने भी पुत्र पुत्री के युगल को जन्म दिया। वे क्रमशः बाहुबली और सुन्दरी के नाम से प्रख्यात हुए। फिर सुमंगला ने अन्य भी अनेक युगल पुत्रों को जन्म दिया, अर्थात् स्त्री एक ही पुत्र पुत्री के युगल को जन्म दे और तत्पश्चात छः माह में उसका मरण हो, इस वस्तु का अंत आया।

श्री ऋषभदेव ने ब्राह्मी को लिपि सिखाई अर्थात् लिखने की कला बताई और सुन्दरी को गणित सिखाया अर्थात् गणना करने की कला बताई। इन दो कलाओं को संस्कृति में कितना महत्त्व है यह आप और हम सभी जानते हैं।

श्री ऋषभदेव का विनीता नगरी में राज्याभिषेक हुआ। वे प्रथम राजा बने। शेष जनता प्रजा बनी। वे राजा का पुत्र

की भाँति रक्षा करने लगे। चोरी-लूट आदि न हो, तथा नागरिक जीवन सुरक्षित रहे इसके लिए उन्होंने आरक्षक दल की स्थापना की। दुष्टों पर शासन और सज्जनों की रक्षा के लिए मन्त्रिमण्डल बनाया। भिन्न भिन्न प्रान्त बना कर उनके प्रतिनिधियों को परामर्श के लिए आमन्त्रित किया और कई राज्य कर्मचारी सलाह देने के योग्य मित्रवर्ग और प्रजाजन नियुक्त किये जो क्रम से उग्र, भोग, राजन्य और क्षत्रिय कहलाए। उन्होंने राज्य-व्यवस्था के लिए चतुरंग सेना और सेनापति की व्यवस्था की और साम दाम, भेद और दण्ड इन चार प्रकार की नीतियों का प्रवर्तन किया।

आवश्यकनिर्युक्ति के कथनानुसार वध अर्थात् बेड़ी का प्रयोग और घात अर्थात् डण्डे का प्रयोग उनके राज्य में प्रचलित हुआ और मृत्युदण्ड आगे जाकर भरत के राज्य में

इसके वाद अपने जीवन का क्या कर्त्तव्य है ? यह श्री ऋपभदेव भली प्रकार जानते थे फिर भी ये वचन उनके लिये स्वकर्तव्यपालन में निमित्तभूत वने और उन्होंने महाभिनिष्क्रमण की तैयारी की। वड़े पुत्र भरत को विनीता-अयोध्या का राज्य सौंपा और अन्य पुत्रों को भिन्न भिन्न प्रदेश वाँट दिये। इसी प्रकार अन्य कुटुम्बी आदि जनों को वहुत धन वाँटा। फिर दान देना प्रारम्भ किया। उस समय पृथ्वी पर माँगने वाले, याचक या भिखारी नहीं थे, परन्तु प्रभु के दानरूपी प्रसाद से हमारी लक्ष्मी में वृद्धि होगी ऐसा सोचकर सभी लोगों ने यह दान स्वल्परूप में ग्रहण किया था, जिसे जो चाहिये वह वस्तु मिलती थी। इस प्रकार वारह माह तक श्री ऋपभदेव भगवान ने दान दिया और तव से इस जगत् में दान का प्रवाह प्रारंभ हुआ।

इसके वाद भगवान ने महाभिनिष्क्रमण किया, अर्थात् विशाल राज्य, पत्नियाँ, पुत्र, परिवार, स्वजन संवंधी, सवका त्याग करके साधुजीवन स्वीकार किया। वे इस युग के प्रथम साधु वने।[४] कच्छ-महाकच्छ आदि अनेक (चार हजार) राजाओं ने उनका अनुसरण किया और वे भी प्रभु के साथ पृथ्वी पर विचरण करने लगे।

प्रभु द्वारा स्वीकृत साधु जीवन की साधना अत्यन्त कठिन थी। उसमें निर्दोप भिक्षा के द्वारा ही जीवन का निर्वाह करना था, परन्तु इस प्रकार का साधु जीवन उस समय के लोगों के लिये सर्वथा नई वस्तु था और इसलिये वे जानते ही नहीं थे कि निर्दोप भिक्षा किसे कहते हैं ? अतः प्रभु जव भिक्षा के लिये [illegible]

अपना राजा समझकर वायुवेगी अश्व, सुन्दर हाथी, कुलीन कन्याएँ, विविध प्रकार के आभरण, हीरे, मोती, माणिक्य, सुन्दर वस्त्रादि उनके सामने रक्खे, परन्तु नि.स्पृह प्रभु ने उनम से किसी भी वस्तु को स्वीकार नहीं किया, वे अदीन-भाव से क्षुधा-तृषा आदि का परीषह सहन करने लगे।[१]

इस ओर उनके साथ रहे हुए और क्षुधा तृषा से थके हुए मुनि सोचने लगे कि प्रभु के विरह मे राज्य को निरर्थक मानकर हमने उनका अनुसरण किया, परन्तु वे तो जैसे हमारे साथ कोई परिचय न हो, इस प्रकार मौन धारण करके चले आते हैं। वे हमारी ओर न देखते हैं, न हम से बोलते हैं, और न कोई भेंट स्वीकार करते हैं तथा मार्ग मे सुन्दर सरोवर और नदी नहाने आते हैं फिर भी उनका पानी नही पीते, वन-बाग-बगीचे खेत आदि मे से न कोई पत्र, पुष्प फलादि चुन कर खाते ही हैं। उन्हे तो क्षुधा और तृषा मानो कुछ पीडा ही नही पहुँचा सकती, जबकि हम तो क्षुधा और तृषा से पीडित हो रहे हैं। तो अब क्या करें ? प्रभु के अन्तर भाव को जान सके ऐसा तो कोई था ही नही, अत कच्छ महाकच्छ आदि मुनि प्रभु का त्याग करके गगा नदी के निकटवर्ती अरण्य में गए और तपस्या करते हुए पृथ्वी पर गिरे हुए शुष्क पत्र-पुष्पादि का आहार करके नदी-नहान का जल पीकर तथा वृक्ष की छाल धारण करके ऋषभदेव का जाप जपते रहे। केश का कोई सस्कार न होने से जटा और दाढी मूँछधारी बने। इस प्रकार तापस धर्म का प्रारम्भ हुआ।

जैसे भ्रमर पुष्प का रसपान करने के लिये एक पुष्प से दूसरे

इसी

प्रकार कल्प्य और निर्दोष भिक्षा के लिये प्रभु एक घर से दूसरे घर और दूसरे से तीसरे घर घूमने लगे। इस प्रकार बारह माह व्यतीत हो गए और वे हस्तिनापुर पधारे। यहाँ भी लोग विविध वस्तुएँ उनके सम्मुख रखने लगे और उन्हें स्वीकार करने की प्रार्थना करने लगे, परन्तु प्रभु उन्हें स्वीकार न करते हुए आगे बढ़ते चले और राजप्रासाद के द्वार पर आए। बहुत बड़ा जन समुदाय उनके साथ था अतः कोलाहल होने लगा।

यह कोलाहल (श्री ऋषभदेव के पुत्र) बाहुबली के पौत्र और सोमप्रभ राजा के पुत्र श्रेयांस कुमार ने सुना, अतः उसने सेवक से पूछा कि 'यह सब क्या है?' सेवक ने निवेदन किया कि 'श्री ऋषभदेव भगवान हमारे आँगन को पावन कर रहे हैं और बहुत बड़ा जनसमूह उनके साथ है, जिसका यह कोलाहल है।' इसी समय श्रेयांस कुमार ने झरोखे से बाहर देखा और प्रभु के दर्शन होते ही सिर पर छत्र तथा पैरों में पदत्राण के बिना ही प्रभु की ओर दौड़े वहां उन्हें जातिस्मरण ज्ञान अर्थात् पूर्व जन्म का दर्शन करवाने वाला ज्ञान उत्पन्न हुआ। इस ज्ञान से अपना पूर्व भव और उसमें साधुधर्म विधि जान कर वे सोचने लगे कि "ये लोग भिक्षा देने की पद्धति से अनभिज्ञ हैं, परन्तु मैं जानता हूँ अतः मैं एक वर्ष के उपवासी भगवान को प्रासुक अर्थात् उन्हें कल्पे ऐसी वस्तु से पारणा कराऊँ।"

वे ऐसा विचार करते हैं कि वहीं कोई पुरुष विशेष आया और उसने श्रेयांस कुमार को इक्षु रस के घड़े भेंट में अर्पित किये। उसे शुद्ध आहार जानकर श्रेयांस कुमार ने प्रभु से

विनती की कि 'हे प्रभु ! इस इक्षु रस को आप स्वीकार करें।"

प्रभु ने इसे निर्दोष जानकर दोनों हाथों से अजलि रूप पात्र आगे किया और श्रेयास कुमार ने उसमे इक्षु रस डालकर प्रभु को पारणा करवाया। वहाँ पाँच दिव्य प्रकट हुए। वह दिन वैशाख सुदी तृतीया का था और दिया हुआ दान अक्षय बना था, अत वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन अक्षय तृतीया के नाम से प्रसिद्ध हुआ। आज भी वर्षी तप के पारण इसी शुभ दिन को होते हैं।[x]

श्री ऋषभदेव भगवान ने बहुत समय तक भारत के भिन्न-भिन्न भागो मे भ्रमण किया और अपनी साधना को अत्युज्ज्वल बनाया। अन्त मे वे अयोध्या नगरी के पुरिमताल नामक उपनगर की उत्तर दिशा में आए हुए शकटानन नामक उद्यान मे पधारे और वहाँ वड के वृक्ष के नीचे अट्ठम तप करके ध्यान-मग्न खड़े रहे। इस समय उत्तरोत्तर भाव शुद्धि होने से उनके चारों घाती कर्मों का नाश हुआ और उससे सर्व लोकालोक को प्रकाशित करने वाला केवल ज्ञान उत्पन्न हुआ।

धर्मतीर्थ का प्रवर्तन:—

इस प्रकार सर्वज्ञ और सर्वदर्शी बनने के पश्चात् भगवान ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध संघ की स्थापना करके धर्म तीर्थ का प्रवर्तन किया और वे श्री ऋषभदेव युगादिदेव अथवा आदिनाथ आद्य धर्मप्रवर्तक (तीर्थंकर) के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

धर्मतीर्थ का प्रवर्तन होते ही लोगो मे नव जागृति का संचार हुआ, वे अपना कर्तव्य समझ और स्वार्थपरायणता

ईर्ष्या, दंभ, दुराचार, अन्याय, अनीति आदि छोड़ कर धर्म-आराधन करने लगे।

अवसर्पिणी काल का यह प्रथम धर्म प्रवर्तन था, और उसे आज असंख्य वर्ष व्यतीत हो चुके हैं अतः जैन धर्म इस जगत का सबसे प्राचीन धर्म गिना जाता है।[७] काल के प्रवाह के साथ जैन धर्म की अनेकांत दृष्टि में से एकांत दृष्टियां ग्रहण करके विविध दर्शन प्रवर्तित हुए।

दीर्घ काल तक धर्म का प्रचार करके श्री ऋषभदेव ने अष्टापद अर्थात् कैलाश गिरि[८] पर निर्वाण प्राप्त किया।[९]

आर्यजाति के सम्माननीय पुरुष :—

श्री ऋषभदेव केवल जैनों के ही नहीं परन्तु समस्त आर्य जाति के सम्माननीय पुरुष रहे होंगे ऐसा अनुमान करने के प्रबल कारण हैं। यजुर्वेद में श्री ऋषभदेव का उल्लेख प्राप्त होता है और वैष्णवों के माननीय ग्रंथ भागवत पुराण में उनका चरित्र उपलब्ध होता है।[१०] यदि श्री ऋषभदेव समस्त आर्य जाति के सम्माननीय पुरुष न होते तो उनका चरित्र इस प्रकार भागवत पुराण में सम्मिलित नहीं किया जाता इतना निश्चित है। इतना ही नहीं, हिन्दू धर्म का अवधूत पंथ आज भी सभी अवधूतों में श्री ऋषभ देव को मुख्य मानता है और उनका जीवन अनुकरणीय गिनता है। विशेषतः बंगाल के अवधूत पंथ में यह स्थिति विशेष रूप से दृष्टिगोचर होती है।

भाद्रपद शुक्ला पंचमी का दिन ऋषि पंचमी के त्यौहार के नाम से प्रसिद्ध है। यह ऋषि पंचमी इस ऋषभ पंचमी का ही अपभ्रंश है, ऐसी कई विद्वानों की मान्यता है। यदि

यह बात सच्ची हो तो श्री ऋषभदेव की पूजा किसी काल में सम्पूर्ण आर्य जाति में होती थी ऐसा सिद्ध होता है और इसीलिये उनका स्थान अन्य सर्व तीर्थंकरों में विशिष्ट कोटि का सिद्ध होता है।

सिंधु संस्कृति सूचक मोहनजोदडो के उत्खनन में से प्राप्त कई मुद्राओं पर कायोत्सर्ग अवस्था में रहे हुए श्री ऋषभदेव की आकृति अंकित है यह तथ्य भी श्री ऋषभदेव की व्यापक लोकप्रियता का सूचन करता है।[11]

तिरसठ शलाका पुरुष:—

श्री ऋषभदेव के पश्चात् अन्य २३ तीर्थंकर हुए। इस प्रकार कुल २४ तीर्थंकर हुए और उस अवधि में १२ चक्रवर्ती ९ वासुदेव ९ बलदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न होने से शलाका पुरुषों की संख्या ६३ तक पहुंची। उनके उत्पत्तिक्रम पर थोडासा दृष्टिपात करने से वस्तुस्थिति स्पष्ट हो जायगी।

१ श्री ऋषभ देव—उनके पुत्र भरत छः खंड पृथ्वी जीत कर प्रथम चक्रवर्ती बने थे।

२ श्री अजित नाथ—उनके समय में सगर नामक द्वितीय चक्रवर्ती बने। प्रत्येक चक्रवर्ती छः खण्ड पृथ्वी को जीतते हैं और उनकी ऋद्धि-सिद्धि अतुल होती है। इस प्रकार सभी चक्रवर्ती समान होते हैं।

३ श्री संभवनाथ

४ श्री अभिनन्दन

५ श्री सुमति नाथ

६ श्री पद्मप्रभ स्वामी

७. श्रीसुपार्श्व नाथ

८. श्री चन्द्रप्रभ स्वामी

९. श्री सुविधि नाथ

१०. श्री शीतल नाथ

नवें तथा दसवें तीर्थंकर के समय में जैन धर्म पालक ब्राह्मणों ने अपनी आजीविकादि अनेक हेतुओं से वेद सूत्रों में परिवर्तन करके ब्राह्मण धर्म की स्थापना की ऐसा उल्लेख जैन शास्त्रों में प्राप्त होता है।

११. श्री श्रेयांसनाथ—उनके समय में त्रिपृष्ट नामक प्रथम वासुदेव हुए। (श्री महावीर स्वामी का जीव इस वासुदेव के रूप में उत्पन्न हुआ था, ऐसा उनके चरित्र में बताया गया है) वासुदेव अर्थात् अर्ध चक्रवर्ती। उनका राज्य विस्तार और ऋद्धि-सिद्धि चक्रवर्ती को अपेक्षा आधे होते हैं। वासुदेव के साथ ही उनके भ्रातृ रूप में बलदेव का जन्म होता है। इस प्रकार अचल नामक प्रथम बलदेव भी इसी समय हुए थे। वासुदेव को प्रतिवासुदेव के साथ लड़ना पड़ता है और उन्हें पराजित करके ही वे वासुदेव पद के सच्चे अधिकारी बनते हैं। इस प्रकार इस समय अश्वग्रीव नामक प्रथम प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए थे और त्रिपृष्ट ने उनके साथ युद्ध करके उनका नाश किया था।

१२. श्री वासु पूज्य स्वामी—उनके समय में द्विपृष्ट नामक द्वितीय वासुदेव, विजय नामक द्वितीय बलदेव और तारक नामक प्रतिवासुदेव हुए।

१३. श्री विमलनाथ—उनके समय में स्वयंभू नामक तृतीय वासुदेव, भद्र नामक तृतीय बलदेव और मेरक (मेराक)

नामक तृतीय प्रतिवासुदेव हुए ।

श्री अनंतनाथ—उनके समय मे **पुरुषोत्तम** नामक चतुर्थ वासुदेव सुप्रभ नामक चतुर्थ बलदेव और **मधु** नामक चतुर्थ प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए ।

श्री धर्मनाथ—उनके समय म पुरुषसिंह नामक पाचवें वासुदेव, **सुदर्शन** नामक पाचवें बलदेव और **निष्कुभ** नामक पाचवे प्रतिवासुदेव हुए ।

श्री धर्मनाथ के निर्वाण के कितने ही काल पश्चात् **मघवा** नामक तृतीय चक्रवर्ती और उनके कितने ही काल पश्चात् सनत्कुमार नामक चतुर्थ चक्रवर्ती हुए । सनत्कुमार का रूप अनुपम था । उन्होने अन्तिम अवस्था म राज्य त्याग कर माधु जीवन स्वीकार किया था और अत्यन्त कठोर तपश्चर्या की थी । उस समय उन्होने शरीर के प्रति जो नि स्पृहता बताई थी वह जैन शास्त्रो मे दृष्टान्तरूप बनी हुई है ।

१८ *श्री शान्तिनाथ*—*वे पूर्वावस्था में* **चक्रवर्ती** *थे ।*

१७ **श्री कु थुनाथ**—वे भी पूर्वावस्था में **चक्रवर्ती** थे ।

१८ **श्री अरनाथ**— व भी पूर्वावस्था में **चक्रवर्ती** थे । इन नाना तीर्थकरो को अनुक्रम से पाचवें, छठे **और** सातवें चक्रवर्ती गिनते है ।

श्री अरनाथ क निर्वाण के बहुत समय के पश्चात् **सुभूम** नामक आठवे चक्रवर्ती हुए । उनके बाद **पुरुषपुडरीक** नामक छठे वासुदेव आनन्द नामक छठे बलदेव, **और बलि** नामक छठे प्रतिवासुदेव हुए । तत्पश्चात् **दत्त नामक** सातवें वासुदेव **नन्दन** नामक सातवे बलदेव **और प्रह्लाद** नामक सातवे प्रति-

वासुदेव हुए।

१९. **श्री मल्लिनाथ**

२०. **श्री मुनिसुव्रत स्वामी**--उनके निर्वाण के पश्चात् **पद्म** नामक नवें चक्रवर्ती और **हरिषेण** नामक दसवें चक्रवर्ती हुए। तत्पश्चात् **लक्ष्मण** नामक आठवें वासुदेव, **पद्म** (श्री रामचन्द्र) नामक आठवें वलदेव और **रावण** नामक आठवें प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए। प्राकृत भाषा में लिखित पउमचरियम् जैन रामायण है। उसमें श्री रामचन्द्र आदि की कथा सविस्तार दी हुई है। कन्नड़ भाषा में भी कई जैन रामायण रचित हैं, जो कन्नड़ भाषा के प्राचीन सुन्दर काव्य गिने जाते हैं। वाल्मीकि रामायण और इस रामायण के तथ्यों में वहुत अन्तर है।

२१ **श्री नमिनाथ**--उनके निर्वाण के पश्चात् **जय** नामक ग्यारहवें चक्रवर्ती हुए।

२२. **श्री अरिष्टनेमि**--(श्री नेमिनाथ) उनके समय में **श्री कृष्ण** नामक नौवें वासुदेव, श्री **राम** (वलभद्र) नामक नौवें वलदेव और **जरासंध** नामक नौवें प्रतिवासुदेव हुए।

श्री अरिष्टनेमि भगवान के निर्वाण के पश्चात् ब्रह्मदत्त नामक वारहवें चक्रवर्ती हुए।

२३. **श्री पार्श्वनाथ**

२४. **श्री महावीर स्वामी** (श्री वर्धमान स्वामी)[१२]

ऐतिहासिक काल के दो विभाग:

ऐतिहासिक काल के दो विभाग करेंगे, एक तो तीर्थकर काल जिसमें श्रीअरिष्टनेमि, श्रीपार्श्वनाथ तथा श्री

महावीर स्वामी उत्पन्न हुए और दूसरा उत्तरवर्ती काल जिसमें श्री महावीर स्वामी के कदमों पर चलने वाले अनेक तेजस्वी आचार्य उत्पन्न हुए।

तीन तीर्थङ्करः

श्रीअरिष्टनेमि—ऐतिहासिक अन्वेषक पहले की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ हैं और उन्होंने बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया है। डॉ० फुहरर (Fuhrer) एपिग्राफिका इण्डिका[31] में कहते हैं कि "Lord Neminath 22 Md Tirthankar of the Jains has been accepted as a historical person 'जैना के बाईसवें तीर्थंकर श्री नेमिनाथ प्रभु को ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है।' प्रो एम डी बाटन एन्टाट मिड इण्डियन क्षत्रिय ट्राइवस नामक पुस्तक के प्रथम भाग की प्रस्तावना में इस मत को मान्यता देते हैं और संस्कृत के प्रसिद्ध विद्वान् डा० नागेन्द्र नाथ बसु हरिवंश पुराण की प्रस्तावना में श्री अरिष्ट नेमि के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को स्पष्टतया स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० हरिसत्य भट्टाचार्य तथा रेवरेण्ड ज कनडा ने इस मत का समर्थन किया है और बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी के प्राध्यापक डा० प्राणनाथ विद्यालंकार ने उन्हें सौराष्ट्र में से प्राप्त हुए एक अति प्राचीन ताम्रपट के आधार पर इस मान्यता की पुष्टि की है। उन्होंने टाइम्स ग्राफ इण्डिया के ता० १६-३-३५ के अंक में विशेष लेख लिखकर बताया था कि "मुझे प्राप्त ताम्रपट अति प्राचीन है। रोमन लिपि में लिखित है और बेबीलोनियन राजा

नेवुजद् नाजर (Nebuchadnazzar), के समय का है जिसका समय ईस्वी सन् से पूर्व ११४० का है।" वे यह भी वताते हैं कि "उक्त राजा नेवुजद् नाजर सुमरे जाति का था, रेवा नगर (सौराष्ट्र) का राजा था और यदुराज के स्थान पर (द्वारिका) आया था। उसने मन्दिर वनवाया था, पूजा की थी और रैवत पर्वत के श्रेष्ठ अविनायक नेमिप्रभु के लिए वार्षिक वृत्ति शुरु की थी। यह लेख वहुत महत्त्व का है। उसमें जैन तीर्थंकर नेमि का नाम मिलता है इसलिए वह जैन धर्म की प्राचीनता की पुष्टि करने में वहुत सहायक है।"

श्री अरिष्टनेमि यदु नामक क्षत्रिय वंश में पैदा हुए थे। उनके पिता का नाम समुद्रविजय और माता का नाम शिवा-देवी था। श्री कृष्ण समुद्रविजय के सवसे छोटे भाई वसुदेव के पुत्र थे। इस प्रकार वे श्री कृष्ण के समकालीन थे। उनका व्याह उग्रसेन राजा की पुत्री राजीमति के साथ निश्चित हुआ था परन्तु लग्न करने जाते समय वरातियों को मेजवानी देने के लिए रखे हुए पशुओं की पुकार रास्ते में सुनी, उनका हृदय द्रवित हो गया और विना लग्न किये वे लौट गए। फिर संसार का त्याग करके उच्चतम अहिंसा सत्य और तप के साथ योगसाधना की और कैवल्य की प्राप्ति करने के पश्चात धर्म तीर्थ की स्थापना की। उनकी साधना मुख्यतः गिरनार पर्वत पर हुई थी और वाद में निर्वाण भी उसी पर्वत पर हुआ था इसलिए गिरनार पर्वत जैनों का महान् तीर्थ धाम वना हुआ है। श्री कृष्ण श्री अरिष्टनेमि के परम भक्त थे। तत्सम्वन्धी अनेक अनुश्रुतियां जैन शास्त्रों में संग्रहीत हैं।

श्री पार्श्वनाथ:—

जैन धर्म श्री महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के पूर्व भी इस देश में प्रचलित था यह तथ्य डॉ० याकोबी, डॉ० चार्पेन्टियर प्रो० मैक्समूलर, बार्न्स वर्ग, बेवर, सर मोनियर विलियम्स हार्वे हौर्नले आदि विदेशी विद्वानों ने तथा डॉ० सर आर० भाण्डारकर डॉ० के०पी० जायसवाल तथा बाल गंगाधर तिलक आदि भारतीय विद्वानों ने सिद्ध किया है और इसी के आधार पर कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलीजन एण्ड एथिक्स तथा हार्म्सवर्थ हिस्ट्री ऑफ द वर्ल्ड जैसे जगन्मान्य ग्रन्थों में श्री पार्श्वनाथ को एक ऐतिहासिक व्यक्ति के रूप में स्थान प्राप्त हुआ है।

समय में पांच महाव्रत और बीच के बाईस तीर्थंकरों के समय में चार महाव्रत थे। चार में ब्रह्मचर्य व्रत अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में गिना जाता था। क्योंकि स्त्री का भी परिग्रह ही नहीं करना, इसलिए स्त्री त्याज्य हो जाती थी।

आखिरकार उन्होंने विहार में स्थित सम्मेत शिखर पर्वत पर निर्वाणप्राप्ति की। यह पर्वत आज भी पारसनाथ हिल के नाम से प्रसिद्ध है। उस पर श्री पार्श्वनाथ का सुन्दर मन्दिर और अन्य तीर्थंकरों के चरणचिह्न हैं।

श्री पार्श्वनाथ और श्री महावीर स्वामी के निर्वाण के बीच २५० वर्ष का अन्तर माना जाता है जिसका उल्लेख हमने इस ग्रन्थ के प्राक्कथन में किया है।

श्री महावीर स्वामी :—

विश्व के जीवों की परम अहिंसा के और श्रेष्ठ त्याग-धर्म के महान् सूत्रधार के रूप में श्री महावीर स्वामी का नाम इतिहास में बहुत प्रकाशमान है। वे पूर्व देश स्थित क्षत्रिय कुंड नगर में ज्ञात नामक उच्च क्षत्रिय कुल में विक्रम संवत पूर्व ५४२ में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन उत्पन्न हुए थे। उनका मूल नाम वर्द्धमान था परन्तु आध्यात्मिक क्षेत्र में अपूर्व वीरता का परिचय देने के कारण वे महावीर के नाम से प्रसिद्ध हुए थे।

तीस वर्ष की आयु में उन्होंने संसार त्याग किया था, साढ़े बारह वर्ष और पन्द्रह दिन तक अहिंसा संयम और दीर्घ तपश्चर्या पूर्वक योग साधना की थी और केवल ज्ञान की प्राप्ति होने पर-पावापुरी में श्री इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायु-

भूति मेतार्य, सुधर्मा आदि ग्यारह विद्वान ब्राह्मणों को दीक्षा देकर अपने मुख्य शिष्य बनाए थे, जो गणधर कहलाए। अन्य भी साधु साध्वी श्रावक श्राविकाओं के संघ की रचना करके महावीर स्वामी ने अपने धर्म तीर्थ की स्थापना करके भारतवर्ष की प्रजा को त्याग, अहिंसा, संयम, तप तथा स्याद्वाद का महान् संदेश दिया था। उनके तीस वर्ष के धर्म प्रचार ने प्रजा में अपूर्व धर्मजागृति पैदा की थी और लाखों स्त्री-पुरुष उनके अनुयायी बने थे, भारत के अनेक राजा उनके पुजारी बने थे, जिनमें विशालापति चेटक, मगधपति बिम्बिसार अपरनाम श्रेणिक, कौशाम्बीपति शतानीक, अवंतिपति चंड-प्रद्योतन, वीतभयपट्टनपति उदायन, नौ मल्लिक राजा और नौ लिच्छवी राजा मुख्य थे। आनन्द, कामदेव, चूलणि-पिता सुरादेव चुल्लशतक कुंडकोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीप्रिय और सालिहीपिता इन दस धन-कुबेरों ने श्री महावीर द्वारा प्ररूपित श्रावक के बारह व्रतों का उत्कृष्ट रूप में पालन करके अग्रगण्य आदर्श श्रावक की ख्याति प्राप्त की थी। धन्य और शालिभद्र जैसे अपूर्व वैभवशाली गृहस्थों ने अपने वैभव छोड़कर श्री महावीर प्रभु के सामने संयम धर्म स्वीकार किया था। इसके अतिरिक्त अनेक राजकुमारों विद्वानों और तपस्वियों ने भी श्री महावीर के धर्मोपदेश का आदर किया था तथा तदनुकूल जीवन यापन करने में आनन्द माना था।

विक्रम-पूर्व ४७० वर्ष में कार्तिक कृष्णा अमावस्या (गुज-राती आसोज कृष्णा अमावस्या दीवाली) के दिन बिहार में पावापुरी नामक ग्राम में उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था।[1]

---

[1] देखो सचित्र हिन्दी महावीर चारित्र-जै मा ग्रा स का

वहाँ आज सरोवर में सुन्दर मन्दिर विराजमान हैं और सब को इस विश्ववंद्य विभूति का पावन स्मरण करवाता है।

उत्तरवर्ती शिष्यपरम्परा :

श्री महावीर स्वामी की उत्तरवर्ती शिष्यपरम्परा निम्न प्रकार से रही है:–[१४]

निर्ग्रंथ गच्छ

(१) श्री सुधर्मास्वामी
(२) ,, जंबूस्वामी
(३) ,, प्रभव स्वामी
(४) ,, शय्यंभवसूरि
(५) ,, यशोभद्रसूरि
(६) ,, संभूति विजय
(७) ,, स्थूलभद्र
(८) ,, आर्य सुहस्तिसूरि
(९) ,, सुस्थित और श्रीसुप्र

यहाँ से कोटिक गच्छ :

(१०) श्री इन्द्रदिन्नसूरि
(११) ,, दिन्नसूरि
(१२) आर्य सिंहगिरि
(१३) आर्य वज्र स्वामी
(१४) श्री वज्रसेनसूरि
(१५) ,, चन्द्रसूरि

यहाँ से चन्द्र गच्छ :

(१६) श्री समन्तभद्रसूरि

यहां से वनवासी गच्छ शुरु हुआ

(१७) श्री वृद्ध देवसूरि
(१८) „ प्रद्योतनसूरि
(१९) „ मानदेवसूरि
(२०) „ मानतुंगसूरि
(२१) „ वीरसूरि
(२२) „ जयदेवसूरि
(२३) „ देवानंदसूरि
(२४) „ विक्रमसूरि
(२५) „ नृसिंहसूरि
(२६) , समुद्रसूरि
(२७) „ मानदेवसूरि
(२८) , विबुध प्रभसूरि
(२९) जयानंदसूरि
(३०) रविप्रभसूरि
(३१) यशोदेवसूरि
(३२) „ प्रद्युम्नसूरि
(३३) , मानदेवसूरि
(३४) „ विमलचन्द्रसूरि
(३५) उद्योतनसूरि

यहां से बड़गच्छ शुरु हुआ

(३६) श्री सर्व देवसूरि
(३७) देवसूरि
(३८) सर्वदेवसूरि
(३९) यशोभद्र सूरि

(४०) श्री मुनिचन्द्र सूरि
(४१) ,, अजितदेव सूरि
(४२) ,, विजयसिंह सूरि
(४३) ,, सोमप्रभ सूरि
(४४) तपस्वीरत्न श्री जगच्चन्द्र सूरि
(यहाँ से तपगच्छ शुरु हुआ)
(४५) श्री देवेन्द्र सूरि
(४६) ,, धर्मघोप सूरि
(४७) ,, सोमप्रभ सूरि
(४८) ,, सोमतिलक सूरि
(४९) ,, देवसुन्दर सूरि
(५०) ,, सोमसुन्दर सूरि
(५१) ,, मुनिसुन्दर सूरि (सहस्रावधानी)
(५२) ,, रत्नशेखर सूरि
(५३) ,, लक्ष्मीसागर सूरि
(५४) ,, सुमतिसाधु सूरि
(५५) ,, हेमविमल सूरि
(५६) ,, आनन्दविमल सूरि
(५७) ,, विजयदान सूरि
(५८) ,, हीरविजय सूरि (सम्राट् अकबर के प्रतिबोधक)
(५९) ,, विजयसेन सूरि
(६०) ,, विजयदेव सूरि
(६१) ,, विजयसिंह सूरि
(६२) ,, सत्यविजय गणि (क्रियोद्धारक)
(६३) ,, कर्पूरविजय गणि

(६४) श्री क्षमाविजय गणि
(६५) ,, जिनविजय गणि
(६६) ,, उत्तमविजय गणि
(६७) , पद्मविजय गणि
(६८) , रूपविजय गणि
(६९) ,, अमीविजय गणि
(७०) ,, कस्तूरविजय गणि
(७१) ,, मणिविजय जी (दादा)
(७२) ,, वृद्धिविजयजी (श्री बुटेरायजी महाराज वृद्धिचदजी आदि)
(७३) ,, मुक्तिविजयजी (मूलचन्द जी महाराज)
, विजयानन्द सूरि (श्री आत्माराम जी महाराज) आदि।

श्री महावीर प्रभु की इस शिष्यपरम्परा ने तथा तत्कालीन अन्य आचार्य मुनिवरो ने श्री महावीर प्रभु के कदमो पर चलकर राजा महाराजाओ को प्रतिबोध दिया है, सामान्य जनता को धर्म का उपदेश दिया है, न्याय नीति की रक्षा की है और विविध प्रकार के साहित्य तथा कला के क्षत्रो मे भी अपूर्व सहयोग दिया है। भारत की प्रजा मे दया, दान और परोपकार की जो वृत्तियाँ अकुरित होकर फली फूली है उनका यश जैन श्रमणो के भाग मे कम नही है। यहा उनमे से कुछ परिचय दगे।[१५]

निर्ग्रन्थ गच्छ

श्री महावीर प्रभु निग्गठ नायपुत्त अर्थात् निर्ग्रंथ ज्ञात-पुत्र क रूप मे सबोधित होते थे और अन्य तीर्थंकर भगवान

की भाँति उनका शिष्य समुदाय निर्ग्रन्थ नाम से पहचाना जाता था।[१६] जिनके अन्तर में राग द्वेष की ग्रन्थि नहीं हो वे निर्ग्रन्थ अथवा जिनके पास किसी भी प्रकार का परिग्रह नहीं वे निर्ग्रंथ। इस तरह उनसे प्रवर्तित पाटपरम्परा निर्ग्रन्थ गच्छ के नाम से पहिचानी जाने लगी। कई इसे सुधर्मागच्छ के नाम से भी जानते हैं, क्योंकि इसका प्रारंभ श्री सुधर्मास्वामी से हुआ है।

श्री सुधर्मा और जंबू स्वामी :

प्रभु के निर्वाण के पश्चात् श्री सुधर्मा स्वामी ने २० वर्ष तक और उनके पश्चात् श्री जंबू स्वामी ने ४४ वर्ष तक संघ की सर्व व्यवस्था सम्हाली। ये दोनों आचार्य केवलज्ञानी थे। श्री जंबू स्वामी के पश्चात् कोई केवलज्ञानी नहीं हुआ।

श्री प्रभव स्वामी और शय्यंभव सूरि :

श्री प्रभव स्वामी ने देखा कि अपने बाद संघ का सर्व भार उठा सके ऐसा व्यक्ति जैन संघ में नहीं अतः प्रसिद्ध ब्राह्मण पंडित शय्यंभव को यज्ञस्तंभ के नीचे रही हुई प्रभावशाली श्री शांतिनाथ भगवान की मूर्ति के दर्शन करवाकर प्रतिबोध दिया और सत्य धर्म का भान करवाया। श्री शय्यंभव ने उनके पास दीक्षा ली और वे श्री प्रभव स्वामी के उत्तराधिकारी बने। इन आचार्य ने दशवैकालिक सूत्र की रचना की, जिसमें साधुधर्म का संक्षेप में सुन्दर वर्णन है; और वह ४५ जिनागमों में से एक माना जाता है।

श्री रत्नप्रभ सूरि :

वी० नि० सं० ७० में श्री रत्नप्रभ सूरि के उपदेश

से ओसिया नगर के सहस्रों राजपूतों ने जैन धर्म स्वीकार किया और वे ओसवाल नाम से प्रसिद्ध हुए। ये सूरि निर्ग्रन्थ गच्छ के नहीं परन्तु श्री पार्श्वनाथ प्रभु की परंपरा में अवतरित हुए थे।

श्री भद्रबाहु स्वामी :

श्री यशोभद्र सूरि के शिष्य श्री भद्रबाहु स्वामी महान् योग साधक तथा अन्तिम श्रुत केवली थे। उन्होंने अनेक जैन सूत्रों पर नियुक्तियों की रचना की और उवसग्गहर स्तोत्र बनाया। उन्होंने दक्षिण के राजा को प्रतिबोध दिया, था और नंद वंश के राजाओं को भी धर्मोपदेश दिया था, वी० नि० सं० १७० में वे कालधर्म को प्राप्त हुए।

श्री स्थूलभद्र :

नंद राजा के मंत्रीश्वर शकडाल के पुत्र थे। आरम्भ में कोशा वेश्या के प्रेम में आसक्त थे परन्तु बाद में वैराग्य को प्राप्त करके आचार्य श्री संभूतिविजय के शिष्य बने। उन्होंने नंद वंश के राजाओं को धर्मोपदेश दिया था तथा मौर्य सम्राट चन्द्रगुप्त को जैन धर्म का उपासक बनाया था। वी० नि० सं० [illegible]१५ में उनका स्वर्गवास हुआ था।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति श्री स्थूलभद्रजी के पट्ट पर आर्य महागिरि और आर्य सुहस्ति आए। श्री आर्य महागिरि जिनकल्प [illegible] बराबर करते थे अर्थात् वे अति [illegible] [illegible] [illegible] न करते थे। आर्य सुहस्ति सूरि [illegible] का [illegible] थे। उनके उपदेश से अवंती का भद्रा श्रेष्ठिनी के पुत्र अवंति सुकुमाल ने दीक्षा ली थी और

स्मशान में जाकर ध्यान लगाते हुए उन्होंने कालधर्म की प्राप्ति की थी। आचार्य श्री के उपदेश से उस स्थान पर अवन्ति पार्श्वनाथ के भव्य मन्दिर का निर्माण हुआ जो आगे जाकर तीर्थरूप बना।

सम्राट् संप्रति : इन आचार्य ने चन्द्रगुप्त के पौत्र अशोक के पुत्र संप्रति को प्रतिबोध देकर परम आर्हत् बनाया था। संप्रति ने जैन धर्म स्वीकार करने के पश्चात् अशोक के साम्राज्य का बहुत विस्तार किया था। इन्होंने उज्जयिनी में साधुओं की एक परिषद् आमन्त्रित की थी और आचार्य महाराज द्वारा प्रांतों के अनुसार साधुओं का विभाग करके आर्य देश में सर्वत्र और अनार्य देश के कई भागों में साधुओं का विहार करवा कर जैन धर्म का प्रचार करवाया था। आचार्य श्री के उपदेश से सम्राट् संप्रति ने सवा लाख नवीन जिन मन्दिरों का निर्माण करवाया था, छत्तीस हजार जिन मन्दिरों का जीर्णोद्धार करवाया था, सवा करोड जिनबिंब भरवाए थे; पंचानवे हजार धातु की प्रतिमाएँ बनवाई और सात सौ दानशालाओं की स्थापना की। इस राजा के ऐसी प्रतिज्ञा थी कि निरन्तर एक जिनमन्दिर बनने की बधाई आने के पश्चात् ही दंतधावन (दातौन) करना।

श्री सुस्थित-सुप्रतिबद्ध—आर्य सुहस्ति-सूरि के १२ प्रधान शिष्य थे। उनमें से पांचवें और छठे शिष्य आ. सुस्थित और और आ. सुप्रतिबद्ध थे। उन्होंने उदयगिरि (कलिंग) की पहाड़ी पर करोड़ बार सूरिमंत्र का जाप किया जिससे जनता ने उन्हें कोटिक के रूप में घोषित किया और उनकी शिष्यपरम्परा कोटिक गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। प्राचीन

निर्ग्रन्थ गच्छ ने यह नया नाम धारण किया।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ गच्छ के लगभग ३०० वर्ष का कार्यकाल बहुत उज्ज्वल रहा और उसमे जैन धर्म के प्रचार को बहुत प्रोत्साहन मिला। इसी समय मे कलिंग मे जैन धर्म का बहुत बोलबाला था। इसका भी यहाँ उल्लेख करना आवश्यक है।

कलिंग मे जैन धर्म:

वैशाली के गणतन्त्र राज्य के अधिनायक महाराजा चेटक अजातशत्रु कोणिक के साथ युद्ध मे मारे गए। तत्पश्चात् उनका पुत्र शोभनराय अपने श्वसुर कलिंगाधिपति सुलोचन के पास गया और फिर वहा का राजा बना। शोभनराय पिता की भाति परम जैन धर्मी था। उसने कलिंग देश मे स्थित कुमारी पर्वत पर जाकर यात्रा करके आत्मकल्याण किया था।

उसकी पाँचवी पीढ़ी मे चडराय वी० नि० स० १४९ मे कलिंग की गद्दी पर बैठा।

चडराय के समय मे पाटलिपुत्र मे आठवाँ नद गद्दी पर था। वह महा लोभी और अधर्मी था। उसने कलिंग पर चढ़ाई की और उसे नष्ट भ्रष्ट किया और कुमारगिरि पर्वत पर मगधसम्राट श्रेणिक ने जो मन्दिर बधवाया था उसे तोड कर उसमे से आदिनाथ भगवान की सुवर्णप्रतिमा को पाटलिपुत्र उठा ले गया।

चडराय के पश्चात् उसकी तीसरी पीढ़ी मे क्षेमराज कलिंग का राजा बना। वी० नि० स० २२७ मे उसका राज्याभिषेक हुआ। उसके समय में प्रसिद्ध मौर्यसम्राट अशोक

ने कलिंग पर चढ़ाई की और कलिंग को मगध का खण्ड राज्य बनाया।

क्षेमराज के पश्चात् उसका पुत्र वुड्डराज कलिंगाधिपति वना। वह परम जैन धर्मी था। उसने कुमारगिरि पर्वत पर श्रमणों के रहने के लिये ११ गुफाएँ वनवाईं। वी० नि० सं० ३०० में उसके वाद उसका पुत्र भिक्खु राजा कलिंग के सिंहासन पर आरूढ़ हुआ। वह परम वीतरागोपासक और निर्ग्रन्थों का भक्त था। भिक्खुराज के तीन नाम थे। भिक्षुराज, महामेघवाहन और खारवेल।

भिक्षुराज अतिशय पराक्रमी और धीर था। उसने अपनी प्रवल सेना से विजययात्रा का प्रारंभ किया। मगधनरेश पुण्य मित्र को युद्ध में हराकर उसे अपना आज्ञाधीन वनाया और नंद राजा आदिनाथ प्रभु की जिस प्रतिमा को कलिंग देश में से उठा लाया था, उस सुवर्णप्रतिमा को वह पुनः कलिंग में लाया और कुमारगिरि पर्वत पर नवीन मंदिर वँधवा कर श्री सुप्रतिवद्ध सूरिजी के पास उसकी प्रतिष्ठा करवाई।

कलिंग की गुफा में जो लेख है उसमें लिखा है कि यहाँ से विम्विसार द्वारा ले जाई गई आदिनाथ की प्रतिमा के स्थान पर अन्य प्रतिमा खारवेल ने स्थापित की है।

आर्य महागिरि और आर्य सुहस्तिसूरि के समय में वारह वर्षीय भयंकर दुष्काल पड़ने पर अनेक श्रमण अनशन करके स्वर्ग सिधारे थे। इस दुष्काल के प्रभाव से आगमज्ञान क्षीण होता देखकर कलिंगाधिपति खारवेल ने प्रसिद्ध प्रसिद्ध जैन स्थविरों को कुमारी पर्वत पर एकत्रित किया, जिनमें आर्य

महागिरि जी की परंपरा के आय बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य धर्मसेनाचार्य नक्षत्राचार्य आदि दो सौ साधु तथा आर्य सुस्थित और सुप्रसिद्ध तथा उमास्वाति, श्यामाचार्य आदि तीन सौ स्थविरकल्पी साधु इकट्ठे हुए थे। आर्या पोइणी प्रमुख तीन सौ साध्वियाँ आई थी। कलिंगपति भिक्षुराज, सीवंद चूर्णक सेलक आदि सात सौ श्रमणोपासक और कलिंग-महारानी पूर्णमित्रा आदि सात सौ श्रमणोपासिका श्राविकाएँ एकत्रित हुई थी।

कलिंगराज की प्रार्थना से अनेक साधु और साध्वी मगध, मथुरा वंग आदि देशों में धर्मप्रचार के लिये निकले थे और आगम के ज्ञाता पूर्वधरों ने आगम का संग्रह किया। राजा की प्रार्थना पर शेष बचे हुए दृष्टिवाद का भी संग्रह किया। इस प्रकार यह राजा जैनधर्म का महान् उपासक बना। वह ? वर्ष की आयु में वी० नि० सं० ३३० के लगभग स्वर्ग सिधारा। इसके बाद उसका पुत्र वक्रराय और उसका पुत्र विदुहराय कलिंग के राजा बने। वे भी परम जैन धर्मी थे।[10]

कोटिक गच्छ :

वी० नि० सं० ?२० तक इस गच्छ के आचार्यों ने जैन संघ का नेतृत्व सम्हाला। उनमें श्री वज्र स्वामी अधिक प्रभावशाली हुए। उनके समय में बारह वर्षीय भीषण दुष्काल पड़ा। उन्होंने ५ ० साधुओं के साथ दक्षिण में एक पहाड़ पर अनशन किया। उस श्रमण संघ में से श्री वज्रसेन सूरिजी गुरु की आज्ञानुसार श्री श्रमणपरम्परा को स्थायी रखने के लिए जीवित रहे। फिर उन्होंने सोपारक (सोपारा बबई) में जाकर दुष्काल की हानि का भविष्य देखकर सेठ जिनदत्त,

दिगम्बर संप्रदाय का प्रादुर्भाव :

इस समय में एक महान् घटना घटित हुई। जैनधर्म रूपी महावृक्ष में से दिगम्बर नामक एक शाखा प्रस्फुटित हुई। श्री शिवभूति ने वी० नि० सं० ६०९ (वि० सं० १३९ में) उसे जन्म दिया। इसके संबंध में एन्साइक्लोपीडीया ऑफ रिलिजियन्स एण्ड एथिक्स में[18] बताया है कि 'भगवान् महावीर के छद्मस्थावस्था के शिष्य और फिर अलग होकर प्रतिपक्षी बने हुए मंखलिपुत्र गोशालक ने आजीविक मत की स्थापना की थी। इस संस्था में नग्न रहने के लिये एकान्त आग्रह था। आंतरिक जीवन चाहे जैसा हो, बाह्य जीवन में दिगम्बरत्व को महत्त्व दिया जाता था। वह आजीविक साधु संघ गोशालक की मृत्यु के पश्चात् (अधिकांशतः) भगवान महावीर के शासन में आ मिला। फिर भी उसका दिगम्बरत्व का आग्रह दृढ़ था। उस आगत सम्प्रदाय में से वि०सं० १३९ में दिगम्बर संघ का प्रादुर्भाव हुआ। इस संघ के आज मूल संघ, द्रविड़ संघ (वि०सं० ५२७) यापनीय संघ (सं० ७०५) काष्ठा संघ, (सं० ७०५), माथुर संघ (सं० ९०० के आस-पास), तारण पंथ (सं० १५७२) तेरह पंथ (सं० १६८०) और गुमान पंथ (वि० सं० १८१८) आदि अनेक भेदोपभेद हैं।

डा० बी० सी० लबे ने 'बुद्धिस्ट स्टडीज़' नामक ग्रंथ में[19] बताया है कि 'एक बौद्ध विद्वान ने तामिल भाषा के प्राचीन मणिमैखले काव्य में साफ साफ लिखा है कि जैन श्रमण निर्ग्रंथ और आजीविक दो विभागों में विभक्त है, जिनमें से निर्ग्र[illegible] भी

वे वी० नि० स० ४६० के लगभग स्वर्ग गये।

श्रीखपुटाचार्य–ये आचार्य महाविद्यासिद्ध थे। उन्होने बौद्ध वादी वृद्धकर को जीता था। उस समय पाटलिपुत्र म मुरुड का राजा दाहड था, उसके जैन साधुओं को ब्राह्मणो को नमस्कार करने का आदेश देने पर अपने शिष्य महेन्द्र को पाटलिपुत्र भेज कर उसका मस्तिष्क ठिकाने लाए थ।

श्री पादलिप्ताचार्य :

ये आचार्य महान् कवि, कथाकार, मत्रसिद्ध और राजाओ को प्रतिबोध दने वाले थ। उन्होने पाटलिपुत्र के राजा मुरुड को, मानखेट के राजा कृष्णराज को तथा प्रतिष्ठानपुर क राजा सातवाहन को प्रतिबोध देकर जैन धर्मावलम्बी बनाया था। उनके गृहस्थ शिष्य मत्रशास्त्र-प्रवीण नागार्जुन ने उनके नाम से श्री शत्रुजय पर्वत की तलहटी म पादलिप्तपुर बसाया था जो आज पालीताणा के नाम से प्रसिद्ध है। उन्होने तरगवती, तरगलोला, *निर्वाण-कलिका तथा प्रश्नप्रकाश* आदि ग्रन्थो की रचना की थी और भरुच के शकुनिका विहार का उद्धार करवाया था।

श्री सिद्धसेन दिवाकर :

ये आचार्य महान् कवि, नैयायिक, और मत्रसिद्ध महापुरुष थे। उन्होने बगाल के कुर्मारपुर क राजा देवपाल को तथा उज्जयिनीपति राजा वीरविक्रम को प्रतिबोध देकर जैनधर्मावलम्बी बनाया था। सन्मतितर्क, न्यायावतार, द्वात्रिंशिकाएँ तथा कल्याणमंदिर स्तोत्र उनकी प्रसिद्ध कृतियाँ है।

त्कारपूजा नहीं होती आदि।

आगे चलकर इस संप्रदाय का दक्षिण में विशेप प्रचार हुआ, उसे कर्णाटक में राज्याश्रय मिला और उसमें धरसेन, कुंदकुंद, अकलंक, विद्यानन्दि, प्रभाचन्द्र, वादिराज आदि समर्थ आचार्य हुए। इस सम्प्रदाय ने प्राचीन जैनागमों को मान्य नहीं रक्खा, परन्तु अपने स्वतंत्र ग्रन्थ बनाए, तथा दूसरे साहित्य की भी रचना की। दिगम्बरों की जनसंख्या श्वेताम्बरों के लगभग पाँचवें भाग जितनी है।

दिगम्बर शाखा का जन्म हुआ अतः मूल सघ अपने को श्वेताम्बर कहलवाने लगा।

चन्द्र और वनवासी गच्छ :

चन्द्रगच्छ निर्ग्रन्थगच्छ का तीसरा नाम था। आ. चन्द्रसूरिजी के पट्ट पर आ. समन्तभद्र सूरि आए। उस समय श्वेताम्बर दिगम्बर संप्रदाय के विभाग बन चुके थे। फिर भी दोनों विभाग इन पूर्वविद् आचार्य को समान दृष्टि से मानते थे। आज भी उनके ग्रन्थ निःशंक भाव से आप्तवचन के रूप में माने जाते हैं। वे दिगम्बर हों, इस बात का एक भी प्रमाण उनके ग्रन्थ में से नहीं मिलता। परन्तु उत्कट त्याग और वननिवास करने के कारण दिगम्बर सम्प्रदाय ने उन्हें अपनाया है।

वे अधिकांश देवकुल, शून्य स्थान तथा वन में स्थिति करने वाले थे, अतः लोग उन्हें तथा उनके शिष्यों को वी. नि. सं० ७०० के लगभग वनवासी के नाम से पहचानने लगे और उनकी शिष्यपरम्परा वनवासी गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रकार निर्ग्रंथ का चौथा नामकरण हुआ।

समावेश हो जाता है, निर्ग्रंथिनियों का प्रभाव तामिल महिला समाज पर विशेष था जब कि आजीविक-दिगम्बर उनसे भिन्न हैं।'

श्री पार्श्वनाथ के सभी साधु वस्त्र पहिनते थे, मात्र जिनकल्पिक नहीं पहनते थे। श्री महावीर स्वामी के भी गच्छवासी साधु वस्त्र पहिनते, जिनकल्पिक साधु नहीं। श्री महावीर स्वामी स्वयं वस्त्र नहीं पहिनते थे, परन्तु उस समय साधु को नग्न ही रहना चाहिये ऐसा एकान्त आग्रह नहीं था। यदि ऐसा आग्रह होता तो सचेल और अचेल दोनों का समावेश जैन संघ में कैसे होता?[२४] परन्तु बाद में कइयों ने नग्नता का आग्रह रक्खा और उसमें से दिगम्बर सम्प्रदाय का उद्भव हुआ। यह सम्प्रदाय प्रथम तो ठीक चला परन्तु बाद में उसके साधुओं की संख्या घट गई और आज भारत भर में दिगम्बर साधुओं की संख्या १५ से अधिक नहीं। इस सम्प्रदाय में निर्ग्रन्थ साध्वी संस्था नहीं अतः चतुर्विध संघ नहीं। निर्ग्रन्थ चारित्र के लिये वस्त्र की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। गृहवास छोड़कर श्रावकधर्म पालन करने वाली 'अर्जिका-आर्या' की संस्था चलाते हैं। परन्तु उसके साथ स्त्रियों को मुक्ति नहीं मिलती ऐसा प्रतिपादन करते हैं। स्त्रियों को चारित्र और मुक्ति का निषेध श्वेताम्बर सम्प्रदाय को मान्य नहीं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय तो पुरुष और स्त्री दोनों को मुक्ति के समान अधिकारी मानता है। इसके अतिरिक्त दिगम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थ भी कई मतव्य श्वेताम्बर सम्प्रदाय से भिन्न हैं, जैसे केवली आहार नहीं करते, मूर्ति की पूजा तो अंगो पर [illegible] होती, मात्र अंगूठे पर ही होती है, मूर्ति पर आभूषणादि

(वी. नि. सं. १४६४) "तुम्हारी शिष्यसंतति वड़ की भांति फैलेगी" ऐसा आशीर्वाद दिया और बाद में सपरिवार अजारी की ओर विहार किया। इस प्रकार वड़ के नीचे सूरि पद प्राप्त होने से आचार्य सर्वदेवसूरि का शिष्यपरिवार वड़गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

इसके पहले चैत्यवास का शिथिलाचार शुरु हुआ था और उसने अब अमर्यादित रूप धारण कर लिया था। साधु होकर चैत्य में रहना, उसे अपनी सम्पत्ति समझना और उसमें विविध प्रकार की उपज करके उसे अपने लिए काम में लेना, ये चैत्यवास के प्रमुख लक्ष्य थे। इस चैत्यवास को रोकने के लिए आचार्य वर्द्धमानसूरि, परम सैद्धान्तिक आ. मुनिचन्द्रसूरि आदि ने सतत प्रयत्न किया। उनके प्रबल प्रयास से चैत्य वास टूटा और पोषाल-पौषध शालाएँ बढ़ने लगीं; तब साधु उनमें स्थिरता करने लगे।

वडगच्छ के शासन में से समाचारीभेद से वि. सं. ११५६ में पुनमिया, वि. सं. १२०१ में चामुंडिक, वि. सं. १२०४ में खरतर, वि. सं. १२१३ में अंचल, वि. सं. १२३६ में सार्ध-पुनमिया, वि. सं. १२५० में आगमिक आदि गच्छ निकले।

इस समय के बीच प्रचलित वडगच्छ में प्रभावशाली आचार्य भी बहुत हुए थे, जिनमें नवांगी वृत्तिकार श्री अभय-देवसूरि, सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक महा विवेचना के लेखक तर्कपंचानन आचार्य श्री अभयदेवसूरि, भोज की सभा पर सुन्दर प्रभाव डालने वाले वादिवेताल श्री शांतिसूरि, ४१५ राजकुमारों को प्रतिबोध देने वाले श्री चक्रेश्वरसूरि, गुजरात के राजा कर्ण को अत्यन्त प्रभावित करने वाले मल-धारी अभयदेवसूरि, [illegible]

यह गच्छ लगभग ७५० वर्ष तक चला और उसमे मानतुगसूरि, नृसिंहसूरि, प्रद्युम्नसूरि, मानदेवसूरि आदि समर्थ आचार्य हुए हैं। इस समय मे अन्य भी अनेक प्रभावशाली आचार्यों ने जैन धर्म की ख्याति बढाई है, जिनमे द्वादशार नयचक्र आदि ग्रन्थ के रचयिता आचार्य मल्लवादी, १४४४ ग्रन्थो के प्रणेता महान् तत्वचिन्तक और प्रखर योगाभ्यासी श्री हरिभद्रसूरि, गोपगिरि के आम राजा को प्रतिबोध देने वाले अपूर्व प्रतिभाशाली श्री बप्पभट्टिसूरि तथा गुर्जरेश्वर वनराज के रक्षक और धर्म गुरु श्री शीलगुणसूरि आदि का समावेश होता है।

श्री शीलगुणसूरि के वनराज को आश्रय देने के पश्चात् गुजरात मे श्वेताम्बर जैनो का वर्चस्व बढता गया और सोलकी तथा बाघेला वश के काल में वह पराकाष्ठा पर पहुँचा। तत्पश्चात् भी गुजरात की राजनीति में श्वेताम्बर जैन महत्वपूर्ण भाग लेते रहे है जिसका परिचय ऐतिहासिक प्रबन्धकाव्यो आदि से हो सकता है।

बडगच्छ :

भगवान महावीर के पैतीसवें पट्ट पर श्री उद्योतनसूरि हुए। उन्होने मथुरा तीर्थ की अनेक बार और सम्मेत शिखर तीर्थ की पाँच बार यात्रा की। एक बार वे इन पुनीत तीर्थों की यात्रा करके आबू की यात्रा मे पधारे। वहाँ तलहटी में स्थित टेली नामक गाँव के किनारे एक विशाल वड के नीचे बैठे थे। उस समय आकाश में सुन्दर ग्रहयोग हुआ था। आचार्य श्री ने तब शुभ और बलवान योग देखकर सर्वदेव आदि प्रमुख आठ शिष्यो को एक साथ आचार्य पद दिया

(वी. नि. सं. १४६४) "तुम्हारी शिष्यसंतति वड़ की भाँति फैलेगी" ऐसा आशीर्वाद दिया और बाद में सपरिवार अजारी को ओर विहार किया। इस प्रकार वड़ के नीचे सूरि पद प्राप्त होने से आचार्य सर्वदेवसूरि का शिष्यपरिवार वड़गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

इसके पहले चैत्यवास का शिथिलाचार शुरु हुआ था और उसने अब अमर्यादित रूप धारण कर लिया था। साधु होकर चैत्य में रहना, उसे अपनी सम्पत्ति समझना और उसमें विविध प्रकार की उपज करके उसे अपने लिए काम में लेना, ये चैत्यवास के प्रमुख लक्ष्य थे। इस चैत्यवास को रोकने के लिए आचार्य वर्द्धमानसूरि, परम सैद्धान्तिक आ. मुनिचन्द्रसूरि आदि ने सतत प्रयत्न किया। उनके प्रवल प्रयास से चैत्य वास टूटा और पोषाल—पौषध शालाएँ बढ़ने लगीं; तब साधु उनमें स्थिरता करने लगे।

वडगच्छ के शासन में से समाचारीभेद से वि. सं. ११५९ में पुनमिया, वि. सं. १२०१ में चामुंडिक, वि. सं. १२०४ में खरतर, वि. सं. १२१३ में अंचल, वि. सं. १२३६ में सार्ध-पुनमिया, वि. सं. १२५० में आगमिक आदि गच्छ निकले।

इस समय के बीच प्रचलित वडगच्छ में प्रभावशाली आचार्य भी बहुत हुए थे, जिनमें नवांगी वृत्तिकार श्री अभय-देवसूरि, सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक महा विवेचना के लेखक तर्कपंचानन आचार्य श्री अभयदेवसूरि, भोज की सभा पर सुन्दर प्रभाव डालने वाले वादिवेताल श्री शांतिसूरि, ४१५ राजकुमारों को प्रतिबोध देने वाले श्री चक्रेश्वरसूरि, गुजरात के राजा कर्ण को अत्यन्त प्रभावित करने वाले मल-धारी अभयदेवसूरि, प्रखरवादी और व्याख्याता मलधारी श्री

यह गच्छ लगभग ७५० वर्ष तक चला और उसमें मानतुगसूरि, नृसिंहसूरि, प्रद्युम्नसूरि, मानदेवसूरि आदि समर्थ आचार्य हुए हैं। इस समय में अन्य भी अनेक प्रभावशाली आचार्यो ने जैन धर्म की ख्याति बढाई है, जिनमें द्वादसार नयचक्र आदि ग्रन्थ के रचियता आचार्य मल्लवादी, १४४४ ग्रन्थो के प्रणेता महान् तत्त्वचिन्तक और प्रखर योगाभ्यासी श्री हरिभद्रसूरि, गोपगिरि के आम राजा को प्रतिबोध देने वाले अपूर्व प्रतिभाशाली श्री बप्पभट्टिसूरि तथा गुजरेश्वर वनराज के रक्षक और धर्म गुरु श्री शीलगुणसूरि आदि का समावेश होता है।

श्री शीलगुणसूरि के वनराज को आश्रय देने के पश्चात् गुजरात में श्वेताम्बर जैनो का वर्चस्व बढता गया और सोलकी तथा वाघेला वश के काल में वह पराकाष्ठा पर पहुँचा। तत्पश्चात् भी गुजरात की राजनीति में श्वेताम्बर जैन महत्त्वपूर्ण भाग लेते रहे है जिसका परिचय ऐतिहासिक प्रबन्धग्रन्थो आदि से हो सकता है।

वडगच्छ

भगवान महावीर के पतीसवें पट्ट पर श्री उद्योतनसूरि हुए। उन्होने मथुरा तीर्थ की अनेक बार और सम्मेत शिखर तीर्थ की पाँच बार यात्रा की। एक बार वे इन पुनीत तीर्थो की यात्रा करके आबू की यात्रा में पधारे। वहाँ तलहटी में स्थित टेली नामक गाँव के किनारे एक विशाल वड के नीचे बैठे थे। उस समय आकाश में सुन्दर ग्रहयोग हुआ था। आचार्य श्री ने तब शुभ और बलवान योग देखकर सर्वदेव आदि प्रमुख आठ शिष्यो को एक साथ आचार्य पद दिया

(वी. नि. सं. १४६४) "तुम्हारी शिष्यसंतति वड़ की भांति फैलेगी" ऐसा आशीर्वाद दिया और वाद में सपरिवार अजारी को ओर विहार किया। इस प्रकार वड़ के नीचे सूरि पद प्राप्त होने से आचार्य सर्वदेवसूरि का शिष्यपरिवार वड़गच्छ के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

इसके पहले चैत्यवास का शिथिलाचार शुरु हुआ था और उसने अब अमर्यादित रूप धारण कर लिया था। साधु होकर चैत्य में रहना, उसे अपनी सम्पत्ति समझना और उसमें विविध प्रकार की उपज करके उसे अपने लिए काम में लेना, ये चैत्यवास के प्रमुख लक्ष्य थे। इस चैत्यवास को रोकने के लिए आचार्य वर्द्धमानसूरि, परम सैद्धान्तिक आ. मुनिचन्द्रसूरि आदि ने सतत प्रयत्न किया। उनके प्रवल प्रयास से चैत्य वास टूटा और पोपाल–पौषध शालाएँ वढ़ने लगीं; तब साधु उनमें स्थिरता करने लगे।

वडगच्छ के शासन में से समाचारीभेद से वि. सं. ११५६ में पुनमिया, वि. सं. १२०१ में चामुंडिक, वि. सं. १२०४ में खरतर, वि. सं. १२१३ में अंचल, वि. सं. १२३६ में सार्ध-पुनमिया, वि. सं. १२५० में आगमिक आदि गच्छ निकले।

इस समय के वीच प्रचलित वडगच्छ में प्रभावशाली आचार्य भी वहुत हुए थे, जिनमें नवांगी वृत्तिकार श्री अभय-देवसूरि, सन्मतितर्क पर 'वादमहार्णव' नामक महा विवेचना के लेखक तर्कपंचानन आचार्य श्री अभयदेवसूरि, भोज की सभा पर सुन्दर प्रभाव डालने वाले वादिवेताल श्री शांतिसूरि, ४१५ राजकुमारों को प्रतिवोध देने वाले श्री चक्रेश्वरसूरि, गुजरात के राजा कर्ण को अत्यन्त प्रभावित करने वाले मल-धारी अभयदेवसूरि, प्रखरवादी और व्याख्याता मलधारी श्री

हेमचन्द्रसूरि, सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ के रचयिता सिंहशिशुक श्री अमरचन्द्रसूरि और प्रखर दार्शनिक तथा तार्किक शिरोमणि गुरु शिष्य श्री मुनिचन्द्रसूरि—श्री वादिदेवसूरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरा मे अंकित है। वे महा प्रतिभासम्पन्न कवि, विद्वान और तत्त्वज्ञ थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा ने अनेक विषयो पर महान ग्रन्थो की रचना की है जिनमे सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण की अपूर्व ख्याति हुई है। उनकी अपरिमित ज्ञानशक्ति देखकर गुर्जरपति सिद्धराज जयसिंह ने उन्हे कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि दी थी। सिद्धराज के पश्चात् सिंहासनारूढ महाराज कुमारपाल को उन्होने जैन बना कर गुजरात और गुजरात के बाहर अमारीपटह निनादित करवाया था। श्री हेमचन्द्राचार्य के उपदेश से कुमारपाल ने १४४४ नय मन्दिरो का निर्माण करवाया था, अनेक मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया, ज्ञानमन्दिर तथा पौषधशालाएँ बहुत बडी सख्या म बनवाई और वह प्रतिवर्ष सार्धमिकवात्सल्य मे एक करोड रु० का व्यय करता था। इसके अतिरिक्त उन्होने जैन धर्म पालने वालो की सख्या बहुत बढाई थी तथा अपने १८ देश के राज्य मे से जीव हिंसा और मदिरापान आदि व्यसनो को तिलाजलि दी थी। गजनी के बादशाह के पास उसके राज्य मे प्रति वर्ष मे ६ महीने अहिंसा का पालन करवाया था। श्री हेमचन्द्राचार्य वि स १२२९ मे ८४ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए।

इसके अतिरिक्त शतप्रबंधरचयिता श्री रामचन्द्रसूरि, सहस्रों राजपूतों को प्रतिबोध देनेवाले खरतरगच्छीय श्री जिनदत्तसूरि और जयन्तविजयमहाकाव्य के रचयिता श्री अभयदेवसूरि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

तपगच्छ—

भगवान महावीर के ४४ वें पट्ट पर आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि हुए। उन्होंने दिगम्बरों के साथ ३२ वादों में विजय प्राप्त की थी। उनके समय में वडगच्छ में प्रमाद के कारण क्रियाशैथिल्य आ गया था। इसलिए उन्होंने वि. सं. १२७३ में चैत्रवाल गच्छीय उपाध्याय देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार किया, अर्थात् क्रिया सबधी अधिक कठोर नियम बनाये और उसका अनुशासन बराबर हो ऐसी व्यवस्था की। कहते हैं कि इस क्रियोद्धार के पश्चात् नाणावल, कोरण्टक, पीपलिक, वड, राज, चंद्रगच्छ इत्यादि अनेक शाखा धारी आचार्यों ने उन्हें शुद्ध संवेगी जानकर उन्हीं के साथ क्रियोद्धार करके उनकी आज्ञा को स्वीकार किया था।

आ. श्री जगच्चन्द्र सूरि ने इस क्रियोद्धार के प्रसंग से आयंबिल की तपश्चर्या करने का अभिग्रह लिया था। वस्तुपाल तेजपाल ने श्री शत्रुंजय तीर्थ का भव्य संघ निकाला तब अन्य गच्छीय आचार्यों के साथ वे भी इसमें सम्मिलित हुए थे।

संवत् १२८५ में वे मेवाड़ के आघाट नगर में पधारे तब मेवाड़पति राणा जैतसिंह उनके दर्शन करने आया और उनकी तपश्चर्या से प्रभावित होकर बोला "अहो ये तो साक्षात् तपोमूर्ति हैं।' फिर उन्हें तपा (तपस्वी) की उपाधि दी तब से उनका शिष्यपरिवार

हेमचन्द्रसूरि, सिद्धान्तार्णव ग्रन्थ के रचियता सिंहशिशुक श्री अमरचन्द्रसूरि और प्रखर दार्शनिक तथा तार्किक शिरोमणि गुरु शिष्य श्री मुनिचन्द्रसूरि—श्री वादिदेवसूरि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

कलिकालसर्वज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य का नाम इतिहास में स्वर्णाक्षरा मे अकित है। वे महा प्रतिभासम्पन्न कवि, विद्वान और तत्त्वज्ञ थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा न अनेक विषयो पर महान ग्रन्थो की रचना की है जिनमें सिद्धहेमशब्दानुशासन नामक व्याकरण की अपूर्व ख्याति हुई है। उनकी अपरिमित ज्ञानशक्ति देखकर गुर्जरपति सिद्धराज जयसिंह ने उन्हे कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि दी थी। सिद्धराज के पश्चात् सिंहासनारूढ महाराज कुमारपाल का उन्होने जैन बना कर गुजरात और गुजरात के बाहर अमारोपटह निनादित करवाया था। श्री हेमचन्द्राचार्य के उपदेश से कुमारपाल ने १४४४ नय मन्दिरा का निर्माण करवाया था, अनेक मन्दिरो का जीर्णोद्धार करवाया, ज्ञानमन्दिर तथा पौषधशालाएँ बहुत बडी सख्या म बनवाई और वह प्रतिवर्ष साधर्मिकवात्सल्य मे एक करोड रु० का व्यय करता था। इसके अतिरिक्त उन्होंने जैन धर्म पालने वालो की सख्या बहुत बढाई थी तथा अपने १८ देश के राज्य म से जीव हिंसा और मदिरापान आदि व्यसनो को तिलाजलि दी थी। गजनी के बादशाह के पास उसके राज्य मे प्रति वर्ष मे ६ महीने अहिंसा का पालन करवाया था। श्री हेमचन्द्राचार्य वि स १२२९ म ८४ वर्ष की आयु मे स्वर्गवासी हुए।

इसके अतिरिक्त शतप्रबंधरचयिता श्री रामचन्द्रसूरि, सहस्रों राजपूतों को प्रतिबोध देनेवाले खरतरगच्छीय श्री जिनदत्तसूरि और जयन्तविजयमहाकाव्य के रचयिता श्री अभयदेवसूरि के नाम भी उल्लेखनीय हैं।

तपगच्छ—

भगवान महावीर के ४४ वें पट्ट पर आचार्य श्री जगच्चन्द्र सूरि हुए। उन्होंने दिगम्बरों के साथ ३२ वादों में विजय प्राप्त की थी। उनके समय में वड़गच्छ में प्रमाद के कारण क्रियाशैथिल्य आ गया था। इसलिए उन्होंने वि. सं. १२७३ में चैत्रवाल गच्छीय उपाध्याय देवभद्र गणि की सहायता से क्रियोद्धार किया, अर्थात् क्रिया संबंधी अधिक कठोर नियम बनाये और उसका अनुशासन बराबर हो ऐसी व्यवस्था की। कहते हैं कि इस क्रियोद्धार के पश्चात् नाणावल, कोरण्टक, पीपलिक, वड, राज, चंद्रगच्छ इत्यादि अनेक शाखा धारी आचार्यों ने उन्हें शुद्ध संवेगी जानकर उन्हीं के साथ क्रियोद्धार करके उनकी आज्ञा को स्वीकार किया था।

आ. श्री जगच्चन्द्र सूरि ने इस क्रियोद्धार के प्रसंग से आयंबिल की तपश्चर्या करने का अभिग्रह लिया था। वस्तुपाल तेजपाल ने श्री शत्रुंजय तीर्थ का भव्य संघ निकाला तब अन्य गच्छीय आचार्यों के साथ वे भी इसमें सम्मिलित हुए थे।

संवत् १२८५ में वे मेवाड़ के आघाट नगर में पधारे तब मेवाड़पति राणा जैतसिंह उनके दर्शन करने आया और उनकी तपश्चर्या से प्रभावित होकर बोला "अहो ये तो साक्षात् तपोमूर्ति हैं।' फिर उन्हें तपा (तपस्वी) की उपाधि दी तब से उनका शिष्यपरिवार

तपगच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज तक वह एक सा चला आ रहा है।

तपागच्छ मे अनेक तेजस्वी आचार्य हुए हैं और उन्होने जैन धर्म का प्रचार करने मे तथा प्रभाव बढाने म बहुत बडा योग दिया है।

श्री देवेन्द्र सूरि--कर्मग्रन्थ और श्राद्धदिनकृत्यादि अनेक ग्रन्थो के रचयिता थे। उन्होने मेवाड नरेश समरसिंह और उसकी माता जयतल्ला देवी को धर्म का प्रतिबोध किया था। उनके प्रतिबोध मे जयतल्ला ने चित्तौड के किले म शामलिया पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया था। गुजरात के राजा वीरधवल की भी उन पर बडी भक्ति थी और राजा वीरधवल के मन्त्रीश्वर वस्तुपाल और तेजपाल भी उन्हे परम पूज्य मानते थे।

श्री विजयसेन सूरि–गुजरात के राजा वीरधवल तथा *मन्त्रीश्वर वस्तुपाल तेजपाल के धर्मगुरु थे। वस्तुपाल तेजपाल* ने जो यशस्वी काम किये उनका श्रेय इन आचार्यश्री को है।

श्री विजयसेन सूरि के शिष्य श्री उदयप्रभ सूरि ने धर्म-शर्माभ्युदय तथा सुकृतकल्लोलिनी नामक काव्य तथा आरम्भ-सिद्धि नामक महान ज्योतिष ग्रन्थ बनाये हैं।

ऐसे ही नारचन्द्र' नाम से प्रसिद्ध ज्योतिषग्रन्थ के रचयिता आचार्य श्रीनरचन्द्र सूरि भी वस्तुपाल के समय मे हुए थे।

श्री धर्मघोष सूरि ने माडवगढ के मन्त्री पेथडकुमार और झाँझणकुमार को धर्मप्राप्ति करवाई थी। उनके उपदेश से चौरासी जिनमन्दिर तथा अनेक ज्ञानभण्डार बने थे।

खरतर गच्छीय श्री जिनप्रभ सूरि ने दिल्ली के सुलतान तुगलक मुहम्मद को धर्मोपदेश देकर उस पर प्रबल प्रभाव डाला था। मुसलमान बादशाह को प्रतिवोध देने का प्रारंभ इन आचार्य ने किया था। उन्होंने स्वनिर्मित ९०० स्तोत्र शासनदेवी के कहने से उस समय के विद्यमान तथा परम प्रभावशाली तपगच्छाचार्य श्री सोमतिलक सूरिजी को अर्पित किए थे।

श्री देवसुन्दर सूरि—महान् विद्वान् थे और उन्होंने अनेक राजाओं को प्रतिवोध दिया था।

श्री मुनिसुन्दर सूरि—सहस्रावधानी थे। उपदेशरत्नाकर अध्यात्मकल्पद्रुम आदि अनेक ग्रन्थों के रचयिता थे और गुजरात तथा खंभात के मुसलमान सूवेदारों के प्रतिवोधक थे। उन्होंने 'वादिगोकुलसंड' और 'काली सरस्वती' की उपाधियां प्राप्त की थीं।

श्री रत्नशेखर सूरि—बहुत विद्वान् थे। उन्होंने श्राद्धविधि, अर्थदीपिका टीका आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की थी। ब्राह्मण पंडितों द्वारा 'वालसरस्वती' की उपाधि प्राप्त की थी।

श्री आनन्दविमल सूरि—महातपस्वी क्रियोद्धारक और सुविहित शिरोमणि थे। वि० सं० १५८७ में इन सूरिजी के उपदेश से कर्माशाह ने शत्रुंजय का सोलहवां उद्धार करवाया था। वि० सं० १५९६ में ९ दिन का अनशन करके वे स्वर्ग सिधारे थे।

जगद्गुरु श्री हीरविजय सूरिजी ने जैन धर्म की यशः-पताका समस्त भारत में फहराई थी। अवूलफजल ने आइने

अकबरी तथा विन्सट स्मिथ ने अपने ग्रन्थो मे उनकी मुक्त कठ से प्रशसा की है।

दिल्ली क मुगल बादशाह अकबर की विशेष प्रार्थना पर गुजरात से पाद विहार करके सवत् १६३६ मे जेठ कृष्णा १३ के दिन उन्होने दिल्ली मे प्रवेश किया और सम्राट अकबर को धर्मोपदेश दिया। तत्पश्चात् भी कई वार अकबर ने उनका सत्सग किया था। उनके तथा शिष्यो के उपदेश से सम्राट अकबर न अपन राज्य मे से वध के लगभग ६ माह क लिए हिसा बन्द करवाई थी, स्वय न भी नित्य सवा सेर चिड़ियो की जीभ का भक्षण आदि मासाहार बन्द किया था। शिकार खेलना बहुत कम कर दिया था, कई निर्दोष पशु पक्षियो को पिजरो म से मुक्त कर दिया था, शत्रुजय का कर माफ किया था तथा प्रत्येक हिन्दू के पास से जो जजिया कर लिया जाता था उसे भी बन्द किया था। उसने सूरिजी को जगद्गुरु की आदरणीय उपाधि दी थी। इन आचार्य ने नागौर के राजा जगमाल आदि को भी धर्मोपदेश दिया था। उनके गुजरात म लौट आन पर उनके शिष्य शातिचद्र, सिद्धिचद्र, भानुचद्र विजयसेन सूरि आदि दिल्ली में रहे थे और उन्होने अपनी अद्भुत शक्ति से सम्राट अकबर को बहुत ही प्रभावित किया था।

उपाध्याय श्रीमद् यशोविजयजी—अद्वितीय विद्वान्, योगवेत्ता और महान् नैयायिक थ। उन्होने काशी तथा लाहौर जाकर नवीन न्याय का अभ्यास किया था। तत्पश्चात् सौ स भी अधिक मननीय ग्रन्थो की रचना द्वारा जैन श्रुत को समृद्ध किया था। विद्वान् [illegible] लघु हरिभद्र के नाम स

संबोधित करते हैं।

उपाध्याय श्री विनयविजयजी—उपा० श्री यशोविजयजी के समकालीन थे। उन्होंने भी लोकप्रकाश, कल्पसूत्र सुबोधिका टीका, शांतसुधारस भावना आदि ग्रन्थों की रचना की है। सिद्धहेमव्याकरण के सूत्रों पर 'हेमप्रकाश' नामक महान् टीका ग्रन्थ उनकी अद्भुत कृति है।

पंडित श्री पद्मविजयजी तथा पं० श्री वीरविजयजी—भी अच्छे विद्वान् कवि थे। उनकी बनाई हुई पूजाएं तथा रास अत्यन्त लोकप्रिय हैं। इनमें सिद्धान्त के तत्त्वों को सुन्दर रीति से गूंथा गया है।

श्री विजयानन्द सूरि—अपरनाम आत्माराम जी महाराज बहुश्रुत थे और जैन धर्म के प्रचार की तीव्र अभिलाषा रखते थे। वाद विवाद में भी उनकी शक्ति अच्छी थी। उन्होंने जैनतत्त्वादर्श, अज्ञानतिमिरभास्कर, सम्यक्त्वशल्योद्धार, आदि ग्रंथ तथा कई पूजाओं की रचना की थी। शिकागो में संयोजित सर्वधर्मपरिषद् में उन्होंने श्री वीरचंद राघवजी गांधी को जैन धर्म के प्रतिनिधि बनाकर भेजा और वहां जैन धर्म का सुन्दर प्रभाव पैदा करवाया था। वे वि० सं० १९५२ जेष्ठ कृष्णा ७ को काल धर्म को प्राप्त हुए थे। उनका शिष्य समुदाय वट वृक्ष की भांति विस्तृत हुआ है और आज भी जैन श्रमणों में बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

श्री वृद्धिविजय जी महाराज के शिष्य श्री **मुक्तिविजय जी गणि** (श्री मूलचंदजी महाराज) और श्री वृद्धिचंदजी गणि की परम्परा भी बहुत विस्तृत हुई है और उसमें आज अनेक प्रभावशाली आचार्य विद्यमान हैं।

स्थानकवासी संप्रदाय की उत्पत्ति—

वि० सं० १५३० के आसपास लोंकाशाह नामक एक लिपिक ने (पुस्तकों के नक्लनवीस ने) प्राचीन काल से चली आती मूर्तिपूजा का विरोध किया और कई साधु तथा श्रावकों को मूर्तिपूजा का विरोधी बनाकर अपना स्वतंत्र मत चलाया जो ढूंढक या स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्ध हुआ। ढूढक का अर्थ है *ढूंढने वाला, सत्य की खोज* करने वाला। स्थानकवासी का अर्थ है स्थानक में रहने वाला। यह वस्तु साधु को लक्ष्य में रखकर समझने की है। पहले कई साधु चैत्य में रहते थे और चैत्यवासी कहलाते थे। उनके सामने सुधार के रूप में यह स्थानकवासी शब्द प्रयुक्त होने लगा और आज वह एक सम्प्रदाय के अर्थ में रूढ बन गया है।

स्थानकवासी ४५ आगमों में से ३२ को मान्यता देते हैं और उनमें भी उन पर लिखित निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य तथा टीका को मान्यता नहीं देते, क्योंकि उनमें मूर्तिपूजा का समर्थन करने वाली कई बातें आती हैं।

स्थानकवासी साधु अपने मुख पर सदाकाल मुहपत्ति बांधे रहते हैं तथा श्वेत वस्त्र धारण करते हैं।

जब श्वेताम्बरों में मूर्ति पूजा का विरोधी पक्ष खड़ा हुआ, तब श्वेताम्बर मूल सम्प्रदाय ने अपने आगे मूर्तिपूजक विशेषण लगाना शुरू किया। आज जैन समाज में श्वेताम्बर मूर्तिपूजकों की संख्या सबसे अधिक है।

तेरापंथ की उत्पत्ति—

वि०सं० १८१७ में सन्त भीखणजी ने उनके स्थानकवासी

गुरु रघुनाथ जी से अलग होकर नवीन पंथ की स्थापना की। उसमें प्रारम्भ में तेरह साधु सम्मिलित हुए थे अतः वह तेरा पंथ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उसकी सभी मान्यताएँ स्थानकवासी सम्प्रदाय जैसी ही हैं, परन्तु दया और दान को धर्म रूप न मानने के कारण सब से भिन्न हो जाता है। इस सम्प्रदाय में एक ही आचार्य की प्रथा है और वह आज तक चली आरही है। आज उनके नवें आचार्य विद्यमान हैं।

वर्तमान काल में कवि पंथ, कानजी मत आदि अवान्तर शाखाएँ निकली हैं, परन्तु ये क्रियामार्ग-व्यवहारमार्ग आदि का अपलाप करने वाली होने से विशेष महत्त्व की नहीं है।

समस्त जैन धर्मावलम्बियों की संख्या अनुमानतः २५ लाख है और वे भारत के लगभग सभी भागों में फैले हुए हैं।

स्थानकवासी सम्प्रदाय की उत्पत्ति--

वि० स० १५३० में ग्रासपास लाकाशाह नामक एक लिपिक न (पुस्तका के नकलनवीस ने) प्राचीन काल से चला आती मूर्तिपूजा का विरोध किया ग्रौर कई साधु तथा श्रावका को मूर्तिपूजा का विरोधी बनाकर अपना स्वतन्त्र मत चलाया जो ढूढक या स्थानकवासी के नाम से प्रसिद्ध हुग्रा। ढूढक का अथ है ढूढने वाला, सत्य की खोज करने वाला। स्थानकवासी का अथ है स्थानक में रहने वाला। यह वस्तु साधु को लक्ष्य में रखकर समझने की है। पहले कई साधु चैत्य म रहते थ और चैत्यवासी कहलाते थ। उनके सामने सुधार के रूप म यह स्थानकवासी शब्द प्रयुक्त होन लगा ग्रौर ग्राज वह एक सम्प्रदाय क अथ में रुढ बन गया है।

स्थानकवासी ४५ ग्रागमो म से ३२ को मान्यता देते है ग्रौर उनम भी उन पर लिखित निर्युक्ति, चूर्णि भाष्य तथा टीका को मान्यता नही देते क्योंकि उनम मूर्तिपूजा का समर्थन करने वाली कई बाते आती है।

स्थानकवासी साधु ग्रपने मुख पर सदाकाल मुहपत्ति बाध रहते है तथा श्वेत वस्त्र धारण करते है।

जब श्वेताम्बरो म मूर्ति पूजा का विरोधी पक्ष खडा हुआ तब श्वेताम्बर मूल सम्प्रदाय ने अपने ग्रागे मूर्तिपूजक विशेषण लगाना शुरू किया। ग्राज जैन समाज म श्वेताम्बर मूर्तिपूजको की संख्या सबसे ग्रधिक है।

तेरापथ की उत्पत्ति--

वि०स० १८१७ म सन्त भीखणजी ने उनके स्थानकवासी

एकांतरे उपवास करने पड़ते हैं और वीच में वड़ी तिथि आने पर दो उपवास साथ में भी करने पड़ते हैं।

७. मेजर जनरल जे. सी. आर. फर्लोंग ने 'द शोर्ट स्टडी इन सायन्स ऑफ कम्पेरेटिव रिलीजियन्स' नामक पुस्तक में वताया है कि ईसा से अगणित वर्ष पूर्व जैन धर्म प्रचलित था। आर्य लोग जव मध्य भारत में आए तव वहां जैन लोग मौजूद थे।

८. श्री हेमचन्द्राचार्य ने अभिधानचिंतामणि के चतुर्थ भूमिकांड में कहा है कि 'रजताद्रिस्तु कैलासोऽष्टापदः स्फटिकाचलः। अर्थात् अष्टापद का अपर नाम कैलाश पर्वत है। श्री जिनप्रभ सूरि ने अष्टापद गिरि कल्प में भी अष्टापद का अपर नाम कैलाश वताया है।

९. श्री ऋषभदेव विषयक यह वात आवश्यक-निर्युक्ति, त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र और श्री आदिनाथ चरित्र के आधार पर कही गई है।

१०. इन्डियन फिलोसोफी भाग १, पृ. २८७

११. It may also be noted that the inscription on the Indus seal No. 449 reads according to my decipherment, Jeneshwar or Jinesh (Jin-i-i sarah).

डॉ० प्राणनाथ विद्यालंकार

The Indus civilization of @ 3000-2500 B. C. with the cult of nudity and yoga, the worship of the bull and other symbols, has resemblances to Jainism, and, therefore, the Indus civilization is supposed to be Non-Aryan or Non-Vedic Aryan Origin.

प्रा० एस. श्रीकंठ शास्त्री

१२. तिरसठ शलाका पुरुषों का यह क्रम त्रिषष्ठि-

टिप्पणियां

मारत के सुप्रसिद्ध पुरातत्वविद् डॉ० मोतीचद एम ए पी एच डी प० श्री नाथूराम प्रमी अभिनन्दन ग्रन्थ में—

'जैन अनुश्रुतियां और पुरातत्व' नामक लेख में बताते हैं कि जैन अनुश्रुतिया का महत्त्व यह है कि व पुरातत्त्व की बहुत सी खोजा पर प्रकाश डाल कर उनकी ऐतिहासिक नीव को और भी मजबूत बनाती हैं। जैन अनुश्रुतिया और पुरातत्व एक दूसरे के सहारे से इतिहास निर्माण में हाथ बंटाते हैं।'

२ इन तिरसठ शालाका पुरुषो के चरित्र कलिकाल-सवज्ञ श्री हेमचन्द्राचार्य ने 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित्र' नामक महाकाव्य में चित्रित किए हैं।

३ धनजय नाममाला म श्री ऋषभदेव के नाम इस प्रकार दिये हुए हैं—

वर्षीयान् वृषभो ज्यायान् पुरुषाद्य प्रजापति ।
ऐक्ष्वाकु काश्यपो ब्रह्मा गौतमो नाभिजोऽग्रज ॥११५॥

४ आदिम पृथ्वीनाथमादिम निष्परिग्रहम् ।
आदिम तीर्थनाथ च ऋषभस्वामिन स्तुम ॥३॥

श्री हेमचन्द्राचाय प्रणीत सकलार्हत् स्तोत्र

५ श्रीमद्भागवत मे श्री ऋषभदेवजी का जो चरित्र अकित हुआ है उसमे से भी यही ध्वनि निकलती है।

६ वर्षीतप का मूल नाम श्री ऋषभदेव सवत्सर तप है। वह गुजराती फाल्गुन कृष्णा ८ से आरम्भ कर दूसरे वष की वैशाख शुक्ला ३ को पूर्ण किया जाता है, इस प्रकार तेरह माह और ग्यारह दिन म पूण किया जाता है। इस तप मे

२ जैन साहित्य

* आगम साहित्य
* ग्यारह अंग
* दृष्टिवाद
* बारह उपांग
* छः छेद सूत्र
* चार मूल सूत्र
* दो सूत्र
* दस प्रकीर्णक
* आगमों की भाषा
* आगमों की वाचना
* आगमों को ग्रन्थारूढ करने का निर्णय
* आगमों पर व्याख्यात्मक साहित्य
* जैन साहित्य की विशालता और विविधता

विभागीय परिचय

* योग
* अध्यात्म
* धर्म
* तत्त्वज्ञान
* उपदेश
* कर्मविज्ञान
* व्याकरण

* कोष
* छंद और अलंकार
* नाट्यशास्त्र
* काव्य
* कथा और चरित
* गणितशास्त्र
* निमित्तशास्त्र
* संगीतशास्त्र
* प्रकीर्ण
* टिप्पणी (१ से २३)

आगम साहित्य—

श्री महावीर प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् तीस वर्ष तक जनता को धर्मोपदेश दिया था, जो आगमों में संगृहीत है।[1] इसलिये आगमों को जैन धर्म का सबसे अधिक पवित्र और प्रामाणिक साहित्य मानते हैं।

आगम अर्थात् आप्तवचन। उन्हें श्रुत, सूत्र, सिद्धान्त या निर्ग्रंथप्रवचन भी कहते हैं।[2] आगमों का ज्ञान सुन कर प्राप्त किया गया है अतः श्रुत, वह सूत्रात्मक है अतः सूत्र, उसमें सिद्धान्तों का व्यवस्थित निरूपण है अतः सिद्धान्त और वह निर्ग्रंथ महामुनि द्वारा कृत अथवा निर्ग्रंथ धर्म की मुख्यता वाले प्रवचनों का संग्रह रूप है अतः निर्ग्रंथप्रवचन।

वह मूल द्वादशांगी–रूप में है। तीर्थंकर भगवान् द्वारा भाषित अर्थ का गणधर महर्षियों ने बारह 'अंग' कहलाने वाले सूत्रों में उन्हें गूंथा अतः द्वादशांगी। इनके साथ उपांग आदि आगमों की रचना हुई। प्रारम्भ में आगम ८४ थे[3], परन्तु काल क्रम से उनमें से कई लुप्त होने से उनकी संख्या आज ४५ मानी जाती है। आज विशेष श्रवण-मनन और भक्ति आराधना इन ४५ आगमों की ही होती है।

इन ४५ आगमों का साहित्य (१२ वें लुप्त 'दृष्टिवाद' अंग के बिना), ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद सूत्र, ४ मूल सूत्र २ सूत्र और १० प्रकीर्णक इस प्रकार छः भागों में विभक्त है। उनमें ११ अंगों की रचना गणधर भगवंतों ने की है और शेष आगमों की रचना गणधर या बहुश्रुत स्थविर आचार्यों ने की है।[4] यहां उनका परिचय क्रमशः दिया जाता है।

* कोष
* छद और अलकार
* नाट्यशास्त्र
* काव्य
* कथा और चरित
* गणितशास्त्र
* निमित्तशास्त्र
* सगीतशास्त्र
* प्रकीर्ण
* टिप्पणी (१ से २३)

आगम साहित्य—

श्री महावीर प्रभु ने केवलज्ञान की प्राप्ति होने के पश्चात् तीस वर्ष तक जनता को धर्मोपदेश दिया था, जो आगमों में संगृहीत है।[1] इसलिये आगमों को जैन धर्म का सबसे अधिक पवित्र और प्रामाणिक साहित्य मानते हैं।

आगम अर्थात् आप्तवचन। उन्हें श्रुत, सूत्र, सिद्धान्त या निर्ग्रंथप्रवचन भी कहते हैं।[2] आगमों का ज्ञान सुन कर प्राप्त किया गया है अतः श्रुत, वह सूत्रात्मक है अतः सूत्र, उसमें सिद्धान्तों का व्यवस्थित निरूपण है अतः सिद्धान्त और वह निर्ग्रंथ महामुनि द्वारा कृत अथवा निर्ग्रंथ धर्म की मुख्यता वाले प्रवचनों का संग्रह रूप है अतः निर्ग्रंथप्रवचन।

वह मूल द्वादशांगी–रूप में है। तीर्थंकर भगवान् द्वारा भाषित अर्थ का गणधर महर्षियों ने बारह 'अंग' कहलाने वाले सूत्रों में उन्हें गूंथा अतः द्वादशांगी। इनके साथ उपांग आदि आगमों की रचना हुई। प्रारम्भ में आगम ८४ थे[3], परन्तु काल क्रम से उनमें से कई लुप्त होने से उनकी संख्या आज ४५ मानी जाती है। आज विशेष श्रवण-मनन और भक्ति आराधना इन ४५ आगमों की ही होती है।

इन ४५ आगमों का साहित्य (१२ वें लुप्त 'दृष्टिवाद' अंग के बिना), ११ अंग, १२ उपांग, ६ छेद सूत्र, ४ मूल सूत्र २ सूत्र और १० प्रकीर्णक इस प्रकार छः भागों में विभक्त है। उनमें ११ अंगों की रचना गणधर भगवंतों ने की है और शेष आगमों की रचना गणधर या बहुश्रुत स्थविर आचार्यों ने की है।[4] यहां उनका परिचय क्रमशः

ग्यारह अंग—

(१) आचारांग सूत्र—इसमें साधु जीवन के आचार विचार और भगवान महावीर की तपश्चर्या का वर्णन आता है। भाषा की दृष्टि से यह आगम बहुत प्राचीन भाषा का माना जाता है और उसकी शैली भी विशिष्ट कोटि की मानी जाती है।

(२) सूत्रकृतांग सूत्र—इसमें मुख्यतः अहिंसा परम धर्म का मंडन तथा तत्त्व ज्ञान का भंडार है तथा क्रियावादी अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी मतों का खंडन है।

(३) स्थानांग सूत्र—इसमें जैन धर्म के मुख्य तत्त्वों की मरयादावार सूची है। एक एक संख्या में तत्त्व, दो दो संख्या में तत्त्व, तीन तीन संख्या में तत्त्व इस प्रकार दस दस संख्या में तत्त्वों का वर्णन है।

(४) समवायांग सूत्र—उस में भी ऊपर के ढंग से ही विभागानुसार सार जैन तत्त्व ज्ञान का संकलन है।

(५) व्याख्याप्रज्ञप्ति अथवा भगवती सूत्र—उसमें षड्द्रव्यादि अनेक विषयों का सूक्ष्म ज्ञान है। ३६००० प्रश्नोत्तर संवाद रूप में दिये हुए हैं। इस समय के ११ अंगों में यह सबसे बड़ा है।

ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र—उसमें दृष्टान्तों और कथाओं द्वारा धर्म का उपदेश दिया गया है। श्री महावीर प्रभु की दृष्टान्तशैली समझने के लिये यह सूत्र अत्यन्त उपयोगी है।

(७) उपासकदशांग सूत्र—उसमें श्री महावीर प्रभु

के दस अनन्य उपासकों के चरित्र दिये गए हैं। श्रावक-धर्म समझने के लिये यह सूत्र बहुत उपयोगी है।

(८) अन्तःकृद्दशांग सूत्र—उसमें सकल कर्म का क्षय करके उसी भव में मोक्ष जानेवाले पवित्र पुरुषों की कथाएँ हैं।

(९) अनुत्तरौपपातिकदशांग सूत्र—इसमें अनुत्तर नामक स्वर्ग की प्राप्ति करने वाले पवित्र पुरुषों की कथाएँ हैं

(१०) प्रश्नव्याकरण सूत्र—इसमें धर्म के विधि-निषेध का वर्णन है।

(११) विपाक सूत्र—इसमें अनेक कथाओं के साथ दुःख विपाक और सुख विपाक का वर्णन किया गया है।

दृष्टिवाद—

गणधर भगवंतों ने श्री महावीर प्रभु की वाणी का श्रवण करके द्वादशांगी की रचना की थी।[५] द्वादशांगी अर्थात् १२ अंग। उनमें ११ अंग ऊपर बताए गए वैसे थे और १२ वाँ अंग दृष्टिवाद नाम का था, परन्तु यह अंग कालान्तर में विच्छिन्न हो गया, अतः आजकल अंग सूत्र ११ ही गिने जाते हैं।

जैन सूत्रों में दृष्टिवाद का जो वर्णन आता है, उस पर से ऐसा लगता है कि यह अंग बहुत ही बड़ा था और पाँच भागों में विभक्त था—(१) परिकर्म (२) सूत्र (३) पूर्वगत (४) प्रथमानुयोग और (५) चूलिका।[६] इनमें से तीसरे विभाग के पूर्वगत में चौदह पूर्वों का समावेश होता था। ये पूर्व ज्ञान की अक्षय निधि समान थे, अर्थात् इनमें एक २ विषय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान भरा हुआ था। [illegible]

रचना के सम्बन्ध मे कई कहते हैं कि भगवान महावीर स पूर्व जो ज्ञान विद्यमान था वह उत्तरवर्ती साहित्य रचना के समय 'पूर्व' कहलाया।[३] परन्तु यह मत प्रामाणिक नही है। वस्तुस्थिति यह है कि द्वादशागी के समय पहले इन चौदह शास्त्रो की रचना की गई थी अत वे पूर्व कहलाये।[५] पूर्व मे सारा श्रुत समा जाता था परन्तु सामान्य बुद्धि वाले उसे समझ सक ऐसी बात नही थी अतएव द्वादशागी की रचना की गई।[१] चौदह पूर्वों के नाम तथा विषय इस प्रकार थे —

नाम	विषय
(१) उत्पाद पूर्व	द्रव्य और पर्यायो की उत्पत्ति
(२) अग्रायणीय पूर्व	द्रव्य, पदार्थ और जीवो का परिमाण
(३) वीयप्रवाद पूव	सकर्म और अकर्म जीवो के वीर्य का वर्णन
(४) अस्तिनास्ति प्रवाद पूव	पदार्थ की सत्ता और असत्ता का निरूपण
(५) ज्ञानप्रवाद पूव	ज्ञान का स्वरूप और प्रकार
(६) सत्यप्रवाद पूव	सत्य का निरूपण
(७) आत्मप्रवाद पूव	आत्मा का निरूपण
(८) कमप्रवाद पूव	कर्म का स्वरूप और प्रकार
(९) प्रत्याख्यानप्रवाद पूव	वृत्त-आचार और विधि निषेध का वर्णन
(१०) विद्यानुप्रवाद पूव	विद्या तथा मत्रो की सिद्धि का वर्णन
(११) अवध्य (कल्याण) पूव	शुभा शुभ फल की अवश्यभाविता का निरूपण
(१२) प्राणानुप्रवाद पूव	प्राणो का निरूपण

(१३) क्रियाविशालपूर्व शुभा-शुभ क्रियाओं का निरूपण
(१४) लोकबिन्दुसार पूर्व लोक बिन्दुसार लब्धि का स्वरूप और उसका विस्तार

चौदह पूर्व संस्कृत में थे, ऐसा प्रवाद है परन्तु पूर्वों के कई परिच्छेद आगमों के टीकासाहित्य में आते हैं, वे सभी लगभग प्राकृत भाषा में है, अतः पूर्वों में संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं का उपयोग हुआ हो ऐसी विशेष सम्भावना है।

श्रमण संघ में केवलज्ञानी के बाद का स्थान श्रुत-केवली को प्राप्त होता है और श्रुतकेवली वही हो सकता है जिसने चौदह पूर्वो का अभ्यास किया हो। इस पर से पूर्व का महत्त्व समझ सकेंगे। श्री प्रभव स्वामी, श्री शय्यंभव सूरि, श्री यशोभद्र, श्री संभूतिविजय, श्री भद्रबाहु, और श्री स्थूलभद्र ये छः आचार्य भगवंत श्रुतकेवली थे।

श्रुतकेवली के बाद का स्थान दस पूर्वधरों को प्राप्त होता है। यह भी पूर्वों का महत्त्व सूचित करता है। आर्य महागिरि, आर्य सुहस्ती, श्री गुणसुन्दर, श्री कालकाचार्य, श्री स्कन्दिलाचार्य, श्री रेवतिमित्र, श्री मंगु, श्री धर्म, श्री चन्द्र-गुप्त और आर्य वज्र, ये दश पूर्व-धर महात्मा थे। जिसे दस पूर्व का ज्ञान हो वह अवश्य समकिती होता है ऐसा जैन शास्त्रों का निर्णय है। इस पर से पूर्वों में निहित ज्ञान की तेजस्विता समझी जा सकती है।

बारह उपांग--

अंग सूत्रों के सम्बन्ध में रचित सूत्रों को उपांग कहते हैं। अंग बारह थे, अतः उपांग भी बारह रचे गये जो इस प्रकार है--
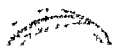
(१) औपपातिक सूत्र—इसमें प्रगपति कोणिक राजा द्वारा श्री महावीर प्रभु के अत्यंत ठाटबाट से किये गये दर्शन का तथा देवलोक की प्राप्ति कैसे हो इसका वर्णन है।

(२) राजप्रश्नीय सूत्र—पार्श्वनाथ सतानीय श्री केशी गणधर ने प्रदेशी राजा की आत्मा आदि के विषय में शंकाओं का निवारण करके उसे जैन धर्मावलम्बी बनाया। वह मर कर सूर्याभ नामक देव बना उसने अपूर्व ठाट बाट से श्री महावीर प्रभु के दर्शन किये आदि तथ्यों का इस सूत्र में वर्णन है। उसमें वर्णित बत्तीस नाटकों का वर्णन भारत की प्राचीन नाट्यकला पर बहुत प्रकाश डालता है।

(३) जीवाभिगम सूत्र—इसमें संसार के समस्त जीवों का सूक्ष्म वर्णन है। यह प्राणी तथा वनस्पतिशास्त्रियों के लिए बहुत महत्वपूर्ण जानकारी देता है।

(४) प्रज्ञापना सूत्र—इसमें जीव के स्वरूप गुण आदि का विविध दृष्टि से वर्णन है।

(५) सूर्यप्रज्ञप्ति—इसमें सूर्य तथा ग्रह नक्षत्रों का वर्णन है तथा उनकी गति विषयक सूक्ष्म गणित है।

चन्द्रप्रज्ञप्ति—इसमें चन्द्र तथा नक्षत्रमण्डल तथा उनकी गति आदि का वर्णन है। प्राचीन समय का खगोल शास्त्र जानने के लिए ये दोनों उपांग बहुत महत्वपूर्ण हैं।

(७) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—इसमें जंबू द्वीप तथा प्राचीन राजाओं आदि का वर्णन है।

(८) निरयावलि सूत्र—इसमें युद्ध में मर कर नरक गामी दस कुमारों का वर्णन है। युद्ध उन्होंने अपनी विमाता के पुत्र कोणिक के साथ मिलकर विशाला पति

महाराजा चेटक के साथ किया था ।

(६) कल्पावतंसिका—इसमें साधु बनकर स्वर्ग जाने वाले राजकुमारों का वर्णन है ।

(१०) पुष्पिका—इसमें श्री महावीर प्रभु की पूजा करने वाले देवताओं के पूर्व भव का वर्णन है

(११) पुष्पचूलिका—इसमें भी ऊपर जैसा ही वर्णन है।

(१२) वृष्णिदशा—इसमें श्री अरिष्ट नेमि भगवान ने वृष्णि वंश के दस राजाओं को जैन धर्मी बनाया इसका वर्णन है ।

आठ से बारह तक के पांच उपांग बहुत छोटे मिलते हैं इससे ऐसा लगता है कि उनमें से बहुत सा भाग लुप्त हुआ होगा ।

छः छेद सूत्रः—

साधु जीवन का आचार, उससे सम्बन्धित प्रायश्चित्त तथा अपवाद मार्ग आदि विषयक बहुश्रुत स्थविर आचार्यों की कृति को छेद सूत्र कहते हैं । उनका व्याख्यान श्रावक समूह के लिए नहीं होता । छः छेद सूत्रों का क्रम इस प्रकार जानें:—

(१) निशीथ सूत्रः—इसमें आचार भ्रष्ट साधुओं के लिये दण्ड रूप प्रायश्चित्त देने का विधान है ।

(२) बृहत्कल्प सूत्रः—इसमें साधु साध्वियों के लिए उत्सर्ग-अपवाद मार्ग का आचार कल्प है, और क्या कल्पता है और क्या नहीं कल्पता इसकी स्पष्ट आज्ञाएँ हैं । तथा अमुक अकार्य के लिए दस प्रकार के प्रायश्चित्त में से कौनसा प्रायश्चित्त आता है, इसका भी इसमें विधान है ।

(३) व्यवहार सूत्रः—इसमें आचार से पतित होने वाले

मुनियो के लिए आलोचना (Confession) करना वाछनीय हो तो आलोचना सुनने वाले और आलोचना करने वाले मुनि कैसे हो और आलोचना कैसे भाव से करनी चाहिये तथा कैसा प्रायश्चित्त उसे देना चाहिये उसकी पद्धति आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त साधु जीवन की मर्यादा का सूचन करती हुई अन्य भी अनेक बातें है।

(४) **दशाश्रुतस्कन्ध**—इसमे दस अध्ययन हैं। पहले अध्ययन मे असमाधि के २० स्थान, दूसरे मे चारित्र में अशक्ति लाने वाले २१ सबल दोष, तीसरे मे गुरु की ३३ आशातनाएँ, चौथे मे आचार्य की ८ सपदा और उनके भेद, शिष्य के लिए चार प्रकार का विनय और उनके भेद, पाँचवे मे चित्तसमाधि के दस स्थान, छठे मे श्रावक की ११ प्रतिमाएँ सातवे मे भिक्षु प्रतिमाएँ, आठवे में तीर्थंकरो के चरित्र आदि जो कल्पसूत्र के नाम से प्रसिद्ध है और जिसका व्याख्यान पर्युषण मे होता है, नवें मे महा मोहनीय कर्म बन्धन के ३० स्थान और दसवे मे नौ निदान (नियाणे) बताये हैं।

(४) **पच कल्प सूत्र**—आजकल विच्छेदप्राप्त है इस पर का केवल भाष्य तथा चूर्णि उपलब्ध है।

(५) **महानिशीथ सूत्र**—इसमे आलोचना तथा प्रायश्चित्त है। चौथे ब्रह्मचर्य व्रत के भग से कितने दुख भोगने पडते हैं यह बता कर कर्म का सिद्धान्त सिद्ध किया गया है तथा इसमे अच्छे व बुरे साधुओ के आचार के सम्बन्ध मे भी कथन है।

विण्टर निट्ज कहते हैं कि इन छेद सूत्रो मे वास्तविक उपयोगी बात तीसरे से पाँचवे छेद सूत्रो मे हैं जो बहुत प्राचीन है। इन तीनों को एकत्रित करके 'दसा कप्प-ववहार'

कहते हैं। संक्षेप में यह सब साधु संघ का नियम निदर्शक ग्रन्थ-समूह है।

चार मूल सूत्र

जो सूत्र साधुओं के लिए मूल में–आरम्भ में–पठनीय हैं उन्हें मूल सूत्र कहते हैं। ऐसे सूत्र चार हैं, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन तथा ओघ निर्युक्ति। पिंडनिर्युक्ति सूत्र का समावेश साधु भिक्षा विधि को बताने वाले दशवैकालिक के पांचवें अध्ययन में होता है।

(१) **आवश्यक सूत्रः**—ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शुद्धि के लिये जो क्रियाएँ दिन रात्रि के अन्त में अवश्य करणीय हैं वे आवश्यक कहलाती हैं। इस सूत्र में १ सामायिक (सामाइय) २ चतुर्विंशतिस्तव, (चउवीसत्थओ), ३ वंदनक (वंदणयं) ४ प्रतिक्रमण (पडिक्कमण), ५ कायोत्सर्ग (काउस्सग्ग) और ६ प्रत्याख्यान इन छः आवश्यकों का वर्णन है।[१०]

(२) **दशवैकालिक सूत्रः**—इसमें साधु जीवन का आचार संक्षेप में वर्णित है।

(३) **उत्तराध्ययन सूत्रः**—इसमें साधनाओं और सिद्धांतों पर बोध तथा वैराग्य से पूर्ण कथाओं, दृष्टान्तों व संवादों का संग्रह है। बौद्धों में जो स्थान धम्मपद का है वैसा ही या उससे अधिक ऊँचा स्थान जैन साहित्य में इस सूत्र का है।

(४) **ओघनिर्युक्ति** में मुख्यतः साधु के विहार, विश्राम प्रतिलेखना, ग्लानसेवादि साधु जीवन के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है।

दो सूत्र

(१) **नंदिसूत्रः**—इसमें तीर्थंकर गणधरों की ज्ञान[illegible]

पर्यायें, सप्त वैशिष्टच तथा मति-श्रुतादि पाच ज्ञानो का सविस्तार वर्णन है।

(२) अनुयोगद्वार सूत्र—इसमे व्याख्यानशैलीविषयक अनेक अधिकारो का वर्णन है। इसमे नवरस, काव्य शास्त्र आदि की भी कई बात आती हैं।

दस प्रकीर्णक: (१० पयन्ना)

जो मुक्त प्रकीर्ण ग्रन्थ हैं उन्हे कहते हैं प्रकीर्णक। उनकी रचना पद्धति वेदो के परिशिष्टो से मिलती जुलती है। दस *प्रकीर्णको के नामादि इस प्रकार हैं*—

(१) चतु शरण—इसमे अर्हत् सिद्ध, साधु और धर्म इन चार की शरण का स्वरूप बताया हुआ है।

(२) आतुरप्रत्याख्यान—इसमे बाल मरण, बाल पडित मरण तथा पण्डित मरण किसके होते है यह बताया है। फिर पडित को आतुर अर्थात् रोगावस्था में किस २ बात के प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये सर्व जीवो को किस प्रकार खमाना चाहिये आदि बताया है।

(३) भक्तपरिज्ञा—इसमें मृत्यु के समय के अनशन की विधि तथा भावना दर्शायी गई है।

(४) सस्तारक—इसमें मृत्यु से पूर्व सथारा लगाया जाता है उसकी महिमा का वर्णन है।

(५) तन्दुलवैतालिक—इसमे गर्भावस्था, शरीर आदि का विशिष्ट वर्णन है।

(६) चन्द्रवध्यक—इसमे राधावेध के वर्णन से आत्मा को कैसा एकाग्र ध्यान लगाना चाहिये यह बताया है।

(७) देवेन्द्रस्तव—इसमें देवताओं, चद्र, सूर्य, ग्रह,

नक्षत्र, आदि के नाम, वास, स्थिति, भवन आदि का वर्णन है।

(८) गणित विद्याः—इसमें ज्योतिष और निमित्त सम्बन्धी बहुत वर्णन है।

(९) महाप्रत्याख्यानः—इसमें बड़े दोष स्मरण कर उनका त्याग करना–भाव शल्य निकाल देना–इसका वर्णन है।

(१०) वीरस्तवः—इसमें श्री वीर प्रभु की स्तुति होना सम्भव है। अभी यह प्रकीर्णक अप्रकट है।

इनके सिवाय अन्य २० प्रकीर्णक भी आज उपलब्ध हैं।[११]

आगमों की भाषा :

श्री महावीर स्वामी ने धर्म का उपदेश अर्ध मागधी भाषा में दिया था, जिससे सभी लोग उससे लाभ उठा सकें।[१२] उसके आधार पर आगमों की रचना हुई, वह भी अर्ध मागधी भाषा में ही हुई। अर्धमागधी प्राकृत भाषा का ही एक रूप है। प्रसिद्ध चूर्णिकार श्री जिनदास गणि महत्तर कहते हैं कि जो भाषा मागधी और देश्य शब्दों के मिश्रण रूप हो उसे अर्ध-मागधी समझें।[१३] उस समय अर्धमागधी भाषा पूर्व से पंजाब तक बोली जाती थी और आज हिंदी भाषा का जैसा स्थान है वही उसको प्राप्त था। जैन शास्त्रों में इस भाषा को ऋषिभाषिता कहते हैं[१४] क्योंकि ऋषि और देव मुख्यतः इसी भाषा में बोलते थे। आचार्य श्री हेमचन्द्र ने उसके स्थान पर आर्ष शब्द का प्रयोग किया है।

भाषाशास्त्रियों ने आगमों को दो युगों में विभक्त किया है। ई. पू. ४०० से १०० तक का प्रथम युग। उसमें रचित अंगों की भाषा अर्धमागधी और ई पूर्व १०० वर्षों से ५०० ईस्वी. तक का दूसरा युग। उसमें रचित अथवा निर्यूढ

पर्यायाँ, सघ वैशिष्टय तथा मति श्रुतादि पाच ज्ञानो का सविस्तार वर्णन है।

(२) **अनुयोगद्वार सूत्र** —इसमें व्याख्यानशैलीविषयक अनेक अधिकारो का वर्णन है। इसम नवरस, काव्य शास्त्र आदि की भी कई बात आती है।

दस प्रकीर्णक : (१० पयन्ना)

जो मुक्त प्रकीर्ण ग्रन्थ है उन्ह कहते है प्रकीर्णक। उनकी रचना पद्धति वेदो के परिशिष्टो से मिलती जुलती है। दस प्रकीर्णको के नामादि इस प्रकार हैं —

(१) **चतु शरण** —इसम अर्हत् सिद्ध, साधु और धर्म इन चार की शरण का स्वरूप बताया हुआ है।

(२) **आतुरप्रत्याख्यान** —इसम बाल मरण, बाल-पडित मरण तथा पडित मरण किसके होते हैं यह बताया है। फिर पडित को आतुर अर्थात् रोगावस्था में किस २ बात के प्रत्याख्यान ग्रहण करना चाहिये सब जीवो को किस प्रकार खमाना चाहिये आदि बताया है।

(३) **भक्तपरिज्ञा** —इसम मृत्यु के समय के अनशन की विधि तथा भावना दर्शायी गई है।

(४) **सस्तारक** —इसमें मृत्यु से पूर्व सथारा लगाया जाना ह उसकी महिमा का वर्णन है।

(५) **तन्दुलवतालिक** —इसम गर्भावस्था शरीर आदि का विशिष्ट वर्णन है।

(६) **चन्द्रवध्यक** —इसम राधावेध के वर्णन से आत्मा को कैसा एकाग्र ध्यान लगाना चाहिये यह बताया है।

(७) **देवन्द्रस्तव** —इसमें देवताओ, चद्र, सूर्य, ग्रह,

को पता चलने पर उसे श्रुत मद मानकर आगे के पूर्वों की वाचना देने से इनकार कर दिया। फिर श्री श्रमण संघ के अति आग्रह से शेष चार पूर्वों की वाचना दी परन्तु उनका अर्थ नहीं सिखाया। तत्पश्चात् उत्तरोत्तर पूर्वों का ज्ञान लुप्त होता गया।

विक्रम की दूसरी सदी में पुनः एक वार वारह वर्षीय दुष्काल पड़ा। उसके कारण श्रुत पुनः अव्यवस्थित हो गया परन्तु वि० सं० १५३ में श्री आर्य स्कंदिलाचार्य ने मथुरा में श्रमण संघ को एकत्रित किया और उसमें सूत्रों की पुनः व्यवस्था की।

ठीक इसी समय में सौराष्ट्र में वलभीपुर नगर में स्थविर नागार्जुन ने भी सूत्र व्यवस्था का काम हाथ में लिया और सूत्रों का पुनर्गठन किया। इस प्रकार की गई सूत्रों की पुनर्व्यवस्था को वाचना कहते हैं। इस प्रकार आगमों की कुल तीन वाचनाएं हुई, प्रथम पाटलीपुत्री द्वितीय माथुरी और तृतीय वालभी।

तत्पश्चात् सर्वमान्य वाचना कोई नहीं हुई।

आगमों को ग्रन्थारूढ़ करने का निर्णय

कालक्रम से पूर्व के संघयण और स्मृति कम हो गए थे जिससे सूत्रों को कंठस्थ रखना बड़ा कठिन लगने लगा। अतः वीर निर्वाण से ९८० वें वर्ष में वल्लभीपुर में श्री देवर्धिगणि क्षमाश्रमण ने जैन श्रमण संघ को एकत्रित किया और सूत्रों को ग्रन्थारूढ़ करने का निर्णय लिया। इस निर्णय के अनुसार श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण ने सूत्रों को पुनः व्यवस्थित किया और उन्हें ग्रन्थारूढ़ करवाया। इस समय पाटलीपुत्री वाचना

आगमो की भाषा जैन महाराष्ट्री। अर्धमागधी में ऐसे अनेक शब्द हैं जिनका प्रयोग प्राय, महाराष्ट्री मे नहीं होता और ऐसे भी अनेक शब्द हैं जिनके रूप दोनो मे भिन्न प्रकार से होते हैं। इसलिए दोना भाषाओ का स्वरूप भिन्न माना गया है।

आगमों की वाचना

वीर निर्वाण से लगभग १६० वर्ष पश्चात् जैन श्रमणो की मुख्य विहारभूमि सदृश मगध देश में बारह वर्षीय दुष्काल पडा। इससे साधु दूर २ चले गए और उनमें से कइयो ने अनशन पूर्वक देह त्याग किया। जब शेष साधु पुन लौटे तो मालूम हुआ कि दुष्काल के समय म स्वाध्याय बराबर न हो सकने स कई सूत्र सर्वथा विस्मृत हो चुके थे। इस पर स पाटलीपुत्र में श्रमण सघ को एकत्रित किया गया। आगम लिख हुए तो थ ही नहीं, सब कठस्थ रखे जाते थ इसलिए प्रत्येक क पास स जितना कठस्थ था उतना बचा हुआ श्रुत एकत्रित किया गया। उसमें ११ अगों की बराबर प्राप्ति हुई परन्तु १२ वाँ अग दृष्टिवाद पूरा नहीं मिला।

श्री भद्रबाहु स्वामी दृष्टिवाद के ज्ञाता थे, परन्तु वे उस समय नपाल क माग म रह कर महाप्राण नामक ध्यान धर रहे थ जो बारह वर्षों म सिद्ध होता था। इसलिए कई साधुओं को उनके पास भेजा और उनम स श्री स्थूलभद्र ने १० पूर्व तक ज्ञान प्राप्त करने म सफलता पाई। इसके बाद श्री भद्रबाहुस्वामी पुन लौटे परन्तु उस समय श्री स्थूलभद्र ने उनकी साध्वी बनी हुई बहिनों को चमत्कार दिखाने के लिए सिंह का रूप धारण किया, इस बात का श्री भद्रबाहुस्वामी

चूर्णियों की रचना में श्री जिनदास गणि महत्तर का मुख स्थान रहा है। उन्होंने अकेले ही आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग और निशीथ इन आठ सूत्रों पर चूर्णियों की रचना की है। वृहत्कल्प चूर्णि श्री प्रलम्बसूरि की कृति है। अन्य रचनाएँ किसकी हैं इसका पता अभी तक नहीं चल पाया है। वाचक, महत्तर, क्षमाश्रमण ये पूर्व धरों के उपनाम हैं।

जिनागमों पर संस्कृत में विशिष्ट वृत्ति-टीका श्री हरिभद्र सूरि से पूर्व भी रची गई थी क्योंकि हारिभद्रीय वृत्ति में ऐसे उल्लेख मिलते हैं परन्तु आज उपलब्ध वृत्तियों में देखें तो उनमें सबसे प्राचीन वृत्ति श्री हरिभद्रसूरिजी की मिलती है। फिर तो अनेक सूत्रों पर वृत्तियों की रचना होती ही गई। वृत्तिकारों में श्री हरिभद्रसूरि, श्री शीलांकाचार्य, श्री अभयदेवसूरि और आचार्य श्री मलयगिरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

दीपिका आदि लघुटीकाएं टिप्पणीविशेष आदि व्याख्यात्मक साहित्य भी रचा हुआ है। एक आवश्यक पर के ही सर्व व्याख्यात्मक साहित्य का संग्रह किया जाय तो एक लाख श्लोक से भी अधिक हो।

मूल सूत्र, नियुक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका इन पांच अंगों के समूह को पंचांगी कहते हैं और उसे श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय बहुत महत्त्व देता है।

जैनों के आगम साहित्य के प्रति डॉ॰ विन्टर निट्ज ने, प्रो॰ हर्मन याकोबी आदि ने बहुत ऊँचा अभिप्राय प्रकट किया है तथा प्रो॰ वेबर ने 'Sacred litreture of the Jains' नामक एक महान निबन्ध जर्मन भाषा में लिखा है जिसका अंग्रेजी

तो रही नही थी, परन्तु माथुरी और वालभी दो वाचनाएँ विद्यमान थी और उनम कुछ कुछ अन्तर दिखाई देता था। इसलिए सूत्र माथुरी वाचना के अनुसार रखे और पाठ भेदों का उनम समावेश किया। इस प्रकार आज उपलब्ध आगम श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण द्वारा सम्पादित होकर पुस्तकारूढ हुए हैं।

आगमों पर व्याख्यात्मक साहित्य

आगमो के अर्थ भाव रहस्य का प्रकाश करने के लिए उन पर व्याख्यात्मक साहित्य की रचना होती रही है। उनमे पहिले नियुक्तियो की रचना हुई फिर सूत्र और नियुक्ति पर भाष्य रचे गए, फिर सूत्र, नियुक्ति और भाष्य पर चूर्णियो की रचना हुई और अन्त मे विस्तृत वृत्तियो का निर्माण हुआ। इनमे नियुक्ति और भाष्य प्राकृत भाषा मे लिखे हुए हैं और व पद्यात्मक हैं। चर्णिय भी प्राकृत भाषा मे रचित हैं परन्तु यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत है और गद्यात्मक है, जबकि वृत्तियाँ संस्कृत भाषा म तथा गद्य में रचित है।

नियुक्तियाँ १० सूत्रों पर है, भाष्य ५ सूत्रों पर है, चर्णिया १७ सूत्रा पर है और वत्तियां २ छेद सूत्र तथा ७ प्रकीणक को छोडकर शप ३६ सूत्रा पर उपलब्ध हैं।

नियुक्तियो की रचना का श्रेय १४ पूर्वधर श्री भद्रबाहु स्वामी का है। भाष्य विभिन्न महर्षियो ने रचे हैं जैसे वृहत् कल्प पर श्री सघदास गणि महत्तर का विस्तृत भाष्य है। आवश्यक नियुक्ति पर रचित विशेषावश्यक भाष्य की गणना एक महाभाष्य के रूप में होती है। इस महाभाष्य की रचना का श्रेय श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को है।

चूर्णियों की रचना में श्री जिनदास गणि महत्तर का प्रमुख स्थान रहा है। उन्होंने अकेले ही आवश्यक, दशवैकालिक, नन्दी, अनुयोगद्वार, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग और निशीथ इन आठ सूत्रों पर चूर्णियों की रचना की है। वृहत्कल्प चूर्णि श्री प्रलम्वसूरि की कृति है। अन्य रचनाएँ किसकी हैं इसका पता अभी तक नहीं चल पाया है। वाचक, महत्तर, क्षमाश्रमण ये पूर्व धरों के उपनाम हैं।

जिनागमों पर संस्कृत में विशिष्ट वृत्ति-टीका श्री हरिभद्र सूरि से पूर्व भी रची गई थी क्योंकि हारिभद्रीय वृत्ति में ऐसे उल्लेख मिलते हैं परन्तु आज उपलब्ध वृत्तियों में देखें तो उनमें सबसे प्राचीन वृत्ति श्री हरिभद्रसूरिजी की मिलती है। फिर तो अनेक सूत्रों पर वृत्तियों की रचना होती ही गई। वृत्तिकारों में श्री हरिभद्रसूरि, श्री शीलांकाचार्य, श्री अभय-देवसूरि और आचार्य श्री मलयगिरि का स्थान महत्त्वपूर्ण है।

दीपिका आदि लघुटीकाएं टिप्पणीविशेष आदि व्याख्यात्मक साहित्य भी रचा हुआ है। एक आवश्यक पर के ही सर्व व्याख्यात्मक साहित्य का संग्रह किया जाय तो एक लाख श्लोक से भी अधिक हो।

मूल सूत्र, निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णी और टीका इन पांच अंगों के समूह को पंचांगी कहते हैं और उसे श्वेताम्बर मूर्ति-पूजक सम्प्रदाय बहुत महत्त्व देता है।

जैनों के आगम साहित्य के प्रति डॉ० विन्टर निट्ज ने, प्रो० हर्मन याकोबी आदि ने बहुत ऊँचा अभिप्राय प्रकट किया है तथा प्रो० वेवर ने 'Sacred litreture of the Jains' नामक

गुने अधिक प्राणवान और स्फूर्तिदायक हैं।' [१६]

इस प्रकार अन्य भी अनेक विद्वानों ने जैन साहित्य की विशालता और विदिधता का अभिनन्दन किया है।

इस विशाल और विविधलक्षी साहित्य का परिचय जिन रत्न कोप, [१७] जैन ग्रंथावली, [१८] जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास [१९] प्राकृत भाषाएँ और साहित्य, [२०] संस्कृत साहित्य का इतिहास [२१] मुद्रित जैन श्वेताम्बरादि ग्रंथ नामावली [२२] तथा कन्नड भण्डारों का सूचि पत्र [२३] देखने से मिल सकता है। यहां तो प्रकरण की मर्यादा के अनुसार उनमें से कुछ सारभूत वातें दी जायेंगी।

योग

योग के विपय में जैन श्रमणों ने वहुत ग्रन्थों की रचना की है जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ मुख्य हैं :—

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत ध्यान शतक, श्री हरिभद्र सूरि कृत योगविन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, योग-शतक और योग विंशिकाएँ, श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योग-शास्त्र तथा उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति, श्री शुभचंद्राचार्य कृत ज्ञानार्णव और योग-प्रदीप, योगचन्द्र कृत योगसार तथा अज्ञात कृत ध्यानदीपिका और ध्यान विचार।

अध्यात्म

योग की भाँति अध्यात्म के विपय में भी जैन श्रमणों की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं, जिनमें श्री उत्तराध्ययन सूत्र, श्री उमास्वाति कृत प्रशमरति प्रकरण, श्री मुनिचन्द्र सूरि कृत अध्यात्मकल्पद्रुम, श्री हर्पवर्धन कृत अध्यात्मविन्दु श्रीमद् यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मपरीक्षा,

अनुवाद इण्डियन एण्टीक्वेरी वो० १७, १८, १९, २० और २१ में हुआ है।

जैन साहित्य की विशालता और विविधता

पटना में आमन्त्रित अखिल हिन्द पौर्वात्य परिषद् के प्रमुख राय बहादुर हीरालालजी ने कहा था कि 'जैन पण्डितों का गणित विदित था और सब लोगों को विदित है कि जैन वाङ्मय अति विशाल है और अनेक दृष्टि बिन्दुओं से उपयोगी है। वह प्राचीन काल में सामान्यजनों द्वारा बोली जाती हुई भाषा प्राकृत में लिखित है। इसलिए यह भाषा शास्त्री के लिए अत्यन्त विस्तृत क्षेत्र खोल देता है। वह भारत की लगभग सभी भाषाओं के मार्ग में आया हुआ है। द्राविड़ भाषा पर भी उसका प्रभाव है।'[१२]

प्रो० कृष्णचन्द्र जैन एम० ए० साहित्यरत्न ने यह बात अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में जैन साहित्य का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रबन्ध, पद्य, नाटक, कथा आदि ललित साहित्य और गणित, वैद्यक, ज्योतिष, भूगोल, नीति, दर्शन आदि उपयोगी साहित्य के सभी क्षेत्र में जैन साहित्य का योग बहुत पुष्ट और समृद्धिशाली है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पुरातन भारतीय भाषाओं तथा दक्षिण की तामिल, तेलगू, कन्नड़, गुजराती, मराठी आदि प्रान्तीय भाषाओं में भी यह साहित्य प्रचुर परिमाण में उपलब्ध है। अभी तक बहुत सा जैन साहित्य अप्रकाश में है परन्तु जो भी साहित्य प्रकाश में आया है उससे भी भली भांति स्पष्ट होता है कि भारतीय सांस्कृतिक अनुशीलन में अन्य धर्म और जाति की अपेक्षा जैन साहित्य के पृष्ठ कई

गुने अधिक प्राणवान और स्फूर्तिदायक है।'[१६]

इस प्रकार अन्य भी अनेक विद्वानों ने जैन साहित्य की विशालता और विदिघता का अभिनन्दन किया है।

इस विशाल और विविधलक्षी साहित्य का परिचय जिन रत्न कोष,[१७] जैन ग्रंथावली,[१८] जैन साहित्य का सक्षिप्त इतिहास[१९] प्राकृत भाषाएँ और साहित्य,[२०] संस्कृत साहित्य का इतिहास[२१] मुद्रित जैन श्वेताम्बरादि ग्रंथ नामावली[२२] तथा कन्नड भण्डारों का सूचि पत्र[२३] देखने से मिल सकता है। यहां तो प्रकरण की मर्यादा के अनुसार उनमें से कुछ सारभूत वातें दी जायेंगी।

योग

योग के विपय में जैन श्रमणों ने वहुत ग्रन्थों की रचना की है जिनमें निम्नलिखित ग्रन्थ मुख्य हैं:—

श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण कृत ध्यान शतक, श्री हरिभद्र सूरि कृत योगविन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, योग-शतक और योग विंशिकाएँ, श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योग-शास्त्र तथा उस पर स्वोपज्ञ वृत्ति, श्री शुभचंद्राचार्य कृत ज्ञानार्णव और योग-प्रदीप, योगचन्द्र कृत योगसार तथा अज्ञात कृत ध्यानदीपिका और ध्यान विचार।

अध्यात्म

योग की भाँति अध्यात्म के विपय में भी जैन श्रमणों की कृतियाँ उल्लेखनीय है, जिनमें श्री उत्तराध्ययन सूत्र, श्री उमास्वाति कृत प्रशमरति प्रकरण, श्री मुनिचन्द्र सूरि कृत अध्यात्मकल्पद्रुम, श्री हर्षवर्धन कृत अध्यात्मविन्दु श्रीमद् यशोविजय जी कृत अध्यात्मोपनिषद्, अध्यात्मपरीक्षा,

अध्यात्मसार और ज्ञानसार तथा उ० श्री विनयविजयजी कृत शान्त सुधारस भावना मुख्य है। इनके अतिरिक्त अध्यात्म गीता, आत्मावबोध, चित्त समाधि प्रकरण, परमात्म प्रकाश परमसुखद्वात्रिंशिका, परमानन्द पञ्चविंशतिका, *समाधिशतक, समभाव शतक, आदि भी दर्शनीय है।*

धर्म

धर्म का स्वरूप बताने के लिये जैन श्रमणो ने छोटे बडे अनेक ग्रन्थो-प्रकरणो आदि की रचना की है। उनमे श्री हरिभद्रसूरि कृत धर्म बिन्दु, शांतिसूरि कृत धर्मरत्नप्रकरण श्री रत्नशेखर सूरि कृत श्राद्धविधि, आचारप्रदीप और श्री मानविजयजी उपाध्याय कृत धर्मसग्रह विशेष उल्लेखनीय है। उनमे गृहस्थ और साधु धर्म का व्यवस्थित वर्णन है। प्रथम की अपेक्षा पचम ग्रन्थ बडा है और उसमे आनुषगिक *विषयो का विशाल सग्रह है।*

दर्शन और प्रकरण

दर्शनशास्त्रो का उल्लेख पहले 'न्याय' के प्रकरण मे किया है। प्रकरण शास्त्रो म तत्त्वार्थाधिगम, जीव विचार, नव तत्त्व, दडक, लघु सग्रहणी, वृहत् सग्रहणी, क्षेत्र समास, छ. कम ग्रथ, तीन भाष्य, प्रवचनसारोद्धार आदि अनेक प्रकरण पूर्वाचार्यो द्वारा रचित उपलब्ध हैं। इनमे अनेक विषयो पर सुन्दर प्रकाश डाला गया है।

तत्त्व ज्ञान

श्वेताम्बर दिगम्बर दोनो सप्रदायो को मान्य ऐसा जैन तत्वज्ञान का उत्तम ग्रथ तत्त्वार्थाधिगम सूत्र है। इसकी रचना पाँच सौ प्रकरण ग्रथो के रचयिता श्री उमास्वाति वाचक

ने वी० नि० की चतुर्थ शताब्दी के आस पास सूत्रात्मक शैली में संस्कृत भाषा में की थी। उस पर स्वोपज्ञ (कर्ता का स्वरचित) भाष्य है और दोनों सम्प्रदायों की छोटी बड़ी अनेक टीकाएँ हैं, इस पर से उसकी उपयोगिता का अनुमान हो सकता है।

उपा० श्री मंगलविजय जी महाराज द्वारा सांप्रत काल में रचित आर्हतदर्शनदीपिका भी इसी शैली का एक आदर्श ग्रंथ है। प्रो० हीरालाल र० कापडिया का विवेचन उसमें अनेक उपयोगी विषयों की वृद्धि करता है।

उपदेश :

औपदेशिक ग्रंथ अनेक हैं। उनमें श्री धर्मदास गणि कृत उपदेशमाला अति प्राचीन है और उस पर अनेक वृत्ति विवरण अवचूरियाँ लिखी गई हैं। इसके अतिरिक्त श्री हरिभद्र सूरि कृत उपदेशपद, आसड़कविकृत उपदेश कंदलि, श्री मेरुतुंग कृत उपदेश शतक, श्री रत्न मंदिर गणि कृत उपदेश तरंगिणी, श्री जिनेश्वर सूरि कृत उपदेश रत्न कोष, श्री मुनिसुन्दर सूरि कृत उपदेश रत्नाकर, श्री जिनदत्त सूरिकृत उपदेश रसायण, श्री यशोविजयजी कृत उपदेश रहस्य, श्री सोमधर्म कृत उपदेश सप्ततिका तथा उपदेश प्रासाद ग्रन्थ भी उल्लेखनीय हैं। अन्तिम ग्रन्थ पर श्री विजयलक्ष्मीसूरि ने १०००० श्लोक की वृत्ति रची है। इसके अतिरिक्त उपदेश मणिमाला, उपदेश रत्न माला, उपदेश संग्रह, उपदेश सार आदि ग्रंथ भी जैन साहित्य के रत्न हैं।

कर्म विज्ञानः

चौदह पूर्वो में कर्मप्रवाद नामक एक विशेष पूर्व था औ

द्वितीय आग्रायनीय पूर्व मे भी कर्म सम्बन्धी बहुत विवेचन था। उसमे से सार ग्रहण करके श्री शिवशर्म सूरि ने प्राकृत गाथा बद्ध कर्मप्रकृति नामक एक प्रकरण की रचना की। उस पर श्री मलयगिरि आचार्य तथा श्रीमद् यशोविजय जी ने सस्कृत भाषा मे विशद टीकाएँ लिखी है। प्राचीन छ. कर्म ग्रथ, श्री देवेन्द्रसूरिकृत नवीन पाच कर्म ग्रन्थ और श्री चन्द्रमहत्तराचार्य कृत छठा सप्ततिका ग्रन्थ तथा पच सग्रह भी कर्म विज्ञान के उपयोगी ग्रन्थ हैं। दिगम्बर सम्प्रदाय मे षट्खड जिनागम और कषाय प्राभृत पर धवला तथा जय धवला नामक बृहत् टीकाएँ रचित हैं।

व्याकरण

भाषा शास्त्र मे जैन साहित्य ने बहुत योग दिया है। अकेली सस्कृत भाषा मे ही उसने ३० के लगभग व्याकरण रचे हैं। जिनमे ऐन्द्र व्याकरण, शब्द प्राभृत, जैनेन्द्र व्याकरण (पचागी), शाकटायन शब्दानुशासन, बुद्धिसागर (पच ग्रथी), मुष्टि व्याकरण, विद्यानन्द व्याकरण, चितामणि व्याकरण, मलयगिरि व्याकरण तथा श्री सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन प्रमुख है। अन्तिम व्याकरण अति विशाल है और भाषा विशारदो के मत मे इसके सदृश दूसरा श्रेष्ठ व्याकरण अभी तक नही रचा गया। यह व्याकरण श्री हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित है। इस पर ५३००० श्लोक का लघु न्यास और ८४००० श्लोक का बृहन्न्यास, रचित है तथा इस पर छोटी बडी सख्यातीत वृत्तियाँ बनी है। भाषा के क्षेत्र मे जैनाचार्यों का यह अमर योगदान है।

कोप

जैन श्रमणों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश और देशीय भाषा के कोष बनाये हैं। उनमें अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थ नाममाला, देशी नाममाला, शेपनाममाला, तथा निघंटु-कोष, श्री हेमचन्द्राचार्य की कृतियाँ हैं। तथा शिलोंच्छ नाम माला, धनंजय नाममाला, पाइअलच्छी नाम माला, पदार्थ चिंतामणि किंवा शव्दार्णव, नाम संग्रह, शारदीय नाममाला, शव्दरत्नाकर आदि अन्य श्रमणों की कृतियां हैं।

वर्तमान काल में रचित अभिधान राजेन्द्र कोप जैनागम तथा उसके आनुषंगिक साहित्य के प्रत्येक शव्द का प्रमाण सहित अवतरण करता है। पं० हरगोविन्द दास रचित 'पाइअ-सद्द-महण्णवो' प्राकृत भाषा का उपयोगी कोप है और मुनि श्री रत्नचन्द्रजी रचित जैनागम शव्द संग्रह और अर्ध मागधी कोप भी उतने ही उपयोगी हैं।

छंद और अलंकार

जैन श्रमणों तथा श्रमणोपासकों ने अपनी असाधारण प्रतिभा से छंद और अलंकार शास्त्र को भी समृद्ध बनाया है। उसमें श्री जयदेवकृत जयदेवछन्दस्, श्री जयकीर्ति कृत छन्दोऽनु-शासन, श्री वुद्धिसागर सूरिकृत छन्दः शास्त्र, श्री राजशेखर कृत छंदःशेखर, श्री अमरचन्द्र सूरि कृत छन्दोरत्नावली, श्री वाग्भट कृत छंदोऽनुशासन और श्री हेमचन्द्राचार्य कृत हैम-छन्दोऽनुशासन की मुख्यता है। श्री जयकीर्ति कृत छन्दोऽनु-शासन में कई कन्नड़ छन्दों पर प्रकाश डाला गया है और हैमछन्दोऽनुशासन पर स्वोपज्ञवृत्ति है, जिससे उसका वहुत महत्वपूर्ण स्थान है।

अलकार ग्रन्थो मे श्री हेमचन्द्राचार्य का काव्यानुशासन, श्री वाग्भट का वाग्भटालकार, श्री नरेन्द्र प्रभु का अलकार महोदधि। श्री अमरचन्द्र सूरिकृत काव्यकल्पलता, श्री भावदेवसूरिकृत अलकार सार, श्री मडन मत्री कृत अलकार मडन, श्री अमृतनदि कृत अलकारसग्रह, वि० अजितसेन कृत अलकारचितामणि और श्री विनयचन्द्रसूरि कृत कवि शिक्षा मुख्य हैं। इनमें काव्यानुशासन अपनी दो स्वोपज्ञ वृत्तियो के कारण और अलकारमहोदधि पद्यात्मक कृति होने के कारण अधिक महत्त्वपूर्ण हैं।

नाट्य शास्त्र :

जैन श्रमणो ने नाट्य ग्रथ भी लिखे हैं। श्री हेमचन्द्र सूरि के शिष्य श्री रामचन्द्र सूरि ने बहुत से सस्कृत नाटको की रचना की थी, परन्तु नाट्य शास्त्र के रूप मे तो नाट्यदर्पण नामक एक ही कृति पाई जाती है। उसके रचयिता उपर्युक्त श्री रामचन्द्र सूरि तथा उनके गुरु भाई गुणचन्द्र गणि हैं।

काव्य

काव्य रचना मे भी जैन श्रमणो की गति तेज रही है। निम्नलिखित काव्य उत्तम कोटि के हैं श्री हेमचन्द्राचार्य कृत त्रिषष्ठि शलाका पुरुष चरित्र, द्वयाश्रय महाकाव्य (सस्कृत और प्राकृत), श्री उदयप्रभ कृत धर्माभ्युदय महा काव्य, श्री वस्तुपाल कृत नरनारायणानन्द काव्य, श्री माणिक्यसूरि कृत नलायन महाकाव्य, श्री मेरुतुग सूरि कृत जैन मेघदूत, जैन कुमारसभव, सागण पुत्र विक्रम कृत नेमिदूतकाव्य, श्री अमरचन्द्र कृत पद्मानन्द काव्य (चतुर्विशति जिन चरित्र या जिनेन्द्र चरित्र) श्री अमरचन्द्र सूरि कृत वाल भारत, श्री नेमिचन्द

कृत राघव पांडवीय काव्य, और श्री देवविमल कृत हरि-सौभाग्य काव्य, विजयप्रशस्ति काव्य ।

कथाएँ और चरित्र

जैन साहित्य कथाओं का भंडार है, ऐसा कहने में अत्युचित नहीं है। उसमें छोटी बड़ी सैकड़ों कथाएँ लिखी हुई हैं और वे विविध रसों से पूर्ण हैं। उनमें श्री पादलिप्त सूरि कृत तरंगलोला (जिसके सार रूप में तरंगवती रचित है) श्री उद्योतन सूरि कृत कुवलयमाला, श्री धनपाल कृत तिलकमंजरी आदि दीर्घ कथाएँ हैं। तिलकमंजरी बाणभट्ट की कादंबरी की प्रतियोगिता करे ऐसी है। छठी शताब्दी में श्री संघदास गणि द्वारा रचित वसुदेव हिंडी में अनेक लोक कथाएं, चरित्र, उत्सव और विनोद साधनों का वर्णन है। सातवीं शताब्दी में श्री जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण द्वारा रचित विशेषणवती, आठवीं शताब्दी में श्री हरिभद्र सूरि रचित समराइच्च कहा और दसवीं शताब्दी में श्री सिद्धर्षि गणि रचित उपमितिभवप्रपंच कथा भी उल्लेखनीय हैं। लगभग इसी अवधि में श्री शीलांक ने चउप्पन महापुरिस चरियं और तत्पश्चात् श्री देवभद्र सूरि ने कहारयण कोस, श्री भद्रेश्वर ने कथावलि की रचना की है। तीर्थंकर, आचार्य तथा अन्य पवित्र, स्त्री पुरुषों के चरित्र सैकड़ों की संख्या में लिखित हैं। उनमें प्रभावक चरित्र, प्रबन्ध चिन्तामणि, चतुर्विंशति प्रबन्ध आदि चरित्रों के अतिरिक्त ऐतिहासिक सामग्री भी बहुत बड़ी मात्रा में है।

गणित शास्त्र

श्री महावीराचार्य (दि.) ने गणितसारसंग्रह नामक

उत्तम कृति की रचना की है, उसका तेलगू और कन्नड भाषा म अनुवाद हो चुका है। इस गणित रचना का समय श्री भास्कराचार्य क लीलावती गणित की अपेक्षा प्राचीन है। इस गणित को देखने के पश्चात् डॉ. विभूतिभूषण दत्त ने जैन गणित के विषय में निम्नलिखित तीन मननीय लेख लिखे हैं -

1 The jain school of Mathematics

2 On Mahanins solution of Rational Triangles and Quadrilaterals

3 Geometry in the jain cosmography

इसके अतिरिक्त मल्लाचार्य ने गणितसग्रह, श्री अनन्त पाल ने पाटी गणित, ठक्कर फेरु ने गणितसार, और श्री नेमिचन्द्र ने क्षेत्रगणित की रचना की थी।

ज्योतिष निमित्त शास्त्रः

निमित्त शास्त्र म श्री पादलिप्त सूरि कृत प्रश्नप्रकाश, श्री पद्मप्रभ सूरि कृत भुवन दीपक अर्थात् गृहभाव प्रकाश, श्री उदयप्रभ कृत आरंभ सिद्धि, श्री नरचन्द्र सूरि कृत नरचन्द्र ज्योतिसार आदि उत्तम कृतियाँ हैं। इनक अतिरिक्त सामुद्रिक तिलक और हस्त सजीवन ये दो कृतिया भी निमित्त विषय म उल्लेखनीय हैं।

सगीत-शास्त्र :

सगीत शास्त्र म श्री पार्श्व चन्द्रगणि कृत सगीत समय सार श्री सुधाकलश कृत सगीतोपनिषद् तथा श्री मडन कृत सगीत मडन विशेष उल्लेखनीय है।

प्रकीर्ण :

एक सधि ने शिल्प शास्त्र रचा है, ठक्कर फेरु ने दव्व

परिक्खा में भारतीय मुद्राओं के विषय में विचार किया है, कुमारपाल के मंत्री-पुत्र जगदेव ने स्वप्न शास्त्र की रचना की है, और प्राग्वाट वंशीय दुर्लभराज ने गज प्रबंध, गज परीक्षा, हस्ति परीक्षा, तुरंग प्रबंध, पुरुष-स्त्री-लक्षण, शकुन शास्त्र आदि की रचना की है। श्री हंसदेव ने दो भागों में १७१२ श्लोकों के मृग-पक्षी-शास्त्र की रचना की है। प्राणी विद्या की इस अद्वितीय पुस्तक की एक हस्त-लिपि त्रिवेन्द्रम के राजमहल पुस्तकालय में है। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद, धनुर्वेद, रत्न-परीक्षा, धातुपरीक्षा, आदि विषयों पर भी जैनों ने अपनी लेखनी चलाई है और भारतीय विज्ञान को भव्य बनाया है। नीति शास्त्र में भी जैनों का योग कम नहीं है। उसके संबंध में भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचित हैं। इसके साथ ही सुभाषित और उनके संग्रह की ओर भी जैनों ने पूरा लक्ष्य दिया है और इसीलिये आज जैन भंडारों में इस विषय की अनेक कृतियां उपलब्ध हैं।

टिप्पणियां

१. अत्थ भासइ अरहा सुत्त गथति गणहरा निउण ।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्त पवत्तई ॥
आवश्यक निर्युक्ति गा० ९२ ॥

अर्हन् अर्थ (मात्र) कहते हैं और उन पर से गणधर निपुण अर्थात् सूत्मार्थ प्ररूपक-बहुत अर्थ वाले सूत्र का ग्रथन करते हैं। इस प्रकार शासन के हितार्थ सूत्र प्रवर्तित होते हैं।

२ सुय-सुत्त गथ सिद्धत-सासणे आण-वयण उवएसो ।
पण्णवणा आगम इव एगट्ठा पज्जवा सुत्ते ॥
बृहत्कल्पवृत्ति समाष्य भाग १।७

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, और आगम ये सूत्र के एकार्थी पर्याय शब्द हैं।

३ यह निर्देश नदिसूत्र में मिलता है। उसमें ३४ सूत्र और ५० पयन्ना मिलकर ८४ आगम गिनाये गए हैं। आजकल ये सभी आगम उपलब्ध नही हैं।

४ देखो जैन ग्रन्थावली–जैनागम विभाग।

५ अर्हद्वक्त्रप्रसूत गणधररचित द्वादशाग विशाल ।
श्रीबालचन्द्र सूरिकृत स्नातस्यास्तुति ।

६ कई प्रथमानुयोग को तीसरा और पूर्वगत को चौथा विभाग गिनते है।

७. यह मत कई आधुनिक विद्वानो का है।

८ यह मत शास्त्रकारो का है। सर्वसूत्रात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पाद पूर्वादीनि चतुर्दश। स्थानागवृत्ति १०-१

९, जइवि य भूयावाए, सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो ।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य ।
विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५१

१०. आवश्यक सूत्रों का रहस्य समझने के लिये हमारे द्वारा रचित श्री प्रतिक्रमणसूत्र प्रवोध टीका के तीन भाग अवश्य देखें। उसका प्रथम भाग ७५२ पृष्ठ का, द्वितीय भाग ६७२ पृष्ठों का और तृतीय भाग ८६५ पृष्ठों का है। उसमें वर्तमान काल में प्रचलित श्रावक प्रतिक्रमण सूत्र का विषय लिया गया है और उसके मूल पाठ, संस्कृत छाया, गुजराती छाया, सामान्य और विशेप अर्थ, अर्थ-निर्णय, अर्थ संकलना, सूत्र परिचय, और आधार स्थान इस प्रकार आठ अंग दिये गये हैं। ये तीनों भाग जैन साहित्य विकास मंडल-विले पार्ले वम्बई-२८ की ओर से प्रकाशित हुए हैं।

११. उनके नाम जैन ग्रंथावली में इस प्रकार दिये हुए हैं :—

(१) अजीवकल्प (२) गच्छाचार (३) मरणसमाधि (४) सिद्धप्राभृत (५) तीर्थोद्गार (तित्थोगालिय) (६) आराधनापताका (७) द्वीपसागरपन्नति (८) ज्योतिप करंडक (९) अंगविद्या (१०) तिथि प्रकीर्णक (११) पिंड विशुद्धि, (१२) सारावलि (१३) पर्यन्ताराधना (१४) जीव-विभक्ति (१५) कवच प्रकरण (१६) योनिप्राभृत (१७) अंग-चूलिया (१८) वंग चूलिया, (१९) वृद्धचतुः शरण (२०) जंवुपयन्नो।

१२. भगवंच णं अद्धमागहीए भासाए धम्ममाइक्खइ।
समवायांग सूत्र पृ. ६०।

तए णं समणे भगवं महावीरे कूणिअस्स रण्णोभिभिसार-पुत्तस्स......अद्धमागहाए भासाए भासइ-साविय णं अद्ध मागहा भासा तेसिं सव्वेसिं आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए

टिप्पणियां

१ अत्थं भासइ अरहा सुत्तं गथंति गणहरा निउणं।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तई॥
आवश्यक निर्युक्ति गा० ९२॥

अर्हन् अर्थ (मात्र) कहते हैं और उन पर से गणधर निपुण अर्थात् सूक्ष्मार्थ प्ररूपक-बहुत अर्थ वाले सूत्र का ग्रथन करते हैं। इस प्रकार शासन के हितार्थ सूत्र प्रवर्तित होते हैं।

२ सुय-सुत्त गथ सिद्धत-सासणे-आण-वयण उवएसो।
पण्णवणा आगम इव एगट्ठा पज्जवा सुत्ते॥
बृहत्कल्पवृत्ति समाष्य भाग १।७

श्रुत, सूत्र, ग्रन्थ, सिद्धान्त, शासन, आज्ञा, वचन, उपदेश, प्रज्ञापना, और आगम ये सूत्र के एकार्थी पर्याय शब्द हैं।

३ यह निर्देश नंदिसूत्र में मिलता है। उसमें ३४ सूत्र और ५० पयन्ना मिलकर ८४ आगम गिनाये गए हैं। आजकल ये सभी आगम उपलब्ध नहीं हैं।

४ देखो जैन ग्रन्थावली-जैनागम विभाग।

५ अर्हद्वक्त्रप्रसूत गणधररचित द्वादशांग विशाल।
श्रीबालचन्द्र सूरिरचित-स्नातस्यास्तुति।

६ कई प्रथमानुयोग को तीसरा और पूर्वगत को चौथा विभाग गिनते हैं।

७ यह मत कई आधुनिक विद्वानों का है।

८ यह मत शास्त्रकारों का है। सर्वसूत्रात् पूर्वं क्रियते इति पूर्वाणि, उत्पाद पूर्वादीनि चतुर्दश। स्थानांगवृत्ति १०-१

९, जइवि य भूयावाए, सव्वस्स वयोगयस्स ओयारो।
निज्जूहणा तहावि हु दुम्मेहे पप्प इत्थी य।
विशेषावश्यक भाष्य गा० ५५१

३ जैनाश्रित कला

* कला का अर्थ
* जैनों की कलाप्रियता
* जैन कला या जैनाश्रित कला
* चित्रकला
* लिपिकला
* मूर्तिविधान
* स्तूप
* गुफाएँ
* मंदिर (स्थापत्य)
* टिप्पणियां (१-१३)

परिणामेण परिणमई । औपपातिक सूत्र ।

१३ मगदद्ध विसयभासाणिबद्ध अद्धमागह, अट्ठारस देसी भासाणिमय वा अद्धमागह । निशीथ चूर्णि ।

१४. सक्कता पागता चेव दुहा भणितीओ आहिया ।
सरमडलम्मि गिज्जते पसत्था इसिभासिता ॥
स्थानाग सूत्र ७–३६४

१५. जैन साहित्यनो सक्षिप्त इतिहास निवेदन पृ ३१

१६. श्रीमद् राजेन्द्रसूरि स्मारक ग्रन्थ, जैन कथा साहित्य पृ ६६३

१७ इस ग्रन्थ का प्रथम भाग प्रो० हरि दामोदर वेलणकर एम० ए० ने सपादित किया है और पूना भाडारकर ओरिएन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट की ओर से प्रकट हुआ है ।

१८ जैन श्वेताम्बर कॉन्फरेन्स, बम्बई से स० १९६५ मे प्रकट हुआ है ।

१९ यह ग्रन्थ श्री मोहनलाल दलीचन्द देसाई ने बहुत परिश्रम पूर्वक तैयार किया है और जैन श्वे० को० बम्बई की ओर से प्रकाशित हुआ है ।

२०-२१ ये दोनो कृतियां प्रो० हीरालाल रसिकलाल कापडिया एम० ए० की है । इनमे से अन्तिम कृति श्री मुक्ति कमल जैन मोहन माला–वडोदा के ५८ वें पुष्प के रूप मे प्रकट हुई है ।

२२ योजक श्री वर्धमान स्वरूपचद, प्र० अध्यात्म ज्ञान प्रसारक मडल । सन् १९२६ ई० ।

२३ यह सूचीपत्र प्रकाशित है । इसमे दिगम्बर ग्रन्थो की सूची है ।

स्तूप के अवशेप अथवा शिलालेखादि उपलब्ध न हों। भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकार और कला विवेचक श्रीयुत रविशंकर रावल कहते हैं कि 'भारतीय कला के अभ्यासी जैन धर्म की जरा भी उपेक्षा नहीं कर सकते। मुझे जैन धर्म कला का महान् आश्रयदाता, उद्धारक और संरक्षक लगा है।'

जैन कला या जैनाश्रित कला ?

जैन-कला-सम्पत्ति पर विवेचन करते हुए विद्वानों ने बताया है कि 'जैन कला भारतीय कला का ही महत्त्वपूर्ण विभाग है, और उसमें गुफा-मंदिरादि से लेकर हस्तपोथियों में के सुशोभनों तक के सभी अंग अच्छी तरह विकसित हैं और अमुक अंश में अब भी उनका विकास जारी है।'

जैन कला सर्वथा स्वतन्त्र अथवा सर्वथा निराली कला नहीं, परन्तु जैन संघों या जैन गृहस्थों के प्रोत्साहन से विकसित, इनके आश्रय से पोपित और अमुक अंश में जैन धर्म के आदर्श को प्रस्तुत करनेवाली कला, ऐसा इसका अर्थ समझना चाहिये। यद्यपि धार्मिक आदर्श की अभिव्यक्ति की दृष्टि से इसमें अन्य भारतीय कलाओं की दृष्टि से अमुक विशेपता या अमुक भिन्नता तो है ही, और यह रहेगी भी, परन्तु इतनी भिन्नता मात्र से इसे सर्वथा स्वतन्त्र या निराली मानने की आवश्यकता नहीं है। यह भारतीय आर्य संस्कृति का ही एक प्रवाह है, और इस प्रकार ही इसका विशेप गौरव और महत्त्व है।

इस समय जैनाश्रित कला के जो छोटे बड़े अनेक नमूने उपलब्ध हैं, उन पर से इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन संघों ने बहुत प्राचीन काल से कला की अभिवृद्धि

कला का अर्थ

प्राचीन काल मे कला शब्द का प्रयोग विविध शिक्षणीय *विषय के अर्थ मे होता था इसीलिये उस काल की कला की* सूचियो मे लेखन, गणित, चित्र, नृत्य, गीत वीणा वादन, काव्य, वेशभूषा, पुष्प पालन, रसायन, पाक, मनोरजन तथा युद्ध जैसे विषय दृष्टिगोचर होते हैं।[1] परन्तु कालान्तर मे कला के इस अर्थ मे परिवर्तन हुआ और जो वस्तु मन तथा हृदय को आनन्द दे उसके लिये ही उसका उपयोग होने लगा। इस प्रकार काव्य, सगीत, चित्रकला, लेखन, शिल्प और स्थापत्य जैसे विषयो की गणना कला मे होने लगी और जीवनोपयोगी कला से उसकी भिन्नता बताने के लिये उसके आगे ललित शब्द का प्रयोग होने लगा। आज कला के इस अर्थ का भी सकोच हुआ है और चित्रकला, लेखन, शिल्प तथा स्थापत्य के लिये ही इसका विशेष उपयोग हो रहा है। इस अर्थ को लक्ष्य मे रखकर ही हमने यहा कला शब्द का प्रयोग किया है।

जैनों की कलाप्रियता

जैन जितने धम प्रमी है उतने ही साहित्य प्रेमी हैं, और जितने साहित्य प्रमी हैं उतने ही कला प्रेमी भी हैं, क्योकि वे साहित्य और कला द्वारा धम की ओर जनता का आकर्षण और धम प्रचार होना मानते है। इसीलिये उन्होने आज तक कला के क्षेत्र म भारी पुरुषार्थ दिखलाया है तथा अनगनत द्रव्य का उपयोग किया है। आज भारत का कोई भी प्रदेश ऐसा नही जहा से जैन धर्म के मदिर, मूर्ति, गुफा, या

स्तूप के अवशेष अथवा शिलालेखादि उपलब्ध न हों। भारत के सुप्रसिद्ध चित्रकार और कला विवेचक श्रीयुत रविशंकर रावल कहते हैं कि 'भारतीय कला के अभ्यासी जैन धर्म की जरा भी उपेक्षा नहीं कर सकते। मुझे जैन धर्म कला का महान् आश्रयदाता, उद्धारक और संरक्षक लगा है।'

जैन कला या जैनाश्रित कला ?

जैन-कला-सम्पत्ति पर विवेचन करते हुए विद्वानों ने बताया है कि 'जैन कला भारतीय कला का ही महत्त्वपूर्ण विभाग है, और उसमें गुफा-मंदिरादि से लेकर हस्तपोथियों में के सुशोभनों तक के सभी अंग अच्छी तरह विकसित हैं और अमुक अंश में अब भी उनका विकास जारी है।'

जैन कला सर्वथा स्वतन्त्र अथवा सर्वथा निराली कला नहीं, परन्तु जैन संघों या जैन गृहस्थों के प्रोत्साहन से विकसित, इनके आश्रय से पोषित और अमुक अंश में जैन धर्म के आदर्श को प्रस्तुत करनेवाली कला, ऐसा इसका अर्थ समझना चाहिये। यद्यपि धार्मिक आदर्श की अभिव्यक्ति की दृष्टि से इसमें अन्य भारतीय कलाओं की दृष्टि से अमुक विशेषता या अमुक भिन्नता तो है ही, और यह रहेगी भी, परन्तु इतनी भिन्नता मात्र से इसे सर्वथा स्वतन्त्र या निराली मानने की आवश्यकता नहीं है। यह भारतीय आर्य संस्कृति का ही एक प्रवाह है, और इस प्रकार ही इसका विशेष गौरव और महत्त्व है।

इस समय जैनाश्रित कला के जो छोटे बड़े अनेक नमूने उपलब्ध हैं, उन पर से इतना तो निश्चित रूप से कह सकते हैं कि जैन संघों ने बहुत प्राचीन काल से कला की अभिवृद्धि

मे अपना पूरा पूरा योग दिया है, और उसका रक्षण करने मे भी इतनी ही जाग्रति बताई है। कला के भंडार सदृश देव मन्दिर और ज्ञानभंडारों की सम्हाल जैनों ने जिस कर्त्तव्य बुद्धि और धर्मबुद्धि से की है, वह आदर्श कहलाने योग्य है।[२]

इस विवेचन का सार यह है कि सारी स्थिति की समीक्षा करने पर 'जैन कला' के स्थान पर 'जैनाश्रित कला' का शब्द प्रयोग करना उचित है और हमारा अपना भी मत यही है।

चित्रकला

कई कलाभ्यासी विद्वानों का ऐसा मतव्य है कि जैनों की प्राचीन कला राजा महाराजाओं के महलों मे प्राप्त होती थी। तत्पश्चात् सार्वजनिक स्थानों पर तथा गुफा और मंदिर की दीवारों पर महापुरुषों के जीवन की विशिष्टतम घटनाएँ और अन्य सांस्कृतिक चित्र अंकित करवाये गए।[३] ऐसे कई चित्र आज प्राप्त होते हैं। वस्तुत प्राचीन जैन मन्दिरों आदि में कला-अंकित होती थी, यह तथ्य उपर्युक्त पौर्वापर्य के विधान का निराकरण करता है।

सरगुजा राज्य के अन्तर्गत लक्ष्मणपुर से १२ मील दूर रामगिरि नामक पर्वत है, वहाँ 'जोगी मारा' नामक गुफा है। जैनाश्रित भित्तिचित्र के सबसे प्राचीन नमूने यहाँ प्राप्त होते हैं। उनमें वृक्ष पक्षी, पुरुष, शिशुमानव समूह, अप्सरा, गंधर्व आदि के चित्र हैं। ये चित्र सम्राट् सम्प्रति द्वारा बनवाए गए हो ऐसा विद्वानों का अनुमान है।[४]

मद्रास से २४० मील पर त्रिचिनापल्ली के समीप पदुकोटा नामक सस्थान है। उस नगर से १० मील दूर 'सित्तन-

वासल' नामक एक ग्राम के समीप जैन गुफा मन्दिर स्थित है, जिसे सितन्नवासल कहते है। सितन्नवासल का प्राकृत रूप है सिद्धएण वास। इस गुफा की छत पर, स्तम्भों पर, कोमल पुष्पों से आच्छादित जो चित्रण किया गया है वह सांस्कृतिक तथा कलात्मक दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है। समवसरण का चित्र बहुत ही सुन्दर है। स्तम्भों पर नायिकाओं की आकृतियां हैं। इनकी भावभंगिमा, इनका अंगविन्यास, इनका वस्त्रपरिधान आश्चर्यजनक है। ये चित्र संभवतः पल्लव शासक राजा महेन्द्रवर्मन् प्रथम के काल के बने हुए हैं। (५०० ई० से ६२५ ई०) इस शैली के कई भित्तिचित्र उड़ीसा के भुवनेश्वर मन्दिर में है।[५]

अजन्ता की गुफाओं के चित्र इस समय के पश्चात् बनाये गए और उन्होने एक नवीन शैली ग्रहण की। पश्चिम भारत की जैन कला उसमें से प्रेरणा लेती थी, ऐसी कुछ विद्वानों मान्यता है।

१२ वीं से १६ वीं सदी तक जैन चित्रकला का बहुत विकास हुआ और वह भारतीय चित्रकला का गौरव रूप बनी। जैनाश्रित गुर्जरकला भारतीय चित्रकला में बहुत महत्त्व रखती है और वह राजपूत तथा मुगल कलाओं को जन्म देने के सौभाग्य से सुशोभित है।

इस समय जैनों ने बहुत सी संख्या में ताड पत्रों पर धार्मिक ग्रन्थ लिखवाए और चित्रों से सुशोभित करवाये। वि० सं० ११५७ में चित्रित निशीथ चूर्णि की प्रति आज भी उपलब्ध है जो जैनाश्रित कला में सबसे प्राचीन है।

वि० सं० १४०५ से १७०० तक वस्त्रों पर भी और वि० सं० १४६८ से आज तक कागज पर अनेक सुन्दर चित्र

प्रकित हुए हैं। इतिहासप्रमी श्रीयुत प्रगरचन्दजी नाहटा एक लेख की सम्पादकीय टिप्पणी में बताते हैं कि 'चित्र कला के भी प्राचीन जैन उपादान उतने सुरक्षित नही रहे। कुछ गुफामा के भित्तिचित्रो के बाद ताडपत्रीय और कागज की हस्तलिखित प्रतिया और काष्ठपट्टिकाएँ चित्र रूप में काफी मिलती हैं। मध्य कालीन अपभ्रश भाषा में सबसे अधिक साहित्य निर्माण करने वाले जैन विद्वान हैं। इसी तरह मध्य-कालीन चित्रकला की जानकारी के साधन जैन हस्त-लिखित सचित्र ग्रन्थ व काष्ठपट्टिकाएँ आदि ही है।' [१]

चित्रकला के सुप्रसिद्ध विवेचक श्री एन० सी० महता ने जैन चित्रकला की बहुत प्रशसा की है और उसकी निमलता स्फूर्ति और गति के लिए उच्च अभिप्राय व्यक्त किया है।

जैन चित्रो के लिए दो ग्रन्थ अवश्य देखने चाहिये। एक साराभाई नवाब (अहमदाबाद) द्वारा प्रकाशित जैन चित्र कल्पद्रुम और दूसरा मद्रास गवनमेंट म्युजियम की ओर से प्रकाशित Tirupatti Kunram। प्रथम ग्रन्थ पश्चिम भारत की जैनाश्रित कला पर और दूसरा ग्रन्थ दक्षिण भारत की जैनाश्रित कला पर सुदर प्रकाश डालता है।

लिपिकला

लिपि कला अर्थात् अक्षरा का सुदर मोड़ और लेखन का चित्ताकर्षक गठन। वह मनुष्य के मन को आनन्द से भर देती है। इसलिए उसकी गणना कला में होती है।

जैन परम्परा में आगमलेखन का प्रारम्भ श्री देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् अर्थात् वीरात् ९८० वर्ष बाद हुआ

और अन्य जैन शास्त्र लेखन तो महावीर प्रभु के पूर्व था जो कम्बल सम्बल के इतिहास से सिद्ध है। इसमें लिपि कला का विकास होने लगा। सूत्र और अन्य ग्रन्थ लिखने के पीछे प्रवल देवभक्ति और गुरुभक्ति के साथ स्वकल्याण की भावना भी थी, इसलिये उसमें प्राण संचार हुआ और नवीनता चमक उठी। जैन श्रमणों ने उसके पीछे मुक्त हस्त से द्रव्य का व्यय किया। लिपिकला के साथ चित्रकला भी चमक उठी। आगमप्रभाकर मुनि श्री पुण्यविजयजी ने 'जैन श्रमण संस्कृति और लेखन कला' नामक एक महा-निबंध में इस बात पर वहुत प्रकाश डाला है और सिद्ध किया है कि सौन्दर्य तथा सूक्ष्मता दोनों दृष्टियों से जैनों की लिपिकला उन्नति के शिखर पर पहुँची थी।

मूर्त्तिविधान

जैन शास्त्रों में जिनेश्वर की मूर्ति (प्रतिमा) और मंदिर (चैत्य) संसार सागर से पार उतरने के महान साधन माने गए हैं अत: उनके प्रति जैन धर्मानुयायियों की अपूर्व भक्ति होना स्वाभाविक है। समर्पण के आगे पार्थिव पदार्थों का—धन का कोई मूल्य नहीं, इस शिक्षा को जैन धर्मानुयायियों ने जितनी सार्थक की है उतनी शायद ही किसी अन्य ने की होगी। मूर्तिविधान और मन्दिरनिर्माण के पीछे आज तक जैनों ने अरवों रुपयों का व्यय किया है और आज भी सम्पत्ति के अनुपात में इस पर उनका धन व्यय कम नहीं है। तो इस बात ने जैन धर्म संस्कृति को कायम रखने में अग्रगण्य योग दिया है, यह सत्य है।

वे पद्मासन में बैठी हुई अथवा कायोत्सर्ग अवस्था मे खडी हुई होती हैं। कई मूर्तिया के परिकर (परिवार या प्रातिहार्य आदि) होते हैं तो कईयो के नही होते। उनकी दृष्टि नासाग्र पर स्थित होती है और वह सर्वथा निर्विकार होती हैं। उसे दखने ही 'यह मूर्ति वीतराग की है, ऐसा भाव दर्शक के मन मे उत्पन्न हाता है। जैन इस मूर्ति को साक्षात् वीतराग मान कर ही उसकी सेवा, पूजा, भक्ति, आराधना, उपासना आदि करते हैं।

जैन शास्त्रा म कहा है कि 'जो लोग सुन्दर मिट्टी की, निमल शिला की, हस्तिदन्त की, चाँदी की, स्वर्ण की, रत्न की, माणिक्य की अथवा चन्दन की सुन्दर जिन मूर्ति का अपनी शक्ति के अनुसार निर्माण करवाते हैं वे लोग भवान्तर में धम प्राप्ति निश्चित बना लेते हैं। इस भव मे तथा परभव मे परम सुख पाते हैं। जिन मूर्ति बनवाने वाले लोगों को दारिद्रय दुर्भाग्य, निंद्य जाति, निंद्य शरीर, दुर्गति, अपमान, रोग और शाक नही भोगने पडते। इसलिए श्रद्धा सम्पन्न श्रावको ने आज तक लाखा करोडा जिन मूर्तिया बनवाई हैं और वे विभिन्न मन्दिरा म स्थापित की गई हैं।

मोहन जादडो म ग प्राप्त एक मूर्ति जैन मानी गई है। इस प्रकार जना का मूर्ति विधान बहुत प्राचीन ठहरता है। उसक बाद जो मूर्तिया मिलती हैं वे ईसा से पूर्व ३०० वर्ष तक की मिलती हैं। दक्षिण भारत के अलगामल नामक स्थान मे जा जन मूर्ति प्राप्त हुई है उसका समय ई० पूर्व ३००—-०० के लगभग है। इन मूर्तियो की सौम्याकृति द्राविड कला म अनुपम मानी जाती है।

लखनऊ के म्यूजियम में भगवान महावीर स्वामी के गर्भ संक्रमणकर्ता हरिणैगमेषी देव की पाषाण में सुन्दर आकृति है। इसकी प्रतिकृति तथा उल्लेख भी मथुरा पुरातत्व के रिपोर्ट में लिखा गया है।

मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने बहुत सी मूर्तियाँ बनवाई थीं। कुशान युग में उसका व्यवस्थित विकास चलता रहा और उसका केन्द्र मथुरा बना।

मथुरा के कंकाली टीले आदि में जो उत्खनन हुआ उसमें से मूर्ति के साथ आयागपट्ट भी मिले हैं। आयागपट्ट एक शिला में सुन्दर रीति से खुदा हुआ होता है और वह जिन मूर्ति अथवा अन्य पूज्य व्यक्ति से सम्बन्धित होता है। आयागपट्ट का सही अर्थ है पूजा या अर्पण के लिए तख्ता। ये आयाग-पट्ट कला की दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण हैं।

गुप्त-काल भारतीय मूर्तिविधान का उत्कर्ष-काल माना जाता है। इस काल में बौद्ध मूर्तियाँ विशेष बनी हैं, जैन मूर्तियाँ कम। फिर भी कुमारगुप्त के समय में श्री महावीर स्वामी की और स्कन्दगुप्त के समय में कौहम गाँव में जिन मूर्ति स्थापित करने की सूचना गुप्त कालीन लेखों में प्राप्त होती है। राजगृह के तृतीय पर्वत पर फणयुक्त श्री पार्श्वनाथ की मूर्ति गुप्तकालीन है। पटना के लोहनीपुर स्थान में से प्राप्त मूर्ति को भी मौर्यकालीन मानते हैं। वह मूर्ति आज पटना के संग्रहालय में देखी जा सकती है। उसकी उज्ज्वल पॉलिश आज भी वैसी ही है।

खंडगिरि और उदयगिरि में ई० पूर्व १८८–३० तक शुंगकालीन मूर्ति शिल्प का अद्भुत चातुर्य दृष्टिगोचर होता

है। वहाँ उस काल की खोदी हुई १०० के लगभग गुफाएँ हैं जिनमें मूर्ति शिल्प भी है।

मौर्य और शुंगकाल के पश्चात् भारत में मूर्तिविधान की जिस कला का विकास हुआ उसे विद्वान तीन भागों में बांटते हैं।[७]

१ गांधार कला जो उत्तर पश्चिम में विकसित हुई।

२ मथुरा कला जिसका विकास मथुरा तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र में हुआ।

३ अमरावती कला जो कृष्णा नदी के तट पर पल्लवित हुई।

जैन मूर्तिकला का विकास मथुरा से हुआ है। जैन मूर्तिविधान सम्बन्धी विशेष जिज्ञासुओं को डॉ॰ उमाकान्त प्रमानन्द शाह कृत Studies in Jain art नामक पुस्तक अवश्य देखना चाहिए।[८]

श्रवण बेलगोला में श्री बाहुबलिजी की ५६ फीट ऊँची चट्टान में से बनाई गई विशाल प्रतिमा सारे संसार की एक दर्शनीय वस्तु मानी जाती है। पहाड़ की चोटी पर वह आकाश के नीचे खड़ी है और सैकड़ों वर्षों से वायु ताप और वर्षा की मार सहन करते हुए भी उसकी प्रसन्नता को कोई आंच नहीं पहुँची। ग्वालियर के पहाड़ पर कई जैन मूर्तियां बनी हुई हैं।[९]

स्तूप

जैन साहित्य में स्तूप निर्माण के उल्लेख मिलते हैं। सामान्य प्रथा ऐसी है कि जहाँ तीर्थंकर का निर्वाण हो वहाँ स्तूप बनवाए जाते हैं। श्री महावीर प्रभु के निर्वाणस्थल पर

चना हुआ एक स्तूप आज भी विद्यमान है। वह पावापुरी से १ मील दूर खुले स्थल में खड़ा है। इस की ईंटें आदि राजगृही की ईंटों जैसी हैं। इसका व्यास देखने पर लगता है कि किसी काल में वह विस्तृत रूप में होगा। परन्तु सबसे प्राचीन जैन स्तूप तो मथुरा में से प्राप्त हुए हैं। वहां प्रथम देवनिर्मित श्री सुपार्श्वनाथ भगवान का स्वर्णमय स्तूप था। श्री पार्श्वनाथ भगवान के समय में उसी स्थल पर अन्य स्तूप का निर्माण हुआ। उसका जीर्णोद्धार वि० की नौवीं सदी में हुए श्री वप्पभट्टि सूरि ने करवाया था।

अकबर के समय में मथुरा में ५०० से अधिक जैन स्तूप थे, ऐसा तत्कालीन जैन विद्वान राजमल्ल ने स्वलिखित जम्बू चरित्र में बताया है। अकबर की टकशाल के मुख्य अधिकारी टोडरमल ने इन स्तूपों का उद्धार करवाया था और संवत् १६३० में प्रतिष्ठा करवाई थी। ये स्तूप श्री जम्बू स्वामी तथा उनके साथ चारित्राराधन करके काल धर्म प्राप्त करने वाले मुनियों की स्मृति में निर्मित्त हुए थे[10]।

इस प्रकार भारत में अन्य भी जैन स्तूप तो होंगे परन्तु तत्संबंधी शोध करनी बाकी है।

गुफाएँ

चट्टानों में से खोदकर गुफाएँ बनाना और उन्हें स्तम्भों, द्वारों तथा प्रवेशगृह आदि से सुशोभित करना भी एक कला है। तथा अन्य स्थापत्य की तुलना में उसकी आयु अत्यधिक है। इसलिये जैन धर्म ने इस कला को आश्रय दिया है।

गिरनार और नागार्जुन की पहाड़ियों में से प्राचीन जैन गुफाएँ मिली हैं। जोगीमारा की गुफाएँ [illegible] चित्रों के

लिये प्रसिद्ध हैं। उदयगिरि और खडगिरि की गुफाएँ, अपने शिलालेखों के लिये प्रसिद्ध हैं। उदयगिरि की गुफाओं में श्री पार्श्वनाथ और अम्बिका की मूर्तियां हैं। वैभार गिरि के समीप वाली सोन गुफा में २४ जिन की प्रतिमाएँ खुदी हुई हैं। दक्षिण भारत में बादामी में एक जैन गुफा ६५० ई० में बनी हुई है, जो १६ फुट ऊंची है। और उसका प्रवेशगृह ३१ × ११ फुट का है। उसमें श्री महावीर स्वामी पद्मासन में विराजमान हैं। मदुरा में अमरनाथ-नमरनाथ की पहाडी में छिपी हुई एक जैन गुफा अभी ही मिली है। एलोरा का छोटा कैलाश, इन्द्र सभा और जगन्नाथ सभा की गुफाएं कला के क्षेत्र में अद्वितीय हैं। ये गुफाएँ सम्भवत चालुक्यों की राष्ट्रकूट शाखा के आश्रय में बनी हैं।

विक्रम की १०वी सदी तक जैन गुफाओं का निर्माण होता रहा, तत्पश्चात् कोई गुफा बनी हो ऐसा पता नहीं चलता।

मंदिर

भारत भूमि को मनोहर कलापूर्ण देवमंदिरो से मंडित करने का यश जितना जैनो के हिस्से में जाता है, उतना और किसी के हिस्से में शायद ही जाता हो। आज भी ३६००० से अधिक जैन मन्दिर इस पावन भूमि पर बने हुए हैं और वे स्थापत्य, शिल्प, चित्रकलादि कलाओं का उत्तम थाल जगत के सब कलाप्रेमियों के सामने रखते हैं। इस कलासृजन के पीछे जैन श्रमणोपासकों ने धन व्यय करने में पीछे मुड कर देखा नहीं। एक-एक मन्दिर में करोडो रुपयों का व्यय किया है और उसके पीछे वर्षों तक सावधानी पूर्ण लगन रखी है।

ुवर्ण मुद्रायें विछाकर मन्दिर के लिये स्थान प्राप्ति के तथा त्थर को खोदते जो चूरा गिरे उसके वरावर चांदी तोल कर देने के जैनों के उदाहरण इस जगत में कितने मिलेंगे ? वास्तव में जैनों का मन्दिरनिर्माण का इतिहास अति भव्य है और वह समर्पण से ओतप्रोत है परन्तु यह वस्तु यथार्थ रूप में प्रकाश में नहीं आई। इसके सम्बन्ध में दौलतसिंह लोढा वी० ए० के निम्नलिखित शब्दों का अवतरण यहाँ उपयोगी सिद्ध होगा:— वे 'जैन स्थापत्य और शिल्प अथवा ललित कला' नामक लेख में कहते है कि 'जैन धर्म और जैन समाज भारत के धर्मो में और भारत के अन्य समाजों में विस्मरण की वस्तु हो रही प्राय: मालूम होती है। जैन धर्म जैन साहित्य में प्रतिष्ठित है जो प्राकृत और अर्धमागधी में अपनी विपुलता, विशालता एवं त्रिविधमुखता के लिये दुनिया भर में प्रसिद्ध है और वह प्राचीन हिंदी तथा मध्यकालीन हिन्दी में भी इतना ही सृजित मिलता है। इसी प्रकार जैन समाज की धर्म भावनाओं का दर्शन, उनके वैभव का परिचय, उसका चित्रकलाप्रेम एवं ललितकलाप्रियता उसके प्राचीन मन्दिरों मे दृष्टिगोचर होती हैं। भारतीय शिल्प के विकास के इतिहास पर विद्वानों ने वड़े पोथे रचे हैं और यवन शैली, योन शैली और हिन्दू शैलियों से विचार करके उसके कई और भेद उपभेदों की कल्पना की है। परन्तु जब हम प्राचीन जैन मूर्तियों और मंदिरों की वनावट और उनमें अवतरित भाव और टांकी के शिल्प को देखते हैं तो यह विचार उत्पन्न होता है कि ललितकला के विकास के इतिहास पर लिखने वाले विद्वानों की दृष्टि में कला के अद्भुत नमूने ये जैन मूर्ति और मन्दिर क्यों नहीं

आए ? उदयगिरि और खंडगिरि की जैन गुफाएँ, खजुराहो, तीर्थाधिराज शत्रुन्जय, गिरनार, तीर्थ के मन्दिर शिल्पकला के अनन्य भण्डार अर्बुदस्थ देलवाडा के जिनालय, हमीर पुर नोंध कुम्भारिया, श्री राणकपुर तीर्थ का १४४४ स्तम्भों वाला विशालतम धरणविहार जिनालय, लोद्रवा मन्दिर, इनको जिसने देखा व दंग रह गए परन्तु वे कुतुबमीनार और ताजमहल के आगे अथवा साथ भी वर्ण्य नहीं समझे गए। भारत की स्थापत्यकला और शिल्प कला का ग्रंथ तब तक पूर्ण और सब सम्मान्य नहीं हो सकता जब तक कि उक्त जैन मन्दिर उसमें प्रकरण नहीं प्राप्त कर सकेंगे।'[१२]

पहले जिनमन्दिर काष्ठ के होते थे, फिर ईंटों के होने लगे तत्पश्चात् पाषाण के होने लगे और अन्त में उनका स्थान मुख्यतः संगमर्मर ने लिया। इस अन्तिम परिवर्तन से शिल्पकला को बहुत प्रोत्साहन मिला और जगत को आश्चर्य में डालने वाले कला के सुन्दर नमूने तैयार हुए।

जैन मन्दिरों का निर्माण शैलशिखरों पर हुआ, निसर्ग धाम वन उपवन में हुआ, सागर के सुहावने तट पर भी हुआ और कलाविदों के कमनीय किनारे पर भी हुआ। नगर के चौक और परिसर रमणीय उद्यान तथा जैनों की कम बस्ती वाले गाँव भी उनसे वंचित नहीं रहे।

स्वच्छता और पवित्र वातावरण इनकी विशेषता है। जैन मंदिरों में किसी भी प्रकार का खानपानादि व्यवहार हो नहीं सकता जन चप्पल पहिनकर अथवा छाता-छड़ी लेकर प्रवेश नहीं हो सकता और न वहाँ किसी भी प्रकार की सामाजिक प्रवृत्तियाँ हो सकती हैं। उनका उपयोग सोने

वैठने के लिये भी नहीं हो सकता। जिनमन्दिरों में जाने वाले को जघन्यतः १० प्रकार की, मध्यमतः ४२ प्रकार की और उत्कृष्टतः ८४ प्रकार की आशातना का त्याग करना पड़ता है। इतने कठोर नियम अन्य किसी भी धर्म में नहीं हैं। इन नियमों के परिणाम स्वरूप ही आज जैन मंदिर इतने स्वच्छ और पवित्र मालूम पड़ते हैं।

उड़ीसा में स्थित उदयगिरि की हाथीगुफा खारवेल के शिलालेख के कारण महत्त्वपूर्ण है, परन्तु स्थापत्य कला की दृष्टि से रानी और गणेश गुफाएं उल्लेखनीय हैं।[13] उनमें भगवान श्री पार्श्वनाथ का जीवन वृत्तान्त अत्यधिक कुशलता से आलेखित है।

विन्ध्य प्रान्त के छतरपुर राज्य के खजुराहो स्थान में नौवीं से ग्यारहवीं सदी तक बहुत से सुन्दर मन्दिर बने हैं और काले पत्थर की खंडित-अखंडित अनेक प्रतिमाएँ स्थल स्थल पर दृष्टिगोचर होती हैं।

तीर्थाधिराज शत्रुंजय सौराष्ट्र में स्थित है। उस पर नौ टूंक हैं। इन नौ टूंकों में छोटे बड़े अनुमानतः ३००० से अधिक मन्दिर और २५००० से अधिक जिन प्रतिमाएं हैं। एक ही पर्वत पर इतने मन्दिर और इतने बिंब और वे भी दर्शनीय, वैभवपूर्ण और शिल्प की दृष्टि से महत्त्वशाली दुनियां के किसी भी भाग में उपलब्ध नहीं। जगत के जिन प्रवासियों ने मन्दिरों का यह समूह देखा है, उन्होंने नितान्त आश्चर्य का अनुभव किया है।

गिरनार तीर्थ भी सौराष्ट्र में आया है। उस पर छोटे बड़े सैंकड़ों मन्दिर और सहस्रों प्रतिमाएँ हैं। सम्राट कुमार

पाल, महामंत्री वस्तुपाल तेजपाल और सग्राम सुनार की टूंक, शिल्प की दृष्टि से अति महत्व की हैं।

गुजरात की सीमा पर स्थित आबू पर्वतस्थ देलवाडा मे दडनायक विमल शाह विनिर्मित आदिनाथ जिनालय (विमल वसहि), महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल निर्मित नेमिनाथ-जिनालय (लूणवसहि), भीमाशाह की पित्तलहर वसहि आदि शिल्प कला के अद्भुत अपूर्व उदाहरण हैं। स्वर्ण मुद्राएँ बिछाकर जमीन लेने तथा पत्थर को खोदते समय जो चूरा गिरता है उसके बराबर चाँदी तौलकर देने की घटनाएँ इस मन्दिर के सबध मे घटित हुई थी। आज भी वर्ष मे एक लाख के लगभग प्रवासी इस मन्दिर के दर्शनार्थ आते हैं। उसका कल ही तैयार हुआ हो ऐसा ताजा मनोरम शिल्प देखकर वे मुग्ध बन जाते हैं। कई कलाविवेचको ने ताजमहल की अपेक्षा देलवाडे के मन्दिरो को अधिक कलामय माना है। इसी के पास दाँता के पहाड पर कुभारियाजी तीर्थ मे बहुत प्राचीन सुन्दर कोरणी का काम है।

हम्मीरपुर तीर्थ और कुंभारिया तीर्थ के जिनालयो मे आबू के जिन मन्दिरो जैसा ही अद्भुत शिल्पकार्य है।

राणकपुर तीर्थ का धरण विहार स्थापत्य की दृष्टि से अद्वितीय है। चार मजिलो के इस भव्य जिन मन्दिर में अनेक चौक, मडप गवाक्ष आदि तथा विशालकाय १४४४ स्तम्भों की अद्भुत रचना है। धरणशाह पोरवाल ने इस मन्दिर के निर्माण में १५ करोड का व्यय किया था।

जसलमेर के समीप स्थित लोद्रवाजी तीर्थ में श्री पार्श्वनाथ का मन्दिर बहुत आकर्षक है।

मैसूर राज्य में स्थित हसन जिले में बेलूर का जैन मन्दिर मध्य कालीन वैभव की साक्षी देता है।

चित्तौड़ का जयस्तम्भ स्थापत्य कला की दृष्टि से उल्लेखनीय है। वह अपनी शैली से अद्वितीय है। उसकी ऊँचाई ८० फुट है और धरातल से शिखर तक सुन्दर नक्काशी से मण्डित है। यह स्तम्भ श्री आदिनाथ के साथ सम्बन्ध रखता है। उनकी सैकड़ों मूर्तियाँ इस स्तम्भ पर अंकित हैं। ८९६ ई० में यह जयस्तम्भ निर्मित होने का शिलालेख भी यहाँ आज तक सुरक्षित है।

जैन मन्दिरों की रचना जैनेतर मन्दिरों के साथ बहुत कुछ साम्य रखते हुए भी भिन्न है। एक पूर्ण जैन मन्दिर में इतने अंग होते हैं :—शृंगार चौकी, परिकोष्ठ, सिंहद्वार, प्रवेशगृह, परिक्रमा, सभामण्डप, नव चौकी, गोला मण्डप, निज मन्दिर प्रवेश द्वार, मूल गभारा और वेदिका। सिंहद्वार पर जिन मूर्तियाँ अंकित होती है।

उसके स्तम्भों और छतों पर सुन्दर शिल्प किया जाता है और उसमें तीर्थंकरों के जीवन की घटनाएँ, जैन इतिहास के दृश्य, शासन देवियाँ, तथा सूक्ष्म कमल, चक्र आदि अनेक प्रकार की कलात्मक रचनाएँ उस स्थान पर की जाती है।

विशाल मन्दिर में चारों ओर देवकुलिकाएँ होती हैं, उनमें ५२ देवकुलिकाओं वाले मन्दिर को बावन जिनालय कहते हैं और उसकी गणना एक उत्तम कोटि के मन्दिरों में होती है।

टिप्पणियां

१ पुरुषों की ७२ कला और स्त्री की ६४ कलाओं में इन कलाओं के नाम आते हैं।

२ 'आराणी कलासम्पत्ति' जैन युग मासिक फरवरी १९७६।

३ 'जैन कला' डा० रमेश कुन्तल मेघ। यह लेख जैन जगत के हीरक जयन्ती महोत्सव विशेषांक में प्रकट हुआ है।

४ इस बात का उल्लेख ऊपर के लेख में किया हुआ है। तथा पंडित कैलाशचन्द्र शास्त्री ने जैन धर्म पुस्तक के 'जैन कला और पुरातत्त्व' नामक प्रकरण में किया है। अन्य ग्रंथों में भी उसका उल्लेख मिल सकता है।

५ तीर्थंकरांची प्राचीनता, ऐतिहासिकता व जिनशासन (ले० वाद मयप्रदीप रावजी नेमचन्द शाह, सोलापुर) पृष्ठ ६७ पर इस गुफा का विस्तृत वर्णन दिया हुआ है।

६ नं० ३ में दर्शित लेख के सम्पादकीय नोट में यह बात कही गई है।

७ देखो राय कृष्णदास लिखित भारतीय मूर्तिकला।

८ प्रा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह एम० ए० पी० एच० डी० जैन मूर्ति कला के उच्च कोटि के अभ्यासी हैं। उन्होंने इसी निबन्ध पर पी० एच० डी० की उपाधि प्राप्त की है। यह निबन्ध जैन संस्कृति संशोधक मंडल, जैनाश्रम, वाराणसी की ओर से प्रकाशित हुआ है।

९. इनमें से कई मूर्तियाँ ५७ फुट तक ऊंची हैं। तत्सं-बंधी पं० नाथूराम प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ पृ० २८६ पर लिखित डूंगरेन्द्र देव द्वारा निर्मित ग्वालियर गढ़ की तीर्थंकरों की विशाल मूर्तियाँ' नामक लेख देखें।

१०. तीर्थंकरांची प्राचीनता, ऐतिहासिकता व जिनशासन पृ० १६।

११. इन गुफाओं के शिल्प का वर्णन हमने 'कुदरत अने कलाधाममां वीस दिवस' नामक पुस्तक में पृ० ११८ से १२४ तक दिया है। हमने 'एलोरा के गुफामन्दिर' नामक स्वतन्त्र पुस्तक का भी प्रकाशन किया था और श्रीयुत नानालाल सी. मेहता, आई० सी० एस० ने उसकी भूमिका भी लिखी थी परंतु वह अब अप्राप्य है।

१२. यह लेख श्रीमद् राजेन्द्र सूरि स्मारक ग्रंथ पृ० ६१३ पर प्रकट हुआ है।

१३. यह मत भारत के स्थापत्य पर महत्त्वपूर्ण ग्रंथ के लेखक मि० फर्ग्यूसन का है।

शुद्धि पत्र

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
१	२२	पूर्व भारत	पूर्व-भारत
३	३	महोपाध्याय	महामहोपाध्याय
७	७	वाद	वाद के
७	६	शब्द	--
६	१५	अपना	उनका अपना
११	१७	प्राचीनता को	प्राचीनता
१४	३	ऐतरीय	ऐतरेय
१४	२३	ऋषिओं	ऋषियों
१८	१२	सामान्य	सम्मान्य
१६	२२	या	य
२४	२५	पधाने	पधारने
२५	२	आश्चयवंश	आश्चर्यवश
३३	१४	रूपअजीव	रूप अजीव
३५	१	मात्र का जगत	मात्र जगत का
४६	१	यह	ये
४६	११	अरोप	आरोप
४६	१८	हैं	है
५७	५	किसी	"किसी
५६	१६	अपने	हमारे

पृ० सं०	प० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
६०	२४	वडो कृमि	वडा कृमि
६२	१६	और प्रकार	और इस प्रकार
७०	१६	अगिग	अग्नि
७५	१९	हुआ,	हुआ,)
७६	२१	इसी	—
८०	४	रातें	रातें
८१	२८	वादर-अग्नि	वादर-अग्नि,
८२	६	कोड	करोड़
८६	२१	शब्द हुआ	शब्द प्रयुक्त हुआ
८७	१३	भरना, ह्रास होना	भरना—ह्रास होना
८८	८	स्कंध देश	स्कंध, देश,
८८	१७	है भेद	भेद
९१	२	प्रचन्ड	प्रचण्ड
९३	१८	गंध	गध
१०१	१७	दृष्टीगोचर	दृष्टिगोचर
१०२	४	चन्द्र मणि	चन्द्र, मणि
१०२	,,	शीत	शीतल
१०२	१४	कारण कार्य	कारण-कार्य
१०४	१०	आधीन	अधीन
१०५	६	छोडो	छोड़ो
१०५	९	फेर फार	फेरफार
१०५	२१	अनुबध परपरा	अनुबध—परपरा
१०६	२	भोगना	भोगते

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
१०६	४	व्यक्ति के	व्यक्ति को
१०७	१८	के अभाव	का अभाव
११३	१३	सांपरायिक	सांपरायिक
११५	१०	अनिष्ट	अभीष्ट
११८	११	सोंटा	सोटा
११८	११	कोंग	कोग
१२०	१०	तथाकेवल	तथा केवल
१२२	१६	तत्त्वार्थ सूत्रकार	तत्त्वार्थसूत्रकार
१२३	१२	कि स्थान, 'तओ	कि 'तओ
१२६	३	सोन्पिप्पं	सो लिप्पं
१३७	१४	हृन्ति	हृन्ति
१४४	२५	उपाधियों का	उपधियों का
१४६	१६	कारण	कारण,
१५७	१२	(अस्तित्त्व)	(अस्तित्व)
१५७	१६	है। कि	है कि
१५८	३	प्रती–	प्रति–
१६०	६	जी	जो
१७४	८	*demy*	*deny*
१७४	१२	*inlegral*	*integral*
१७४	१२	*jainism*	*Jainism*
१८३	११	वशिष्ट	विशिष्ट
१६२	१२	केवल दर्शन	केवल-दर्शन
,,	१३	केवल दर्शना-	केवल-दर्शना-

पृ० स०	प० स०	अशुद्ध	शुद्ध
१६३	४	सत्यानद्धि	स्त्यानर्द्धि
१६७	२२	अनँतानुबँधी	अनतानुबधी
२०४	१	अन्पेक्षित	अनपेक्षित
२०६	१८	सम चतुरस्त्र	सम चतुरस्र
२१७	१	क्षयिक	क्षायिक
२२३	१८	विफलता	विकलता
२२६	१६	अवज	अरव
२२६	८	करवादे	करवा दे
२४१	१२	योगावतार	योगावतार
		द्वात्रिंशका	द्वात्रिंशिका
२४३	४	रुची	रुचि
२४६	१	जाती है	जाता है
२५७	६	अमर	अपर
२६०	१२	बाह्यात्मा	बाह्यात्मा
२६०	२१	कान्त	कान्ता
२७६	१६	युक्त	युक्ति
२७८	१	लघीयस्त्रयी	लघीयस्त्रयी
२८०	१४	अष्ट सहस्त्री	अष्ट सहस्री
२८५	८	अभिनिवोधिक	आभिनिवोधिक
२८६	६	अर्थात	अर्थात्
२६०	११	इहा	ईहा
२६३	२२	सूत्र कृतांग	सूत्रकृताग
३००	८	प्रमा प्रमाण	प्रमाण

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३००	११	वस्तु	वस्तुएँ
३०१	१५-१६	परिरिच्छिद्यते	परि च्छिद्यते
३०२	२२	बाध व्रिवर्जितम्	बाधविवर्जितम्
३०६	८	करनी चाहिये	करना चाहिये
३१२	८	आचुका	आ चुका
३१३	९ १०	अ-साधनाभाव	अ=साधनाभाव
		विना साध्यविना	विना=साध्यविना
		भाव-होना	भाव=होना
३१८	६	हैं :-	हैं :-
३२८	१०	त्तदिराशीदासीन्यतः	तदितरांशी दासीन्यत
३३०	२३	द्रव्यार्थिक	एक द्रव्यार्थिक
३४१	२३	अवगति	अवनति
३६२	५	मुख्य गौण	मुख्य-गौण
२६७	११	शैलशी	शैलेशी
३६९	१९	पर चतुष्टय	पर-चतुष्टय
३७०	१०	पर चतुष्टय	पर-चतुष्टय
३७०	१३	अपेक्षा	अपेक्षा से
३७०	१७	विद्यामान	विद्यमान
३७३	८	स्व पर	स्व-पर
३७९	६	पर दाप	पर दोप
३७९	२०	एसे	ऐसे
३९०	१८	रेखांकन	रेखांकन
३९४	१२	भैक्षमात्रोय जीविनः	भैक्षमात्रोपजीविनः

पृ० सं०	प० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
३६७	२२	ढुलाये	डुलाये
३६६	६	वाग्र भाव	का प्रभाव
४०४	२४ २५		मोटे टाइप से नया परिच्छेद शुरू होता है
४१५	१५	मएगहिम	मए गहिम
४१७	१८	घी	घी
४१६	८	मार्यंतिवृष्ट् य वृष्टय	मार्यंनिवृष्ट्य-वृष्टय
४२६	१४	उच्च	नीच
४२६	१४	नीच	उच्च
४३१	३	से	ये
४३१	५	पाइ	पाई
४३२	१५	लगया	ले गया
४३३	१४	प्रमारीपडह्	अमारि पडह्
४३४	२३	कूँचे	कूचे
४४७	१२	मा	भी
४४८	१८	योग्यायेग्य	योग्यायोग्य
४५४	१४	दिक परिमण	दिक् परिमाण
४५५	५	(शृणोतीनि	(शृणोतीति
४५५	१३	कृन्तयपुण्यानि	कृन्तयपुण्यानि
४५५	१८	म	ने
४६२	३	मृपावाद	मृपावाद

पृ० सं०	पं० सं०	अशुद्ध	शुद्ध
४६६	६	अराधना	आराधना
४७२	१२	व्रत मे	व्रत के
५०२	११	रत्रि	रात्रि
५०६	८	स्त्री-पुरुष	स्त्री पुरुष
५१३	१६	दोड़े	दोड़े ।
५२०	६	22 Md.	22 nd.
५२०	१३	द्रारवम	द्राक्म्
५२१	३	सुमरे	सुमेर
५२१	१२	श्री कृष्ण	श्रीकृष्ण
५२७	६	शुरु	शुरू
५२८	२२	कुछ	कुछ का
५३५	४	वी. नि. ६३०	वी. नि. सं ९
५४०	८	गुर्ज रोश्वर	गुर्ज रेश्वर
५४०	१४	गुजारात	गुजरात
५४२	१७	वह	वे
५४२	१९	करता था।	करते थे ।
५५०	१०	शालाका	शलाका
५५०	११	शालाका	शलाका
५५१	१९	Jeneshwar	Jineshwar
५५५	१३	अर्थ का	अर्थ को
५५५	१४	सूत्रों में उन्हे गूँथा	सूत्रों में गूँथा
५५६	१६	सार जैन	सारे जैन
५५६	२१	ज्ञाता	(६) ज्ञाता

पृ० स०	प० स०	अशुद्ध	शुद्ध
५५७	७	कथाएँ हैं	कथाएँ हैं।
५६०	२५	विशाला पति	विशालापति
५६२	१७	(४)	(५)
५६२	१६	(५)	(६)
५६३	२१	प्रोध	प्रोध
५६५	२४	ई पूर्व	ई पूर्व
५६८	१४	चूर्णियें	चूर्णियाँ
५६६	२२	विन्टर निट्जने	विन्टर निटज
५६६	२४	litretue	Literature
५७८	६	jain	Jain
५७८	६	jain coumo-graphy	Jain comograph
५८१	२१	प्रद्ध मागहीए	प्रद्ध मागहीए
५८६	१५	कला भ्रकित	कला भ्रकित
५८७	१०	शली	शैली
५८७	१४	विद्वानों	विद्वानो की
५६०	१६	मोहृन जोदडो	मोहनजोदडो